प्रकाशक : नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

मुद्रक : शंभुनाथ वाजपेयी [illegible] मुद्रण, वाराणसी

नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी [illegible] प्रतियाँ

मूल्य

माता का परिचय

जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रांत मे खेतड़ी राज्य है। वहाँ के राजा श्री अजीत सिंह जी बहादुर बडे यशस्वी और विद्याप्रेमी हुए। गणितशास्त्र मे उनकी अद्भुत गति थी। विज्ञान उन्हे बहुत प्रिय था। राजनीति मे वह दक्ष और गुणग्राहिता मे अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हे इतनी थी कि विलायत जाने के पहले और पीछे स्वामी विवेकानंद उनके यहाँ महीनो रहे। स्वामी जी से घंटों शास्त्रचर्चा हुआ करती। राजपूताने मे प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्यश्लोक महाराज श्री राम सिंह जी को छोडकर ऐसी सर्वतोमुख प्रतिभा राजा श्री अजीतसिंह जी ही मे दिखाई दी।

राजा श्री अजीतसिंह जी की रानी आउआ (मारवाड़) चाँपावत जी के गर्भ मे तीन संतति हुईं—दो कन्या, एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूरजकुँवर थीं जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर श्री नाहरसिंह जी के ज्येष्ठ चिरजीव और युवराज राजकुमार श्री उमेदसिंह जी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चाँदकुँवर का विवाह प्रतापगढ के महारावल साहब के युवराज महाराजकुमार श्री मानसिंह जी से हुआ। तीसरी संतान जयसिंह जी थे जो राजा अजीतसिंह जी और रानी चॉपावत जी के स्वर्गवास के पीछे खेतड़ी के राजा हुए।

इन तीनों के शुभचिंतकों के लिये तीनों की स्मृति संचित कर्मों के परिणाम से दुःखमय हुई। जयसिंह जी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ और सारी प्रजा, सब शुभचिंतको, संबंधियो, मित्रों और गुरुजनो का हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहा है। अश्वत्थामा के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नहीं। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्री सूर्यकुँवर बाई जी को एकमात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्ष मे उनका भी शरीरांत हुआ। श्री चाँदकुँवर बाई जी को वैधव्य की विषम यातना भोगनी पड़ी और भ्रातृवियोग और पतिवियोग दोनों का असह्य दुःख वे झेल रही हैं। उनके एकमात्र चिरंजीवी प्रतापगढ़ के कुँवर श्री रामसिंह जी से मातामह राजा अजीतसिंह जी का कुल प्रजावान् है।

श्रीमती सूर्यकुमारी जी के कोई संतति जीवित न रही। उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्री उमेदसिंह जी ने उनके जीवनकाल मे दूसरा विवाह नहीं

किया। किंतु उनके वियोग के पीछे, उनके आज्ञानुसार कृष्णगढ़ में विवाह किया जिससे उनके चिरजीवी वंशांकुर विद्यमान हैं।

श्रीमती सूर्यकुमारी जी बहुत शिक्षिता थीं। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था। उनका हिंदी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिंदी इतनी अच्छी लिखती थीं और अक्षर इतने सुंदर होते थे कि देखनेवाला चमत्कृत रह जाता। स्वर्गवास के कुछ समय पूर्व श्रीमती ने कहा था कि स्वामी विवेकानंद जी के सब ग्रंथों, व्याख्यानों और लेखों का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद मैं छपाऊँगी। बाल्यकाल से ही स्वामी जी के लेखों और अध्यात्म, विशेषतः अद्वैत वेदांत, की ओर श्रीमती की रुचि थी। श्रीमती के निर्देशानुसार इसका कार्यक्रम बाँधा गया। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रकट की कि इस संबंध मे हिंदी मे उत्तमोत्तम ग्रंथों के प्रकाशन के लिये एक अक्षय नीवी की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय। इसका व्यवस्थापत्र बनते न बनते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

राजकुमार श्री उमेदसिंह जी ने श्रीमती की अंतिम कामना के अनुसार २०,०००) देकर काशी नागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा इस ग्रंथमाला के प्रकाशन की व्यवस्था की।

३०,०००, के सूद से गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी मे 'सूर्यकुमारी आर्य-भाषा गद्दी (चेयर)' की स्थापना की।

५,०००) से उपर्युक्त गुरुकुल मे चेयर के साथ ही 'सूर्यकुमारी निधि' की स्थापना कर सूर्यकुमारी ग्रंथावली के प्रकाशन की व्यवस्था की।

५,०००) दरबार हाईस्कूल, शाहपुरा में सूर्यकुमारी विज्ञानभवन के लिये प्रदान किए।

स्वामी विवेकानंद जी के यावत् निबंधों के अतिरिक्त और भी उत्तमोत्तम ग्रंथ इस ग्रंथमाला में छापे जायँगे और लागत से कुछ ही अधिक मूल्य पर सर्वसाधारण के लिये सुलभ होंगे। इस ग्रंथमाला की बिक्री की आय इसी अक्षय नीवी मे जोड़ दी जायगी। यों स्व० श्रीमती सूर्यकुमारी तथा स्व० श्रीमान् उमेदसिंह जी के पुण्य तथा यश की निरंतर वृद्धि होगी और हिंदी भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठकों को ज्ञानलाभ होगा।

प्रकाशकीय

इस ग्रंथमाला मे प्रकाशित ग्रंथों का हिंदीजगत् मे विशेष आदर हुआ है। इसमे अब तक ३० पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें निम्नांकित अब भी उपलब्ध हैं :

(१) ज्ञानयोग, २ भाग, (३) करुणा, (४) शशांक, (५) बुद्धचरित, (६) मुद्राशास्त्र, (७) अकबरी दरबार, भाग १, (८) पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास, (९) हिंदू राजतंत्र, भाग १, (१०) अकबरी दरबार, भाग २, (११) कर्मवाद और जन्मांतर, (१२) हिंदी रसगंगाधर, भाग १, (१३) हिंदी गद्यशैली का विकास, (१४) अकबरी दरबार, भाग ३, (१५) हिंदी रसगंगाधर, भाग २, (१६) गुलेरी ग्रंथ, भाग १, (१७) हिंदी रसगंगाधर, भाग ३, (१८) भारतेंदु ग्रंथावली, भाग २, (१९) भारतेंदु ग्रंथावली भाग ३, (२०) तुलसी की जीवनभूमि, (२१) असीम, (२२) पाषाणकथा, (२३) ध्वनि संप्रदाय और उसके सिद्धांत, (२४) तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, (२५) निर्गुण साहित्य : सांस्कृतिक पृष्ठभूमि।

इस ग्रंथमाला का यह ग्रंथ काशी हिंदू विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० उपाधि के लिये स्वीकृत शोधप्रबंध है। हिंदू विश्वविद्यालय का ही शोधप्रबंध 'निर्गुण साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि' इसी ग्रंथमाला मे प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रंथ के विद्वान् लेखक ने प्रूफ संशोधन का अंतिम दायित्व स्वतः लेकर मनोयोग-पूर्वक यह कार्य करने का प्रयत्न किया है, जिसके लिये हम अनुगृहीत हैं। फिर भी छापे की कुछ भूलें रह गई हैं जिनका परिमार्जन शुद्धिपत्र द्वारा कर दिया गया है। दूसरे संस्करण मे हमारा यत्न होगा कि ऐसी भूलें न रहे। आशा है, अपने क्षेत्र में इस ग्रंथ का समुचित आदर होगा।

रक्षाबंधन
२०२० वि०

सुधाकर पांडेय
प्रकाशन मंत्री

वक्तव्य

प्राकरणिक प्रबंध का प्रणयन मैंने पी-यच० डी० की उपाधि प्राप्ति के निमित्त सात वर्षों के व्यवहिताव्यवहित प्रयत्नों से, नवंबर सन् उन्नीस सौ सत्तावन में किया था। उपाधिप्रदान के डेढ़ वर्षों के अनंतर विश्वविद्यालय ने इसके प्रकाशन की अनुमति देने की कृपा की। तब नागरीप्रचारिणी सभा से इसके प्रकाशन की वार्ता चली। तबसे लेकर आज तक बहुत सी उलझनें और अड़चनें पड़ीं। फिर भी सभा के अधिकारीगण सानुकूल रहकर आज इस रूप में इसे प्रकाशित कर रहे हैं। उचित भी है—'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'।

जहाँ तक मेरी भूमिका की आवश्यकता है वह इस ग्रंथ के प्रथमाध्याय में 'आदि वाणी' नाम से संश्लिष्ट है। छपने मे अवश्य बहुत सी त्रुटियाँ आ गई हैं। तदर्थ आवश्यक त्रुटियो के मार्जनार्थ एक शुद्धिपत्र लगा दिया गया है। पाठकों से अनुरोध है कि वे पाठसंशोधन करके ग्रंथ पढ़ें तो अच्छा होगा। वैसे सुधी लोगों के लिये हृच्छाप्रवृत्ति ही ठीक है। क्योंकि महात्मा तुलसीदास जी का उद्घोष है —

काल सुभाउ करम बरिआई। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई॥
सो सुधारि हरिजन जिमि लेहीं। दलि दुख दोष बिमल जसु देहीं॥

× × ×

इस ग्रंथ के चिरप्रतीक्षित प्रकाशन के अवसर पर गुरुजनों का अनुध्यान और नमन, सुहृदों तथा सहयोगियों का स्मरण एवं कृतज्ञताज्ञापन एक पुनीत अथच सुखद कर्तव्य है।

काशी हिंदू विश्वविद्यालयीय हिंदीविभाग के तत्कालीन अध्यक्ष, (संप्रति हिंदीविभागाध्यक्ष, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़) श्रद्धेय डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी का स्मरण करता हूँ जिन्होने 'हिंदी सगुणकाव्य की सांस्कृतिक भूमिका' विषय पर शोधकार्य के लिये मुझे प्रवृत्त किया, जिनके द्वारा बताए गए मार्ग पर चलने से और समय समय पर प्राप्त निर्देशों, संस्कारों और प्रोत्साहनों से इस ग्रंथ की रचना संभव हुई—उन विद्यावारिधि आचार्यचरणों में शत शत प्रणाम।

उन श्रद्धेय गुरुजनों—सर्वतंत्र स्वतंत्र कवितार्किक चक्रवर्ती पं० महादेव पांडेय, संप्रति ऊर्ध्वाम्नायपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य श्री १००८ श्री महेश्वरानंद सरस्वती जी तथा तंत्रागमों के नदीष्ण विद्वान् एवं सुजान महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी कविराज के चरणारविंदों को मैं सश्रद्धचित्त पुनः पुनः वंदित करता हूँ जिनके संपर्क की स्मृतियाँ यावज्जीवन मुझे अध्ययन, अध्यापन शोधकर्म एवं आर्जव प्रवृत्ति की प्रेरणाएँ देती रहेंगी। आचार्यपाद के द्वारा डाले गए संस्कारों ने भक्तिरस के विवेचन में अपनी अभिव्यक्ति पा ली है परंतु कविराज जी द्वारा प्राप्त संस्कार अभी अंतर्लीन हैं, समय पर व्यक्त होंगे।

श्रद्धाराध्य पं० विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र संप्रति प्रोफेसर और अध्यक्ष हिंदी-विभाग तथा डीन आव् फैकल्टी आव् आर्ट्स, मगध विश्वविद्यालय, गया—जिनकी शिष्यवत्सलता मेरे योगक्षेम की विधायिका है, जिनके शोधसंबंधी कतिपय परामर्शों का इस प्रबंध में पूरा पूरा विनियोग किया गया और जिन्होंने बाह्याभ्यंतर अनेक जटिलताओं के रहते भी अपनी भूमिका लिखकर इस ग्रंथ को अलंकृत किया है—उन गुरुचरणों में अंतेवासी के श्रद्धाप्रसून समर्पित हैं।

पूज्य पं० करुणापति जी त्रिपाठी, संप्रति प्रिंसिपल, टीचर्स ट्रेनिंग कालिज, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय का मैं ऋणी हूँ जिन्होंने 'प्राक्कथन' लिखने का कष्ट उठाकर इस ग्रंथ की शोभावृद्धि की है।

गुरुवर डा० जगन्नाथप्रसाद जी शर्मा, हिंदीविभागाध्यक्ष, का० वि० वि० का मैं नमन करता हूँ जो समीपवर्ती शिष्यों तथा सहयोगियों के प्रति नित्य प्रोत्साहनवृत्ति एवं उपकारबुद्धि जागरूक रखते हैं। डा० श्रीकृष्ण लाल, रीडर हिंदीविभाग, का० वि० वि०, का भी मैं वंदन करता हूँ जिनके सत्परामर्शजनित विद्यावीजों का प्ररोह यथास्थान इस ग्रंथ में है।

भ्रातृवर्य डा० विश्वंभरशरण पाठक—रीडर भारती महाविद्यालय, का० वि० वि०—से मैंने इस प्रबंध के लेखन में सर्वविध ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक सामग्रियों की उपलब्धि की है जिनके बिना इस प्रबंध में ऐसा सौष्ठव एवं प्रामाणिकता न आ पाती। प्रसंगतः मैं उन्हें भी स्निग्ध नति निवेदन करता हूँ

इनके अतिरिक्त मित्रवर डा० राममूर्ति त्रिपाठी (लेक्चरर, हिंदीविभाग, सागर विश्वविद्यालय, पं० रतिनाथ झा (लेक्चरर, संस्कृत महाविद्यालय, का० वि० वि०), डा० बच्चनसिंह और पं० विद्याभूषण मिश्र (उभय लेक्चरर, हिंदीविभाग का० वि० वि०) तथा श्री माहेश्वरीप्रसाद जी चौबे (लेक्चरर, प्राचीन भारतीय

इतिहास एवं संस्कृति विभाग, जबलपुर विश्वविद्यालय) और अन्यों से मुझे इस ग्रंथ के लेखन में विविध प्रकार की सहायताएँ मिली हैं। तदर्थ मैं इन सबका कृतज्ञ हूँ।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा तथा काशिराज के राजकीय पुस्तकालय 'सरस्वती भांडार के हस्तलेखों के अवलोकन का पर्याप्त अवसर भी मुझे मिला था। इस नाते कुछ अप्रकाशित सामग्री भी इस प्रबंध में संकलित की जा सकी है। मैं उन सामग्रियों के अधिकारियों के प्रति कृतज्ञ हूँ। डा० दीनदयालु गुप्त, डा० विजयेंद्र स्नातक तथा डा० भगवतीप्रसाद सिंह के शोधप्रबंधों में बहुत सी अप्रकाशित सामग्री भी पहली बार मुझे देखने को मिलि, उसका भी मैंने यत्र तत्र उपयोग किया। एतदर्थ मैं इन विद्वानों तथा ऐसे ही बहुत से दूसरे विद्वानों का भी उपकार स्वीकार करता हूँ जिनकी उपलब्धियों का मैंने जाने या अनजाने विनियोग किया है।

वैशाख शुक्ल १२ सं० २०२०, वैक्रम
हिंदू विश्वविद्यालय, काशी

रामनरेश वर्मा

निवेशन

हिंदी-साहित्य-प्रदेश में आरंभ से लेकर सांप्रतिक युग तक जितने प्रकार की धाराएँ-उपधाराएँ-प्रधाराएँ प्रवाहित होती चली आ रही हैं उन सबमें सर्वातिशायिनी धारा मध्यकाल की सगुण काव्यधारा है। किसी किसी का मत तो यह भी है कि हिंदीसाहित्य के मध्यकाल का भक्तिकाल और रीतिकाल या शृंगारकाल के नाम से विभाजन करना अयुक्त है। पूरे मध्यकाल को भक्तिकाल की ही अभिधा देनी चाहिए। इस भक्तिकाल में भी निर्गुण और सगुण काव्यधाराओं में से निर्गुण में सूफी काव्योपधारा का साहित्यिक महत्व तो है पर संतमत या पंथप्रवर्तिका ज्ञानमार्गी उपधारा का साहित्यिक मूल्य नगण्य सा है। सूफी काव्योपधारा में निर्गुण ब्रह्म को ही मान्य कर सगुण का अलक्षित रूप में खंडन है और ज्ञानमार्गी प्रवाह में उसका प्रत्यक्ष ही विरोध है। खंडनात्मक प्रवृत्ति के कारण उसका साहित्यिक महत्व क्षीण हो गया है। निर्गुणधारा की खंडनात्मक प्रवृत्ति का प्रतिवर्तन सगुणधारा की खंडनात्मक प्रवृत्ति में दिखाई देता है। ब्रह्म के मूर्तामूर्त दोनों ही रूप जहाँ विहित हों वहाँ निर्गुण का खंडन करने की अपेक्षा सुतराम् सामयिक प्रतिरोधात्मक व्यवस्था के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पर यह प्रतिरोध उस पराकाष्ठा को पहुँचा कि सैद्धांतिक दृष्टि से भी सगुण की सत्ता ही पारमार्थिक सत्ता के रूप में स्वीकृत की गई। यों ज्ञान के प्रतिपक्ष में भक्ति का खंडन पुराकाल से होता आ रहा है, पर सगुण ही सब कुछ है निर्गुण काल्पनिक है ऐसा पहले नहीं कहा गया। 'दशरथसुत राम' परात्पर ब्रह्म के अवतार कहे गए। वृंदावनविहारी श्रीकृष्ण की परतत्व के रूप में धारणा हुई। यह कहना कि हिंदी के माध्यम से निर्मित भक्तिवाङ्मय में तत्सामयिक परिस्थिति या आंदोलन की प्रेरणा ही नहीं है प्रत्यक्ष सत्य का अपलाप है। हाँ, यह कहना असत्य है कि भक्ति का उद्भव ही उस युग में हुआ। भक्ति की जो परंपरा चली आ रही थी उसका विस्तार और समयानुरूप उसमें नियोजन उस युग की प्रेरणा से हुआ। विविध प्रकार की संस्कृतियों का जब घात प्रतिघात होता है तब यह नैसर्गिक है कि दोनों में एक दूसरी की प्रवृत्तियाँ अल्पानल्प रूप में अनुस्यूत हों। हिंदीसाहित्य के मध्यकाल में ऐसी ही परिस्थिति थी।

भक्ति का जो विकास पहले से होता चला आ रहा था उसके विविध सोपान हैं। समय समय पर उसमें प्रतिसंस्कार भी होते आए हैं। पर उसके उत्स की गवेषणा में 'भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाए रामानंद' तक ही जाकर रह जाना इतिहास और अनुसंधित्सा की अवहेलना मात्र है। इसका अर्थ तो यही हुआ कि द्रविड़ देश में ही भक्ति थी, अन्यत्र भारत में नहीं। पर भक्ति के प्रभूत और पारंपरिक वाङ्मय का अनुशीलन करने से इस सोपान के पूर्व भी जाने या देखने को विवश होना पड़ता है। तब यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका उत्स और भी पुराकल्प में है। हाँ, उसमें अतिराग का समावेश द्रविड़ देश में हुआ। दक्षिण में जो राग-संवलित भक्ति फैली उससे हिंदीसाहित्य का संबंध है अवश्य, और उसके साथ ही धर्म के त्रिकांड में से उपासनाकांड का भी प्रवाह किसी न किसी रूप में उसमें संनिविष्ट रहा है। संप्रति अनुसंधान में भी कुछ पूर्वग्रह का प्रवेश हो गया है। उसके कारण आर्य-अनार्य-भेद की भेदकरी प्रवृत्ति भी जग पड़ी है। आर्यपरंपरा की सबसे बड़ी विशेषता यही रही है कि उसने कभी किसी नूतन प्रवृत्ति को कहीं अग्राह्य नहीं समझा। भले ही इस संग्रह की प्रवृत्ति के कारण कुछ पूर्वग्रही भारतीय संस्कृति को शुद्ध संस्कृति के रूप में न मानें, पर भारतीय संस्कृति अपने मूलरूप को भी निरंतर बनाए रही है उसमें मेल चाहे जितना होता रहा हो। मुसलमान बंधुओं के आगमन पर भी उसमें यही संग्राहिका दृष्टि रही है। इसी से कुछ तत्व उनकी संस्कृति के भी इसमें संनिविष्ट हुए। कुछ अनुसंधायकों का यह कथन ठीक प्रतीत होता है कि मधुरोपासना में अतिरेक पारसीक संस्कृति के तत्वों के ग्रहण के कारण है।

भारतीय संस्कृति और तदंगभूत सगुण भक्ति की संस्कृति विविध भारतीय और विदेशी भाव-विचार-धारा के पंचामृत से विकसित हुई है। अपने मूल रूप में नाना प्रकार के आवरणों को ओढ़ लेने के कारण आचार-विचार में जो सतत विकास होता आया है उसका लेखा-जोखा लेना और सभी का विश्लेषण कर उन्हें पृथक् करना कठिन कार्य है। सब प्रकार के आग्रहों से तटस्थ रहकर ही इसका विश्लेषण हो सकता है। साथ ही किसी तथ्य की सिद्धि के लिये वाङ्मय के विविध क्षेत्रों से प्रमाणों का आकलन अपेक्षित होता है। इस कार्य के लिये प्रभूत ग्रंथराशि का आलोडन कर उसमें से अभीप्सित कणों को पृथक् करना सहज नहीं है। बहुत विवेक और धैर्य से ही इसमें कुछ उपलब्धि हो सकती है। प्रस्तुत शोधप्रबंध में ऐसी योजना बनाई गई है और उसके लिये जिस प्रकार ग्रंथसागर का मंथन किया गया है वह परम श्लाध्य है। सबके मतों और मान्यताओं को दृष्टिपथ

में रखते हुए सत्य का संधान करना विकट व्यापार है। पर श्री वर्मा ने अथक परिश्रम द्वारा रत्नराशि संचित की, इसमें संदेह नहीं। इस शोधकार्य में उन्होंने नवीन तथ्यों की ही उपलब्धि नहीं की है नवीन व्याख्या भी प्रस्तुत की है। इससे सगुण भक्ति-वाङ्मय की सांस्कृतिक पीठिका के हृदयंगम करने मे निश्चय ही सुगमता हो गई है।

यद्यपि इस शोधप्रबंध से मेरा प्रत्यक्ष संबंध नहीं था तथापि विषय के निश्चय और शोध की संभावना के विषय मे मेरी कुछ धारणाएँ थीं जिनका संकेत मैंने लेखक से किया था। प्रसन्नता की बात है कि उन्होंने मेरे निवेदन की दृष्टि से भी विषय का विश्लेषण करने मे अपने को प्रवृत्त किया है। उसमें उन्हें कुछ कठिनाई अवश्य हुई है फिर भी उनकी दत्तचित्तता और अनुसंधित्सा से हिंदीसाहित्य में नवीन मार्ग पर चलने की अनिवार्यता भी सामने आई है। हमारे ज्ञान का वर्धन भी अत्यधिक परिमाण मे हुआ है। अनुसंधान के क्षेत्र में मतभेद भी यथास्थल होता ही है। अनुसंधान इदमित्थम् के चक्कर मे नही पडता। उसका कार्य इतना ही होता है कि वह स्थान स्थान पर मिलनेवाली विसंगतियों को सुसंगत करता चले। हो सकता है कि उसी क्षेत्र मे भावी अनुसंधान कुछ और नवता का समावेश करे। पर जो अनुसंधान तटस्थ वृत्ति से होता है उसकी स्थापनाएँ सदा आधाररूप बनी रहती है। उनका उन्मूलन नही होता। उनमे नवीन अंकुर ही निकल सकता है।

संस्कृति शब्द आधुनिक है। इसका समानार्थक शब्द भारतीय वाङ्मय में नही है। 'संस्कार' शब्द इससे मिलता हुआ होने पर भी इसका अर्थ नहीं देता। वह व्यक्तिगत परिष्कार से जितना संबद्ध है उतना लोकगत परिष्कार से नहीं। संस्कृति सामाजिक परिष्कार है। उसके अंतर्गत किसी स्थान के आचार-विचार का स्वरूप गृहीत होता है। आचार व्यवहारपक्ष है और विचार सिद्धांतपक्ष। इस प्रकार किसी सामाजिक प्रवाह के सांस्कृतिक स्वरूप का विश्लेषण करने में दोनों का विवेचन करना पड़ता है। अनुसंधाता ने सांस्कृतिक भूमिका मे इन दोनों को दृष्टिपथ मे रखकर विवेचना की है। इसलिए किसी प्रकार का कोई अंतराल कहीं नहीं रह गया। सब प्रकार से विचार करने पर मुझे यही लगता है कि सगुण काव्य की जैसी सांस्कृतिक पीठिका लेखक ने प्रस्तुत की है और जितने पुष्कल प्रमाणों और उदाहरणों से इसे अंकित किया है वैसा सांप्रतिक शोधप्रबंधों में बहुत कम दिखाई देता है।

मुझे इस गुण मे एक दोष भी दिखाई देता है। वह यही कि अहमहमिकया

इतने तथ्य, तत्व सामने आ जाते हैं कि विवेच्य प्रसंग की धारा प्रसादपराङ्मुख होने लगती है। दोष अनुसंधान का नहीं है शैली का है। ऐसे शोधप्रबंधों में जिनमें पुष्कल तथ्य एक ही तत्व को सिद्ध करने के लिये एक साथ आ खड़े होते हैं, उन्हें भीड़ लगाने के बदले सामने से हटाकर पीछे बैठा दिया जाता है। परिशिष्ट में उन्हें रख देना शैली की दृष्टि से शोभन होता है। हिंदी में अभी शोधप्रबंध लिखने में शैली का विकास पर्याप्त परिमाण में नहीं हो पाया है। अनुसंधान ज्ञान के पांडित्य का प्रेमी है। ग्राहक या पाठक की वृत्ति शैली की सरसता में 'बूड़ कर तिरना' चाहती है। हाँ शोध के लिये यहीं डूबने का खतरा भी अवश्य रहता है। यदि वह पांडित्य की रज्जु छोड़कर शैली का पल्ला पकड़ ले तो अनुसंधान स्वयं डूबने उतराने लगता है। इसलिए श्री वर्मा से मेरा निवेदन यह है कि इस अनुसंधानात्मक प्रबंध के निष्कर्षों के आधार पर वे एक छोटी पुस्तक ऐसी प्रस्तुत करें जिसमें प्रसन्न वाग्धारा निरवरोध प्रवाहित हो, तथ्यों-प्रमाणों के शिलाखंडों से टकराकर 'न ययौ न तस्थौ' के विभ्रम में उसे कहीं न पड़ना पड़े।

श्री वर्मा से मेरा ऐसा संबंध है कि इस शोध पर उन्हें बधाई देना, 'अपनी ही करनी अपने मुँह बरनी' की स्थिति आ जाती है। उधर आशीर्वाद का अधिकार कोई गुरुजन छोड़ना भी नहीं चाहता। अतः मैं आशीर्वचन देता हूँ कि शोध के क्षेत्र में वे जैसा अभूतपूर्व कार्य बराबर करते आए हैं उसकी परंपरा अविच्छिन्न रखेंगे और हिंदीसाहित्य के जिन क्षेत्रों में उनकी शोधांजनगुटिका से भूरि निधान मिलने की संभावना है वहाँ साधक ही नहीं सिद्ध सुजान की भाँति प्रवृत्त होकर हिंदीसाहित्य का भांडार भरेंगे।

गंगा दशहरा, २०२०
हिंदी-विभाग
मगध विश्वविद्यालय, गया

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

———

प्राक्कथन

वैदिक वाङ्मय में भक्ति के बीज

सगुण भक्तिधारा का उदय भारत में कब और कैसे हुआ—इसका ठीक ठीक निर्धारण करना अत्यंत कठिन है। पाश्चात्य और भारतीय विद्वान्, जिन्होंने भारत के प्रत्न और प्रागैतिहासिक काल का अध्ययन किया है उनकी कुछ विशेष दृष्टि है। साहित्यिक विरासत के रूप में ऋग्वेद संहिता ही भारत का प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य है। अनेक दृष्टियों से—आकार प्रकार के विचार से, व्यवस्थित ग्रंथ की दृष्टि से—वह भारत की ही नहीं समस्त विश्व की पुरातनतम साहित्यिक निधि (लिटररी मान्युमेंट) कही गई है। पर उसमे से कुछ अंश, मुख्यतः ऋक् संहिता का प्रथम और दशम मंडल अपेक्षाकृत उत्तरकालीन माना जाता है। प्राचीनतम कहे जानेवाले अंशों में बहुदेवोपासना, विश्वदेवोपासना या अनेकदेवोपासना की दृष्टि मुख्य मानी गई है। साथ ही यह भी बहुधा कहा जाता है कि उक्त अंश से भक्ति-भाव की उपासना और पूजा की अपेक्षा याज्ञिक और कर्मकांडयुक्त दृष्टि का स्वर बलवत्तर रहा है। विचारपूर्वक देखा जाय तो ऋक्संहिता, वस्तुतः स्तुति, प्रार्थना और महिमागान का ही मुख्य साहित्य है। उसमे देवस्तुतिपरक सूक्तों का ही बाहुल्य है। पर साथ ही यह भी माना जाता है कि उन स्तुतिपरक ऋचाओं का प्रयोग एवं विनियोग यज्ञकृत्यों में ही प्रायः होता था। अतः पौराणिक युग तथा मध्यकाल में जिस प्रकार भक्ति का व्यापक प्रभाव और प्रवाह दिखाई देता है—वैसा ऋग्वेद-युग में नहीं था। ऋग्वेदसंहिता के दार्शनिक सूक्तों मे (जो अधिकांश प्रथम और दशम मंडल में हैं) निश्चय ही एकेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद या परमेश्वरवाद स्पष्ट रूप में वर्णित है। वहाँ हिरण्यगर्भ, प्रजापति, पुरुष आदि को परमदेव, सर्वशक्ति-मान्, सर्वव्यापी, सर्वसमर्थ, सर्वदर्शी और अनाद्यनंतदेव के रूप मे हम स्तवनीय और वर्णनीय देखते हैं। इन वर्णनों मे ब्रह्म या भक्तिभाव के आलंबन रूप में एक सर्वोच्च या परमदेव के उपास्यरूप की कल्पना लक्षित की जा सकती है। इसके अतिरिक्त भी वैदिक वाङ्मय मे नहीं स्वयं ऋक्संहिता मे भी 'विष्णु' से संबद्ध छः सूक्त हैं। यह तथ्य है कि इंद्र, अग्नि, सविता, वरुण आदि—विशेषतः इंद्र, अग्नि आदि—से संबद्ध सूक्तों-ऋचाओं की संख्या जैसी विशाल है वैसी विष्णुसंबद्ध सूक्तों की नहीं

हैं। परंतु इतने से ही देव विष्णु की महत्ता का ठीक ठीक अनुमान नहीं किया जा सकता। हो सकता है कि तत्कालीन समाज के आर्यों की कुछ टोलियाँ या शाखाएँ ऐसी भी रही हों जहाँ विष्णु का स्थान अधिक महत्व का रहा हो।

विद्वानों की मंडली में एक अन्य बात भी कभी कभी कही और समझी जाती है—मध्यकालीन सगुण वैष्णवोपासना के विषय मे विचार करते समय—जिसका ध्यान रखना चाहिए। वेदों मे विष्णु के स्तवनीय और वदनीय रूप की चर्चा वैदिक देवता के रूप मे की गई है। पर इसके साथ ही साथ ऐसे वर्णन भी हैं जहाँ कृष्ण, राधा, देवकीपुत्र, राम और सीता—आदि शब्दो का प्रयोग भिन्न भिन्न संदर्भो तथा पौराणिक संज्ञाओ (व्यक्तिवाचक) से इतर अर्थों मे हुआ है। विष्णु एक ओर कहीं इंद्र के सखा[1], बंधु और सहायक कहे गए हैं तो दूसरी ओर उन्हें सूर्यरूप चक्रधारी[2] या सूर्य और अग्नि[3] भी माना गया है। इसी प्रकार पौराणिक गाथा के प्रेरणादायक वामनावतार विष्णु के ही समान ऋक्संहिता में विष्णु को बारंबार त्रिविक्रम कहा गया है। त्रिविक्रम शब्द के अनेक व्याख्यार्थों मे 'त्रेधा नि दधे पदम्' द्वारा उस प्रकार का संकेत मिलता है जिसका विकास पौराणिक गाथाओं मे आकर तीन पदक्रमो से पृथिवी, अतरिक्ष और पाताल को माप लेनेवाले 'वामनावतार' में हुआ। उन्हे भयरहित 'गोपा'[3] अर्थात् रक्षक भी कहा गया—जिसके विकासक्रम मे नंदकुमार कृष्ण का 'गोप' का रूप धारण कर लेना अत्यंत स्वाभाविक लगता है। उरुविक्रम विष्णु का परमपद मधु का भांडार है। विष्णु का उपासक नर जहाँ तृप्ति

---

१. विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो पस्यशे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ऋ० सं० १।२२।१६

२. चतुर्भुज विष्णु के चार हाथों में से एक मे चक्र है। वह चक्र संवत्सरचक्र है—वही सूर्य भी है—उसका विष्णु ही संचालन करते हैं—

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साक त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः।

ऋ० सं० १।१६४।४८

शतपथ के १४वें काड में यही (चतुर्भुज) चक्र सूर्य कहा गया है। अथर्ववेद संहिता में (य एकमोजास्त्रेधा विचक्रमे—१।३।१।१।१) सूर्य को ही त्रिविक्रम विष्णु कहा गया है। यह करीब करीब कुछ वैसा ही है जैसा—'ध्येयः सदा सवितृमण्डल-मध्यवर्ती नारायणः' में कहा गया है।

३. अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमः। ऐतरेय ब्राह्मण १।१

प्राप्त करता है, वह अंतरिक्षस्थ विष्णु का परमपद उपासकों (भक्तों या यजनकर्ताओं) के लिये प्राप्तिकामना का लोक है[1]। यह असंभव नहीं कि ब्रह्मवैवर्त्त, पद्म आदि पुराणों का गोलोक (विष्णुलोक) मधुरचरित मधुरापति की मधुर लीलाओं के मधुमय आगार के रूप से विकसित हुआ हो। इसी का रूप मध्यकालीन कृष्णभक्तों में नित्यवृंदावन लीला का लोक भी बन गया—यह कल्पना की जा सकती है। पुराणसंहिता, गर्गसंहिता आदि में भी इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। 'गोपा', पालनकर्ता, पुष्टिकर्ता वैदिक विष्णु का ही यदि पुराणों में स्थिति, पालन और पोषण-कर्ता त्रिदेवमध्यांतर्गत विष्णु के रूप में विकास हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इसी प्रकार वही गोपा, गोप बनकर भागवत आदि के वासुदेव देवकीपुत्र, नंद-गोपकुमार, यशोदानंदन के रूप में विकसित हुए हों तो यह भी असंभाव्य नहीं है। वैसे छांदोग्योपनिषद् में देवकीपुत्र कृष्ण का नाम आता है—जो घोर आंगिरस के शिष्य कहे गए हैं। ३६० स्तुतियों (संध्यागायत्री आदि) से संवत्सर-चक्र को चलानेवाले विष्णु का भी चक्रधर या चक्रायुध हो जाना भी अत्यंत सहज है।[2] जिस विष्णु के प्रताप से वृष्टि होती है और साथ ही गायों को दुग्ध होता है उसका कालांतर में गोपवेषधारी कृष्णाख्य विष्णु होना कल्पनागम्य माना जा सकता है। विष्णु ही यजमान तथा देवगणों के लिये व्रज प्राप्त करानेवाला होने से व्रजनंदन, गोपीजनवल्लभ हो सकता है। (व्रजं च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुते—ऋक० सं० १।१५६।४) विष्णु की ही सहायता पाकर चूँकि इंद्र इतने पराक्रमी हुए—इसी कारण पुराणकार ऋषियों ने देवता के संकटों का नाश करनेवाले विष्णु को अवतारधारी और उपेंद्र भी कहा है। वैदिक विष्णु के भक्त, यजनकर्ता ध्रुव होते हैं अतः पुराणों में ध्रुव की कथा का पौराणिक गाथा के रूप में वर्णन पाया जाता है।

---

१. त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन्। ऋक्संहिता—१।२२।१८

२. तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः॥

ऋक्संहिता १।१५४।५

इतना ही नहीं इसके आगेवाली ऋचा में 'गौ' शब्द भी है और 'वृष्ण' शब्द भी, जो आगे चलकर परमपद को 'गोलोक' से जोड़नेवाला हो सकता है और विष्णु के अवतार कृष्ण को वृष्णियों का नेता भी बना सकता है—(१) 'यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः;' (२) 'अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः'।

समस्त जगत् को मदमत्त करनेवाली श्री या लक्ष्मी वेदों में ही विष्णु की भी कही गई है और वही पुराणों मे भी वर्णित है विस्तृत, व्यापक और सर्वमान्य रूप में।

क्षीरसागरशायी पौराणिक विष्णु का भी मूलबीज वेदों में कुछ विद्वान् बताते हैं। 'सागर' का अर्थ वेदों मे आकाश या अंतरिक्ष भी कहा जाता है। विष्णु अंतरिक्ष मे स्थित, व्याप्त माने जाते हैं। रजतपथ या पौराणिक आकाश-गंगा को 'दुग्धपथ' (मिल्की वे) मानकर विष्णु को क्षीरसागरस्थ बताया जाता है जो आगे चलकर पुराणों मे क्षीरसागरशायी लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु के रूप में पुराणगाथाओं के आधार हो गए। इसी प्रकार विष्णु के वाहन गरुड़ का भी आदि संकेत वेदों मे ढूँढ़ा जा सकता है। ऋग्वेद मे सूर्य के लिये 'सुपर्ण' (सुंदर पंखोंवाला) तथा गरुत्मान् (वेगवान् या वंदना से वर्द्धमान) शब्द व्यवहृत हुए हैं। सूर्य और विष्णु की अभिन्नता या एकता का संकेत पहले किया जा चुका है। सुपर्ण, गरुत्मान् और सूर्य का एकत्व ही यदि सुपर्ण गरुड को पुराणों में विष्णुवाहन का पद देने का कारण हुआ हो तो इसे अकल्पनीय नहीं समझना चाहिए।

छांदोग्य उपनिषद् की चर्चा ऊपर की गई है। वहाँ 'कृष्णार्जुन' शब्द भी मिल जाता है जिसका अर्थ हो सकता है कृष्णवर्णा रात्रि तथा श्वेतवर्ण दिन और दोनों के संमिश्रण से भावित अहोरात्र का प्रतिरूप सूर्य।[1] इसी प्रकार अग्नि की ज्वालाएँ कृष्णार्जुन कही गई—है जिसका अर्थ भी कृष्णवर्ण और श्वेतवर्ण ही समझा जाता है।

यही 'कृष्ण' शब्द इंद्रपरक स्तुतिऋचाओं में अनेक बार आया है। उषा को कृष्णों से अर्थात् तमस्विनी के अंधकार से मुक्त करनेवाला होने के साथ साथ कृष्ण एवं रोहित वर्णावाली गायों मे श्वेतवर्ण दुग्ध का स्थापनकर्ता भी इंद्र कहा गया है। गाय और कृष्ण शब्द का यह सहप्रयोग कालांतर में कृष्ण के गोपाल रूप की उद्भावना का प्रेरणास्रोत बना हो तो कोई आश्चर्य नहीं। आगे चलकर पुराणों मे वैदिक आख्यानबीजों, नामों, गाथाओं आदि के नए रूपों में अवतरण

---

१. सूर्य के रूप मे 'कृष्ण' पद का व्यवहार स्थूलतः तो असंगत जान पड़ता है पर छांदोग्योपनिषद् की उक्ति से उस मान्यता की रहस्यात्मक सूक्ष्म दृष्टि स्पष्ट हो जाती है। वहाँ सूर्य के सूक्ष्म रूप के प्रसंग मे कहा गया है—नीलः परः कृष्णः—अर्थात् सूर्य के नीलरूप से भी परे, पारगामी उनका कृष्ण रूप है—अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम······। छा० उ० १।६।५

हुए इसमें कोई संदेह नहीं है। पुराण का संबध वेद की आख्यानपरक व्याख्या के साथ देखना कदाचित् परमावश्यक है।

पुराणकार और उनकी समन्वयसाधना

पुराणकर्ता आचार्यों ने अनेक कार्य किए। उन्होंने भारत के अंधकारयुगीन प्रागैतिहासिक काल से जो लोकगाथाएँ व्यवस्थित और अव्यवस्थित रूप से बिखरी हुई चली आ रही थीं उनको पुराणों में संगृहीत किया। जनश्रुतियों और किंवदंतियों का आकलन-संकलन कर के उन्हें पौराणिक आख्यान-गाथाओं का रूप दिया। लोकपरंपरा में शताब्दियों-सहस्राब्दियों से प्रचलित जनकथाओं और लोकवृत्तों को पुराणानुसारी आख्यानवस्तुओं से आबद्ध किया। इन सबके साथ साथ एक और बहुत बड़ा कार्य किया।

यह कार्य था इस विशाल भारत देश में बिखरे हुए विभिन्न संस्कृतियों, धार्मिक मान्यताओं और उपासनात्मक-साधनात्मक तत्वों में समन्वय स्थापित करना तथा उसके द्वारा सामंजस्यपूर्ण एकसूत्रता में उन्हें गूँथकर भारतीय संस्कृति की एक ऐसी व्यापक मूर्ति प्रतिष्ठित करने का प्रयास करना जिसके निर्माण में सबका योगदान हो और सबके लिये वह आकर्षणकेंद्र बन सके। इस प्रयास में पुराणकार ऋषियों और आचार्यों को कितनी सफलता मिली—इसका उत्तर इतिहास से मिलता है—यहाँ उसकी चर्चा अनावश्यक है। फिर भी इस प्रयास का क्रम हजार वर्षों से अधिक तक चलता रहा। पुराणवाङ्मय का रचनाकाल कोई एक या दो शताब्दी नहीं है वरन् सहस्राब्दी से भी अधिक वर्षों तक पुराणों की रचना होती रही।

इस पौराणिक दृष्टि के वाङ्मयकार 'व्यास' जी के नाम पर ही निर्माण करते चले गए। ग्रंथों में संयोजित क्षेपकों को उन्होंने अपने यशसे काव्यम् की दृष्टि से नहीं लिखा। 'स्वयश' की कामना से परे होकर वे उस समन्वित दृष्टि के प्रसार में लगे थे जिसके द्वारा सद्भाव और सौहार्दपूर्ण समन्वय स्थापित हो सके। वे चाहते थे कि समग्र भारत में पूर्व से पश्चिम तक और उत्तर से दक्षिण तक, अनेक अंगों और तत्वों से आकलित संस्कृति की ऐसी विशाल और व्यापक प्रतिमा बने जो सबको अपने में समेट ले, सबको आत्मीय (स्वात्मांग) बना ले सबको आश्लिष्ट कर ले।

इसी प्रयास में आर्यों के वैदिक वाङ्मय की दृष्टि को, तत्वों की उपासनासरणियों को और पूजन-यजन-पद्धतियों को भी पुराणकर्ता ऋषियों ने गृहीत

किया। इस दृष्टि से भारतीय हिंदूसंस्कृति को आर्यसंस्कृति कहना, कदाचित्, संकुचित मनोवृत्ति है। इतना ही नहीं, वेद के शोधकर्ता अनेक पाश्चात्य पंडित तो यह भी मानते हैं कि वैदिक संहिताओं में आर्येतर तत्वों का समावेश होने लगा था। अथर्ववेद के विषय में उनका कथन है कि यद्यपि भाषा और छंदयोजना आदि की दृष्टि से अथर्वसंहिता का रचना-संकलन-काल ऋग्वेद के बाद का है तथापि उसमें ग्रथित बहुत सी दृष्टियाँ, बहुत से तत्व तथा अनेक धार्मिक मान्यताएँ आर्येतर भी हैं, वैदिक युग से पूर्ववर्ती काल की भी। संभवतः आर्यों के आगमन या ऋग्वेदसंहिता के निर्माणकाल से पूर्व की वे ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जिनकी परंपरागत मान्यताओं को ऋक्संहितानिर्माण के परवर्ती ऋषियों ने आत्मभुक्त करके अथर्वसंहिता में गूँथ दिया है।

कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि ऋक्संहिता की रचना से पूर्व भी भारत में आर्येतर मान्यताओं का प्रचलन रहा। ऋग्वेदकाल में जब कि निश्चित रूप से आर्य और आर्येतर संस्कृतियों में संघर्ष चल रहा होगा—उस समय भी और उसके बाद भी प्राग्ऋग्वेदीय आर्येतर मान्यताओं का प्रवाह बहता चल रहा था। उत्तर भारत में विशेष रूप से आर्यदृष्टि का बोलबाला हो जाने पर भी, संहिताग्रंथों एवं समस्त वैदिक वाङ्मय युग के बाद भी उनकी धारा अविच्छिन्न रूप से बहती चल रही थी—चाहे वह कितनी भी दुर्बल रही हो।

पुराणकर्ता आचार्यों ने आर्य और समस्त आर्येतर मान्यताओं और धार्मिक चर्याओं को एक में मिलाकर उनके विरोध को दूर करने का चिरस्मरणीय और महान् प्रयास किया। इसमें हजारों वर्षों तक निःस्वार्थभाव से वे लगे रहे। अश्रांत साधक के समान वे अपना कार्य करते रहे। इसी कारण पुराणों में वैदिक ब्राह्मण-आरण्यकों, उपनिषदों और कल्पसूत्रों की दृष्टियों और सिद्धांतों को जहाँ एक ओर प्रबद्ध किया गया है, आरण्यकों और विशेषरूप से उपनिषदों के ज्ञानात्मक चिंतन-मननपक्ष को आत्मांतर्गत किया गया है वहीं दूसरी ओर भक्ति और पूजा के भी विविध मार्गों की समायोजना दिखाई देती है।

इतना ही नहीं पुराणों का यह सर्वांतर्भुक्तिपरक दृष्टिक्रम निरंतर गतिशील रहा। इसी कारण हम देखते हैं कि पुराणों में, एक ओर जहाँ मुख्य दर्शनसिद्धांतों की, कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग से संबद्ध सिद्धांतों की, चर्चा मिलती है वहीं दूसरी ओर तंत्रसिद्धांतीय और आगमसंसृष्ट मान्यताओं और उपासनापद्धतियों का भी उल्लेख मिलता है। जब तक पुराणों की शुद्ध और निःस्वार्थ दृष्टि के आचार्य,

अपनी इस उपर्युक्त साधना में लगे रहे तब तक नवोदित, नवाविर्भावित पद्धतियों के प्रति आकलनसंकलनात्मक समन्वय की यह दृष्टि भी चलती रही। पथ (या पंथ) चाहे ऋजु, सरल, सीधासादा हो, चाहे कठिन, कुटिल, टेढामेढा, चाहे वह अलौकिक, आभिचारिक, घोर या अघोर हो, चाहे वह जीवन के मान्य आदर्शों और विहित पद्धतियों के साथ चलनेवाला हो, चाहे सामान्य सुसाध्य और सुप्रयोगयुक्त हो चाहे असामान्य, कौल, दुष्प्रयोगसंसृष्ट हो—सबका लक्ष्य, साध्य, चरम उद्देश्य एक ही था—परमपद की, मोक्ष की, अनंतशिवत्व की, सच्चिदानंदत्व की प्राप्ति—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

संभवतः पुराणकृत आचार्यों की यही, साधना थी जिसका प्रथम, महान् और सफल प्रयास 'महाभारत' के रूप मे, उसके अंतिम संकलित रूप मे सामने आया। और उस महान् सांस्कृतिक महापुराणकाव्य के संबंध में कदाचित् इसी सर्वदृष्टिसमाकलक एवं सर्वांतभुक्तिपरक प्रकृति का विचार करते हुए कहा गया था—

यदिहास्ति न तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।

पुराणाचार्यों की पूर्वोक्त समन्वयसाधना के अनेक माध्यमों में आख्यानात्मक, गाथात्मक व्याख्या करना भी उनका एक समन्वयशिल्प था। 'पुरूरवा और उर्वशी' की कथा, कदाचित् इस प्रकार के रूपों का अत्यंत महत्वपूर्ण उदाहरण है, जो संहिता और ब्राह्मण ग्रंथों से होकर पुराणो ही नहीं विश्वकवि कालिदास के अमर नाटक 'विक्रमोर्वशीय' का उपजीव्य बना। यह तो विस्तृत प्रसंग है। पुराणों में ऐसे प्रसंग अगणित मिलते हैं जिनमे वैदिक ऋषि के संकेतात्मक, प्रतीकात्मक या दुर्बोध्य ढंग से कथित या निर्दिष्ट बीज की व्याख्या, पुराणों में अपने ढंग से की गई है। केवल उस दुर्बोध्य संकेत को लेकर पुराणकार ने लंबीचौड़ी कथा की अवतारणा कर दी है। वेदों में जो संकेत किसी देवविशेष के साथ जुडे हुए हैं उन्हें पुराणकथाओं में कभी कभी निकटवर्ती या अन्य देवव्यक्तित्व के साथ जोड़ दिया गया है, कथासंकेत को अन्यांतरित कर दिया गया है।

कुछ स्थलो को उदाहरण के रूप मे देखा जा सकता है। **अहल्यायै जारः** (ऋग्संहिता) का अर्थ पाश्चात्य विद्वानों ने जो बताया है, वह कुछ भिन्न है। 'वेबर' के मतानुसार **अहिल्या** को **देवी उषा** और **इंद्र** को मेघखंड बताया गया है। 'कीथ' ने अपने ग्रंथ 'रिलिजन्स ऐंड फिलॉसॉफी ऑव् वेद' मे दिखाया कि 'हापकिंस' के अनुसार '**अहिल्या**' का अर्थ बिना जोती हुई, हल के संपर्क से रहित भूमि है।

यह सकेत वाल्मीकिरामायण तथा पुराणों मे गौतमनारी अहिल्या और उसके पातिव्रत्यनाशक इंद्र की लोकगाथा बन गई। इसी प्रकार पुराणों मे प्रसिद्ध वृत्रासुर की कथा है। ऋग्वेद मे 'वृत्र' के शत्रु तथा वृत्र नामक दानव के नाशकर्ता के रूप मे इंद्र की स्तुति बारबार की गई है। अहि भी, अनेक बार वृत्र शब्द का पर्याय बनकर आया है। इस शब्द की अर्थव्याख्या मे पाश्चात्य और पौरस्त्य विद्वानो मे बडा मतभेद है। वह सर्प है, वह पर्वत है, वह कुहासा है, वह जगत का आच्छादक है, वह नदियों के जल का निरोधक अहि या पर्वत है, वह संसार को अंधकार से आच्छन्न करनेवाला है, वह सृष्टि के आरंभ मे पृथ्वी को काले कुहासे से ढँक रखनेवाला अंधकार है। इंद्र का यह शत्रु जल मे चिरकाल तक सोता रहता है। इस वृत्रासुर की कथा का बडे विस्तार के साथ पुराणो मे वर्णन किया गया है। इसका संदर्भबीज वैदिक है जिसके संकेत का आश्रय लेकर वह एक पौराणिक लोकगाथा के रूप मे हमारे सामने आती है।

पर्वतों के पक्षच्छेदन की कथा भी ऐसी ही है। ऋग्वेद मे कहा गया है कि जब पृथ्वी भीषण कपनों से क्षुब्ध थी, क्रुद्धपर्वत पृथ्वी पर विध्वंस लीला कर रहे थे तब अंतरिक्षस्थ इंद्र ने उन्हे स्थिर किया, शांत किया। यह वैदिक संकेत पुराणो की वह प्रसिद्ध कथा बनी जिसके अनुसार सुदूर, अतीत युग मे, पर्वतों को पंख थे, वे उड़ा करते थे तथा उड उड कर एक स्थान से अन्यत्र जा पहुँचते थे और पृथ्वी में ध्वंसलीला मचा देते थे। और तब इंद्र ने अपने वज्र से उनके पंख काटकर उन्हें अचल या नग ('न गच्छतीति नगः' अर्थात् न चलनेवाला, न उडनेवाला) बनाया। इसी से इंद्र का एक नाम गोत्रभिद् भी हुआ।

कथासंकेत का रूपांतरण भी देखा जा सकता है। वृष्णियों (यदु-वंशियों) की कामनाओं का बरसानेवाला भी इंद्र को कहा गया है।[1] विष्णु के निकट, अतिसमीपी बंधुदेव या कभी कभी अभिन्नदेव होने के कारण इंद्र की विशिष्टता का अन्यांतरण होकर कृष्ण के साथ उनका अभेद हो गया।[2] राधाओं के पति इंद्र के रूप का आरोप होकर 'राधावल्लभ' कृष्ण के रूप

---

१. स यो वृषाः वृष्ण्येभिः समोका महो दिवः पृथिव्याश्च सम्राट्।
सतीनसत्वा हव्यो भरेषु मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती॥
—ऋक्संहिता १।१००।१

२. अस्येदु मातुः सवनेषु सद्यो महः पितु पपिवाञ्चार्वन्ना।
मुषायद्विष्णुः पचतं सहीयान्विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता॥
—वही १।६१।७

में परिवर्तित हुआ।[1] कार्यसाधन के लिये अनेक रूप धारण करनेवाले मायाशील इंद्र का गुण विष्णु में आरोपित कर अनेक रूपों में अवतार लेनेवाले विष्णु के साथ अवतारवाद की मान्यता और परंपरा जोड़ दी गई।[2] सीता शब्द का जो कोशोक्त एक अर्थ है (लांगलपद्धति अर्थात् हल के फाल की पद्धति या चिह्न—ईषा लाङ्गलदण्डः स्यात् सीता लाङ्गलपद्धतिः)। उसी अर्थ में उक्त शब्द का प्रयोग करते हुए सीता की स्तुति मे कहा गया है—

अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा।
यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि॥
इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषानु यच्छतु।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥

—ऋक्सं० ४।५७।६-७

[हे सुभगे (सौभाग्यदायिनी या सौभाग्यशालिनी) सीते, तू बनी रह, वर्तमान रह। हम तेरी वंदना करते हैं। तू हमारे लिये सुंदर, गुणयुक्त धान्य उत्पन्न करती रह। तुझसे हमें सुफल (अच्छे अच्छे फल) प्राप्त होते रहे।

सीता को साथ लेकर इंद्र चलें, देव पूष (भी) सीता का अनुगमन करते हुए चलें (अर्थात् इंद्र द्वारा लाए हुए फल का पोषण करे, वृद्धि करें)। दुधारू गाय के समान यह सीता आनेवाले वर्ष-प्रतिवर्षों में हमें फल, भोजन देती रहे।]

अथर्ववेद (३।४।२।९) में भी कुछ इसी प्रकार सीता की वंदना मिलती है। अथर्ववेद के कौशिकीय गृह्यसूत्र (अध्याय ११, कंडिका १०६) मे सीता-

---

१. (क) स मन्दस्वा ह्यन्धसो राधसे तन्वा महे।
न स्तोतारं निदे करः। —वही ३।४१।६

(ख) इद ह्यन्वोजसा सुतं राधानां पते।
पिबात्वस्य गिर्वणः। —वही ३।५१।१०

(ग) सुविवृतं सुनिरजमिन्द्र त्वादातमिद्यशः।
गवामप व्रजं वृधि कृणुष्व राधो अद्रिवः॥

वही—१।१०।७

२. रूपंरूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्।
त्रिर्यद्दिवः परि मुहूर्त्तमागात्स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा॥

—वही ३।५३।८

पूजन का विधिविधान बताते हुए सीता की लंबीचौड़ी स्तुतिवंदना की गई है जिसमें सीता को संबोधन करते हुए पूजा ग्रहण करने की प्रार्थना के प्रसंग में उन्हें पुष्कर विष्णु की पत्नी तक कहा गया है। 'पारस्कर गृह्यसूत्र' में भी कुछ कुछ ऐसी ही स्तुति मिलती है। यदि इस 'सीता' का गाथांतरण होकर विष्णु के अवतारभूत राम की पत्नी जनकपुत्री (जो भूमिजन्या थी और सीता से आविर्भूत हुई थी) बनकर महाभारत के रामोपाख्यान की, वाल्मीकिरामायण की कथा की और भागवतादि पुराण की रामकथा में गाथा देवी बन गई तो इसे भी वेद का एक पौराणिक व्याख्यात्मक गाथाभाष्य ही कहा जा सकता है।

इस प्रसंग में अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। वैदिक वर्ण्यप्रतीक के संदर्भसंकेत किस प्रकार उत्तर वैदिककाल में और विशेषरूप से पौराणिक युग में नाना रूप धारण कर नई साजसज्जा और नूतन वेशभूषा के साथ अवतरित हुए—यह शोध का बड़ा रोचक क्षेत्र है। इस क्षेत्र में बहुत सा कार्य हुआ है और व्यापक पैमाने पर व्यवस्थित और स्वतंत्र रूप से अब भी अनुसंधेय है। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि वैदिक वाङ्मय में जो प्रसंगसंकेत विविध संदर्भों में उपलब्ध होते हैं—पुराणकार ऋषियों ने सामंजस्यपूर्ण समन्वयस्थापना की सद्भावना से प्रेरित होकर पुराणसाहित्य में उनके आख्यानोपाख्यानात्मक भाष्यों की सर्जना द्वारा लोक के सामने उन्हें प्रस्तुत किया।

केवल वैदिक ही नहीं, अनेक स्रोतों से आए हुए वैदिकेतर आर्येतर, आदि-वासीय, द्राविड़, विदेशागत तत्वों और साथ ही साथ लोकप्रचलित परंपरागत जनगाथाओं और न जाने कितने तत्वों का आकलन-अनुशीलन किया। सबको अखंड संस्कृति की महामाला में पुराणकर्ता मुनि गूँथते रहे, पिरोते रहे। स्मृतिसंमत पंचदेवोपासना के रूप में उसका एक समादृत एवं शिष्टजनानुमोदित रूप पुराणों में समन्वयसंमत मत के रूप से हिंदुओं में अधिक प्रचलित हुआ। संस्कृत से अन्यत्र भी पुराणों या पुराणकल्प वाङ्मय में वह प्रयास चलता रहा। जैन सूरियों और मुनियों की पुराणकृतियाँ या पुराणकल्प रचनाएँ इस तथ्य की साक्षिणी हैं।

रामकथा के संदर्भबीज वेदों में ढूँढ़ना बहुत कठिन नहीं है। 'कीथ' ने अपने ग्रंथ में राम, सीता और हनुमान के संदर्भमूलों के अनुमानपुष्ट रूप प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने बताया है वृष्टिकार मौसिमी हवा के अधिष्ठाता हनुमान (जो रामायणादि में वायुपुत्र माने गए हैं), दक्षिण दिशा में स्थित लंका की ओर सीता कृषि या कृषिपोषक जल की खोज में जाते हैं। उनकी सहायता से विश्वपोषक

विष्णुरूपी राम कृषिहानिकारक या जलनिरोधक शक्तियों को पराजित कर जलवर्षा को ले आते हैं और बीजारोपण के अवसर पर कृषि, पुनः सीता की भाँति भूमिगर्भ में प्रविष्ट हो जाती है।

इसी प्रकार विष्णुसखा इंद्र, जो मायारूपी मृग के वधकर्ता हैं—मायामृग-मारीच के वध करनेवाले राम वन जाते हैं। ऋग्वेदमे स्वयं इंद्र को विभीषण कहा गया है—जो रामायण और पुराणों में विष्णु के अवतार राम के सखा हैं। अथर्ववेद में रोगनिवारक औषधि के लिये आया हुआ 'राम' शब्द का **भवरोगतापशमनैकभेषज** अवतारी राम की गाथा मे परिणत होना अत्यंत स्वाभाविक है।

समय समय पर उत्तर और दक्षिण भारत में अनेक धार्मिक, विश्वासों, मान्यताओं और संप्रदायों का उदय और विकास होता रहा। पुराणों की इन दृष्टियों का प्रचार और ग्राह्यत्व दक्षिण में भी होता रहा होगा—यह मान लेना चाहिए। क्योंकि दसवीं-ग्यारहवीं शती से दक्षिण भारत की द्रविड़ भाषाओं में पुराणों-उपपुराणों के अनुवादों या प्रसंगवर्णनों की जो अखंड परंपरा हमें दिखाई देती है—वह पूर्वोक्त कथन की तथ्यात्मकता का बडा ही सबल प्रमाण है।

सगुण काव्यधारा

सगुण भक्ति के दो प्रमुख उपास्य, राम और कृष्ण हैं। एक भिन्न रूप में शिव को भी कहा जा सकता है। यहाँ मुख्यतः राम और कृष्ण की बात कही जा रही है। राम और कृष्ण, पौराणिक मान्यताओं के अनुसार विष्णु के अवतार हैं। 'कृष्ण' की कुछ वैदिक संदर्भचर्चा की जा चुकी है। 'राम' के विषय मे भी उसी प्रकार के उदाहरण देखे जा सकते हैं।

'दशरथ' शब्द अनेक स्थलों पर तो है ही, एकत्र सूर्य भी दशरथ कहे गए हैं। यदि **'राम'** को सूर्यवंशी और दशरथ का पुत्र पुराणों मे कहा गया तो यह संदर्भ-अर्थाख्यान उचित ही समझना चाहिए। ब्रह्मा का पूजक और उनसे अमरता का वरदान पानेवाला दशानन—अथर्ववेदसंहिता के अनुसार ब्रह्मा की सृष्टि और देवांश सोमरस का प्रथम पानकर्ता है[1]। अतः वह देवशत्रु होकर राम का वध्य भी हो सकता है। शिवधनुष को उठा लेनेवाली सीता के समान ऋग्वेदोक्त तडित की देवी वाक् ने भी रुद्रधनुष की प्रत्यंचा चढ़ाई थी।

---

१. ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः।
स सोमं प्रथमः पपौ चकाराऽरसं विषम्॥
अथर्वसं० ४।१।६।१

कहने का तात्पर्य यही है कि आर्य और आर्येतर तत्त्वों को लेकर पुराणों की समन्वयसाधना दक्षिण में जाकर परंपरा, मान्यता और पुरातन संस्कारों के अनुरूप 'शैव' और 'वैष्णव' संप्रदायों के अनेक रूपों में, परिस्थितिवश विकसित, प्रसारित होकर आंदोलन के रूप में प्रकट हुई।

पौराणिक समन्वयसाधना का भक्तिविकास में योग

यहाँ यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि भारतवर्ष में प्राचीन और मध्य युग तक उत्तर-दक्षिण, आर्य-अनार्य, देशी-विदेशी और नैगमिक तथा आगमिक दृष्टियों के भेद के लोप का जो प्रबल प्रयास होता रहा उसमें कदाचित् सर्वाधिक पुराणाचार्यों या पौराणिक समन्वयवादी मनोवृत्तिवाले उदार जनों का था। सामाजिक, धार्मिक, दार्शनिक, आचारिक, औपासनिक और कर्मकांडीय तत्वों के सहयोग एवं समन्वितसयोग द्वारा, सामान्यतः अखंड और सार्वभौम संस्कृति का निर्माण किया गया। इस सर्वसंग्रही स्वरूप में अपनी अपनी परंपरा, मान्यता, रुचिवैचित्र्य, दृष्टिभेद और देशकाल, समाज के प्रभाव से उदित एवं विकसित उपासना या पूजा किंवा धर्म की पद्धतियों और उनके प्रेरक दार्शनिक या चैतनिक विचारों के अनुसार समस्त भारत चल रहा था। नाना पथजुष्ट नाना वर्ग और नाना देश के विविध जनसमूहों में, अपनी अपनी रुचि का अनुसरण हो रहा था। अनेकानेक नैगमिक आगमिक धाराएँ सैकड़ों स्रोतों में, अलग अलग मार्ग से बहती रहकर भी एकता में आबद्ध थीं; अनेक होकर भी सब एक थी। पुराणकारों के नेतृत्व में यह समन्वयसाधना और एकसूत्रीकरण—सबल शक्ति के रूप में प्रवर्तमान था।

समय समय पर अनेकानेक बार दृष्टिसंकोच, अनुदारता, स्वार्थ, लिप्सा, संकीर्णता और ह्रासोन्मुखी वृत्ति के संकोचशील अहंभाव के कारण बीच बीच में विरोध, संघर्ष या इस तरह की कटुताएँ भी प्रकट होती रहती थीं। इनसे समन्वय और सामंजस्य समय समय अशक्त और अप्रभावकारी सा जान पड़ने लगता था। परंतु आचार्यों की समन्वयसाधना पुनः समाज की विकृति और अस्वस्थता को, यथाशक्ति, दूर करने के प्रयास में लग जाती थी। इसी कारण अविच्छिन्न रूप से भारतीय संस्कृति अनेक कड़ियों से विरचित होकर भी बिंदु बिंदु से संघटित अखंड और अप्रतिहत धारा के रूप में बहती चली गई।

सशक्त वैष्णवोपासना

इस सांस्कृतिक महाप्रवाह में वैष्णवोपासना की धारा, संभवतः गुप्तों के साम्राज्यकाल में अत्यंत प्रबल हो उठी। इस प्रबल स्वर का अनुगुंजन पुराणों में विशेषतः वैष्णव पुराणों मे, गूँजता सुनाई पडता है। निश्चय ही पुराणकर्ता आचार्यों का इसमे योग सर्वाधिक महत्व का था। इसी के साथ साथ, वैष्णव या भागवत संप्रदाय या संप्रदायों को गुप्तवंशी परमभागवत सम्राटों से प्राप्त संरक्षण, समर्थन और पोषण बडे महत्व का अवश्य रहा।

अपनी इसी शक्ति और प्राणवत्ता के कारण, जीवन में, समाज मे यह उपासनापद्धति निरंतर दृढ, दृढतर होती गई। विग्रहजयी मूर्ति की उपासना के रूप मे भी देवालयों में उसकी प्रतिष्ठा और स्वीकृति बहुमान बन गई। उसका प्रचार और प्रसार बढ़ा। निरंतर पोष्यमाण यह धारा अपनी सजीवता और गतिमत्ता के कारण भारत के उत्तर और दक्षिण, पूर्व और पश्चिम— सभी अंचलों में फैलती गई। दक्षिण में पहुँचने के अनंतर वहाँ की परिस्थिति तथा मनोवृत्ति के कारण एक प्रतिक्रिया हुई। जातिभेद की कठोरता और सामाजिक वर्गभेद की संकीर्णता के फलस्वरूप उस प्रबल प्रतिक्रिया ने वर्णाश्रम के द्विज-समाज के प्रति एक प्रकार का विद्रोह किया और कठोर वैदिकस्मार्त जातिविधान के विपरीत वहाँ भक्ति के क्षेत्र में सभी को दर्शन-पूजन-भजन का अधिकार घोषित किया। इस मान्यता मे वेदांती-मीमांसकों के अनुयायियों द्वारा बहिष्कृत नीच कहीं जानेवाली जातियों और स्त्रीशूद्रो—सबको समान अधिकार मिला। वर्णाश्रमी वर्णबंधन के प्रति इस विद्रोहभाव ने भक्ति के प्रचार को आंदोलन का रूप दिया और भगवद्भक्ति के माध्यम से समस्त मानवमात्र को भगवान् के भजन, कीर्त्तन, नामस्मरण का अधिकारी और साधारण जनसमाज मे मानित-आदृत बनाया। यहाँ यह सब कहने का इतना ही आशय है कि हिंदी मध्यकालीन सगुण भक्ति को लेकर जिस कालप्रवाह का विस्तार दिखाई देता है उसके मूलभूत भक्ति-आंदोलन के शताब्दियों पूर्व वह जन्म ले चुका था और वही दक्षिण से आंदोलन का रूप लेकर उत्तर मे भी नाना शाखाओं के रूप मे फैला तथा पूर्वमध्य युग के हिंदी गायकों, कवियों की वाणी में गूँजने लगा।

प्रस्तुत ग्रंथ : मध्ययुग का वैशिष्ट्य

हिंदी का मध्ययुगीन साहित्य कदाचित् कुछ दृष्टियों से हिंदी साहित्य के इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण अंश है। उसका परकालवर्ती युग स्वरूपशैली की

दृष्टि से यद्यपि अत्यंत वैविध्यपूर्ण है तथापि उनकी चेतना में प्रेरणा देनेवाले तत्वों का प्रभाव क्षिप्र परिवर्तनों से भरा हुआ है। आज का युग वैज्ञानिक प्रभाव की दृष्टि से इतना अधिक उत्प्रेरित है कि उसमें दृष्टिस्थिरता का अवसर कम दिखाई देता है। वैज्ञानिक यातायात के साधनों ने पूर्व, पश्चिम एवं सुदूर देशों की दूरी को इतना अधिक मिटा दिया है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नाना देशों की सांस्कृतिक, राजनीतिक और—विशेषरूप से प्रस्तुत प्रसंग में—साहित्यिक चेतना के प्रभाव एक दूसरे को प्रभावित करते रहे हैं। अँगरेजों के शासनकाल में और प्रमुख रूप से सन् ५७ के सैनिक विद्रोह के अनंतर आधुनिक भारत में पश्चिम की चेतना, अत्यंत प्रभावशाली एवं सर्वग्रासी ढंग से अपनी महत्ता का प्रभाव डालने में सफल हुई। जीवन के समस्त क्षेत्रों में—चिंतनपद्धति, साहित्यनिर्माण, राजनीतिक और राष्ट्रीय चेतना, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, रहन-सहन, शिक्षा और कला, अध्ययन और अध्यापन, शासनप्रबंध और सैन्यसंचालन, औद्योगिक विकास और यातायात के साधन आदि सभी क्षेत्रों में आधुनिक ढंग और नवीन पद्धति से भारत के अधिकांश शिक्षित, दीक्षित एवं विशिष्ट जनवर्ग, मुख्यतः अँगरेजों की ओर और सामान्यतः योरप और अमेरिका की ओर देखने लगा। अपनी उन्नति और विकास के लिये उनकी चतुर्मुखी जीवनचर्या, रहन-सहन, अध्ययन-अध्यापन और साहित्यप्रणयन में भारत बहुत दूर तक उनका अनुकर्ता हो गया।

फलतः साहित्यनिर्माण के क्षेत्र में भी पश्चिमी साहित्य का अत्यंत व्यापक प्रभाव पड़ा। समस्त भारत की वर्तमान या आधुनिक भाषाओं में प्रायः पश्चिमी साहित्य का अनुकरण होने लगा। संपूर्ण वाङ्मय में और साथ ही साथ विशुद्ध साहित्य में, पश्चिम के साहित्यनिर्माणविधियों, साहित्यरूपों, साहित्यिक चेतनाओं एवं साहित्यालोचन की चिंतनदृष्टि में—आधुनिक भाषाएँ बड़े व्यापक पैमाने पर पश्चिम का अनुगमन करने लगीं। यद्यपि संस्कृत के माध्यम और पुराने ढंग से अध्ययन-अध्यापन-विधि भी समस्त भारत में चलती रही और उसका अपना शास्त्रीय दृष्टिकोण तथा अपनी सांस्कृतिक चेतना भी, कुछ मंद गति से ही सही गतिमान रही।

अन्य आधुनिक भाषाओं की अपेक्षा विस्तृततर भूभाग के शिष्ट व्यवहार की भाषा होने के कारण पश्चिम की साहित्यिक विधाओं से हिंदी पूर्णतः प्रभावित हुई। यह भी बहुत दूर तक पश्चिमी और विशेषतः अँगरेजी साहित्य की अनुगामिनी बन गई।

हिंदी में एक ओर तो साहित्यिक विधाओं के विविध रूप निर्मित होने लगे दूसरी ओर योरप के सांस्कृतिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक तत्वों से अनुप्रेरित साहित्यचेतना के प्रभाव से हिंदी साहित्य की सरिता में आधुनिक युग की अनेक धाराएँ-उपधाराएँ फूट पड़ीं। अनेक साहित्यिक ऊर्मियाँ बड़े वेग से उठती बढ़ती हुई अपने आगेवाली ऊर्मियों को क्षिप्र गति से प्रकट करने लगीं।

यहाँ यह सब कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि हिंदी के मध्ययुग में जिस प्रकार अत्यंत सशक्त और दृढ़मूलसगुण भक्ति का प्रवाह नाना शतियों तक जीवंत रूप मे स्थिर दिखाई देता है वैसा आधुनिक युग में नहीं हैं। हिंदी साहित्य का वर्तमानयुग तेजी के साथ पश्चिमी साहित्यपद्धति पर, योरोपीय साहित्यप्रेरणा के पीछे, दौडने के प्रयास में विरुद्ध दिखाई देता है। गत सौ वर्षों में हिंदी साहित्य की गति अनेक मोडों से घूमती हुई तीव्र गति से आधुनिक विश्व के वैज्ञानिक युगविकास और जीवनमूल्यों की नूतन भूमिकाओं के अभिनय में व्यस्त हो गई है।

इसी दृष्टि से हिंदी के मध्ययुग का विशेष महत्व है। इसके पूर्वभाग में भक्तिमयी चेतना की जड़—साहित्य और जनमन—दोनों ही भूमियों में गहराई तक पैठ गई। उसके प्रभाव से भक्तिभाव का हरा भरा शीतलच्छाय जिस महावृक्ष का स्वरूप प्रकट होकर संपोषित और संवर्धित हुआ उस कल्पतरु की आनंददायिनी छाया हिंदी के पूर्व मध्ययुग मे सवर्धित ऐश्वर्यसंपन्न दिखाई पड़ी। पर साथ ही साथ उत्तर मध्यकाल मे भी उसका कलात्मक एवं साहित्यक महत्व निरंतर पूर्ण रहा। भक्तिमय अमृत फलो की निर्माणसंख्या के विचार से उत्तर मध्ययुग की भी महत्ता कम नहीं है। प्रभाव की दृष्टि से भी उसका अपना विशिष्ट स्थान है। सगुण भक्ति की नाना शाखाएँ विलासी, सामती और दरबारी परिवेश मे पहुँचकर भी, रीतिकाल की ललित विलासमयी वेशभूषा से सजसँवर कर भी, कृष्णभक्ति की मधुर प्रभावसीमा के बल से अभिभूत बनी रहीं। राधाकृष्ण और उनके सांप्रदायिक परिकर की आलंबनच्छाया और लीलाक्षेत्रों की परिधिमाधुरी की उपेक्षा न कर सकी। अपने लौकिक और पार्थिव श्रृंगार के अभिनय की सुविधा के लिये उसी की शरण मे जाने को विवश हुई। इस प्रकार रीतिश्रृंगारकाल मे एक ओर जहाँ सांप्रदायिक भक्तों द्वारा सगुण भक्ति की आस्था से विस्फूर्जित साहित्यकृतियों का प्रचुर मात्रा में निर्माण होता रहा वही दूसरी ओर रीतिकालीन श्रृंगार मे वही अवलंबनादि रूप परिवर्तन करके भी मुख्य रूप से श्रृंगारी बनकर ही आते रहे। यद्यपि पूर्व मध्ययुग की ज्ञान-

मार्गी अथवा प्रेममार्गी सूफी संतों की विविध काव्यधाराएँ भी निरंतर प्रवहमाण रहीं तथापि सांस्कृतिक आध्यात्मिक, दार्शनिक और विशेषतः कलात्मक कारणों से धीरे धीरे, उनका साहित्यिक प्रभाव और कलाचेतना निर्बल पड़ती गई। फिर भी उसके साहित्य का निर्माणक्रम, सांप्रदायिक मंडलों में चलता रहा।

सगुणभक्तिधारा रीतियुगीन श्रृंगार की ललित वेशभूषा और साज-सज्जा के कारण तद्‌युगीन मनोवृत्ति के अनुरूप रूपधारी होकर जनता के मनोगत, एवं चैतनिक सूत्र का संबंध भक्तिकाल से बनाए रखने में समर्थ हुई। आधुनिक युग तक भी भक्तिधारा की छोटी बड़ी साहित्यकृतियों का प्रणयनक्रम संप्रदायपीठों और मत के अनुयायियों के वर्ग में चलता आ रहा है।

इस कारण मध्ययुग का हिंदी साहित्य, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक, सांप्रदायिक, कालसीमा और शक्तिमत्ता की दृष्टि से अत्यंत प्रबल, और कदाचित् सर्वाधिक प्रेरणादायक और महत्त्वपूर्ण भी रहा।

मध्ययुगीन सगुण भक्ति का अनुसंधान

सगुण भक्तिधारा की अनेक शाखा, प्रशाखाएँ, उपशाखाएँ फूटकर अपनी अपनी गति से यद्यपि बहती रही हैं तथापि उनकी प्रेरणा का मूलस्रोत ढूँढना आवश्यक हो जाता है। इस विवेच्य युग का प्रभाव इसलिये भी विशिष्ट महत्व रखता है कि किसी न किसी रूप से समस्त भारतीय भाषाओं में इसका प्रसार दिखाई पड़ता है। यह साहित्यिक आंदोलन भारत की जनभाषाओं में, शास्त्र और काव्य के निर्माण को प्रेरणा देनेवाला तो था ही साथ ही इस युग में संस्कृत के भी सगुणभक्ति-विषयक प्रभूत ग्रंथों का निर्माण हुआ। इसलिये ऐसे महत्व-पूर्ण शक्तिमान वाङ्‌मय का, विशेषतः हिंदी सगुणकाव्य के सांस्कृतिक प्रेरणा-तत्वों का अनुसंधान, अन्वेषण और शोध अत्यंत महत्वपूर्ण है।

अनेक अनुशीलनकर्ताओं, पंडितों, विद्वानों और साहित्यमर्मज्ञों ने इस दिशा में कार्य किया है। इस प्रसंग में अलग अलग और सामूहिक रूप से जो विभिन्न कार्य हुए, उनका संयोजन—आकलन तो आवश्यक है ही पर इसके साथ ही साथ उनमें जो भ्रांतियाँ, श्रृंखलालोप अथवा जो छूट हो उसका विवरण, संग्रथन और संयोजन भी अत्यंत आवश्यक है। इस संदर्भ में मूलस्रोतों के संबंध में संपूर्ण सांस्कृतिक प्रेरणाओं का सर्वांगीण और सामूहिक आकलन, कदाचित् अब तक न हो पाया था। कुछ अत्यंत प्रभावशाली और प्रामाणिक कड़ियों को, सामंजस्यपूर्ण सयोजन की भावना से ढूँढ निकालने, उनकी ढूढ़-खोज करने

और त्रुटितांश को रिक्तस्थल पर ठीक ठीक बैठा देने का काम, शोधचिकीर्षुओं और अनुसंदिधित्सुओं के लिये परम आवश्यक है।

अनुसंधान और शोध के कार्य मे सबसे आवश्यक कर्तव्य होता है पूर्वाग्रह-मुक्त तटस्थ जिज्ञासा और उसी से उपलब्ध या अन्वेषित तथ्यों का औचित्यपूर्ण ढंग से, यथार्थ स्थान पर समाकलन और संयोजन। प्रस्तुत ग्रंथ के प्रणेता ने शुद्ध शोधभाव से यथाशक्ति अनुसंधाता के कर्तव्यनिर्वाह का प्रयास किया है। पूर्वाग्रह और परंपरागत आस्था से परिच्छिन्न व्यक्तित्व को दूर रखकर, तटस्थ अनुसंधाता के रूप मे उन्होने यथाशक्ति पूर्ण प्रयास किया है। सांस्कृतिक स्रोतों के अन्वेषण मे उन्होंने पूरी सचाई और समूची शक्ति के साथ, जहाँ तक सामग्री उपलब्ध हो सकी उसका संकलन और संग्रहण किया। इसी के साथ साथ शोधकर्ता के लिये जो दूसरा, परंतु और भी अधिक आवश्यक मनोवर्तन है उसका भी, वर्मा जी ने प्रसंशनीय निर्वाह किया है। दूसरी आवश्यक बात यह है कि शोधकर्ता और अनुसंधायक में सामग्रीसंकलन के साथ साथ उपलब्ध तथ्यो और तत्वो का समुचित उपयोग, विनियोग और आकलन एवं परिशीलन करने की क्षमता होनी चाहिए। उसके लिये यह और भी आवश्यक है कि वह संकलित सामग्री की संव्याख्या (इंटर प्रटेशन), उपयोगसीमा का निर्धारण और उपलब्ध अर्थवस्तु का उसी तटस्थ भाव से और उसी प्रकार पूर्वाग्रहमुक्त रहकर उपयोजन और विनियोजन करे। प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक ने अपनी शक्ति के अनुसार इसी पूर्वाग्रहमुक्त तटस्थ दृष्टि से सामग्रीसंकलन भी किया है और उसकी विनियोजना की चेष्टा भी की है। पूर्वाग्रहमुक्ति मे उन्होंने अपने व्यक्तिगत संस्कारो से भी तटस्थ व्यक्तित्व से कार्य कराया है और पूर्व विरचित ग्रंथकर्ता या शोधकर्ताओं के सैद्धांतिक आग्रह से भी अपने को दूर रखने की चेष्टा की है; यद्यपि उनकी मान्यताओं और उनके शोधों का पूरा पूरा उपयोग किया है।

श्रृंखलास्रोत का विकासक्रम

ऊपर की पंक्तियों मे संकेत किया जा चुका है कि हिंदी साहित्य के मध्य-युगीन सगुण भक्ति धारा के स्वरूप की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि निर्माण करनेवाले और उसे प्रेरणा देनेवाले तत्व, बहुसंख्यक थे जिनमें उससे पूर्ववर्ती युग के विभिन्न क्षेत्रों की प्रवृत्तियाँ तथा देशी-विदेशी भावधाराएँ और चिंतनप्रवाह—सबका योग था। विभिन्न भारतीय और विदेशी—नाना विचारधाराओं एवं भावप्रवाहों तथा चैतनिक प्रेरणाओं के नाना तत्वांशों से हिंदी की मध्ययुगीन सगुणभक्ति की सांस्कृतिक

मधुमयी प्रतिमा का निर्माण हुआ। एक ओर ईसाइयों और सूफियों के संपर्क का प्रभावांश उस महाचेतना में आकर मिला दूसरी ओर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश की विभिन्न काव्यधाराओं की संबद्ध और अनुकूल चेतनाशक्तियों ने भी अपना योगदान किया। इसी के साथ साथ वैदिक काल से लेकर अपभ्रंशकाल के नाना नैगमिक और आगमिक भक्ति, प्रेम, शाक्त, बौद्ध, तांत्रिक और गुह्य साधनाओं आदि के प्रवाह से प्रवर्तित मनोवृत्तियों ने भी अपना अपना अंशयोग देकर उक्त प्रतिमा का निर्माण किया, उसे साजसज्जा दी। इन सबका विवेचन, निरूपण, परीक्षण या पर्यालोचन, खंडन और मंडन एवं प्रत्याख्यान और स्थापना—अनेक शोधकर्ता पंडितों ने भी किया है और प्रस्तुत ग्रंथ में भी उनकी यथावश्यक तथा अपेक्षित चर्चा मिलती है।

भक्ति का प्रवाह

पर इस संबंध में एक बात विशेष महत्व की है जिसे प्रस्तुत प्रबंध के लेखक ने तर्कानुमोदित प्रमाणों के आधार पर विचारार्थ विद्वज्जनों के समक्ष उपस्थित किया है। जहाँ तक मेरा ज्ञान है इस अंश की उपस्थापना द्वारा कृतिकार ने सर्वथा नवीन और मौलिक मत सामने रखा है। इसकी ओर पूर्वशोधकों ने कदाचित् जितना ध्यान देना अपेक्षित है उतना अब तक नहीं दिया है। हिंदी के सगुण भक्तिकाव्य के विकास में देवालयीय उपासना की परंपरा का, लेखक की दृष्टि से, संभवतः सर्वाधिक प्रभाव है। इस विषय की चर्चा आगे की पंक्तियों में की जायगी।

भक्ति-आंदोलन और दक्षिण

अनेक विद्वान् मानते हैं कि भक्ति दक्षिण में उत्पन्न हुई और वहाँ से उत्तर भारत में आई। इसी के साथ कुछ विद्वान् यह भी मानते हैं कि दक्षिण में उद्भूत भक्ति के मूल में ईसाई धर्म की भी प्रेरणा का योगदान महत्वपूर्ण है। क्योंकि नवीं (या अधिक से अधिक सातवीं) शती ईसवी तक दक्षिण में ईसाइयों का आगमन हो चुका था, उनके किसी संप्रदाय का गिरजाघर बन चुका था और उनके धर्मगुरु एवं मतप्रचारक अपने सिद्धांत का प्रचार करने लगे थे। पर अनेक प्रतिष्ठित और भारतीय इतिहास के मर्मज्ञ प्रबल प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध कर चुके हैं तथा प्रस्तुत प्रबंध में भी प्रमाणित किया गया है कि दक्षिण की भक्ति ईसाई धर्म की प्रेरणा से विकसित नहीं हुई थी वरन् वह भारतीय भावनाओं से उत्प्रेरित थी। ईसाइयों के मत का कुछ प्रभाव—यदि मान भी लिया जाय कि पड़ा—तो भी वह नगण्य और सर्वथा महत्वहीन

था। शैव, शाक्त, बौद्ध, तांत्रिकों, वामाचारियों, कौलगुह्य-उपासकों, साधकों आदि की साधना, पंचमकारसाधना, शक्तिरूप नारी का महत्व विभिन्न प्रभावों ने भी वैष्णवभक्ति के उद्भव से ही नहीं अपितु मध्यकालीन स्वरूपविकास में भी योगदान अवश्य किया पर आंशिक और सामान्य रूप में ही, न कि व्यापक और अतिमहत्वपूर्ण रूप से। क्योंकि प्राचीन वैष्णव पुराणों, अभिलेखों तथा कुछ ग्रंथों तक (गाथासप्तशती आदि) के संदर्भ, स्पष्टतः कृष्ण, राधा और गोपियों के प्रेममय भजनोपासना और प्रेमाभक्ति के पूर्व-बीजों का सबल आधार प्रकट करते हैं। इन्हीं स्मार्त देवालयीय भक्तिपरंपरा का नाना तत्वों के योग से उत्तरोत्तर विकास होता गया। सहजिया (बंगाल का तंत्राश्रित पंथ) वैष्णवों, आउलबाउलों और सूफियों की प्रेमोपासना, निर्गुनियों और संतों का प्रेम-प्रेम रटना, पुकारना और सर्वाधिक महत्व देना इन सबने अवश्य परंपरागत धारा को प्रबल बनाने में सहायता दी। भक्ति के प्रेममय रूप में इनसे बल मिला, गति मिली, आंदोलन मिला और अंशतः आनंदमयी आसक्ति की मादकता मिली। कुल मिलाकर भक्ति, एक नूतन और मोहिनी भूमिका धारण कर जीवन और साहित्य के रंगमंच पर उल्लासपूर्ण अभिनय करने लगी। 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाए रामानंद' का तात्पर्य यह नहीं है कि उत्तर में भक्ति नहीं थी, दक्षिण में भी पहले नहीं थी; आळवार संतों के समय मे वह उत्पन्न हुई, रामानुज-रामानंद आदि द्वारा प्रतिष्ठित-प्रचारित हुई और रामानंद उसे उत्तर में ले आए। ऐसा समझना या मानना सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक तथ्यों और प्रमाणों की उपेक्षा और अवहेलना होगी। उक्त दोहार्ध की उक्ति का पर्यवसित अर्थ वही है जो पहले कहा जा चुका है, ग्रंथ में भी प्रतिपादित है और भूमिका मे भी। अनुशीलन से असंदिग्ध रूप मे प्रमाणित है कि दक्षिण के भक्ति-आंदोलन के बहुत पहले से ही समग्र भारत में प्रेमसंवलित रूप प्रवर्तित था, बहुत पहले से प्रचलित और देवालयों में अनुवर्तित था। परंतु वह आंदोलनात्मक नहीं था, विह्वलकारी प्रबल प्रेम का प्रवेग भी उसमें कम था। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र जी ने निवेशन (भूमिका) मे यही बात लिखी है—'तब यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका उत्स और भी पुराकल्प है। हाँ, उसमें अतिराग का समावेश (और साथ ही उसका प्रबल आंदोलनात्मक रूप) द्रविड़ देश में हुआ।' यह दिखाया जा चुका है कि भारत में भक्ति के बीज वेदों से ही मिलने लगते है। इतना ही नहीं अथर्ववेद में ऐसे प्रसंग भी मिलते हैं जिनसे प्राग्वैदिक आर्येतर आचार-विचार तथा उनकी उपासनापद्धति और भक्तिचेतना का स्वरूपगत आभास झलक उठता है।

इन सबसे यह भी लगता है कि वैदिक युग मे ही नैगमिक दृष्टि के साथ

आगमिक चेतना के संगम का भी एक प्रयास शुरू हो गया था। यद्यपि आर्यों और आर्येतर जातियों में क्रमशः निगमिक और आगमिक आचार-विचार की धाराएँ भी, अलग अलग और अधिक शक्तिमत्ता के साथ चलती रहीं। पौराणिक युग में पुराणऋषियों द्वारा कैसे इन द्विविध धाराओं का, और साथ ही साथ उभय स्रोत से निर्मापित उभय चेतनाओं का समन्वयप्रयास किया गया— इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। यहाँ केवल यह कहना है कि पुराणकारों की यह समन्वययोजना भक्तिनिष्ठित उपासना, पूजा और विधिविधान को लेकर वैधी मार्ग से प्रवर्तित हो चुकी थी।

श्री वर्मा जी ने प्रचुर मात्रा में उपलब्ध अभिलेखीय साक्ष्यों तथा प्रमाणों के आधार पर यह दिखाने का यथाशक्ति पूर्ण और सफल प्रयास किया है कि विभिन्न तत्वांशों के योग से क्रमागत विकास को प्राप्त, आलोच्य युग (मध्ययुग) में देवालयीय भक्ति और पूजा की वैधी परंपरा भारत के लोकजीवन में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। अभिलेखों में इन मंदिरों और पूजा, रागभोग, उपासनापद्धति आदि से संबद्ध विधिविधानों के वर्णन के लेख इतनी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं जिसके प्रकाश में आलोच्ययुगीन उपासना का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। अत्यंत प्रभावशाली सांस्कृतिक भूमिका के रूप में उसे हिंदी के सगुण भक्तिकाव्य का प्रबलतम प्रेरक तत्व मानना अनिवार्य सा हो उठता है। इतना ही नहीं सेवाराग, पूजाअर्चा, रागभोग और उत्सवकीर्त्तन आदि का जो स्वरूप हिंदी के मध्ययुगीन भक्तिकेंद्रों एवं देवमंदिरों में और भक्तिसाहित्य की कृतियों में मिलता है उसकी प्रेरणा भी बहुत अंशों तक पूर्वोक्त देवालयीय परंपरा के पूजाअर्चा-संबंधी विधि-विधानों से प्रभावित है। उन देवालयों की शैव, वैष्णव पूजापद्धति, अष्टयाम सेवा, रागभोग उत्सवपर्वादि के आयोजन बहुत कुछ गुप्तकालीन और गुप्तोत्तर युगीन राजाओं की जीवनचर्या और दिनचर्या के स्वर से भी प्रतिध्वनित दिखाई देते हैं।

देवालयीय उपासनापरंपरा और अभिलेखसाक्ष्य

यहाँ विशेष रूप से याद रखने की बात यह है कि लेखक ने देवालयसंबद्ध अर्चापूजा और उपासनाभक्ति के प्रमाणभूत अभिलेखों का विनियोजन जिस प्रकार किया है वह, जहाँ तक मैं जानता हूँ, नूतन और अपने ढंग की मौलिक परिकल्पना और उपस्थापना है। हिंदी सगुण भक्तिकाव्य की सांस्कृतिक भूमिका के विवेचनप्रसंग में, कदाचित् इतर विद्वानों ने उक्त प्रभूत सामग्री का ऐसा

उपयोग विनियोग पहले नहीं किया है। जाने क्यों इतिहास के सर्वाधिक दृढ़ प्रमाणभूत इन अभिलेखो मे उपलब्ध साक्ष्यों का उपयोग, प्रस्तुत संदर्भ मे, कुछ उपेक्षित सा पड़ा रहा। इस दिशा में वर्मा जी का प्रयास और उनकी व्याख्या सर्वथा नूतन चेष्टा है। विद्वद्जन और इतिहासमर्मज्ञ कहाँ तक उनके व्याख्यात निष्कर्षदृष्टियों से सहमत होते हैं और कहाँ तक नही यह भविष्य की बात है। अतः संबद्ध विषय के अनुसंधेय शोधकार्य से प्रस्तुत ग्रंथ की उपलब्धि, मान्यता और विचारसरणि की सहायता ली जाय तो कदाचित् कोई हानि नहीं। तटस्थ भाव से मत-निष्कर्षों को प्रमाण की कसौटी पर कसकर उसके खरेपन की परीक्षा करना पंडितो का काम है।

प्रबंध का विवेच्य

इस ग्रंथ की विवेच्य सामग्री भी कम उपयोगी नहीं है। लेखक ने अपनी समझ से प्रबंधसंबद्ध आवश्यक सामग्री का संग्रह, संकलन और व्याख्या करने का यथाशक्ति प्रयास किया है। अनपेक्षित और आधारहीन (अमूल) विषय की चर्चा और अनावश्यक विस्तार से यथासंभव बचने का प्रयास भी किया है। फिर भी यह आवश्यक नही है कि जो कुछ इस प्रबंध मे कहा गया है वह सबके लिये मान्य ही हो। ग्रंथकार की अपनी तटस्थ विवेचना यदि तर्कपुष्ट है तो उसके विवेचन का स्वागत हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि लेखक ने एक शोधात्मक विचार प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार देवालयीय परंपरा तथा आगमिक भक्ति का, सांस्कृतिक प्रेरणा के रूप मे, मध्यकालीन हिंदी सगुण भक्तिकाव्य पर सर्वाधिक प्रभाव पडा है।

दक्षिण का भक्ति-आंदोलन

दक्षिण भारत मे, सामान्यतः नवम शताब्दी के आसपास या अधिक से अधिक, सातवी आठवी शती से भक्ति का प्रारंभ हुआ—ऐसा माना जाता है। उत्तर भारत मे यद्यपि सामान्य जनजीवन को प्रेरित और प्रभावित करनेवाला भक्ति का आंदोलनरूप उससे पूर्व प्रतिष्ठित नही था तथापि सामान्य स्मार्तों एवं उससे प्रभावित लोकजीवन मे गुप्तयुग के आरंभ से निश्चित रूप मे वैष्णवभक्ति व्यापक स्तर पर प्रतिष्ठित हो चुकी थी। पौराणिक मनीषियो द्वारा विभिन्न स्रोतो से प्रवर्तनमान तत्वों में सामंजस्य और समन्वय स्थापित करते हुए पुराण-ऋषिओ ने आर्य-आर्येतर तत्वसंपृक्त स्वरूप का सिद्धांत प्रतिष्ठित कर दिया था। उसी का अनुगमन करते हुए, तद्युगीन विभिन्न आगमिक, पौराणिक,

आभीर एवं अनुकूल अन्य विश्वासों और संप्रदायमान्यताओं का समन्वयीकृत व्यवहार देवालयकेंद्रों में प्रवर्तित हो गया था। ये देवालय जनता और धर्मपद्धति का अनुगमन करनेवाले—दोनों के लिये आकर्षणकारी तथा प्रभावशाली केंद्र बन चुके थे।

इस संबंध में कहा जाता है कि गुप्तवंशजा प्रभावती गुप्ता का दक्षिण के वाकाटक साम्राज्यपति से वैवाहिक संबंध होने के फलस्वरूप ही वैष्णव भक्ति उत्तर से दक्षिण में पहुँची और जहाँ वह व्यापक प्रभाव डालनेवाली बन गई। कदाचित् ब्राह्मणों और अब्राह्मणों में परस्पर सामाजिक अलगाव और वर्णाश्रम व्यवस्था की कठोरता के कारण भक्तिमूलक उपासना को दक्षिण में अधिक अनुकूल अवसर मिला। भक्ति के क्षेत्र में ऊँच नीच और जातपात के भेद को हटाकर स्पृश्यास्पृश्य की रूढ़िग्रस्त भावना से बहुत आगे बढ़कर, मनुष्यमात्र को भक्ति का अधिकारी बनानेवाला आंदोलन और प्रचार, साथ ही साथ चल पड़ा। इसी कारण कहा जाता है कि भक्ति की सर्वप्रथम प्रबल उद्‌बोधिका और तन्मय भाव से भगवद्‌भजन करनेवाली सप्राण महिला ने, जो अब्राह्मण या शूद्रकल्प वर्ग की मानी जाती थी, महान् कार्य किया। दक्षिण का वातावरण और वहाँ का जातिगत भेदभाव इस आंदोलन के सर्वथा अनुकूल रहा। परिणामस्वरूप आंदोलन के रूप में दक्षिण के साधकों ने वैष्णवभक्ति का प्रसार और प्रचार बड़े वेग से प्रारंभ किया। शक्ति और उत्साह के साथ प्रक्रियमाण इस भक्तिआंदोलन में प्रेमतत्व अथवा रागवृत्ति का आधिक्य भी बड़ा वेगशील और उल्लासपूर्ण रहा। इसी कारण दक्षिण में भक्ति-आंदोलन के दार्शनिक स्वरूप की प्रतिष्ठा करनेवाले और उसको शास्त्रसंमतस्वरूप देनेवाले 'रामानुज' जैसे आचार्यों का भी आविर्भाव हुआ। इससे दक्षिण की भक्ति ने नई वेशभूषा धारण की। वैदिक, शास्त्रानुमोदित, स्मार्त एवं वैधी परंपरा में भी वह सर्वमान्य हुई। इस संबंध में आश्चर्य की बात यह है कि नैगमिक परंपरा का बहुत दूर तक अनुसरण करनेवाले तथा बौद्धप्रभावों से उच्छिद्यमान नैगमिक स्मार्तवर्णाश्रम व्यवस्था के प्रबल समर्थक और दार्शनिक जगत् के देदीप्यमान दिवाकर शंकराचार्य भी उसी दक्षिण देश में, रामानुज से पहले आविर्भूत हुए। निर्गुण ब्रह्म के ज्ञानमार्गी अद्वैतवादी साधक आचार्य शंकर साक्षात् शंकर के अवतार माने गए जिनकी तर्कपुष्ट युक्तियों ने वैदिक सिद्धांत के आलोक में अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की।

निगमों और विशेष रूप से उपनिषदों को सर्वाधिक प्रामाण्य का स्थान देकर आचार्य शंकर ने नैगमिक धारा का समर्थन किया। यहाँ एक बात विशेष

रूप से ध्यान में रखने की है। ब्रह्मसूत्र के भाष्यमाध्यम से जिस मतवाद की उन्होंने संस्थापना की उसकी आधारभूत प्रस्थानत्रयी में उत्कृष्ट प्रामाण्य ग्रंथ के रूप में श्रीमद्भगवद्गीता को मान्यता दी गई और गीता मे तो कर्मयोग और ज्ञानयोग के साथ भक्तियोग का भी प्रतिपादन मिलता है। महाभारत महापुराण काव्य का अंश होने के साथ साथ औपनिषदिक उक्तिसंपत्ति से यह गीता भरी हुई है। कहने का सारांश यह कि सैद्धांतिक रूप में और पारमार्थिक दृष्टि से निरवच्छिन्न, गुणातीत, वाक्, मन और कर्म से परे अद्वैत ब्रह्म की स्थापना करनेवाले शंकराचार्य भी व्यावहारिक और मायाप्रवाहपतित जनसमाज के लिये भक्ति का प्रत्याख्यान नहीं करते थे। यदि अनेक नाम से प्रचलित सैकडों स्तोत्रों में थोड़े से भी आद्य शंकराचार्य की कृतियाँ है तो व्यावहारिक और कर्माश्रित जीवन में मुरारि की समर्चा (सकृदपि येन मुरारिसमर्चा) कहकर न्यूनाधिक रूप में पंचदेवोपासना और तदंगभूत कृष्णभक्ति का भी शंकराचार्य समर्थन करते हैं। यहाँ द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की प्रतिध्वनि के रूप में यदि मनीषी यह कहें कि 'शंकराचार्य' की निर्गुणसाधना ने ही रामानुज की सगुणोपासना को स्वांतर्निहित बीजतत्व द्वारा क्रियाप्रक्रिया के रूप में अंकुरण और बर्धन की प्रेरणा दी तो कदाचित् सर्वथा प्रत्याख्येय न होगा।

'रामानुज' के द्वारा सगुण भक्ति को शास्त्रीय स्मार्तस्वरूप प्राप्त होने से उसके अधिकारी क्षेत्र मे जो संकोच और कठोरता थी वह दक्षिण की प्रचुर रागमयी एव जातपात के बंधन से रहित भक्तिमान्यता और भक्ति-आंदोलन के अनुकूल पडी। अतः उन्हीं के अनुयायियों और शिष्यपरंपरा के ही आचार्यों, संतो ने दक्षिण की रामानुजपूर्ववर्ती, सामान्यजनव्याप्त भक्ति की निर्बंध मूलधारा से जा मिली। रामानुज की वैधी और स्मार्तमतानुमोदित भक्ति के प्रवाहपंथ से विलग होकर मानवमात्रसुलभ अनुरागबहुल भक्तिधारा वेग से बह चली। शताब्दियों तक कृष्णभक्ति के प्रेमसाधक महान् आचार्यों का आविर्भाव और उनकी भक्तिस्रोतस्विनी दक्षिण में एक के बाद एक फूटती और बहती रही। उत्तर मे भी आंदोलन के रूप में वह राजस्थान से लेकर असम, बंगाल, उड़ीसा तक फैल गई। आगे चलकर उसका केंद्र वृंदावन बन गया। बंगाल और उड़ीसा का गौडीय माध्वसंप्रदाय अथवा चैतन्यभक्तिधारा, नदिया और पुरी मे उत्पन्न एवं पुष्ट होकर भी वृंदावन और ब्रजमंडल में प्रतिष्ठित हो गई।

इन सब बातों की विशेष चर्चा यहाँ आवश्यक नहीं है। ग्रंथकार ने प्रथम और द्वितीय अध्याय में बहुत ही युक्तियुक्त सरणि से इन विषयों का विवेचन किया

है। द्वितीय अध्याय में विशेष रूप से भक्ति-आंदोलन के प्रवर्तक कारणों और स्थानकेंद्रों की विवेचना की है। तृतीय और चतुर्थ अध्याय में सगुण भक्ति-संबंधी विविध विषयों, दर्शन और पंथों तथा उनके सिद्धांत के मूलस्वरूप का संक्षिप्त पर सुस्पष्ट रूप में विवेचन करने के अनंतर सगुण भक्ति के सम्प्रदायगत विभिन्न विवरणों का कृतिकार ने परिचय दिया है। पंचम अध्याय में सामाजिक व्यवस्था का निरूपण करने के अनतर षष्ठ अध्याय में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों एवं मान्यताओं की चर्चा करने के बाद प्रबंधकार ने सगुण-निर्गुण-संघर्ष और मठपरंपरा का इतिहास और चार प्रमुख वैष्णव संप्रदायों का संक्षिप्त परिचय देकर अपने मुख्य प्रतिपाद्य का एवं अन्य तत्संबद्ध विषयों का सामान्य चित्र ग्रंथकार ने सामने रखा है। इसी प्रकरण में इस देवालयीय परंपरा के उपादानों-उपकरणों और विधिविधानों का परिचय-स्वरूप भी बताया गया जिसके द्वारा आगमिक भक्तिधारा का देवालयीय रूप विकसित हुआ और आगे चलकर वही सांस्कृतिक भूमिका के रूप में हिंदी के मध्यकालीन सगुण भक्तिशाखा और उस शाखा के साहित्यिक वाङ्मय का अत्यंत प्रबल प्रेरक और उपजीव्य तत्व बना है। यद्यपि इसी अध्याय में वर्णित चतुर्विध धार्मिक जीवन में भक्ति के तत्व घुले मिले रहे, सिद्ध-संतों की निर्गुणभक्ति, श्रौतस्मार्तों की मर्यादावादी भक्ति और आगमिक भक्तिपरंपरा में विकसित शास्त्रवादी भक्ति तथा देवालयीय परंपरा से विजातीय तत्वों का अंश लेकर रसवादियों की मधुर भक्ति—इन सबका महत्व, उपजीव्यतत्व और प्रभावशीलत्व—इसी षष्ठ अध्याय में निरूपित हुआ है। यहाँ यह भी बताया गया है कि पूर्व मध्यकाल के चतुर्विध जीवन पर देवालयीय परंपरा के साथ साथ साक्षात् और परंपरया मठपरंपरा का भी प्रभाव दृष्टिगत होता है। अंतिम अध्याय में साहित्य और कला से संबद्ध विभिन्न शास्त्रीय और साहित्यिक पक्षों का विवेचन करते हुए मधुर रस,• कृष्ण रस, उज्ज्वल रस, प्रेमभक्ति-रस, राममधुरोपासना और रसवादीभक्तहिततत्व, वृंदावन रस और गुप्त रस आदि की संक्षिप्त, पर स्वरूपपरिचायक विवेचना की गई है। अष्टम अध्याय में काव्य और साहित्यसंबंधी हिंदी के प्रेमनिष्ठ और सगुण काव्यक्षेत्र के विवेचन के साथ साथ ललित कला-संबंधी अभिव्यक्तियों और वाङ्मय के परिप्रेक्ष्य में सगुण भक्तिभावना के आयाम की सीमा-मान्यताओं का आलोक लेकर विवेचन प्रस्तुत हुआ है। अंत में निष्कर्षात्मक पृष्ठों का उपसंहार देकर मुख्य ग्रंथ समाप्त होता है।

डा० रामनरेश वर्मा ने जो विचार और मंतव्य, जो निष्कर्ष और मान्यताएँ, जो सिद्धांत और उत्तरपक्ष—इस ग्रंथ द्वारा उपस्थित किए हैं वे विवेच्य विषय के समीक्षण और चिंतन में अनुसंदिधित्सुओं को प्रेरणा देंगे तथा इस विषय में अधिक

साधकसंपन्न और व्यापक दृष्टि लेकर विद्वज्जन अपने शोधसमर्थित विचारों को सप्रमाण उपस्थित करेंगे। कुछ ऐसी बातें इस ग्रंथ में हो सकती हैं जिनसे चिंतकों और विचारकों के मतभेद हों। दो-एक स्थल ऐसे हैं जिनसे मेरा भी इषत् मतांतर है। कहीं कही इस ग्रंथ में प्रासंगिक संदर्भों पर विशेष विस्तार हो जाने से आधिकारिक संदर्भ गौणासन पर बैठ गए हैं और आगत प्रसंग सिंहासनासीन। विषयविस्तार के क्रम में अनेकानेक विवेच्यों की बहुलता ने कदाचित् कलेवरवृद्धि बचाने के भय से, ग्रंथकार को कही कही अपेक्षित विश्लेषण और विषयनिरूपण में अग्रसर होने से रोक लिया है। फलतः वह स्पष्टतः कुछ धूमिल सी दिखाई पड़ जाती है। फिर भी शोधसिद्धांत के लिये आवश्यक दृष्टि का आधार लेकर, अनुसंधायक की प्रमाणपुष्ट और सावधान तटस्थता के साथ वर्मा जी ने जिस रूप में अपनी उपलब्धियाँ प्रस्तुत की हैं वह सर्वथा स्वागतार्ह है, इसमे मुझे तनिक भी संदेह नहीं। आशा है कि हिंदी साहित्य के शोधकर्ता और समीक्षक प्रेमी इस ग्रंथ को रुचि के साथ पढ़ेंगे और अपनी प्रतिक्रियाएँ अभिव्यक्त करेंगे।

निर्जला ११, संवत् २०२० वि०

करुणापति त्रिपाठी
साहित्य मंत्री
ना० प्र० सभा, काशी

देवालयो विजयते स हि मध्यकाले
नैराश्य - भग्न - हृदये विषमेऽन्धकारे ।
आशार्चिषां ज्वलयितोर्ध्वगतेर्विधाता
यः स्वास्थ्यसम्भृतविभो नवदृष्टिदोऽभूत् ॥ १ ॥

अचर-चर-समग्रोल्लासलक्ष्मीं दधाना,
दिवि-वियति-रसायां विश्वरूपस्य विष्णोः ।
भजन[1] - हरण[2] - योगैराह्वयन्तीव भक्तान्,
जयति जगति कीर्तिः काऽपि देवालयस्य ॥ २ ॥

विश्वेशप्रतिभूर्विभोर्भगवतः साक्षान्निवासस्थलं,
प्रासादो जगदीश्वरस्य सततं शान्तात्मनां कामदः ।
विद्या-काव्य-कला-विधौ मतिमतां सञ्जीवने दर्शने,
धर्मे चाभ्युदयप्रदो विजयते देवालयो भारते ॥ ३ ॥

---

१. भोगमूर्ति । २. संहारमूर्ति ।

विषय सूची

प्रथम अध्याय

आदिवाणी

द्वितीय अध्याय

भक्ति आंदोलन : प्रवर्तन के कारण और स्थान

तृतीय अध्याय

भक्ति—१

चतुर्थ अध्याय

भक्ति—२

पंचम अध्याय

समाज

षष्ठ अध्याय

धार्मिक संप्रदायों का संगठन

सप्तम अध्याय

साहित्य और कला—१

अष्टम अध्याय

साहित्य और कला—२

नवम अध्याय

हिंदी सगुण काव्य
की
सांस्कृतिक भूमिका

प्रथम अध्याय

आदिवासी

चित्र संख्या—२



पृष्ठ संख्या १२०, अनुच्छेद ७४, टि० १

१

आदिवाणी

१. उन्नीसवीं शताब्दी में भारत का पुनर्जागरण हुआ। पश्चिमी संपर्क ने हमारे देश की म्लानता को झाड़कर आधुनिक युग की नई चेतना को अंकुरित किया। इस काल की दो प्रधान प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं—वैज्ञानिक भौतिकतावाद और सामाजिक अथवा रहस्यवादी मानवतावाद। प्रथम प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप सामाजिक विकासवाद की भित्ति पर समस्त सांस्कृतिक धाराओं का परिशीलन प्रारंभ हुआ तथा द्वितीय प्रवृत्ति के कारण मानव, साधारण मनुष्य न कि महापुरुष, इन सब सांस्कृतिक धाराओं का केंद्र बन गया। हिंदी साहित्य की समीक्षा में भी ये प्रवृत्तियाँ व्यक्त हुईं, पर कुछ विलंब से ही।

२. भारतेंदुयुग तक हिंदीसाहित्य की समीक्षापद्धति संस्कृत की लक्षणग्रंथोंवाली शास्त्रीय या सैद्धांतिक समालोचना की अनुगामिनी बनी रही। साहित्यालोचन का यह शास्त्रीय प्रतिमान 'महापुरुष' के सौंदर्यमान पर उत्तरोत्तर आश्रित होता गया। वास्तव में 'महापुरुष' के सौंदर्यमान ने प्राचीन काल में इस देश की अनेक सांस्कृतिक धाराओं को प्रभावित किया था। धर्म और दर्शन में प्रारंभ से ही पुरुष की धारणा ने यथेष्ट योग दिया[1]। ज्योतिष शास्त्र में भी कालपुरुष की कल्पना हुई[2]। मूर्ति कला में

---

१. विराट पुरुष की कल्पना ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में उपलब्ध होती है। समग्र धार्मिक साहित्य में देवताओं का रूप प्रायः नराकार कल्पित हुआ है। सांख्य दर्शन का अन्यतरमूलतत्व 'पुरुष' ही है।

२. शीर्ष-बाहु-हृदयोदराणि कटि-बस्ति-गुह्य-संज्ञानि।
ऊरू जानू जङ्घे चरणाविति राशयोऽजाद्याः॥

लघुजातक अध्याय १। श्लोक ४

तो स्वभावतः शारीरिक सौंदर्यमान का अपना स्थान था किंतु मंदिर को भी दिव्यपुरुष का शरीर माना गया[1]। वास्तुपुरुष की कल्पना स्थापत्य कला की भूमिका है[2]। संगीत कला मे रागरागिनियों का मानवीकरण इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। वैद्यक शास्त्र और काव्य शास्त्र का घनिष्ठ संबंध इसी सामान्य पुरुषधारणा के कारण है। 'महापुरुष' के 'लक्षणों और 'व्यंजनों' की चर्चा सर्वप्रथम भगवान् बुद्ध से संबद्ध मिलती है[3]। महायान के सस्कृत ग्रंथो मे विस्तार से इन लक्षणों और व्यंजनों की व्याख्या की गई है[4]। भरत के नाट्यशास्त्र के सोलहवें अध्याय मे काव्य के लक्षणों का हमे विवरण मिलता है। इसी प्रसंग मे अभिनवगुप्त ने काव्य और पुरुषकाय के संबंध को बड़े विस्तार से स्पष्ट किया है[5]। परतु अभिनवगुप्त के भी पहले प्रतिहार सम्राट महेंद्रपाल के आचार्य राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा मे काव्यपुरुष का सागोपांग विवेचन प्रस्तुत किया[6]।

३. राजशेखर से कुछ पूर्व ही काव्यपुरुष के शरीर, आत्मा, गुणों एवं अलंकारों पर सामंजस्यपूर्ण विचार की परिपाटी चल पड़ी थी। सर्वप्रथम वामन ने काव्य के शरीर, आत्मा तथा उनके पारस्परिक संबंध की विवेचना का श्रीगणेश किया[7]। कालांतर मे इस नव प्रवृत्ति के अंतर्गत भिन्न भिन्न दार्शनिक सिद्धांतों का प्रवेश हुआ।

---

१. ईशानशिवगुरुपद्धति। जिल्द ३। अध्याय १२। श्लोक १६ तथा अ स्टडी आन वास्तु विद्या, पृ० ३२८ पर हयशीर्ष पांचरात्र का उद्धरण एवं अग्नि पुराण, अध्याय ६१। श्लोक २६-२७ द्रष्टव्य हैं।

२. मत्स्यपुराण। अध्याय २५१

३. बुधिष्ट आर्ट इन इंडिया,-ए० ग्रुनवेडिल, अनु० जिप्सन, पृ० १५८ आदि, लंदन १९०१।

४. ललितविस्तर, पृ० ९२ तथा ग्रुनवेडिल, पृ० १६१।

५. '······गुणशून्यं तु न काव्यं किंचिदपीयति च महापुरुषो दृष्टान्तः अहेयत्व-प्रदर्शनार्थम्······' नाट्यशास्त्र, जिल्द २, पृ० २९४-३२२, बड़ौदा सीरीज सन् १९३४।

६. 'तेषु च सारस्वतेयो वृन्दीयसामपिवन्द्यः काव्यपुरुष आसीत्' काव्य०। अध्याय १। पृ० ३। चौखंभा संस्कृत सी० सं० १९९१।

७. रीतिरात्मा काव्यस्य। काव्यालंकार सूत्र १।२।६।

साहित्य शास्त्र मे इन दार्शनिक सिद्धातों के आलोक मे काव्यपुरुष के आत्मभूत रस की अनेक व्याख्याएं हुई। भट्टनायक ने मीमांसा शास्त्र की छाया मे[1], श्रीशंकुक ने न्याय शास्त्र की भूमिका मे, अभिनवगुप्त ने शैवागम के आलोक मे तथा पंडितराज जगन्नाथ ने अद्वैत दर्शन के आभोग मे रससूत्र का प्रस्तार किया। भक्त आलंकारिको ने इसकी मीमासा अपने ढंग से की। इस प्रकार काव्य शास्त्र की सैद्धातिक समीक्षा की यह परंपरा महापुरुष के सौंदर्यमान पर स्थित होकर दार्शनिक मतो से आक्रात होती गई। हिंदी मे शास्त्रीय समीक्षा की यह पद्धति संस्कृत की विरासत है। किंतु युगधर्मों को आत्मसात् करती हुई सुदूरगामिनी सांस्कृतिक परंपरा तथा अन्यान्य सास्कृतिक धाराओं के परिपार्श्व मे काव्य के अनुशीलन की विधि का विकास इस पद्धति मे नहीं हुआ और न सामाजिक मानवतावाद की ही प्रतिष्ठा हुई।

४. 'शिवसिंहसरोज' का पहला और दूसरा संस्करण क्रमशः सन् १८७७ ई० एवं सन् १८८३ ई० मे निकला। सन् १९१३ ई० मे 'मिश्रबंधुविनोद' प्रकाशित हुआ। परंतु इन साहित्येतिहासो की आलोचनाएँ भी शास्त्रीय समीक्षा की नपी तुली तथा बँधी बँधाई सरणियों मे व्यक्त हुई। 'सरस्वती' की समालोचनाएँ भी किसी साहित्यिक कृति के विशिलष्ट आशिक चमत्कारों को उभारकर दिखा देने मात्र मे पर्यवसित हैं। इस प्रकार आचार्य शुक्ल की समीक्षापद्धति के आविर्भाव के पूर्व हिंदी साहित्य मे उस व्यवस्थित समीक्षाविधि का सूत्रपात नहीं हुआ जिसमे उपर्युक्त नवीन प्रवृत्तियों के साथ नवता के दर्शन होते।

५. आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल बड़े ही गंभीर विचारवाले तथा स्वतंत्रचेता समीक्षक थे। उनके समीक्षासिद्धांत के नए या पुराने सभी तत्वों मे चिंतन की प्रौढ़ि दिखाई देती है। रससिद्धांत को मनोवैज्ञानिक पीठिका उन्होने ही दी। शब्दशक्ति और अलंकारविधान आदि पर उनका अपना सुविचारित मत था। सामयिक समाज की आदर्शात्मक प्रेरणाओं से उन्होने काव्यालोचन मे 'लोकमंगल' का सिद्धात स्थिर किया। इन तत्वों के साथ उन्होंने साहित्य के सामाजिक प्रेरणास्रोतों एवं प्रभावों को संश्लिष्ट कर सुदृढ़ समालोचनापद्धति की अवतारणा की। वैयक्तिक प्रतिभाओ का विश्लेषण, इस पद्धति की उभरी हुई विशेषता है। फलस्वरूप तुलसी और जायसी

---

१. काव्य प्रकाश की वासनी टीका में भट्टनायक को सांख्य शास्त्रवादी बताया गया है परंतु कतिपय कारणों से ये मीमांसक तथा इनकी रस व्याख्या मीमांसा शास्त्र पर अवलंबित प्रतीत होती है। तदर्थ प्रस्तुत प्रबंध का अध्याय ७। अनुच्छेद १ से ८ तक द्रष्टव्य है।

आदि की समीक्षाएँ सामाजिक प्रेरणास्रोतों तथा सैद्धांतिक विवेचनों के साथ व्यक्तित्व विश्लेषण मे प्रवृत्त दिखाई देती है। किंतु सैद्धांतिक कठोरता और व्यक्तिगत रुचियों के कारण शुक्ल जी उत्कृष्ट साहित्यकारों का समीक्षण अपेक्षित सांस्कृतिक परंपराओं के प्रसंग मे कर सके। दूसरी बात यह है कि शुक्ल जी ने भी अन्य सांस्कृतिक धाराओं के साथ सामजस कर साहित्य की परा शोभा को झलकाने की चेष्टा नहीं की।

६. डा० श्यामसुंदरदास की आलोचना का आदर्श, शुक्ल जी की अपेक्षा अधिक प्रसारगामी और वैज्ञानिक प्रतीत होता है। उन्होंने अपने 'हिंदी साहित्य' के इतिहास मे सामयिक, राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों तथा ललित कलाओं की विभिन्न सास्कृतिक धाराओं के साहचर्य मे काव्यानुशीलन की दिशा बताई है। परंतु इस प्रयत्न में भी समन्वित प्रभाव का अभाव खटकता है। उन्होंने उस अतर्निलीन अविच्छिन्न सास्कृतिक धारा को पकड़ने की कोशिश नहीं की जो सामयिक कला, धर्म, दर्शन और समाज आदि मे समान रीति से अपने को व्यक्त करती है।

७. उपर्युक्त समीक्षा पद्धति को डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने अधिक गतिशील बनाया। उन्होने उस अंतर्निहित सास्कृतिक सूत्र को पकड़ा। इनकी समीक्षा में हमे आधुनिक युग की दोनो प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती है। उन्होंने सामाजिक भूमिका और धार्मिक तथा दार्शनिक चिंतनपरपराओ की पृष्ठभूमि मे बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से काव्यधाराओं के अध्ययन का प्रतिमान प्रस्तुत किया है। यद्यपि यह सत्य है कि प्राचीन दार्शनिक, धार्मिक और काव्यात्मक परंपराओ के प्रसंग में हमारे आलोच्य युग के साहित्य का अनुशीलन डा० द्विवेदी ने अभूतपूर्व सफलता के साथ किया तथापि यह भी सत्य है कि समकालीन मुसलमानी सभ्यता से उद्भूत भारतीय सास्कृतिक धाराओं पर प्रतिक्रिया के अध्ययन मे द्विवेदी जी की चित्तवृत्ति विशेष रूप मे नहीं रमी। दूसरी बात यह है कि इस काल मे भक्ति के साथ काव्य, संगीत एवं चित्र का अनुपम सामजस्य संघटित हो गया था। इन कलाओ मे सामाजिक प्रवृत्तियाँ तथा जीवन के मूल्य बड़े आकर्षक ढंग से व्यक्त हुए है। अतः इनके समन्वित अध्ययन से काव्य के सौंदर्य का जो महत्वपूर्ण निखार दिखाई पड़ता वह इस ढंग के उद्योग के अभाव मे प्रत्यक्ष न हो सका।

८. इस प्रकार प्रस्तुत विषय पर सैद्धातिक, वैयक्तिक और कुछ सांस्कृतिक व्याख्याएँ हुई लेकिन उपर्युक्त कारणों से इस विषय पर कार्य करना अभी भी आवश्यक है।

९. काव्य का सजीव तथा पूर्ण रूप सांस्कृतिक परिपार्श्व मे ही निखरता है। प्रत्येक संस्कृति की कुछ अपनी ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो युगो की विभिन्न परिस्थितियो की विविधताओं से भिन्न भिन्न रूपों मे व्यक्त होती हुई भी अपनी समरूपता बनाए रखती हैं। इस तरह हम संस्कृति के दो रूपों की कल्पना कर सकते हैं—(१) सामान्य संस्कृति अथवा शाश्वत धर्म और (२) विशेष सस्कृति या युग धर्म। इन दोनो रूपो से संसक्त करके तथा धर्म, दर्शन, समाज और ललित कला आदि अन्य संस्कृतिव्यंजक उपकरणो की भूमिका मे ही काव्य की समीक्षा समीचीन कही जा सकती है। उदाहरण के लिये हम पूर्वमध्यकाल को लें तो ज्ञात होगा कि इस काल के आरंभ मे ही भारतीय संस्कृति की दो विशेषताएँ बहुत उभरी हुई थीं—पहली है शृंगारिकता की प्रवृत्ति और दूसरी है अलंकरण वृत्ति। इस शृंगारिकता की विवृत्ति हमको खजुराहो [मध्यप्रदेश], भुवनेश्वर [उत्कल], ओसिया [राजपूताना] मे प्राप्त पूर्वमध्यकालीन मंदिरों के भग्न एवं जुगुप्सात्मक अश्लील मूर्तियो मे, बौद्धो, शाक्तो, शैवो की युगनद्ध तान्त्रिक प्रतिमाओ मे, दार्शनिक विचारों तथा धार्मिक आचारों मे उसी प्रकार मिलती है जिस प्रकार उस समय के भक्तिपूर्ण अथवा ऐतिहासिक काव्यो मे दिखाई पड़ती है। किंतु यह अश्लील होते हुए भी सामान्य संस्कृति-मर्यादा का अतिक्रमण नहीं कर सकी। सामाजिक सगठन का प्रतिरूप 'वर्ण' इस देश की संस्कृति की एक विशेषता है जो व्यक्ति के स्वाभाविक गुणो पर टिकी हुई है। उक्त शृंगारिकता उन्मद और बीभत्स होते हुए भी वर्ण का नियंत्रण मानकर चली। शृंगारिकता यदि पूर्वमध्यकाल की विशेष संस्कृति थी तो वर्णमर्यादा भारतीय सामान्य सस्कृति की प्राचीन विशेषता थी। काव्य की धारा इन दोनो उपकूलो के मध्य से प्रवाहित हुई। इसी प्रकार सप्तम अष्टम शती से मूर्ति कला मे अलंकरण इतना अधिक बढा कि उसने नवीन अभिप्रायो को [मोटिफ] को बिल्कुल दबा दिया। यही चीज हम उस समय के काव्यो मे भी पाते है।

१०. इस प्रसंग मे अभिनवभारती के रसप्रकरण का वह विवेचन स्मरणीय है जिसमे नायक को भोक्ता और नायिका को भोग्या मानते हुए अनेक स्त्रियो के साथ नायक के संबंध को तो अभिनवगुप्त ने शृंगाररस का पोषक कहा परंतु एकाधिक पुरुषों के साथ नायिका के संबंध को शृंगाराभास ठहराया है।[1] पाँच पतिवाली द्रौपदी की समस्या को सुलझाते हुए कुमारिल भट्ट ने अनेक विकल्प उपस्थित किए। प्रधानतया यह कि पंच पाडवो की यद्यपि अलग अगल पाँच पत्नियाँ थीं तथापि उनमें

१. नाट्यशास्त्र : अभिनवभारती, पृ० ३१२

परस्पर इतना साम्य था कि सबकी सब एक द्रौपदी शब्द में ही अभिहित होती थीं।[1] लोक मे कहाँ तक इस समाधान की स्वीकृति हुई, यह विचारणीय है। परंतु कुमारिल के इस प्रयत्न से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि उस समय एक स्त्री का अनेक पुरुषो के साथ संबंध अत्यन्त हेय माना जाता था। पंडितराज जगन्नाथ ने इसी द्रौपदी की 'रति' को लेकर दो मत दिए हैं—पहला यह कि पाँच पतियों से एक साथ विवाहित होने के कारण उनकी रति के परिपोष को प्राचीन लोग शृंगार रस मानते है और दूसरा यह कि अनेकविषया होने के कारण विवाहिता द्रौपदी की रति को भी नए आलंकारिक शृंगाराभास कहते हैं।[2] वास्तव में इस ढंग के विचारो की भूमिका भारतीय सामाजिक संस्कृति है जिसमें एक पुरुष की अनेक प्रेयसियाँ स्वीकृत है पर एक स्त्री के अनेक प्रेमी तिरस्कार की दृष्टि से देखे जाते हैं। कहा जाता है कि अमीर खुसरो की उस कविता का गान करते हुए किसी कव्वाल को जहाँगीर ने शराब के नशे मे पिटवा दिया था जिसका भाव किसी खडिता का अपने प्रेमी के प्रति उपालभ था। इसका रहस्य यही है कि हिंदू संस्कृति के ठीक विपरीत सामी संस्कृति मे एक ही प्रेमिका के अनेक प्रेमियों की मान्यता के साथ विरहविकल प्रेमी का प्रेमिका के प्रति उपालंभ समीचीन माना जाता है। इसीसे भारतीय पद्धति के कतिपय भक्त जहाँ परमतत्व को पतिरूप से वरण करते है वहाँ सूफी संत स्त्रीत्व मे नैसर्गिक आकर्षण मानते हुए प्रायः उसकी आशिकी मे प्रवृत्त दिखाई देते है।

११. वल्लभ तथा सखी संप्रदायो से संबद्ध हिंदी सगुण काव्य उस गतिनाट्यपूर्ण सांस्कृतिक आदोलन का एक पक्ष है जिसने रंजक स्वर-सदर्भयुक्त भावतरल संगीत-पद्धति, गीतितत्वयुक्त 'वैणिक' चित्र शैली, मधुर और कोमल भावो को व्यक्त करनेवाले रासक, गीतिनाट्य एवं ललित कोमल पुष्पाभरण आदि की कलाओं को विकसित किया। इस आदोलन की भूमिका के स्पष्ट न होने से सूरदास की गोपिकाओं के संयोग और वियोग पक्षो का समुचित मूल्यांकन न हो सका। सहृदय समीक्षकों ने भी कहा है कि गोपियों का विरह खाली बैठे का सा काम है और उनका संयोग विश्व मे बिखरी हुई कर्मसौंदर्य की मगलश्री की अभिव्यंजना नहीं करता। किंतु सांस्कृतिक परिपार्श्व मे देखने पर स्पष्ट होगा कि सूर की गोपिकाओ पर लगाए गए ये दोनों

---

१. हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, पी० वी० काणे : भाग १, जिल्द २, पृ० ५५५

२. रसगंगाधर, पृ० १२३, काव्यमाला सीरीज सं० २०, १२, सन् १९४७

अभियोग, 'खाली बैठे का सा विरह' और 'लतामंडप मे समाजनिरपेक्ष संभोग', उस समय की संपूर्ण संस्कृति—संगीत, चित्र, काव्य, नाट्य, साहित्यशास्त्र, धर्म और दर्शन पर समानरूप से लागू होगे। सहस्राधिक वर्षों से चली आती हुई आगमों की शुद्ध और मिश्र भक्ति धारा ने क्रमशः विकास करते हुए सूरदास और हित-हरिवंश के पदो मे ललित अभिव्यंजनाओं की चरम सीमा छू ली है। केवल आधुनिक सामाजिक मनोविज्ञान के आधार पर इनकी अवज्ञा कर देना इन भक्त कवियो के प्रति न्याय न होने के साथ ही राष्ट्र की एक प्रतिनिधिक महत्वपूर्ण सास्कृतिक परंपरा का प्रत्याख्यान और उस विशिष्ट युग की बौद्धिक अस्वीकृति होगी। इससे उचित यही है कि काव्यानुशीलन कला, धर्म, दर्शन आदि अन्य संस्कृतिव्यंजक उपकरणों और उभयरूप सास्कृतिक विशेषताओ की भूमिका मे किया जाय।

आलोच्य साहित्य

१२. इस प्रबंध मे हिंदी साहित्येतिहास के अंतर्गत भक्तिकाल मे संवत् १३७५ से लेकर संवत् १७०० तक के बीच होनेवाले सगुणोपासक भक्त कवियो की रचनाओं का सांस्कृतिक अनुशीलन प्रस्तुत किया जा रहा है। यद्यपि संवत् १७०० के बाद से आज की बीसवीं शताब्दी के राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त तक, समय के थोड़े बहुत अंतरालों के साथ, सगुण भक्तिधारा की कृतियाँ निरतर निर्मित होती रही हैं तथापि इस अध्ययन मे उनकी सास्कृतिक भूमिका संजोने का प्रयास नहीं किया गया है। इसका कारण यह है कि भक्ति की धारा का जो व्यापक और उद्दाम प्रभाव आलोच्य युग मे दिखाई पड़ता है वह आगे चलकर संकुचित तथा क्षीण हो गया। हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रथों मे संवत् १७०० के बाद के युग को रीतिकाल या शृंगार-काल नाम दिया गया है। विचार करने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वल्लभमतानुयायी, सखीभावोपासक, गौडीय वैष्णव और थोड़ी बहुत रामरसिकों की जो प्रवृत्तियाँ भक्तिकाल मे वर्तमान थीं वे ही इस युग मे लौकिक शृंगार की धारा के साथ समन्वित हो गईं। इस समन्वय के परिणामस्वरूप जहाँ इस भक्ति का क्षेत्र व्यापक हो गया वहीं 'राधा कन्हाई के सुमिरन' का कहीं कहीं दुरुपयोग भी प्रारंभ हुआ। अलौकिकता से संपृक्त भक्ति के दुर्दमनीय वेग एवं रूप में जो गहराई और सचाई थी वह इन रूपो मे निश्शेष हो गई। सांप्रदायिक गुह्य साधना से संबद्ध साहित्य मे निश्चय ही यह हलकापन न होगा। इस प्रकार इस शृंगारकाल को भक्ति-युग का परवर्ती विकास कहा जा सकता है।

मध्ययुग का विकास

१३. भक्ति का संपूर्ण जीवन एवं संस्कृति को आक्रांत कर लेना ही मध्ययुग की प्रमुख विशेषता कही जाती है। भारतवर्ष में हूणों के द्वारा गुप्तों के स्वर्णयुग का विध्वंस मध्ययुग का प्रवेशक है। वैदिक चरणों की समाप्ति के साथ भक्ति की प्रधानता इसी समय आरंभ हुई और पंद्रहवीं शताब्दी में यह भक्ति काव्य, साहित्य शास्त्र, संगीत, चित्र, मूर्ति, नृत्य, नाट्य तथा पुष्पमंडन, धूलि चित्रण आदि शोभा विधान, धर्म, दर्शन, सामाजिक व्यवस्था एवं सामाजिक जीवन को प्रेरित, प्रभावित और नियंत्रित करती हुई संपूर्ण भारतवर्ष में व्याप्त हो गई। इतना ही नहीं प्रत्युत भक्ति ने इस काल में समग्र संस्कृति तथा जीवन के मूल्यों को स्थिर किया। विद्वानों ने इस स्थिति को भक्ति आंदोलन के नाम से पुकारा है।

१४. इस व्यापक सगुण भक्ति की प्रवृत्ति के अंतर्गत कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो धर्म, दर्शन, समाज, साहित्य और कलाओं में समान रूप से व्यक्त हुई हैं। नैराश्यवाद, दिव्यजीवन की ओर आकर्षण, कोमल और मधुर भावों की प्रचुरता, रूढ़िपरता तथा शृंगारिकता।

१५. नैराश्यवाद ने इस काल में बड़ा व्यापक प्रभाव डाला था। कलिसिद्धांत की अवसादपूर्ण भूमिका में ही मध्ययुग का अवतार हुआ। यदि नैराश्यवाद धर्म शास्त्रों में कलिसिद्धांत के रूप से आया तो दर्शन में उसने प्रपत्तिवाद को उत्तेजित किया जिसमें समाज और कर्म की उपेक्षा थी तथा ईश्वर के प्रति दीन भाव से समर्पण। साहित्य में भी जीवन के प्रति यह प्रवृत्ति सर्वत्र वर्तमान है[1]। इसी नैराश्यवाद का दूसरा पक्ष है, दिव्य लोक और अलौकिक जीवन की ओर तीव्र आकर्षण। धार्मिक दृष्टि से इस प्रवृत्ति के अनेक रूप दिखाई दिए। इनमें से एक है—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य नामक मुक्तियों की कल्पना। इसमें ईश्वर के दिव्य जीवन की प्राप्ति के लिये उत्तरोत्तर उत्कृष्ट भूमियाँ मानी गई है। परंतु सबसे विलक्षण है—भक्त के सिद्ध देह की धारणा। इसमें भक्त भूलोक में रहकर भी अलौकिक शरीर से उपास्य की आराधना करता है[2]। धर्म और दर्शन में बालभाव की एवं नित्य किशोर किशोरी की आनंदमयी तथा सरस उपासना, साहित्य में मुक्तक गीति और गीति नाट्यों की सृष्टि, संगीत में सरस ध्रुवा गीति से निसृत ध्रुपद का गान, उल्लासप्रद

---

१. प्र. प्र. अध्याय २। अनुच्छेद १०।

२. प्र. प्र. अध्याय ७ का 'रस और रसवादी भक्त'।

रासक और हल्लीसक नृत्यों का प्रचार, चित्रो मे भाव चित्र की 'वैणिक' शैली इस काल की प्रतिनिधि सास्कृतिक गतिविधियाँ है जिनमे रसमय गीति तत्वो की सार्वत्रिक अभिव्यक्ति है। गुप्त काल मे साहित्य और संस्कृति का परिपाक हुआ। इसलिये उस युग के समाप्त होते ही अनेक रूढ़ियो का निर्माण हो गया। पूर्व मध्यकालीन धार्मिक क्षेत्र मे लिखित निबंध एवं टीका ग्रंथ, काव्य मे बौद्धिक रूढ़िग्रस्त अलंकृत महाकाव्य, मूर्तिकला मे पूर्व निश्चित अभिप्रायो का अंकन और सामाजिक क्षेत्र मे औपचारिकता आदि इस तथ्य के निदर्शक है। साधारणतः इनमे नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के दर्शन कम होते है। किंतु इनका सूक्ष्म और अतिशयित अलंकरण दर्शनीय है। उत्तर मध्यकाल मे भक्ति से भावित होकर इन रूढ़ियो ने एक नवीन आभा प्राप्त की। अंतिम और अन्यतम विशेषता शृंगारिकता की है। इसमें औपचारिकता के साथ अश्लीलता की चरम अभिव्यक्ति मिलती है। ऐहिकतापरक रचनाओ मे ही नहीं प्रत्युत भक्तिमूलक कृतियो मे भी वही शृंगारिकता झलकती है। स्थापत्य और मूर्ति कलाओं मे भी उसी की विवृति है। राजाओ तथा राजकीय क्रीड़ोद्यानो की बातें छोड़ भी दी जायँ तो भी नगर के वर्णन तक उक्त ढंग की शृंगारिकता से मूर्च्छित मालूम देते है[1]। ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग का सारा वातावरण औपचारिक एवं अश्लील शृंगारिकता से ओतप्रोत था। अतएव चरणो की परपरा को छोड़कर जो मूलतः प्राचीन पद्धति पर आश्रित थी तथा प्रकृत्या पवित्रतावादी [प्यूरिटानिक] थी, शेष तीनों धार्मिक—मदिर, मठ एवं इतर जीवन प्रकारों [टाइम्स् आफ रिलीजस लाइफ] मे—जिनका विवरण आगे दिया जायगा उक्त शृंगारिकता की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। देवपूजन मे देवदासी प्रथा उत्तर और

---

१. प्रेम [ा] तिरुद्ध [वि] मुग्धमानसोः स्फारीभवच्च कु [क्षु] षो-
यूँनोर्यत्र विचित्रनिर्भररतक्रीडाक्रमं तन्वतोः।
विच्छिन्नोऽपि कृतातिमात्रपुलकैराविभू (र्भ) वत्सीत्कृतै-
राश्लेषैर्विलंपतक्लमैः स्मररसः कामं मुहुः स्ताव्यते ॥ १ ॥

यत्राश्लेषविशेषरूपमहिमापारतापस्मरः कान्तिभि-
र्जातेर्ष्या कलहेष्वपि प्रणयिनः कर्णोत्पलैस्ताड्यते।
जायन्ते प्रविशंकितस्मरशरप्रोत्थापितान्तर्यथा
सन्द्रि (न्द्र) स्वेदजलावसेचनवशान्निर्यातरोमांगु (कु) रैः ॥ २ ॥

एपीग्रेफिया इंडिका जि० ३, पृ० २४१–२५२

दक्षिण दोनो जगह बद्धमूल हो गई थी। वैखानसागम[1] तथा अत्रिसंहिता मे त्रिविध अर्चाओ [पूजनीय विग्रहों] योग, भोग एवं वीर का उल्लेख मिलता है। स्थानक[2] आसन और शयन इन तीनों तरह की भोग मूर्तियाँ शक्ति संयुक्त रहा करती थीं। उस समय के शिलालेख, यथा भुवनेश्वर के अनंत वासुदेव मंदिर मे [?] प्राप्त भट्ट भवदेव[3] का अभिलेख अपने मंगलाचरण मे विष्णु की घोर शृंगारिक स्तुति करता है। पाशुपत मठों मे भी शिव की शृंगारिक पूजा हुआ करती थी। गुणरत्न का कथन है कि शैव-पाशुपत शिव के त्रिविध रूपों की उपासना करते हैं। पहला योगी रूप है जिसमें न इंदु है न सर्प या गौरी ही। दूसरा भोगी रूप है जिसमे शिव भवानी सहित पूजे जाते हैं। देवपाडा मे उपलब्ध प्रद्युम्नेश्वर[4] मंदिर की प्रशस्ति मे जयदेव के कुछ पूर्व ही उमापतिधर ने शिव का बड़ा ही शृंगारिक वर्णन किया है। पूर्वमध्यकाल मे पद्मवज्र संयोग, हेवज्र उपासना, उत्तरकौलो के साक्षात् स्त्री रूप मे त्रिपुर सुंदरी की अर्चा, कापालिको की कापालिनी-सवलित-साधना इत्यादि धाराओ का प्रभाव साक्षात् वा परंपरया सहजियों आदि मे दिखाई पडता है।

१६. उक्त अश्लीलता के साथ ही साथ इस युग मे कतिपय धर्ममतों के अंतर्गत गुह्य साधना की उत्कट प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। गुह्य उपासना का साक्षात्संबंध तंत्रों से है। यद्यपि प्राचीन वैदिक कर्मकांड मे कुछ अश्लील कृत्यों का विवरण मिलता है तथा उपनिषदों की कुछ विद्याओं के वर्णन मे भी कहीं कहीं गुह्य साधना की झलक है तथापि इसका विकसित रूप ईस्वी सन् की तृतीय शताब्दी के 'गुह्यसमाजतंत्र' मे मिलता है। अनुश्रुति के अनुसार गुह्य साधना बौद्ध दार्शनिक असंग ने प्रवर्तित की। क्रमशः

---

१. अत्रभुववरं त्रिविधं—स्थानकमासनं शयनं चेति।
पुनस्तदेकैकं योगं भोगं वीरमाभिचारिकम्। वैखानसागम पृ० ४७

२. स्थानकं त्रिविधं प्रोक्तं योगं भोगं तथैव च।
वीरं स्थानकं चेति तेषां भेदमिहोच्यते॥ अत्रिसंहिता, पृ० ८२

३. गाढोपगूढकमलाकुचकुम्भपत्र-
मुद्रांकितेन वपुषा परिरभ्यमानः।
मा लुप्यतामसिनवा नवमालिकेति
वाग्देवतोपहसितोऽस्तु हरिः श्रिये वः॥

४. वक्षोंशुकाहरणसाध्वसकृष्टमौलि-माल्यच्छटाहततरालयदीपभासः।
देव्यास्त्रपामुकुलितं मुखमिन्दुभासिवीक्ष्याननानि हसितानि जयन्ति शम्भोः॥

यह पद्धति प्रवर्धित होती हुई सिद्धो तथा वज्राचार्यों मे दिखाई दी। हिंदू धर्ममतों पर भी इस साधना का प्रभाव पड़ा। शैव-शाक्त-आचारो मे गुह्य साधना अनेक रूपों में थी। श्रौत तथा वैष्णवागम परपरा मे आभिचारिक कृत्य अवश्य थे किंतु यह गुह्य साधना उनमे परिलक्षित नहीं होती। अतः संक्षेप मे कहा जा सकता है कि पूर्वमध्यकाल मे गुह्य साधना का प्रभाव शैव, शाक्त और शिवशक्ति मतों पर विशेष था। आगे चलकर दिखाया जायगा कि सहजयानियो के माध्यम से यह गुह्य साधना वैष्णव उपासना मे भी आ गई।

१७. उपर्युक्त मध्ययुगीन विशेषताओ के दो स्रोत दिखाई पड़ते हैं—आगमों की प्रपत्तिमूलक भक्ति और अपभ्रंश तत्व। ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी के आस पास प्रपत्तिमूलक आगमिक भक्ति के साथ भारत की अनेकविध साधनाएँ समन्वित हुईं। प्रारंभ मे वेद ही वैधता [फार्मल सोर्स आफ धर्म] के एकमात्र स्रोत थे। इनका स्थान इस काल मे आगमिक शास्त्रो को भी प्राप्त हो गया। दूसरे ईश्वर का महत्व वेदों से भी अधिक मान्य हो जाने के कारण कर्मकाडों का और उनसे संबद्ध धर्मशास्त्रो का महत्व स्वल्प रह गया। कलिसिद्धात से समन्वित होकर इस तत्व ने याज्ञिक क्रिया कलाप तथा सामाजिक व्यवस्थाओ के प्रति उपेक्षाबुद्धि एवं प्रपत्तिमूलक भक्ति ने दिव्यता की ओर आकर्षण और ऐहिक जीवन की विरागवृत्ति का सर्जन किया। राजस्थानी चित्र शैली मे भावतरल 'वैणिक' पद्धति 'अपभ्रंश' से ही विकसित हुई[1]। प्रायः अपभ्रंश प्राकृत में लिखी जानेवाली ध्रुवा गीति से ध्रुपद और अपभ्रंश के रासों से अनेको गीति नाट्य विकसित हुए। मुक्तक गीतों का उद्भव भी अपभ्रंश से हुआ। इससे प्रतीत होता है कि कलाओ मे स्निग्धमधुर भावों की व्यंजना अपभ्रंश से ही प्राप्त हुई। रूढ़िप्रियता और औपचारिक अभिव्यक्ति अपभ्रंश का निजस्व है जो मूर्ति एवं चित्र कलाओं में अत्यंत स्पष्ट है। अपभ्रंश काव्य मे यह रूढ़िप्रियता इसलिये अत्यंत उदग्र नहीं दिखाई पड़ती क्योकि संस्कृत मे इस काल का साहित्य अपेक्षाकृत अधिक औपचारिक और परंपराश्रित हो गया था। किंतु अपभ्रंश काव्य के अभिप्रायों [मोटिफ], वाग्योगों तथा कविसमयो मे यह रूढ़िप्रियता स्पष्ट लक्षित होती है। अतः गीति तरलता और रूढ़िप्रियता अपभ्रंश की देन है। शृंगारिकता की घोर विवृति निश्चय ही सामंतवाद से आई। इस प्रकार सामंतवादी मध्ययुग मे भक्तिगत सांस्कृतिक विशेषताएँ लोकतत्वाश्रित अपभ्रंश की पद्धतियो से निर्गत हुई।

---

१. प्र. प्र. ८वें अध्याय का २रा भाग। अनुच्छेद २१—२८

सगुणभक्त : इस्लामी प्रभाव

१८. जहाँ तक सगुण भक्ति के स्वरूप का प्रश्न है उस पर यावनी प्रभाव बिल्कुल नहीं है[1]। साथ ही इस साहित्य में मुसलमानों की विध्वंसक प्रवृत्तियों का उल्लेख अनेक भक्तों ने किया है। तुलसीदासजी दोहावली में यवन महा महिपालों की ऐकांतिक दंडनीति की बात कहते हैं—

> गोंड़ गँवार नृपाल जग, जमन महा महिपाल।
> साम न दाम न भेद कलि, केवल दंड कराल॥ दो० ५५६

ऐतिहासिकों ने मुगलशासन में भी इस सैनिक राज्यप्रणाली का वर्णन बड़े विस्तार से किया है[2]।

१६. अष्टछाप के अन्यतम भक्त कवि कुंभनदास की 'प्रकीर्ण' रचनाओं में से एक पद दुर्दांत मुसलमानों की मूर्तिभंजक प्रवृत्ति का द्योतन करता है[3]। इस संबंध में 'अष्टछाप' की एक वार्त्ता है। किसी समय म्लेच्छों के उपद्रव से संशक होकर भक्तगण, श्रीनाथ जी की ही आज्ञा से उनके स्वरूप को 'टोड के घने' में ले गए थे। रास्ता काटों से भरा था। इसलिये सबके वस्त्र फट गए। भोग के अनंतर जब श्री गोवर्द्धननाथजी ने कुंभनदास से कुछ गाने के लिये कहा तब, कुढ़े तो वे पहले से ही थे, उन्होंने उपालंभयुक्त पद से श्रीनाथ जी को उत्तेजित करने की चेष्टा की—

> भावत है तोय टोड को घनो।
> कांटे लगे गोखरू बूढ़े फट्यो जात यह तनो॥ १॥
> सिहों कहा लोकटी को डर यह कहा बानक बन्यो।
> कुंभनदास प्रभू तुम गोवर्द्धनधर वह कौन रांड ढेडनी को जन्यौ॥ २॥
>
> अष्टछाप पृ० ७३।

२०. हित हरिवंश जी की अपनी रचनाओं में मुसलमानी आतंक के प्रदर्शक स्थल नहीं है। परंतु उनके अनन्य भक्त सेवक जी ने अपनी 'वाणी' के 'हितयश विलास प्रकरण' में अवश्य इसका वर्णन किया है—

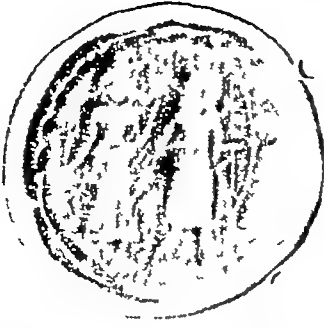
---

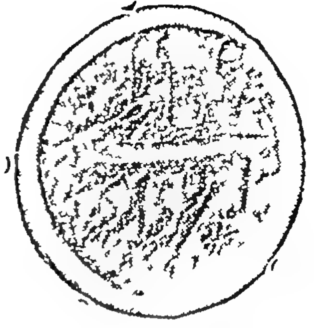
१. प्र. प्र. अध्याय २। अनु० ६–७

२. रामप्रसाद त्रिपाठी : मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन, पृ० ५-६।

३. कुम्भन०। पद ३१८।

चित्र संख्या—१





द्रष्टव्य : पृष्ठ १८, अनुच्छेद २२, टिप्पणी ७; पृष्ठ २०, अनु० २५; पृ० २०५, अनु० ६४; पृ० सं० ३८३, टिप्पणी १।

चित्र संख्या—२

पृष्ठ ३७६, अनुच्छेद ·८, तुलनीय भागवत १०।२२।४-१८ तथा सूरसागर १८०२, पृ० ६७६

उद्वस विस्व भयौ सब देस, धर्म रहित मेदिनी नरेस।
म्लेच्छ सकल पहुमी बढ़े॥ पद ४

× × × ×

धर्मरहित ज्ञानी सब दुनी, म्लेच्छ भार दुःखित मेदिनी।
धनी और दूजौ नहीं॥ पद ५

हरिराम व्यास ने भी कलिसिद्धांत की पीठिका पर 'मथुरा के खुदने' और 'वृंदावन के कटने' का वर्णन किया है—[1]

अब साँचेहू कलिजुग आयौ।
पूत न कह्यौ पिता कौ मानत, करत आपनौ भायौ॥

× × ×

मथुरा खुदत, कटत वृंदावन, मुनिजन सोच उपायौ।
इतनौ दुःख सहिबे के काजै, काहे कौं 'व्यास' जिवायौ॥

पद २६३। व्यास०

२१. मुसलमानो की ये विनाशकारिणी वृत्तियाँ साहित्य और कला के क्षेत्र में पुस्तकालयो को जलाने, मंदिरो को गिराने और मूर्तियो को तोड़ने तक सीमित रहीं। सुना जाता है कि दक्षिणविजय करके प्रत्यावृत्त होते हुए सुल्तान अलाउद्दीन अपने साथ दो संगीतज्ञो को भी ले आया था। खुसरो ने स्वयं हिंदी कविताएँ लिखीं। संगीत के क्षेत्र मे 'ईमन' जैसे रागो का और वाद्य के क्षेत्र मे 'सितार' का उन्होने हीं आविष्कार किया। मुगलशासन म अकबर के समय तो संगीत, चित्र आदि कलाओं के साथ हिंदी भक्ति साहित्य की प्रचुर मात्रा मे और सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ हुईं। तानसेन-जैसे संगीतज्ञ अकबर के 'नवरत्नो' मे से एक थे। 'मुगलकलम' की चित्रशैली अकबर के समय मे ही प्रतिष्ठित हुई। अकबर के दरबारी कवियों मे दुरसा जी तथा पृथ्वीराज की चर्चा इसलिये आवश्यक है कि इस प्रोत्साहन की प्रवृत्ति ने भक्तियुग के द्वितीय उत्थान को जन्म दिया जिसे रीतिकाल या श्रृंगारकाल कहा जाता है। अष्टछाप के प्रमुख भक्त सूरदास, सखी संप्रदाय के अग्रगण्य हितहरिवंश, हरिव्यास, और

---

१. श्री वासुदेव गोस्वामी ने इस पद में वर्णित परिस्थितियों की ऐतिहासिकता पर विस्तार के साथ विचार किया है। द्रष्टव्य, भक्त कवि व्यास जी, पृ० ९६ से १०३ तक।

हरिराम व्यास तथा मर्यादावादी तुलसीदास की उज्ज्वल कृतियाँ जिस युग में निर्मित हुईं उसका थोड़ा ही सही, कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य अनुमेय है।

२२. भक्ति साहित्य में मुसलमानी संपर्क से भाषागत प्रभाव की चर्चा विद्वानों ने प्रायः की है। परंतु इसके अतिरिक्त इस साहित्य के उपमानविधान में कहीं कहीं मुसलमानी विनोदसाधनों की योजनाएँ हुई हैं—जैसे पतंग उड़ाने का[1], आतिशबाजी का[2] और बाज का[3]। मुसलमान पतंग उड़ाने के बड़े शौकीन होते हैं। आतिशबाजी उनकी अपनी चीज है। बाज से चिड़ियों का शिकार करना, उन दिनों उनकी एक सामान्य प्रवृत्ति प्रतीत होती है। इसलिये उस काल के चित्रों में बाज का एक बड़ा सुंदर चित्र अंकित हुआ है[4]। उन दिनों चौगान की क्रीड़ा केवल युवकों में ही नहीं युवतियों में भी प्रचलित थी। इसका प्रमाण 'इंडियन आर्ट' की चित्र संख्या सैंतीस में मिलता है[5]। तुलसी ने राम की और सूर ने द्वारिकावासी कृष्ण की चौगान क्रीड़ा का वर्णन किया है[6]। भक्त कवियों ने अपने आराध्य के किरीटों में जिस 'तुर्रे' का वर्णन किया है वह उस समय की बादशाहत की छाया है। अकबर के 'राम सीय भाँति' की राजत मुद्रा में राम जामा पहने हुए चित्रित हैं[7]। यह जामा मुसलमानी काल से ही हिंदुओं में प्रचलित हुआ। इसी काल के एक दूसरे चित्र में सीताहरण का अंकन किया गया है। उसमें रावण का यति वेष शुद्ध सूफी संतों की तरह परिज्ञात होता है। इस प्रकार वस्त्राभूषणों, क्रीडोपकरणों, और उपमान रूप में गृहीत विनोद प्रकारों से यह स्फुट हो जाता है कि भक्ति साहित्य पर न केवल मुसलमानी भाषा का ही प्रभाव पड़ा वरन् इन इन वस्तुओं का भी उसमें परिग्रह हुआ जो मुसलमानी सभ्यता और संस्कृति की देन हैं।

---

१. मानस अयो०। दो० २८। चौ० २८ तथा दो० १८ भी; दोहावली। दो० ५१३, सूरसागर। पद २७५४। पं० ६।

२. सूर०। पद ३८१३। पं० ३।

३. मानस अयो०। दो० २८। पं० ८ आदि; मानस बाल०। दो० २६८। चौ० ३।

४. प्रिंस आफ् वेल्स म्यूजियम आफ् वेस्टर्न इंडियन आर्ट, चित्र सं० २१, सन् १९५४।

५. वही।

६. गीतावली। पद ४२ और ४४, सूरसागर। पद ४७८३।

७. इस मुद्रा का चित्र इस ग्रंथ के अंत में दिया गया है।

२३. मुसलमानी धर्म का प्रभाव तत्कालीन समाज पर पड़ रहा था। संभवतः समाज के बहुत से लोग अपनी कामनाओं की सिद्धि के लिये पीरों की दरगाहों पर भटकते फिरते थे। ऐसे ही तथाकथित सिद्ध स्थानों मे बहरायच के गाजी मियाँ का दरगाह भी एक था। अभी भी प्रतिवर्ष वहाॅ सैयद सलार का मेला लगता है। नाना प्रकार की आकांक्षाओं को मन मे रखकर वहाॅ की यात्रा करनेवालों को अपने समय में तुलसी ने सचेत करते हुए कहा था—

आँखि लही कब आँधरो बाँझ पूत कब ल्याय।
कब कोढ़ी काया लही जग बहराइच जाय॥

दोहावली दो० ४६३

२४. मुसलमानी दरबारों मे प्रणतिनिवेदन की एक विशेष पद्धति प्रचलित थी। इसे 'मुजरा करना' कहा जाता है। सूरदास और तुलसीदास की रचनाओं मे इसके उल्लेख मिलते है। रुक्मिणी-विवाह-लीला के प्रसंग मे सूर ने लिखा है—

बैठि असुर सब सभा रुक्म सों मतौ विचारयौ।
आयो सुन्यौ अहीर मनों इहिं काल हंकारयौ॥
गाइ चरावत ग्वाल है, आयो मुजरा देन।
देखौ दीठौ दूरि तें, आयौ भातहिं लेन॥

सूर० पृ० १६६१

तुलसी के निम्नलिखित कथन मे स्पष्टतः जहाॅगीरी-प्रणति-विधि का परिचय मिलता है—

राम झरोखे बैठि कै, सब का मुजरा लेय।
जैसी जाकी चाकरी, तैसी ताको देय॥

२५. इस प्रकार सगुणभक्ति से संबद्ध साहित्य, और चित्र मे कभी कभी मुसलमानी संपर्क की छाया दिखाई पड़ती है। अष्टछापी भक्तों के संगीत मे भी खुसरो द्वारा आविष्कृत 'ईमन' राग का उल्लेख मिलता है[1]। हिंदू समाज मे सामान्य रूप से 'गाजियों' और 'पीरों' की पूजा प्रारंभ हो गई थी। 'तुर्रा' आदि कुछ मुसलमानी आभूषण भी भक्त समाज मे स्वीकृत हो गए थे। हरिराम व्यास का जो प्राचीन चित्र 'भक्त कवि व्यासजी' मे उपस्थित किया गया है उसकी पगड़ी मुसलमानी ढंग की है।

---

१. सूर सारावली, पद १०१२ से १०१८ तक।

इससे और 'राम सीय भाँति' की राजन मुद्रा के आगे से [illegible] है कि भक्तसमाज में ये वस्त्र आराध्य और आचार्य के लिए अमान्य नहीं थे।

२६. अतएव अनेक अनुकूल और प्रतिकूल दूरगामी धाराओं के रहते हुए भी सगुण भक्ति का मौलिक स्वरूप आगमिक था। 'भक्ति: आंदोलन दर्शन, कारण और स्थान' में इस विषय का सविस्तार विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। परंतु पूर्व पीठिका के रूप में इससे संबद्ध मध्यकालीन धार्मिक जीवन के स्तरों [स्ट्रेटस ऑफ रिलीजस लाइफ] एवं उन धार्मिक जीवनों के प्रेरक तत्वों का अनुशीलन अपेक्षित है।

चतुर्विध धार्मिक जीवन

२७. मध्ययुग के पूर्व धर्म की धारा—[१] चरण, [२] देवालय, [३] मठ और [४] इतर—इन चतुर्विध केंद्रों से प्रवाहित हो रही थी। चरणों में वैदिक स्वाध्याय की परंपरा गतिशील थी। किंतु गुप्तकाल के पश्चात् ये चरण धीरे धीरे उच्छिन्न होने लगे[1]। अतः ब्राह्मण वर्ग अब दान, होम, शांति इत्यादि में अपने कर्म कांड को जिलाने लगा। साथ ही इस वर्ग के कुछ व्यक्तियों ने ज्ञान की सुरक्षा के लिये शास्त्राभ्यास में अपना मन रमाया, देशव्यापी सुव्यवस्था की दृष्टि से टीका परंपरा की नींव डाली तथा समन्वयात्मिका वृत्ति के परिणाम स्वरूप पंचदेवोपासना जैसे व्यापक स्मार्त धर्म को अग्रसर किया।

२८. मध्यकाल के बहुत पूर्व देवालयों के देवलक श्रौतस्मार्त परंपरा में बहुत हीन समझे जाते थे। पर उत्तर मध्ययुग के पहले ही इन्होंने अपने को वैदिक सिद्ध करना प्रारंभ कर दिया था। इस विषय में सात्वतों का उदाहरण बड़ा मनोरंजक है। ऐतरेय[2] ब्राह्मण में सात्वतों का उल्लेख एक जाति [ट्राइब] के रूप में मिलता है। विष्णुपुराण[3] में सात्वत लोग सत्वत् से उत्पन्न बताए गए हैं। साथ ही उनका संबंध वृष्णिवंश से दिखाया गया है। महाभारत[4] और पुराणों में श्री कृष्ण सात्वतों-

---

१. प्र० प्र० अध्याय २। पृ० ४४। टि० २

२. ऐतरेय ब्राह्मण ।८।१४।३, शतपथ १३।५।४।२१

३. विष्णुपुराण। अंश ४। अध्याय १३। पं० ४३-४४

४. आदि पर्व। अ० २१८।

से संबद्ध हैं। मनु[1] ने इन सात्वतों को वैश्यव्रात्यो से उत्पन्न माना है। दशम शताब्दी मे यामुनाचार्य[2] ने आगमप्रमाण्य मे इनको वैदिक सिद्ध करने का प्रबल प्रयत्न किया।

२६. उक्त देवपूजकों की पूजनपद्धति ब्राह्मण कर्मकांडियों से स्पष्टतः भिन्न थी। कर्मकांडियो के यज्ञो मे किसी विग्रहवान् प्रतीक देवता की आवश्यकता नहीं थी। पर इन देवपूजको ने देवालय को विश्व के अधिपति भगवान् का निवासस्थल माना,[3] उसमे ईश्वर की पूजा सासारिक सम्राटो के ढंग पर प्रारंभ हुई। संमार्जन, अवलेप गंधद्रव्य, मुखवास आदि के अनंतर प्रतिमा के समक्ष नृत्य गीतादि का विधान सब राजकीय ढर्रे पर कल्पित है। प्रतिमाएँ भी दो प्रकार की मानी गई हैं—(१) स्थिरार्चा मूर्ति जिसे ध्रुवबेर कहते हैं और (२) चलार्चा मूर्ति जिसे उत्सव विग्रह कहते हैं। रथयात्रा आदि धार्मिक समारोहो में उत्सव विग्रह की यात्राओं पर राजाओं की यात्रा की छाप बहुत स्पष्ट है। इस काल मे देवताओ की परिकल्पना सम्राट् या गुरु के रूप मे उपलब्ध होती है। देवविग्रहो के बड़े बड़े साम्राज्यो का प्रमाण मिलता है। यथा, पूरा मेवाड़ भगवान् एकलिंग को अर्पित था[4]। अवंती का राज्य महाकाल के अधीन था[5]। उड़ीसा के अधिपति जगन्नाथ थे[6]। वामशंभु को डाहल प्रदेश

---

१. वैश्यात्तु जायते व्रात्यात्सुधन्वाचार्य एव च।
कारूषश्च विजन्मा च मैत्रः सात्वत एव च॥
म० १०।२३ वां श्लोक

२. आगमप्रामाण्य पृ० सं० ६९-७०।

३. प्र० प्र० अध्याय ३। अनुच्छेद ७ से १० तक।

४. श्रीदिनेशचंद्र सरकार : दि विजय राज्य आफ् ए सेंट, उड़ीसा हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी, जिल्द १ पृ०

५. देवादेशाद्भुजद्वयलग्ने सति तं मालवदेशं तस्मै देवाय दत्त्वा तद्व्याधिकृतान्। परमारराजपुत्रान् नियोज्य स्वयमेव तापसीं दीक्षासंगीचक्रे।
प्रबंधचिंतामणि, पृ० ११

६. कलिंग हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी, जि० १, पृ० २५१-२५२।

समर्पित था[1]। मत्तमयूरसंतति के तपस्वी निरवेश्वर[2] तथा पुरंदर[3] को क्रमशः दक्षिण एवं पजाब मे राज्यप्राप्ति का उल्लेख मिलता। इस प्रकार साधारण मानव तो अधिकाधिक पारलौकिक होता गया पर ईश्वर को उत्तरोत्तर उसी अनुपात मे लौकिक राज मर्यादाएँ स्वीकार करनी पडी।

३०. मठ हिदू तपस्वियो [ऐसेटिक्स] के थे। साधारणतः मठपरंपरा शैवों से शुरू हुई। मठाधिपति या महत ही मठ का सबसे बड़ा अधिकारी और गुरु होता था। यहीं से ईश्वर को महागुरु मानकर पूजन की प्रथा प्रौढ़ि को प्राप्त हुई। इस परपरा मे संसारत्याग और वैराग्य की प्रवृत्ति नैसर्गिक थी।

३१. धर्म के उपर्युक्त तीन प्रभवस्थानों के अतिरिक्त एक चौथा स्रोत और भी था। उस समय के समाज मे कुछ ऐसे व्यक्ति थे जो न तो पांडित्य मे ब्राह्मणों से होड़ ले सकते थे, न भक्ति मे देवपूजकों की प्रतिद्वंद्विता कर सकते थे और न वैराग्य मे शैव तपस्वियो की प्रतिस्पर्धा ही। वस्तुतः पातंजल योग के साथ पाशुपतधर्म की जो धारा कापालिक-कालानन इत्यादि मार्गों से प्रवाहित होती हुई आई थी वह बौद्धों के वज्रयानी सिद्धो और सहजयानियो के सपर्क से एक अद्भुत मिश्रण के रूप मे इनमे अवस्थित थी।

३२. इस प्रकार चरण परपरा मध्यकाल की आरभिक शताब्दियों मे ही उच्छिन्न हो गई थी। सिद्ध इत्यादिकों की चतुर्थ परंपरा अपने यौगिक चमत्कारों से साधारणतः निम्नवर्ग को ही प्रभावित करती थी। अतः पूर्वमध्ययुग मे वैष्णवो

---

१. तस्मै निस्पृहचेतसे कलचुरिक्ष्मापालचूडामणि-
ग्रामाणां युवराजदेवनृपतिर्भिक्षां त्रिलक्षीं ददौ।
जरनल आफ् आंध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी, जि० ४ पृ० १५७

तुलनीय—

साहसिकस्य तपस्विने वामदेवनाम्ने निजराजलक्ष्मीं
गुरुदक्षिणार्थे दत्वा सर्वां भूमिं जेतुं प्रस्थितवान्।
[जयानक कृत पृथ्वीराजविजय की टीका, पृष्ठ १७४]

२. जनरल आफ् आंध्र रिसर्च सोसाइटी, जिल्द ४, पृ० १४७

३. अथोपसंधाप्य च सम्यगेशीं दीक्षां सदक्षो गुरुदक्षिणार्थं,
निवेद्य तस्मै निजराज्यसारं स्वजन्मसाफल्यमवाप भूपः।
एपीग्रेफिया इंडिका, जिल्द १, पृ० ३५५

के मंदिर तथा शैवों के मठ धार्मिक जीवन के प्रमुख केंद्र रह गए थे। इनमें से वैष्णवों का गुप्तकाल मे बड़ा उत्कर्ष हुआ[1] किंतु सप्तम शताब्दी से उत्तरापथ मे इनको राज्याश्रय बहुत कम मिला। फिर भी जनसामान्य के मध्य इनका प्रभाव अक्षुण्ण रहा। प्रतिहारों के शिलालेखो मे जनसाधारण द्वारा निर्मित दस वैष्णव[2], एवं एक शैव मंदिर का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि वैष्णव मत मध्यवर्गीय गृहस्थो मे विशेष प्रचलित था। इसके विपरीत शैव मत को सप्तम शताब्दी से राज्य का आश्रय प्राप्त हो चुका था। मिहिर कुल, यशोधर्मा, हर्ष, कल्चुरि वंश के अनेक सम्राट तथा बहुत से राजामहाराजा शैव मतावलंबी थे। इसी समय कदंबगुहाधिवासी[3], मत्तमयूर

---

१. चंद्रगुप्त, कुमार गुप्त और स्कंदगुप्त अपनी मुद्राओं में और समुद्रगुप्त नालंदा और गया के ताम्रपत्रों में परम भागवत कहे गये हैं। गुप्त सामंत यथा एरण के मातृविष्णु—धन्य विष्णु, उच्च कल्प वंश के शर्वनाथ, परिव्राजक राजा संक्षोभ, दशपुर के नर वर्मा, वाकाटक साम्राज्ञी प्रभावती गुप्ता और सुसुनिया के चंद्रवर्मा आदि में वैष्णव प्रभाव देखा जाता है।

२. प्रतिहार अभिलेखों में उल्लिखित मंदिरों की सूची—

मंदिर का नाम	प्रसंग निर्देश
क. पृथूदक [पंजाब] में यज्ञवराह।	ए० ई० जिल्द १, पृ० १८७
ख. भोजपुर [कन्नौज के पास उत्तर प्रदेश] में गरुडासन।	ए० ई० जि० १, पृ० १८७
ग. नरकद्विष [सागरताल, ग्वालियर]।	ए० ई० जि० १८, पृ० ११०
घ. दशपुर [मंदसौर] में त्रैलोक्यमोहन।	ए० ई० जि० १४, पृ० १७८
ङ. असनी [फतेहपुर] में योगस्वामी।	आर्कियालाजिकल सर्वे प्राग्रेस रिपोर्ट, नार्थ सर्किल १९०५,१९०६ पृ०१४
च. सीयडोंडी में मुरारी मंदिर	ए० ई० जि० १, पृ० १७२
छ. वइलभट्ट स्वामी मंदिर [ग्वालियर]।	ए० ई० जि० १, पृ० १५४
ज. त्रिभुवनस्वामी मंदिर [सीयडों डी]।	ए० ई० जि० १, पृ० १७५
झ. चक्रपाणि मंदिर [सीयडों डी]।	ए० ई० जि० १, पृ० १७५
ञ. पृथूदक में विष्णु मंदिर।	ए० ई० जि० १, पृ० २४७

३. ग्वालियर राज्य के अभिलेख, सं० ६२७, पृ० ८५

वंश,[1] गोलकी मठ,[2] रणिपद्र मठ,[3] मानुमतेय मठ,[4] कज्जलोट[5] मठ, वाल्कलेश्वर[6] मठ आदि के शैवसिद्धांत की परंपरा पंजाब, नासकार्गा, संपूर्ण डाहल मंडल, मध्य भारत, अवंती, राष्ट्रकूट साम्राज्य, कर्णाटक, आंध्र और तमिल देशों में प्रकृष्ट प्रभाव डाल रही थी। डाहल मंडल में इन शैवसिद्धांतों के राजगुरुओं की दो सौ साल से अधिक की परंपरा मिलती है।[7] युवराजदेव प्रथम से लेकर जयसिंह तक सारे चेदिवंशीय राजा इनके शिष्य थे। परमारराज सीयक, पंजाब का अवंति वर्मा, काकातीय वंश का गणपति तथा अनेक चोल राजा इनके शिष्य थे। इस प्रकार पूर्व-मध्य-काल में शैवों को विशेष राज्याश्रय प्राप्त हुआ। दूसरी बात यह है कि ये सब शैव गुरु विरागी तपस्वी थे और इनका कार्यक्षेत्र मठ ही था। इसलिये पूर्व मध्ययुग के अंत में उत्तर भारतीय हिंदू राजाओं के छिन्न-सत्ताक होने तथा मठों के ध्वस्त कर दिए जाने पर इन शैवों का प्रभाव समाप्त हो गया। ठीक उसी तरह जैसे बख्तियार खिलजी के आक्रमण से विहारवासी बौद्ध-भिक्षु प्रभावहीन हो गए थे। फलतः मध्यम वर्ग को शिक्षित समुदाय का धार्मिक जीवन प्रभावित करनेवाला वैष्णवों का मंदिर ही प्रतिनिधि धार्मिक केंद्र रह गया था। मठ और विहार टूटे तथा हमेशा के लिये विध्वस्त हो गए किंतु मंदिरों के शिखर बार बार गिर कर भी अपना सिर ऊपर उठाए रहे। समष्टि में देवपूजन की यह परंपरा उत्तर मध्यकाल के प्रारंभ में साधारण शिक्षित वर्ग के बीच सर्वाधिक प्रभावशालिनी थी।

चतुर्विध धार्मिक जीवनों के विभिन्न उत्स

३३. उपर्युक्त चार प्रकार के धार्मिक जीवन के विभिन्न उत्स थे। उनमें से श्रौतस्मार्त परंपरा में अन्न दान का विशिष्ट महत्व था—दानमेकं कलौ युगे[8]। षोडश

---

१. एपीग्रेफिया इंडिका, जिल्द १, पृ० २५६ आदि

२. जरनल आफ हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी, जिल्द ४, पृ० १४७ आदि

३. एपीग्रेफिया इंडिका, जिल्द १, पृ० २५९ आदि

४. वही,

५. वही, जिल्द २, पृ० २६२–२६७

६. वही, जिल्द ४, पृ० २८६

७. जरनल आफ हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी, जिल्द ४, पृ० १४७ आदि

८. अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे। अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः।
तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते। द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥
मनु० १। ८५–८६

महादान की लंबी चौडी परंपरा का प्रवर्तन पंचम षष्ठ शताब्दी मे ही हो गया था। राणा प्रताप के पुत्र अमरसिंह के महादानो का उल्लेख जगन्नाथ राय मंदिर शिलालेख मे उपलब्ध होता है।[1] इसी प्रकार तीर्थों का बड़ा महत्व था। सामान्यतः सात नगरियाँ विशेष पवित्र मानी जाती थीं। 'त्रिस्थली'—प्रयाग, काशी तथा गया का विकास ईसा की तेरहवीं से पंद्रहवीं शताब्दी के बीच की घटना है। कृत्यकल्पतरु मे वैष्णव, शैव एवं शाक्त इत्यादि मतो के विभिन्न क्षेत्र, तीर्थ आदि की चर्चा पाई जाती है। चतुर्वर्ग-चिंतामणि और व्रतार्क आदि ग्रंथ सहस्रो व्रतों की सूची प्रस्तुत करते हैं। सोलह सस्कारों मे से अनेक संस्कार इस समय के तथा परवर्ती समाज मे बराबर प्रचलित रहे।

३४. आश्रम व्यवस्था यद्यपि व्यवहार मे प्रचलित नहीं थी, लेकिन वर्ण—जाति का तीसरा विकास इस काल मे प्राप्त होता है। सप्तम शताब्दी से देश के आधार पर वर्ण—जाति का विभाजन आरंभ हुआ। उत्तरापथ मे पंचगौड और दक्षिणापथ मे पंच द्रविड़ ब्राह्मणो के भेद बने। कालांतर मे इनके भी भेदोपभेद होने लगे। मुसलमानो के संपर्क से यह वर्ण धर्म और अधिक आत्मरक्षणशील एवं संकुचित हो गया। शुरू शुरू मे देवल जैसे स्मृतिकारो ने यवनसंसर्ग से दोषयुक्त आर्य ललनाओं की अपने समाज मे पुनस्स्वीकृति के नियमो को प्रचलित कर अपनी उदाराशयता का परिचय दिया था। पर बाद मे आत्मरक्षा की भावना से भावित संकोचशीलता की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई। इस प्रकार श्रौतस्मार्त परंपरा मे शुद्ध वैदिक धारा अत्यंत क्षीण हो चुकी थी।

३५. इस श्रौतस्मार्त परपरा मे नवीन उपनिषदों और स्मृतियों की रचनाएँ हुई[2]। परंतु इस परपरा के विकास में इनसे भी अधिक महत्वपूर्ण योग पुराणो का था। यो तो पुराण साहित्य अपने मूल मे अत्यंत प्राचीन हैं। इस अर्थ मे पुराण शब्द अथर्ववेद, तैत्तिरीय आरण्यक, छांदोग्य उपनिषद् इत्यादि ग्रंथो मे उपलब्ध होता है। परंतु वर्तमान रूप मे पुराण गुप्त काल से लेकर मध्यकाल तक की रचनाएँ हैं। डा० रमेशचंद्र हाजरा ने अपने प्रबंध 'पुरानिक राइट्स एंड कस्टम्स' मे पुराणों के स्मार्त तत्वों का विश्लेषण किया है। उनका कथन है कि अपचीयमान श्रौतस्मार्त कर्मकांड का आगमिक तत्वो के आनयन द्वारा पुनः प्रवर्तन के प्रयत्न का परिणाम

---

१. एपीग्रेफिया इंडिका, जिल्द २४, पृ० ६५ तथा आगे भी।

२. द्रष्टव्य, प्र० अ० पृ० ५४ अनुच्छेद ४०।

अवातरकालीन पुराण साहित्य है। इसमें ब्राह्मणों ने स्मार्त और आगमिक धर्मों का समन्वय किया है[1] फलस्वरूप स्मार्त वैष्णव, स्मार्त शैव तथा स्मार्त शाक्त इत्यादि की परंपराएँ विकसित हुईं[2] अतः पुराण वैष्णव, शैव आदि विभिन्न सम्प्रदायों से संबद्ध है।

३६. अतरंग प्रमाणों के अनुसार महापुराणों की संख्या अठारह है। इनके अतिरिक्त अष्टदश उपपुराणों की चर्चा आती है पर वास्तव में उपपुराणों की संख्या इनसे कहीं अधिक है। अठारह महापुराणों में मत्स्य, कूर्म, वाराह तथा वामन—इन चार पुराणों का नामकरण तथा निर्माण विष्णु के चार अवतारों को दृष्टिपथ में रखकर किया गया है। परतु आलोच्य काल के आध्यात्मिक तत्त्ववाद एवं साधनामार्ग की दृष्टि से विष्णु, हरिवश [महाभारत का परिशिष्टांश], पद्म, भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इनमें से विष्णु पुराण सबसे प्राचीन माना जाता है। हरिवंश ईस्वी सन् की चौथी शताब्दी तक सभवतः अपने प्रचलित रूप को प्राप्त हो गया था। छठीं शताब्दी के पहले भागवत पुराण भी उपलब्ध रूप न आ चुका था। पद्म और ब्रह्मवैवर्त का प्राप्त रूप निश्चय ही अर्वाचीन है। इनमें तीर्थ, व्रत, दान इत्यादिक स्मार्त तत्त्वों के साथ दोलोत्सव, दमनक महोत्सव, ऊर्ध्वपुण्ड्र, पवित्रारोपण आदि वैष्णव उपादानों का एक साथ वर्णन मिलता है। इनमें राम और कृष्ण के चरित्र उपनिबद्ध है लेकिन विस्तार कृष्णचरित का अधिक है। राधातत्व के कारण ब्रह्मवैवर्त वल्लभ, राधावल्लभ एवं गौडीय संप्रदाय में विशेष समादृत है फिर भी भागवत पुराण के महत्व को कोई नहीं पहुँचता। यह पुराण सभी परवर्ती वैष्णवों को सामान रूप से मान्य है। वल्भाचार्य ने इसे प्रस्थानत्रयी की समकक्षता प्रदान की। इस पर विशिष्टाद्वैती, द्वैती, द्वैताद्वैती, शुद्धाद्वैती, अचिंत्य

---

१ 'दि पुराणाज मे दस बी रिगार्डेड ऐज ए डेलिबरेट अटेम्पट टु ब्रिंग दि थीस्टिक रिलीजन्स लाइक वैष्णविज्म ऐंड शैविज्म विदिन दि पेल आफ् आर्थोडाक्सी बाई कम्बाइनिंग दि न्यू डाक्ट्रिन्स विथ ए रिस्पेक्ट फार वैदिक रिचुअलस, कस्टम्स ऐंड बिलीफ्स, स्पेशली दि आर्थोडाक्स आइडियाज आफ कास्ट ऐंड आर्डर'

[क्लेसिकल एज : पृष्ठ २६७]

२. यद्यपि स्मार्त वैष्णव आदि शब्दों का व्यवहार प्राचीन वाङ्मय में नहीं मिलता तथापि आजकल इन शब्दों से जिन वर्गों का संकेतग्रह होता है उनका विकास इस काल में बड़ी तेजी से हुआ।

भेदाभेदवादी—सभी संप्रदायवालों ने अपनी टीकाएँ की हैं। भागवत को आधार बनाकर अनेक ग्रंथो का प्रणयन हुआ—सिद्धात मुक्ताफल, हरिलीलामृत, परमहंस प्रिया, प्रबोधसुधाकरक, षट्संदर्भ आदि। परवर्ती काल में इसने समस्त भारतीय वाङ्मय को जबर्दस्त प्रेरणा दी। फलतः गोपीकृष्ण या राधाकृष्ण की भागवती प्रेमलीला पत्थर की और मृण्मय मूर्तियो मे, चित्र फलको मे, काव्य, धर्म तथा दर्शन मे सर्वत्र ओतप्रोत हो गई।

३७. कृष्णचरित की ही भाँति रामचरित की लंबी परंपरा है। विष्णु के अवतारों में राम पहले हैं, कृष्ण बाद मे। भले ही लोक मे कृष्णभक्ति की प्रतिष्ठा ईसा के पूर्वकाल मे संपन्न हो चुकी हो और रामभक्ति की अभिव्यक्ति ईसा के कई सौ वर्षों बाद हुई हो, तो भी परंपरा पुरानी है[1]। यद्यपि रामायण के कुछ पात्रों का संबंध निरपेक्ष उल्लेख वैदिक वाङ्मय मे भी दृष्टिगोचर होता है तथापि रामचरित धारा की गंगोत्तरी वाल्मीकि की प्रसन्नवाणी ही है। कदाचित् इसके पश्चात् ही बौद्ध, जैन, लौकिक संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि साहित्यों की प्रबल धाराओं मे व्यक्त होकर इसने समस्त देश को आप्लावित कर दिया। स्मरण रखने की बात है कि कुलशेखर आलवार को वाल्मीकि रामायण ने ही भक्ति के उद्रेक से विह्वल बना दिया था। यही नहीं रामचरित की परंपरा बृहत्तर भारत मे भी प्राप्त होती है। देश विदेश मे उपलब्ध मूर्तियों एवं चित्रों मे यह परंपरा सुरक्षित है। यों तो रामचरित पर लौकिक संस्कृत मे रघुवंश, महावीर-चरित, उत्तररामचरित, प्रसन्नराघव, अनर्घराघव, हनुमन्नाटकादिक सैकड़ो रचनाएँ हुईं और सबने थोड़ी बहुत प्रेरणा हमारे आलोच्य काल की राम-काव्य-धारा को दी लेकिन इनमे सबसे अधिक प्रभावशाली ग्रंथ अध्यात्म रामायण है।

३८. इस श्रौतस्मार्तपरंपरा की नवोत्थित धारा मे वेदविरोधी आगमवादियों तथा लौकिक तत्वो के प्रति आक्रोश की भावना है। कपिलस्मृति मे आगमो का प्रचार करनेवालो तथा लोक भाषा के माध्यम से तर्क उपस्थित करनेवालो की निंदा की गई है—

> भाषा-ग्रन्थ-कुतर्काणामागमानां प्रचारणात्।
> वैष्णवानां शोभनानां [?] पुरुषाणां दुरात्मभिः॥ श्लोक १९।

कण्व स्मृति मे धर्मकृत्य की भाषा देववाणी बताई गई है और उसके स्थान पर लोक भाषा का वर्जन किया गया है—

---

1. प्र० प्र० अध्याय २। अनुच्छेद ८७ [२] एवं अध्याय ३। अनुच्छेद ४३ से ४६ तक।

तथा सत्कर्मकालेषु भाषा या च लौकिकी ॥ श्लोक ४७२
वर्जनीया प्रयत्नेन तद्विज्ञानशुद्धये ।
दिव्या भाषा सदा ग्राह्या वैदिकेन महात्मना ॥ श्लोक ४७३

३६. देवपूजकों की वैष्णव परंपरा में, भृगु के अनुसार, 'वैखानस', 'पांचरात्र' तथा 'भागवत' नामक तीन शाखाएँ थीं[1]। इनमें से वैखानसों का संबंध कृष्ण यजुर्वेद की औखेय शाखा से बताया गया है[2]। 'पांचरात्र' से संभवतः 'काश्मीरागम' का तात्पर्य है[3]। 'भागवत' 'सात्वतों' के साथ संबद्ध है।

---

१. वैखानसं पांचरात्रं तथा भागवताभिधम् ।
[काश्यप संहिता की भूमिका पृ० ८ पर पार्थसारथी द्वारा भृगु, लिखित 'क्रियाधिकार' से उद्धृत]।

२. येन वेदार्थविज्ञेया लोकानुग्रहकाम्यया ।
प्रणीतं सूत्रमौखेयं तस्मै विखनसे नमः ॥
[वैखानस श्रौतसूत्र के भाष्य में वेंकटेश का नमस्कारात्मक मंगलाचरण]

३. यामुनाचार्य ने 'आगमप्रामाण्य' में 'भागवतों' के प्रामाण्य की स्थापना की है। सुना जाता है कि उन्होंने 'काश्मीरागमप्रामाण्य' भी लिखा। इसका प्रमाण हमें 'आगम प्रामाण्य' में ही मिल जाता है—'एकायन शाखायामपौरुषेयत्वं तथा काश्मीरागमप्रामाण्ये प्रस्तुते'। [द्रष्टव्य प्र० प्र० अध्याय २। अनुच्छेद ४३]। इस दशा में एकायनशाखा से संबद्ध पांचरात्रिकों का संबंध काश्मीरागमवादियों से स्पष्ट हो जाता है। काश्मीर के उत्पल वैष्णव ने पांचरात्रश्रुति, पांचरात्र उपनिषद् तथा जयाख्य संहिता के प्रमाण 'स्पंद प्रदीपिका' में दिए हैं। इनमें से जयाख्य की उपास्य मूर्ति 'वैकुण्ठ नारायण' की है। इस देवता की बहुत सी मूर्तियाँ कश्मीर में तथा उसके आस पास के प्रदेशों में मिली हैं जिनसे प्रमाणित हो जाता है कि इस मूर्ति के उपासक पांचरात्रिक उन दिनों वहाँ रहे होंगे। कल्हण की राजतरंगिणी [४।५०८, ५।२५] में तात्कालिक राजाओं द्वारा वैकुंठ मंदिर बनवाने के उल्लेख हैं। पद्मतंत्र एवं ईश्वर संहिता में 'तंत्रांतर' नाम के वैष्णव मत को वैकुंठ के विविध रूपों का उपासक बताया गया है। इसलिये संभावना होती है कि 'काश्मीरागम', 'तंत्रांतर' या 'पांचरात्र' जो जो वैकुंठ मूर्ति के उपासक हैं वे सब परस्पर संबद्ध हैं।

४०. वैखानसो की चार उपशाखाएँ मानी गई हैं—आत्रेय, काश्यपीय, मारीच और भार्गव[1]। इन चारो के एक ही श्रौत, गृह्य तथा धर्म सूत्र है किंतु संहिताएँ विभिन्न है। मारीच वैखानसागम, काश्यपीय ज्ञानकांड एवं आत्रेयसंहिता प्रकाशित हैं। परतु भार्गवसंहिता उपलब्ध होते हुए भी अद्यावधि प्रकाशित नहीं हुई। वेदों के साथ वैखानसो का बहुत प्राचीन समय से घनिष्ठ संबंध था। इनकी अर्चापद्धति सर्वथा वैदिक थी इसी से काश्यपीय सहिता वैखानसो को वैदिक और पाचरात्रो को आग्नेय घोषित करती है[2]। तैत्तिरीयारण्यक मे इन्हे प्रजापति का नख बताया गया है[3]। वैदिकानुक्रमणी मे एक शत वैखानस मंत्र द्रष्टाओ की चर्चा है[4]। इस प्रकार वैखानस मत को वेद तथा आगम दोनो स्रोतों से प्रेरणा मिलती थी। पर हमारे आलोच्य काल मे वैखानसो का प्रभाव उत्तर भारत मे दृष्टिगोचर नहीं होता। दक्षिण भारत मे चोल-शिलालेखो से वैखानस सस्थाओ एवं साधको का पता लगता है।

४१. काश्मीरागम शाखा मे पाचरात्र श्रुति और पाचरात्र उपनिषदों का अस्तित्व उत्पल की स्पंदप्रदीपिका से ज्ञात होता है[5]। जयाख्य सहिता इस मत का प्रधान

---

१. आत्रेयः काश्यपीयश्च मारीचो भार्गवस्तथा।
एतैर्वैखानसं प्रोक्तं सूत्रं वैखानसं स्मृतम्॥
अत्रिसंहिता पृ० ४४५। श्लोक २०

२. द्रष्टव्य काश्यपसंहिता पृ० १७१।
वैखानसं पांचरात्रमिति विधानद्वयं विष्णोस्तंत्रम्।
वैखानसं सौम्यमाग्नेयं पांचरात्रम्॥
वैखानसविधिश्चेति पांचरात्रविधिस्तथा।
पूर्वन्तु वैदिकं प्रोक्तं पांचरात्रं तु तान्त्रिकम्॥
अत्रिसंहिता पृ० ४५४, श्लोक ११

३. ये नखास्ते वैखानसाः [१।२३]

४. हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जि० २, पृ० ६१७।

५. पांचरात्रश्रुतावपि यद्वत् सोपानेन प्रासादमारुहेत्, प्लवेन वा नदीं तरते तद्वच्छास्त्रेण हि भगवान् शास्ताऽवगन्तव्यः। पृ० २
पांचरात्रोपनिषदि च ज्ञाता च ज्ञेयं च वक्ता चवाच्यं च भोक्ता च भोज्यं च।
पृ० सं० ४७।

ग्रंथ है। इसमें 'वैकुंठ नारायण'—सौम्य, नृसिंह, कपिल तथा वराह से युक्त चतुर्मुख विष्णु ही परम आराध्य हैं[1]। 'भागवतों' का संबंध सात्वत जाति से था। सात्वत संहिता इस शाखा से संबद्ध है। इसका प्रमाण महाभारत में मिलता है—'सात्वतं विधिमास्थाय गीतः संकर्षणेन यः'। वैखानसों में विष्णु, सत्य, पुरुष अच्युत एवं अनिरुद्ध इन पंचवीरों की अर्चा होती है[2]। काश्मीरागमवादियों में सौम्य मुख के साथ वराह, कपिल तथा नृसिंह में से दो या तीन मुखों की पूजा विहित है[3]। भागवतों में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इस चतुर्व्यूह का पूजन होता है[4]।

४२. काश्मीरागम और सात्वत्-भागवत मतों का बड़ा विशाल वाङ्मय है। इसे सामान्यतः पांचरात्र संहिता कहा जाता है। अनुश्रुति इनकी संख्या एक सौ आठ[5]

---

१. अनादिनिधनं देवं जगत्स्रष्टारमीश्वरम्।
ध्यायेच्चतुर्भुजं विप्र शंखचक्रगदाधरम्॥
चतुर्वक्त्रं सुनयनं सुकान्तं पद्मपाणिनम्।
वैकुण्ठं नरसिंहास्यं वाराहं कपिलाननम्॥

जयाख्य ७३-७४। पृ० ४६।

२. पुरुषं तु ततः सत्यमच्युतं च युधिष्ठिर।
अनिरुद्धं च मां प्राहुर्वैखानसविदो जनाः॥

पांचरात्ररक्षा पृ० २४ पर वैष्णव धर्मकांड से उद्धृत।

वैखानसागम पृ० २३० तथा उसके आगे, अत्रिसंहिता पृ० १८३ और आगे, वृद्ध गौतम स्मृति [अध्याय ८। ८८।२, ८३।१]।

३. सौम्यसिंहादिभूयिष्ठवक्त्रभेदैश्चतुर्मुख।
द्वित्र्यादिमुखभेदा वा मूर्तिरकैव पूज्यते॥

पांचरात्ररक्षा पृ० ११ पर पद्मतंत्र का उद्धरण।

४. वृद्ध गौतम स्मृति [८।४०]

५. मध्यकालीन धर्म साधना : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ३०।

श्रेडर महोदय की परिगणना के अनुसार दो सौ दस[1] तथा कपिंजल संहिता के आधार पर दो सौ पंद्रह [2] मानी जाती है। इन वैष्णवागमो मे चार विषयों का प्रतिपादन है—[१] ज्ञान अर्थात् तत्ववाद, [२] योग यानी मोक्ष की साधिका यौगिक प्रक्रियायें, [३] क्रिया अर्थात् मंदिर निर्माण, मूर्ति स्थापन आदि की विधियाँ और [४] चर्या यानी नित्य नैमित्तिक कृत्यो एवं पार्वण उत्सवो का विधान इत्यादि। लेकिन 'पाञ्चतंत्र' आदि कुछ आगमों को छोड़कर शेष मे ज्ञान तथा योग का निरूपण बहुत थोड़ा है। प्रायः क्रिया और चर्या का विस्तृत वर्णन सबमे मिलता है[3]। इसी से विद्वानो ने इन संहिताओ को वैष्णवो का कल्पसूत्र कहा[4] है। इस वाङ्मय के अतिरिक्त आलवारों के भक्तिमय गीत, तथा उभय वेदांती आचार्यों के ग्रथ इस परंपरा मे परमादरणीय और मान्य समझे जाते है। दक्षिण के सात्वत भागवतो अर्थात् पाँचरात्रिको ने 'द्रविड़ प्रबंध' को वेदों की मान्यता दी है। पर काश्मीरागमवादी पाचरात्रिको मे 'द्रविड़ प्रबध' का क्या महत्व था; कुछ था भी या नहीं, इदमित्थं रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इस प्रसंग मे यह स्मरण रखने योग्य है कि विद्वानो ने द्रविड़ प्रबंध के गायक—आलवारो पर आगम प्रभाव स्वल्प माना है। इनको अधिक प्रभावित करने का श्रेय वे श्रौतस्मार्तपरंपरा के ग्रंथ वाल्मीकीय रामायण और पुराणो को देते हैं[5]।

४३. सामान्य रूप से चार प्रकार के शैव संप्रदायो की चर्चा आती है—शैव सिद्धांत, पाशुपत, कालानन और कापालिक[6]। इनमे से शैवसिद्धात वैदिक धारा के

---

१. ऐन इंट्रोडक्शन टू दि पांचरात्र ऐंड अहिर्बुध्न्य संहिता, पृ० ११

२. भागवत संप्रदाय : पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० सं० ११५

३. ऐन इंट्रोडक्शन टू दि पांचरात्र ऐंड अहिर्बुध्न्य संहिता।

४. मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ० ३१

५. मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ० सं० ३३

६. ते च शैवादि भेदेन चतुर्धा भवन्ति। तदुक्तम्—

आधार-भस्म-कौपीन-जटा-यज्ञोपवीतिनः ।
स्वस्याचारादिभेदेन चतुर्धाः स्युः तपस्विनः ॥
शैवाः पाशुपताश्चैव महाव्रतधरास्तथा ।
तुर्याकालामुखा मुख्या भेदास्तेषां तपस्विनाम् ॥ षड्दर्शनसमुच्चय, पृ० सं० १२

वेदान्त सूत्र [२।२।३५] पर शारीरक भाष्य और श्रीभाष्य एवं आगम प्रमाण्य भी द्रष्टव्य हैं।

कर्मकांड का पार्श्ववर्ती है। इसी से इसकी पूजन विधि में वैदिक [illegible] का वर्णन तथा धर्म कार्यों में पूर्तकर्मों का परिग्रह है। ये लोग [illegible] हैं[1]। अतः इन्हें वेद प्रामाण्य अंगीकृत था। इनका [illegible] में मिलता है। शिव ने अपने पाँचों मुखों से एक सौ आठ आगमों का उपदेश किया था। इन आगमों के अतिरिक्त इस मत में [illegible] ने 'पद्धति' ग्रंथ माने हैं।

४४. पाशुपत वैदिक कर्मकांड को स्वीकार नहीं करते। कणाद की दृष्टि से यद्यपि ये नैयायिक हैं तथापि वेद का प्रामाण्य इन्हें गौण रूप से ही मान्य है। इनके स्वल्प साहित्य में माहेश्वर रचित पाशुपत सूत्र और उस पर कौडिन्य की [illegible] टीका, भासर्वज्ञ की गणकारिका तथा उस पर हरदत्ताचार्य की टीका—ये प्रमुख प्रकाशित ग्रंथ हैं।

४५. कालानन एवं कापालिक अपनी अवैदिक और उग्र साधनाओं के लिये ख्यात हैं।

४६. तंत्रालोक की एक अनुश्रुति है कि कलिकालुष्य से तथा उपदेशकों की परंपरा विनष्ट हो जाने से शिवशासन उच्छिन्न हो गया। अतः कैलाश गिरि पर भ्रमण करती हुई शिवमूर्ति ने दुर्वासा मुनि को 'षडर्धक्रम' के प्रचार की आज्ञा दी। दुर्वासा ने 'त्र्यंबक' 'आमर्दक' और 'श्रीनाथ'—इन तीन मानस सिद्ध मुनियों को क्रमशः अद्वय, द्वय तथा द्वयाद्वय मठों में संप्रदाय प्रवर्तन के निमित्त नियुक्त किया[2]। इसलिये त्रिकदर्शन में त्र्यंबक ने अद्वैत मत, संभवतः शैवसिद्धांत में आमर्दक ने द्वैत मत एवं पाशुपत कौलों में श्रीनाथ ने द्वैताद्वैत मत प्रवर्तित किया था। इनके अतिरिक्त श्री मच्छंद विभु ने एक चौथा रास्ता निकाला। ये मच्छंद संभवतः सिद्धाचार्य मत्स्येंद्रनाथ ही थे जो गोरखनाथ के गुरु बतलाए जाते हैं। शैवों के द्वैत और द्वैताद्वैत मत से संबद्ध संप्रदायों और उनके साहित्य की चर्चा ऊपर हो चुकी है। अद्वैती त्रिक मत

---

१. पारंपरिक दृष्टि से शैव सिद्धांतियों को नैयायिक और पाशुपतों को वैशेषिक कहा गया है। पर यह ठीक नहीं। प्र० प्र० अध्याय २। अनुच्छेद १६।

२. तानि कलि कालुष्याद् उपदेष्टृजन-परम्परान्तर्धानवशात् विच्छिन्न संचाराणि व्यनश्यन्। इत्थं विच्छिन्ने शिवशासने कदाचित्कैलासगिरौ परिभ्रमन् श्री कण्ठमूर्तिः शिवो विच्छिन्नस्य निखिलशैवशास्त्रोपनिषत्सारभूतस्य षडर्धक्रम-विज्ञानस्य प्रचारार्थं दुर्वाससं मुनिमाजिज्ञपत्। स मुनिः मानसान् सिद्धान् त्र्यम्बकामर्दकश्रीनाथाख्यान्, अद्वय-द्वय-द्वयाद्वय-मत-व्याख्यातॄन् मठिकासु सत्सम्प्रदायमार्गप्रचारयितुं न्ययुंक्त। तन्त्रालोक १। पृ० २८

का भी विशाल वाङ्मय है। पर आलोच्य विषय के साथ इनका विशेष संबंध न होने के कारण विवरण नहीं दिया जा रहा है। इसी तरह शाक्त, गाणपत्य, कौमार तथा सिद्ध आदि के मतों का प्रस्तुत विषय मे खास उपयोग न होने के कारण उनकी चर्चा छोड़ी जा रही है।

४७. उपर्युक्त मतो को वेद की दृष्टि से वैदिक, वेदबाह्य और वेदविरुद्ध इन तीन वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है। वेदविरुद्धो मे कालानन, कापालिक, सिद्धमत, वामाचार आदि आते है। इन्होंने वेद का बड़ा विरोध किया। वैदिक धारा यद्यपि स्वभावतः क्षीण हो रही थी तथापि वैदिक और वेदबाह्य परंपराओं मे वेदो का महत्व एवं प्रामाण्य घटने के स्थान पर उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

अध्ययनविधि

४८. आलोच्य युग की देवालयीय या आगमिक भक्ति की विस्तृति मे किस प्रकार उपर्युक्त इतर धार्मिक जीवनप्रकारों ने अपना योग देकर उसे उच्चतर जीवन मूल्यों की नियामिका बनाया, इसका विवेचन अग्रिम पृष्ठो मे प्रस्तुत किया जायगा। अब प्रश्न यह है कि इसकी विधि क्या हो। चूंकि अन्य कलाओ एवं शास्त्रो के समान काव्य तथा साहित्य शास्त्र भी सामाजिक कृतियाँ है इसलिये इनका अनुशीलन तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था, संगठन और समान कृतियो की भूमिका मे करना न्याय्य है। समाज का युगधर्म इन माध्यमो से अपने स्वरूप को व्यक्त करता हुआ चलता है। आलोच्य युग की भक्ति इस तथ्य का संगत निदर्शन है। अतः युगधर्म भक्ति के प्रवाह के उद्भव का कारण और स्थान प्रथमतः अन्वेषणीय है। तत्पश्चात् भक्ति के विभिन्न स्वरूपो का, तथा उन स्वरूपो के विधायक सांस्कृतिक तत्वो का अध्ययन समुचित है। युग धर्म, भक्ति ने समाज को कितनी दूर तक किन रीतियों से प्रभावित किया, सामाजिक व्यवस्थाओ मे कौन से नए मूल्य दिए एवं सामाजिक संगठनो मे किन प्रवृत्तियो की अभिव्यक्ति की, यह जानना आवश्यक है, क्योकि सामाजिक कृतियों, कलाओं और शास्त्रो मे अंतर्निगूढ़ सामाजिक पीठिका का सुदूर-गामी प्रभाव होता है। आलोच्य साहित्य मे इतस्ततः विकीर्ण सूत्रों को तात्कालिक धर्मशास्त्रीय तथा आगमिक परंपराओं से अन्वित कर इस सामाजिक पीठिका का उद्धार किया जायगा। फिर यह जानना आवश्यक है कि साहित्य, संगीत, चित्र, मूर्ति आदि मे व्यक्त होनेवाले रूपसौंदर्य और उससे उत्पन्न आनंदरूप रस ने युग धर्म, भक्ति तथा समाज से प्रभावित होकर किस रूप को ग्रहण किया। अतएव अंत मे इन सामाजिक कृतियो का इसी परिपार्श्व मे रूपविधान आलोचनीय है।

द्वितीय अध्याय

भक्ति आंदोलन : प्रवर्तन के कारण और स्थान

२

भक्ति आंदोलन का स्वरूप और अर्थ

१. ऐतिहासिक प्रवाह निरंतर गतिशील रहता है। किंतु इस प्रगतिशील प्रवाह में कुछ ऐसे युग होते हैं जो अपना अमिट प्रभाव चिरकाल के लिये परवर्ती युगों पर छोड़ जाते हैं। इसीलिए ईसा पश्चात् पंद्रहवीं शताब्दी भारतीय संस्कृति के इतिहास मे अपना विशिष्ट स्थान रखती है। इस युग का प्रभाव इतना गहरा पड़ा कि अद्यावधि भारतीय संस्कृति के विविध क्षेत्रो मे साक्षात् अथवा परोक्ष रीति से इसके संयोजक तत्वों की उपलब्धि होती है।

२. इस समय की वैष्णव भक्ति संपूर्ण भारतवर्ष मे इस छोर से उस छोर तक परिव्याप्त हो गई थी। इसके पहले पूर्वमध्यकाल मे तो शैव धर्म समग्र भारत में अत्यधिक प्रभावशाली था। मिहिर-कुल,[1] यशोधर्मा,[2] उत्तरापथेश्वर[3] हर्ष, हैहय कल्चुरि वंश के सारे सम्राट,[4] चंदेल-वंशी देववर्मा,[5] मदन वर्मा,[6] परमर्दि[7] और

१. दिनेशचंद्र सरकार : सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स, पृ० ३९५

२. वही, पृ० ३९३

३. बांसखेरा ताम्रपत्र, एपीग्रेफिया इंडिका, जिल्द ४, पृ० २०८ से २११ तक

४. एपीग्रेफिया इंडिका, जि० २५, पृ० ३०९। वही, जि० २१, पृ० ९५। वही, जि० २५। पृ० १

५. इंडियन एंटीक्वेरी, जि० १६, पृ० २०५

६. वही, जि० १६, पृ० २०२

७. एपीग्रेफिया इंडिका। जि० ४, पृ० १५३-१७०

त्रैलोक्य वर्मा[1] आदि, चंद्रवंशीय पांडव कुल[2] तथा उनके उत्तराधिकारी तुंग[3] और भंज वंश[4] के अनेक राजा, सेन[5] एवं चहमान[6] वंशों के नरपति, कामरूपाधिपति हर्जर वर्मा[7] तथा वैद्यदेव,[8] गहड़वाल वंश के अधिकांश राजाधिराज[9] आदि परम माहेश्वर थे। दक्षिणापथ में भी शैवों का विपुल प्रभाव था। वृष्णि, कलानन, आनंद, विष्णु कुंडि, शालकायन, पश्चिमी गंग[10], रट्ट, काकातीय[11] और चोल वंश के अधिकांश नृपति शैव थे। शैव मठों की परंपरा उत्तर में कश्मीर से दक्षिण में चोलों के राज्य तक फैली[12] हुई थी। अनेक राजा-महाराजाओं ने शिव अथवा शैव तपस्वियों को अपने साम्राज्य समर्पित कर दिए थे[13]। इस तरह पूर्व मध्यकाल में राजकीय स्तर पर शैव धर्म सर्वाधिक प्रभावशाली प्रतीत होता है। परंतु जन सामान्य मध्यवर्गीय गृहस्थों में गुप्तकालीन वैष्णव परंपरा किसी न किसी रूप में चल रही थी। प्रतिहारवंशीय अभिलेखों में जनता द्वारा दस वैष्णव एवं एक शैव मंदिर के निर्माण का उल्लेख मिलता[14] है।

३. किंतु यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि इस काल की वैष्णव भक्ति उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम तक और जनता के विभिन्न स्तरों में व्याप्त हो गई और शैव धर्म की लोकप्रियता उत्तरोत्तर कम होती गई। स्वामी शंकराचार्य के पश्चात्

---

१. वही, जि० १६, पृ० २७२-२७७
२. वही, जि० ११, पृ० ९३-९५
३. जरनल आफ एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल जि० ५, न्यू सीरीज। पृ० ३४७-३५०
४. एपीग्रेफिया इंडिका, जि० १२, पृ० १५६-१५९
५. वही। जि० १। पृ० ३०७
६. वही। जि० १२, पृ० २०१
७. जरनल आफ बिहार रिसर्च सोसायटी, जि० ३, पृ० ५११
८. एपीग्रेफिया इंडिका, जि० २, पृ० ३५०
९. वही। जि० १४। पृ० १९७-२००
१०. डा० रमेशचंद्र मजूमदार : क्लेसिकल एज, पृ० ४२७
११. जरनल आफ आंध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी, जि० ४, पृ० १४७
१२. प्र० प्र० अध्याय १। अनुच्छेद २२। पृ० २३। टि० ३। पृ० २४। टि० १ से ७ तक
१३. प्र० प्र० अध्याय १। अनुच्छेद २९। पृ० २१। टि० ४-५। पृ० २२। टि० १ से ३ तक
१४. प्र० प्र० अध्याय १। अनुच्छेद ३२। पृ० २३। टि० २

रामानुज, निंबार्क, मध्व, विष्णु स्वामी, रामानंद, वल्लभ, चैतन्य, हरिवंश, हरिदास और हरिव्यास आदि सारे आचार्य वैष्णव थे। वैष्णव धर्म मे विभिन्न संप्रदायों, मतो, पंथो और शाखाओ आदि का प्रवर्तन हुआ। चतुः संप्रदायो को यथाक्रम श्री संप्रदाय, सनक संप्रदाय, ब्रह्म संप्रदाय तथा रुद्र सप्रदाय कहते हैं। इनके अतिरिक्त तथा इनमे अंतर्मुक्त अनेक वैष्णव मत प्रवर्तित हुए। श्री सप्रदाय मे रामानंदी मत और उसमे भी विरागी तथा तपसी नाम की शाखाएँ निकलीं। ब्रह्म तथा रुद्र संप्रदायो से क्रमशः चैतन्य एवं वल्लभ के मतों का योग हुआ। राधावल्लभी और हरिदासी, हरिव्यासी आदि अनेक मतों का प्रचलन हुआ। आसाम मे महापुरुषिया धर्म, बंगाल मे सहजिया धर्म, उड़ीसा मे पंचसखा धर्म, महाराष्ट्र मे महानुभाव, वारकरी, रामदासी और हरिदासी आदि पंथो का उदय हुआ। रामानंदी संप्रदाय में आनेवाले निर्गुनियो की परंपरा की गद्दियाँ पश्चिम मे काबुल तक प्रतिष्ठित हुईं। नानक द्वारा प्रवर्तित पंथ तथा श्रीचंद्र के अनुयायी उदासीनो ने पंजाब और सिंध पर गहरा प्रभाव डाला। इस प्रकार उत्तरमध्यकालीन वैष्णव आंदोलन ने अनेक मत मतांतरो के साथ संपूर्ण भारतवर्ष को परिव्याप्त कर लिया था।

४. इस आदोलन ने न केवल धर्म, भक्त-भगवान्-संबंध को प्रत्युत सामाजिक व्यवस्थाओ, सामाजिक जीवन तथा सामाजिक कृतियों-साहित्य एवं कला इत्यादि को अत्यधिक अनुप्राणित तथा प्रभावित किया। यहाँ तक कि इनका मूल्याकन भक्ति के आधार पर होने लगा था। यह स्थिति समस्त उत्तरमध्यकाल तक वर्तमान थी। उन्नीसवीं शताब्दी मे विज्ञान के प्रभाव से भौतिकतावाद और प्रजातंत्र के कारण मानवतावाद की प्रतिष्ठा हुई तथा मध्यकालीन भक्ति के स्थान पर भौतिक मानवतावाद ने सामाजिक व्यवस्थाओ, जीवन एवं कृतियों को प्रेरित किया। वही इनके मूल्यों का मानदड बना। इसलिये भक्ति आदोलन का तात्पर्य ईसा की चौदहवीं पद्रहवीं शती से लेकर अठारहवीं उन्नीसवीं शती तक के भक्तिप्रवाह से है। यद्यपि इस काल की कुछ प्रवृतियाॅ इस युग के बहुत पूर्व से लेकर बहुत बाद तक दिखाई देती है।

भक्ति आंदोलन का प्रवर्तन : कारण

५. इस भक्ति आंदोलन के प्रवर्तन मे विभिन्न कारणो की कल्पनाएँ की गई हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार इस आंदोलन का प्रवर्तन विदेशी धर्मों के संपर्क का परिणाम है। दूसरे विद्वानों ने इस आंदोलन को तत्कालीन परिस्थितियो ने उद्भूत माना है। तीसरे मनीषियों ने इसका कारण लोकसंस्कृति का शास्त्रसंस्कृति के साथ समन्वय बताया है।

मोहम्मदी धर्म-संपर्क

६. प्रथम वर्ग के अंतर्गत आनेवाले विचारकों की दो शाखाएँ हैं। पहली शाखा के फ़ासेट, बार्थ और ताराचंद आदि भारतीय भक्ति का संबंध मोहम्मदी धर्म से जोड़ते हैं। इन लोगों का कथन है कि अरबों ने बहुत पहले ही दक्षिण के भारतीय समुद्री तट से अपना संबंध स्थापित कर लिया था। इन्हीं स्थानों पर शंकर, रामानुज आनद तीर्थ और बसव के भक्ति आंदोलन का जन्म हुआ। फासेट ने एक अनुश्रुति का उल्लेख किया है। इसके अनुसार मालाबार का कोई राजा मुसलमान हो गया था। अतः शिव क्रुद्ध हो गए। उन्होंने मोहम्मदी धर्म का समूलोच्छेद करने के लिये आद्य शंकराचार्य का विग्रह धारण किया। ताराचद भी लिखते हैं कि भक्ति धर्म के स्वरूपघटक एकेश्वरवाद और प्रपत्ति सिद्धात, इस्लाम धर्म के विशिष्ट तत्व हैं। 'इस्लाम' का अर्थ ही है—'प्रपन्न होना'। इस धर्म का प्रभाव मुसलमानी राज्य जमने के पूर्व ही भारत में फकीरों के माध्यम से परिज्ञात हो चुका था।[1] इस प्रकार ताराचद के मत मे भारतीय भक्ति का कारण मोहम्मदी धर्म है।

७. यह सत्य है कि मोहम्मदी धर्म का प्रभाव उत्तर भारत के निर्गुनियाँ संतों और दक्षिण भारत के महानुभाव पथ मे मिलता है। यह भी ठीक है कि भक्ति आदोलन के पूर्व ईसा की आठवीं शताब्दी से ही भारत मे मुसलमानों के निवास का साक्षी इतिहास[2] है। साथ ही इतिहास से इसका भी प्रमाण मिलता है कि भारतीय दर्शनो की ज्ञानप्राप्ति के निमित्त इक्के दुक्के मुसलमान फकीरों का आवागमन होता था। 'हल्लाज', 'जिली' और संभवतः 'अरबी' यहाँ आए थे[3]। किंतु वेदात से प्रभावित होकर इन्होंने 'इसलाम' मे नवीन प्रवृत्तियो का समावेश किया। सूफियो मे 'इंसानुल कामिल' की प्रतिष्ठा मोहम्मदी धर्म के प्रतिकूल है। कदाचित् भारतीय 'पुरुषोत्तम' या 'पूर्ण पुरुप' का यह इस्लामी रूपांतर हो। प्रपत्ति और सगुण ईश्वर के तत्व भारत की प्राचीन परपरा मे ही विद्यमान थे। इसलिये वैष्णव भक्ति के इन तत्वो को मोहम्मदी धर्म की देन नहीं कहा जा सकता। सबसे पहले तो कतिपय पर्यटकों के प्रभाव से इस महान् भक्ति आदोलन का सूत्रपात ही असंभव है। दूसरे शंकराचार्य या रामानुज पर साक्षात् या पारम्परिक किसी प्रकार के मोहम्मदी धर्म के प्रभाव का निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। तीसरे निर्गुनियाँ संत परपरा

---

१. ताराचंद : इन्फ्लूयेंस आफ् इस्लाम आन इंडियन कल्चर, पृ० १०७

२. डा० मजूमदार : क्लैसिकल एज, पृ० ४५०

२. पं० चंद्रबली पांडे : तसव्वुफ अथवा सूफी मत, पृ० २४८-२४९

को छोड़कर सगुण भक्तिधारा के साथ उनका साम्य कम, वैषम्य ही अधिक है। इसी प्रबंध मे अन्यत्र स्पष्ट किया गया है कि सगुण भक्तिवादी देवालयीय परंपरा ही वास्तविक वैष्णव भक्ति का उत्स है। उसी मे अन्यान्य परंपराओ के योग से अनेकविध भक्ति के प्रकार प्रवृत्त हुए। अतः भक्ति आदोलन के किसी एकांश मे मोहम्मदी योग—वह भी वेदांत भावित सूफी धर्म का योग स्वीकार करते हुए भी इसके संपर्क को इस व्यापक भक्ति आदोलन का निमित्त क्या, सहकारी कारण भी नहीं माना जा सकता।

मसीही-धर्म-संपर्क

८. ग्रियर्सन ने मसीही रहस्यवाद और भक्ति आंदोलन की भक्ति में अनेक प्रकार की समता बताकर इसके प्रवर्तन का कारण मसीही धर्म का संपर्क[1] माना। उनका कथन है कि 'पर्गेशन' की स्थिति मे आत्मदैन्य और सासारिक विरक्ति तथा 'इल्यूमिनेशन' की अवस्था मे ईश्वर का साक्षात्कार और साक्षात् संबंध एवं 'यूनियन' की दशा मे भक्त ईश्वरसंस्थ हो जाता है। इन तीनो से मिलती हुई स्थितियाँ इस काल की वैष्णव भक्ति मे उपलब्ध होती हैं। संपर्क के लिए 'नेस्टोरियन' चर्च दक्षिण में था ही। अतः इस भक्ति से कार्पण्य, प्रपत्ति और ईश्वरसंयोग की भावनाएँ मसीही धर्म से गृहीत हुईं।

९. यह स्वीकार करना पड़ेगा कि दक्षिण भारत में 'सीरियनचर्च' ईसा पश्चात् प्रथम द्वितीय शताब्दी से तथा 'नेस्टोरियन चर्च' अष्टम शताब्दी के पूर्व ही विद्यमान थे। सन् १५४७ मे कारोमडलतटीय संत थामस के टीले से प्राप्त 'क्रास' पर पहलवी शिलालेख है जो सातवीं शती का बताया जाता है। इसीसे 'नेस्टोरियन चर्च' का संबंध माना गया[2] है। किंतु मसीही रहस्यवाद और वैष्णव भक्ति में रूपगत भेद है। स्वीटजर[3], राधाकृष्णन्[4], तथा प० हजारीप्रसाद[5] द्विवेदी ने इसकी विस्तृत विवेचनाएँ की है। भक्तिगत दैन्य, शरणागति एवं ईश्वर मिलन प्राचीन भारतीय परंपरा मे हैं। भगवद्गीता मे इन तीनो का उल्लेख है। इस पर भी कुछ विद्वानो ने मसीही प्रभाव दिखाने की चेष्टा की है। परंतु भारतीय मेधावियो ने इस

---

१. एनसाइक्लोपीडिया आफ् रिलीजन ऐंड एथिक्स, जि० २, पृ० ५४४-५४५
२. डा० मजूमदार : क्लैसिकल एज, पृ० ५४७-५४८
३. डा० आलबर्ट स्वीटजर : इंडियन थाट ऐंड डेवेलप्मेंट
४. डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् : ईस्टर्न रिलीजन ऐण्ड वेस्टर्न थाट, पृ० २१९-२५२
५. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : सूरसाहित्य, पृ० ५९

मत का प्रत्याख्यान कर यह सिद्ध किया है कि इन दोनों लोगों मे भक्तिगत साम्य का कारण यह है कि बौद्धों ने पश्चिम मे जाकर बुद्ध धर्म के माध्यम से यहूदी धर्म के 'थेरापेडती' और 'ऐसेनीज' संप्रदायों को तथा ईसाई धर्म को भी प्रभावित किया[1]। विद्वान् भी इस मत को स्वीकार करते है। स्प्रिंगेट[2] के अनुसार पश्चिमी जगत बौद्ध धर्म से बहुत अधिक प्रभावित था। गार्ड महोदय 'एसीन' संप्रदाय को तीन चौथाई बौद्ध मानते है[3]। ईसा के संबंध मे भी यही कहा जाता है कि वे स्वयं बौद्ध भिक्षुओं से प्रभावित थे। इतना ही नहीं बल्कि भागवत धर्म ने मसीही धर्म को साक्षात् प्रभावित किया। आर्मीनिया में तीन सौ सत्तावन ईस्वी तक भागवतों का उपनिवेश था[4]। दूसरे 'नेस्टोरियन' और 'सीरियन' चर्च भारत मे इतने प्रभावशाली नहीं रहे होंगे कि वे संपूर्ण भारतवर्ष मे फैल जानेवाले भक्ति आंदोलन का सूत्रपात कर सकते। अतएव उसके उद्भव का कारण अन्यत्र अन्वेषणीय है।

तात्कालिक परिस्थितियाँ

१०. मैक्निकल, कार्पेटर और आचार्य शुक्ल आदि विद्वानों ने तात्कालिक परिस्थितियो की भूमिका मे भक्ति के प्रसार के कारणो का ऊहापोह किया है। शुक्लजी के अनुसार भारतीय चेतना राजनीतिक क्षेत्र मे मुसलमानो से पददलित होकर अंतर्मुखी हो गई। फलतः उसने ऐहिक सुखों के स्थान पर आमुष्मिक सुखों की ओर तथा शत्रु संहार के स्थान पर ईश्वराराधन की ओर अपना मन लगाया। यही मत प्रातिनिधिक मालूम पड़ता है क्योंकि परवर्ती लेखक पं० बलदेव उपाध्याय,[5] डा० विजयेंद्र स्नातक[6] आदि उक्त मत का ही समर्थन करते है। इस मत का पोषण सामयिक साहित्य के परिगणित उल्लेखों से किया जा सकता है। उदाहरणार्थ श्रीकृष्णाश्रयस्तोत्र मे श्रीमद्वल्लभाचार्य कहते हैं:—

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु, पापैकनिलयेषु च।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु, कृष्ण एव गतिर्मम॥

श्लोक सं० २

१. देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर : अशोक, पृ० २२७
२. वर्नार्ड स्प्रिंगेट : दि सीक्रेट सेक्ट्स आफ् सीरिया ऐंड लेबनान, पृ० ६५
३. ड्वाइट गार्ड : वाज जीसस इन्फ्ल्यूएंसड बाई बुधिज्म, पृ० ११४
४. जरनल आफ् रायल एशियाटिक सोसायटी, सन् १९०४, पृ० ३०९
५. भागवत संप्रदाय, पृ० २३७—२४१
६. राधावल्लभ संप्रदाय सिद्धांत और साहित्य, पृ० ८२

अथवा महात्मा तुलसीदास के प्रस्तुत 'विनय' मे :—

काल कलि जनित मल मलिन मन सर्व नर मोह निसि निविड़ जवनांधकारम् ।
विष्णु जस पुत्र कलकी दिवाकर उदित दास तुलसी हरन बिपति भारम् ॥

पं० १७-१८। छंद ५२

११. इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि उत्पीड़ित सामाजिक चेतना मुसलमानों से पादाक्रांत होकर कृष्ण और राम मे सात्वना प्राप्त कर रही थी। इस प्रकार वह लौकिकता से पराङ्मुख हो पारलौकिकता एवं कर्म के स्थान पर भक्ति की ओर बढ़ रही थी। किंतु यह कहना कि ये प्रवृत्तियाँ इसी काल मे उत्पन्न हुई अथवा चरम विकास को प्राप्त हुई—ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं है।

सामाजिक असंतोष : विश्लेषण

१२. वास्तव मे वर्तमान के प्रति तीव्र असंतोष और वैदिक धर्म के ह्रास से उद्भूत अवसाद की विवृति हमे गुप्त काल के अनंतर मिलने लगती है। पूर्वमध्य-काल के उस असंतोष और उत्तरमध्यकाल के इस असंतोष मे किसी प्रकार का वैज्ञानिक भेद नहीं दिखाई देता। वर्तमान के प्रति घोर असतोष एवं आक्रोश की धारा एक प्रमुख मध्ययुगीन प्रवृत्ति है। इस देश मे ही नहीं प्रत्युत सामन्त कालीन युरोप में भी ऐसा ही करुणाजनक असंतोष दिखाई पड़ता है। युरोपीय सामंतकालीन काव्य धारा के अध्ययन से भी यही धारणा बँधती है कि इस युग की सामाजिक चेतना एक असह्य वेदना से कराह रही थी[1]। यह कहना भी संभवतः ठीक नहीं है कि भारतीय सामाजिक चेतना ऐहिकता से पराङ्मुख होने के कारण ईश्वरोन्मुख हुई। क्योकि मुसलमानो के प्रभुत्व के पहले ही भारतीय जनता अधिकाधिक कर्मविमुख, आत्म-विश्वासहीन, ईश्वरोन्मुख और परलोकप्रवण हो गई थी। श्रौत स्मार्त-परंपरा विशेष रूप से कर्मकाडपूर्ण तथा प्रवृत्तिपरक है। कर्मकांड मे कर्म, विधि एवं कर्ता तीनो का ही महत्व है, ईश्वर का नहीं। इसके विरुद्ध आगमिक भक्ति मे कर्म और कर्ता का विसर्जन 'प्रपत्ति' मे है। आगे के विवेचन से स्पष्ट होगा कि किस प्रकार पूर्व मध्य युग में कर्मकांडपरक निगमधारा क्षीण होकर नगण्य हो गई थी और आगम की धारा ने संपूर्ण भारत को आप्लावित कर दिया था। इसलिये सामाजिक चेतना को ईश्वरोन्मुख और परलोकपरायण होने के दो कारण थे—[१] कर्ममय श्रौतस्मार्तपरंपरा का

---

१. जे० हुइजिंगा : दि वेनिंग आफ् दि मिडिल एजेज, पृ० २२-२७

अपकर्ष तथा [२] प्रपत्तिमूलक आगम परंपरा का उत्कर्ष । निश्चय ही उत्तरमध्य-युग की यह प्रवृत्ति पूर्वमध्यकालीन प्रवृत्ति का विस्तार है ।

१३. उत्तरमध्ययुग ने भी इस प्रवृत्ति को विरासत मे पाया है । फलतः इस काल का जनसमुदाय इसी नैराश्यपूर्ण अवसाद से आक्रांत था । इसलिये शुक्लजी का मत पूर्णतः संगत प्रतीत नहीं होता ।

सामाजिक असंतोष : कलिसिद्धांत

१४. सामाजिक असंतोष ने ही धार्मिक क्षेत्र मे कलिसिद्धांत का रूप लिया । वर्तमान के प्रति तीव्र असंतोष इस सिद्धात की मूलभित्ति है इसी नैराश्यपूर्ण तथा अवसादजनक भूमिका मे ही मध्यकाल अवतीर्ण हुआ । इस नैराश्य के कारण हैं— [१] विदेशियो के द्वारा गुप्त साम्राज्य का विध्वंस तथा [२] वैदिक प्रवृत्तियों के ह्रास के साथ आगमिक और तांत्रिक प्रवृत्तियो का प्रसार एवं प्रभाव ।

१५. रोम के विस्तृत और सुदृढ़ साम्राज्य के ध्वंस पर जिस प्रकार योरप में मध्ययुग का प्रारभ हुआ उसी प्रकार वैभवशाली गुप्त साम्राज्य की समाप्ति पर हमारे देश मे मध्य काल का श्रीगणेश माना जाता है[1] । इस युग की सबसे बड़ी विशेषता वैदिक प्रवृत्तियो की शिथिलता है । जैसे जस्टीनियन काल मे यूनानी विद्यालयों के बंद होने से यावनी सस्कृति का ह्रास हुआ और उपासनापरक ईसाई मत की प्रबलता हुई वैसे ही इस काल मे वैदिक चरणो[2] का ह्रास तथा आगमिक मतों का बड़े वेग से प्रचार एव प्रसार हुआ ।

---

१. ऐंशियेंट इंडियन हिस्ट्री सेक्शन टू के सभापति श्री टी० वी० महालिंगम् का अभिभाषण, इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, जयपुर, सन् १९५१

२. राजघाट के उत्खनन मे, वैदिक चरणों की गुप्तकालीन अनेकों मृण्मय मुद्राएँ उपलब्ध हुई हैं जैसे बाह्वृच्य, छंदोग और चरक । किंतु गुप्तकाल के पश्चात् ये मुद्राएँ नहीं मिलतीं । पर मंदिरों की मुद्राएँ नवी दसवी शताब्दी तक प्राप्त होती हैं । ब्राह्मण प्रतिगृहीताओं के नाम ताम्रपत्रों मे चरण और शाखा सहित ७वीं ८वीं शताब्दी तक प्राप्त होते हैं । उसके अनंतर ताम्रपत्रों में गोत्र, प्रवर, वास्तव्य और विनिर्गत का ही उल्लेख मिलता है । इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि वैदिक चरण परंपरा ७वी ८वीं शताब्दी के बाद उच्छिन्न हो गई थी ।

१६. पाँचवीं[1] शताब्दी से इस अर्थ मे कलियुग का व्यवहार प्रारंभ हुआ। अनेक स्मृतियो,[2] शिलालेखो,[3] शैव-शाक्त, वैष्णव, आगमों[4] और पुराणों[5] मे हमें कलिसिद्धांत का उल्लेख प्राप्त होता है।

---

१. यद्यपि कृत त्रेता आदि शब्द वैदिक वाङ्मय [ऐतेरेय ब्राह्मण ३३।३] में उपलब्ध होते है तथापि युग सिद्धांत इसमे नहीं मिलता। सूत्रों [शांखायन श्रौतसूत्र १५।१६] और मनुस्मृति [६।२०१, २०२] आदि मे कलियुग का अर्थ एक निश्चित समय से न होकर धर्मशून्य पापमय काल से है। मनु युगों का संबंध राजवृत्त से जोड़ते हुए कहते हैं कि—
कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च। राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥
[अ० ६।श्लो० २०१]
किंतु बाद की स्मृतियों में युग का अर्थ एक निश्चित कालविभाग और कलियुग का अर्थ वर्तमान पापपूर्ण काल हो गया। इसका वृत्तांत अनेक पुराणों एवं महाभारत [वनपर्व। अ० १४६। श्लो० ११-३८] में मिलता है। महामहोपाध्याय पी० वी० काणे [हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जिल्द ३ पृ० ८६०] का कथन है कि युगों की कल्पना ईसा पूर्व तीसरी और चौथी शताब्दी मे प्रारंभ हुई और ईसा पूर्व प्रथम शती मे पूर्ण विकसित हो गई थी। किंतु अशोक तथा रुद्रदामा के शिलालेख युगों का साधारण अर्थों में ही उल्लेख करते हैं— पापपूर्ण वर्तमान युग का नहीं। पल्लव वंशी सिंह वर्मा तथा विष्णुगोप जिनको उन्होंने ईसा पश्चात् द्वितीय तृतीय शताब्दी में रखा है वे वास्तव मे पांचवीं छठीं शताब्दी के हैं। द्रष्टव्य क्लैसिकल एज पृ० २७६।

२. बृहत्पाराशर [अध्या० १, श्लो० ३३–३४]। पाराशर [अ० १, श्लो० १७] कपिल संहिता [पृ० २५२६। श्लो० १७–१८]

३. कदंबराज शांतिवर्मा [ई० सं० ४५५–४७०] का तालगुंडा अभिलेख। मौखरीराज ईशानवर्मा [छठीं शती ईस्वी] का हरहाभिलेख [जिला बाराबंकी]। विजयसेन का देवपाडा का शिलालेख।

४. कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः।
द्वापरे तु पुराणोक्तं कलौ आगम केवलम् ॥ —लिंगधारणचन्द्रिका (भूमिका)
पृ० ५८८ पर कुलार्णव तंत्र का उद्धरण।

५. वायुपुराण [अध्याय ५८।६६ वां श्लोक]। मत्स्यपुराण [अ० १४४] ब्रह्मांड पुराण [अध्या० २२६–२३०]। विष्णुपुराण [अंश ६। अध्या० १–२] भागवत पुराण [स्कं० १२। अ० २।

१७.शिलालेखों के सहारे कलिसिद्धांत की राजनीतिक और सामाजिक व्याख्या की जा सकती है । दशपुर [मंदसोर] में प्राप्त यशोधर्मा के स्तंभ[1] लेख की तुलना यदि विष्णुपुराण[2] और भागवत[3] के कलिसिद्धान्त से की जाय तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि इन पुराणो मे वर्णित कलिकालीन अत्याचारी और नृशंस राजा उक्त स्तंभलेख के हूणराज मिहिरकुल और तोरमाण ही थे । इन्होंने न केवल गुप्त साम्राज्य को ही छिन्न भिन्न किया अपितु तात्कालिक श्रुतिसम्मत समाज की मर्यादा पर भी जबर्दस्त ठोकर दी । भले ही इन हूणों का अधिकाश प्रभाव विध्वंसात्मक रहा हो परंतु इनकी कुछ बाते धर्म मे भी परिगृहीत हुईं, हेलिओस—मिहिर—सूर्य की पूजा को इस समाज मे समादृत कराने का श्रेय इन हूण राजाओं को ही था[4] ।

१८. इनके अतिरिक्त इस काल के कुछ पूर्व ही भारतवर्ष में ईरान देश के मग ब्राह्मणों का प्रवेश और प्रभुत्व प्रारभ हुआ । इनके आने की कथा साम्ब[5] और

---

१. आविर्भूतावलेपैरविनयपटुभिर्लंघिताचारमार्गं ।
मोहादैदंयुगीनैरपशुभरतिभिः पीडयमाना नरेन्द्रैः ॥
× + × ×
निन्द्याचारेषु योऽस्मिन्विनयमुपि युगे कल्पनामात्रवृत्या
राजस्वन्येषु—[सरकार, सैलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स पृ० ३९३]

२. सौराष्ट्रावन्तिशूद्राभीरान्नर्मदाभूविषयांश्च, व्रात्यद्विजाभीरशूद्राद्याः भोक्ष्यन्ति ॥६८॥
सिन्धुतट-दाविकोर्वी-चंद्रभागा-काश्मीर-विषयांश्च व्रात्यम्लेच्छशूद्रादयःभोक्ष्यन्ति ॥६९॥
[अंशाध्यायों की सूचना पूर्व की टिप्पणी में]

३. सिंधोस्तटं चन्द्रभागां कान्तीं काश्मीर मंडलम् ।
भोक्ष्यन्ति शूद्रा व्रात्याद्याः म्लेच्छाश्चाब्रह्मवर्चसः ॥
[स्कं० १२।अ० १। श्लो० ३९]

४. इसीलिये वाराह मिहिर ने लिखा है—
विष्णोर्भागवतान्मगांश्च सवितुः शम्भोः सभस्मद्विजान्
मातृणामपि मातृमण्डलविदो विप्रान्विदु ब्राह्मणाः ।
शाक्यान्सर्वहितस्य शान्तमनसो नग्नां जिनानां विदुः
येयं देवमुपाश्रिताः स्वविधिना स्तैस्तस्य कार्याः क्रियाः ॥
[बृहत्संहिता अ० ६०। श्लो० १९]

५. सांबपुराण अ० ७ । श्लो० १०

भविष्य[1] पुराणों में लिखी है, गगाधर के शिलालेख[2] मे भी सांब के द्वारा इनके लाने का वृतांत उट्टंकित है। महाभारत[3] के अतर्गत श्वेत द्वीप (ईरान देश) मे चारों वर्णों तथा मग ब्राह्मण, भोजक ब्राह्मण एवं सौर ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है। इन्होने अनेक रहस्यव्रतों तथा सूर्यपूजन का विशेष प्रचार किया। स्मार्त कर्मकांड मे नवग्रहपूजन संभवतः मगों की देन है।

१९. तीसरा तत्त्व जिसने इस काल मे वैदिक परंपरा पर ठेस दी वह थी आभीर जाति। गोपी-कृष्ण लीला के उत्थान तथा विकास मे इस आनदप्रिय विनोदशील जाति का विशेष हाथ था[4]। ऐहिकतापरक शृंगारिक मुक्तक काव्यो की उत्पत्ति का श्रेय भी इन्हीं से संबद्ध है[5]।

२०. इनके अतिरिक्त शक, यवन, पह्लव आदि अन्य जातियाँ भी थीं जिनका तत्का लीन समाज पर प्रभाव पड़ रहा था। फलतः वैदिक परंपरा का ह्रास हुआ।

२१. गुप्तसाम्राज्य के ध्वंस, वैदिक परपरा के ह्रास तथा समाज मे प्रतिष्ठित रूढ़ियों और संघटनों के विच्छिन्न होने से सारे समाज मे एक नैराश्य की लहर सी दौड़ गई। नैराश्य वृत्ति भारतीय दर्शन मे नई नहीं है। उपनिषद् मे जगत् की नश्वरता का विचार बड़े अवसादपूर्ण ढंग से किया गया है। बौद्ध दर्शन की मूल भित्ति दुःख और दुःखनिरोध के सिद्धांत से निर्मित है। सांख्य 'दुःखत्रय' के अभिघातार्थ ही लिखा गया। परंतु मध्य काल मे इससे भिन्न जाति के नैराश्यवाद का स्वर सर्वत्र परिव्याप्त हुआ। इसमे वेद तथा धर्म के स्वाभाविक ह्रास से उत्पन्न तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक स्थितियों को अपरिहार्य रूप से पापपूर्ण घोषित किया गया। अभिलेखो और पुराणों मे इसकी गूँज है। आगमो मे इसका वर्णन है,

---

१. भविष्य पुराण। ब्राह्म पर्व। अध्याय १३९–१४१।

२. शाकद्वीपस्य दुग्धांबु [म्बु] निधिवलयितो यत्र विप्रा मगाख्याः।
वंशस्तत्र द्विजानां असिलिखिततनोर्भास्वतः स्वांग शाम्बोः। [साम्बो]।
यानानिनाय स्वयमिह सहितास्ते जगत्यां जयन्ति।
[एपीग्रेफिका इंडिका, जिल्द २, पृ० शक सं० १०५९]

३. भीष्म पर्व। अध्याय० ११। श्लो०

४. वैष्णाविज्म, शैविज्म ऐण्ड अदर माइनर रिलिजन्स आफ् इंडिया : रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, पृ० सं० ५२

५. हिन्दी साहित्य की भूमिका : डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी, पृ० सं० ११३-११४

स्मृतियों मे इसकी चर्चा है और पाराशर स्मृति[1] तो इसी काल के लिये लिखी गई। यह नैराश्यवाद मध्ययुग की अपनी विशेषता है। यूरोप के मध्य युग में भी इंगलिश, डच और फ्रांसीसी साहित्य मे इस नैराश्यवाद ने अपनी जड़ें जमा ली थीं[2]।

२२. पं० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने भारतीय चिंता के स्वाभाविक विकास के विश्लेषण मे भक्ति के इस प्रचुर प्रचार के कारणों की गवेषणा की है। उन्होंने इस बात के बहुत से प्रमाण दिए है कि हिंदी साहित्य के जन्मकाल के समय अनेक प्रमुख मत-मतातर लोकमत की प्रधानता स्वीकार कर चुके थे। प्रारंभिक पूर्वमध्यकाल की शताब्दियों मे होनेवाले दक्षिणी आलवारों की भक्ति भी जनसाधारण की ही चीज थी। इन आलवारो मे एक आण्डाल नाम की महिला थीं तथा इनमें से अनेक भक्त अस्पृश्य कही जानेवाली जातियों मे उत्पन्न हुए थे। फलतः सिद्धात रूप मे वेदों का अनुसरण करनेवाला, शास्त्रानुयायी एव जातिभेद की ऊंची-नीची भावना मे जड़ीकृत भारतवर्ष का व्यापक जन-समुदाय आलवारों के सगुण मतवाद को तब तक आत्मसात् न कर सका जब तक कि 'उभय वेदाती' आचार्यो ने उसे वेदानुमोदित तथा शास्त्रसमत सिद्ध नहीं कर दिया। साथ ही यह मत लोक प्रचलित पौराणिक ठोस कल्पनाओं से संयुक्त होते ही इस महादेश के कोने कोने मे परिव्याप्त हो गया[3]।

२३. इसी प्रकार उत्तरापथ मे भी वैष्णव भक्ति की धारा लोक प्रचलित थी। इसका प्रकृत रूप हिमाचल की तराई मे गाए जानेवाले कृष्ण धमाली और शुक्ल धमाली इत्यादि लोक गीतो मे प्राप्त होता है। वैष्णव धर्म का यह जनपदीय रूप महायान की देन है। इसको वल्लभ आदि आचार्यों ने शास्त्रीय रूप दिया[4]।

२४. ग्यारहवीं शती से ही लीलागान की परंपरा वैष्णव लोकमत का परिवहन कर रही थी। इसके कुछ विशकलित अश क्षेमेंद्र के 'दशावतार-चरित', जयदेव के 'गीतगोविंद' और चदबरदाई के 'दसम' मे मिलते है। जब यही लीलागान की परंपरा शास्त्रीय मर्यादा मे स्वीकृत हुई तो लोक परंपरा स्वतः ही शास्त्रीय वृत्त के अंतर्गत आ गई।[5]

---

१. कृतेतु मानवो धर्मस्त्रेतायां गौतम स्मृतः।
द्वापरे शंखलिखितौ कलौ पाराशरः स्मृतः॥ पाराशर। अ० १। श्लो० २४।

२. द्रष्टव्य, जे० हुइज़िंगा : दि वेनिंग आफ दि मिडिल एजेज।

३. पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिंदी साहित्य की भूमिका, पृ० संख्या ४३–४६

४. वही। सूरदास। पृ० ६१–६६।

५. वही। हिंदी साहित्य। पृ० १६७ से १७२ तक।

२५. इस प्रकार लोकमत के शास्त्रीय आवरण की प्राप्ति ने ही भक्ति आदोलन को जन्म दिया ।

२६. इस सामाजिक विश्लेषण मे निस्संदेह बहुत कुछ तथ्य है। आलोच्य युग का लीलागान पूर्ववर्ती लोकप्रचलित गीतो का विकास प्रतीत होता है। यह भी सत्य है कि 'गीतगोविंद' मे अपभ्रंश साहित्य के अनेक तत्व है। मात्रिक छंदो का प्रयोग, ध्रुवक-टेक का व्यवहार, अंत्यानुप्रास-तुक आदि विशेषताएँ सस्कृत के काव्यों मे उपलब्ध नहीं होतीं। इसी प्रकार राधा-कृष्ण के प्रेम विषयक लोक साहित्य की विशेषताओ से युक्त कुछ अन्य काव्य उपलब्ध हुए हैं। गुजराती कवि रामकृष्ण की 'गोपाल-केलि-चद्रिका' और लीलाशुक का 'कृष्ण-कर्णामृत' राधा-कृष्ण-श्रृंगार के ग्रंथ हैं। विद्यापति के पूर्वकालीन मैथिल कवि उमापति उपाध्याय के 'पारिजात हरण' नामक काव्य ग्रंथ के अंतर्गत बीच बीच मे मैथिल गीतो का भी समावेश है। इस प्रकार लौकिक संस्कृत परंपरा का समन्वय इन ग्रंथों मे दिखाई पड़ता है। इससे ज्ञात होता है कि भक्ति की लौकिक काव्य परंपरा भी थी।

लीलागान : विश्लेषण और विकास

२७. इन लोकगीतो को वैष्णव धर्म के किसी ऐसे लोकरूप से संबद्ध करना जो आगे चलकर शास्त्रीय आवरण मे उपस्थित हुआ हो, कठिन प्रतीत होता है। वैष्णव धर्म के साथ अन्वित लीला की परंपरा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही थी। यह लीला परंपरा देवालयीय आगम परंपरा का लोकप्रिय रूप भले ही हो पर आगम से अतिरिक्त किसी वैष्णव लोकमत से संबद्ध नहीं दिखाई देती।

२८. गान और वाद्य के साथ देवचरित को अभिनीत करने की परंपरा पतंजलि के काल से मिलने लगती है। महाभाष्य मे ग्रंथिको का उल्लेख है जो दो भागो मे विभक्त हो जाते थे। उनमे से एक कृष्णमुख वर्ग कंस का और दूसरा रक्त मुख वर्ग श्रीकृष्ण का प्रतिनिधत्व करता था। इस प्रकार से संपूर्ण कृष्ण-कथा का पाठ के सहित अभिनय हुआ करता था[1]। 'समाज' और 'यात्रा' के अवसरों पर इस प्रकार की लीलाएँ प्रायः हुआ करतीं थीं। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' मे 'समाज' के समय सरस्वती के मंदिर के सामने गाने बजाने के साथ देवचरितों के अभिनय का

१. कृष्णमाचारियर : हिस्ट्री आफ् क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४३४ पर उद्धृत महाभाष्य, जि० २, ३६
हिं स० सां० भू० ४ (११००–६२)

उल्लेख हुआ है[1]। महाभारत में मद्यपान, गान तथा वादन के साथ 'वीर उत्सवों' को मानने की चर्चा आई है[2]। इन्हीं से मिलती जुलती 'यात्राएँ' हुआ करती थीं जिनका उल्लेख कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में मिलता है[3]। ये 'समाज' एवं 'यात्राएँ' बहुत बाद तक चलती रहीं। परमार-राज-पुरोहित बाल सरस्वती मदन की 'पारिजात मंजरी' में सरस्वती मंदिर के सामने इस नाटक के खेलने का उल्लेख है[4]। यात्राएँ आज भी बंगाल में प्रचलित हैं। इनमें कुछ आह्लादकारी सरस योजनाएँ हुआ करती थीं क्योंकि कौटिल्य का कथन है कि चार दिनों तक 'समाज' और 'यात्रा' में मदिरा उन्मुक्त रीति से चला करती थी[5]। संस्कृत-अपभ्रंश-मिश्र काव्य ग्रंथों में इस 'समाज-यात्रा' का ही रूप दिखाई देता है। यह 'यात्रा' देवालय से संबद्ध थी। अतः ग्यारहवीं शती के आस पास की लीला-नाट्य की परंपरा बहुत प्राचीन है, और देवालय से संबद्ध है।

लोकमत के विशिष्ट तत्वों की विवेचना

२६. उत्तरापथ के वैष्णव लोकमत की दो विशेषताएँ बताई जाती हैं, पहली दशावतार वंदना और दूसरी राधा-कृष्ण का प्रेम। दशावतारों की वंदना प्राचीन वैष्णवागमों, विशेषतः वैखानसागम तथा काश्मीरागम पांचरात्र में उपलब्ध होती है। आठवीं शती में निर्मित मामल्लपुरम् के 'वराह पेरुमाल' के मंदिर के अभिलेख[6] में इन दशावतारों का उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि दशवीं ग्यारहवीं शताब्दी में दशावतार का एक मत ही चल निकला था क्योंकि काश्मीरागम पांचरात्र के देव 'वैकुंठ' [खजुराहो-मंदिर] में एकादशशिरस्क विष्णु की मूर्ति है[7]। इस मूर्ति के दस शिर दसों अवतारों के हैं और मध्य में ऊर्ध्व स्थित विष्णु का मुख है। इस प्रकार दशावतार पूजन शुद्ध लोकमत का न होकर आगमिक है।

---

१. कामसूत्र १।४।२६
२. हाप्किन्स : एपिक माइथालाजी, पृ० ६९-२२०
३. अर्थशास्त्र २।२५
४. एपिग्रेफिया इंडिका, जि० ८, पृ० ४८
५. अर्थशास्त्र १३।५
६. मेमायर आफ आर्किलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, जि० २६ पृ० ५
७. बी० एल० धमा : ए गाइड टु खजुराहो

३०. राधातत्त्व अवश्यमेव प्रारंभ में लोकजीवन से संबद्ध था किंतु उज्जैन में प्राप्त वाक्पति सिंधुराज के ताम्रपत्र[1] और निंबार्क की दशश्लोकी[2] के साक्ष्य से विदित होता है कि राधा एकादश शताब्दी के पूर्व ही, संभवतः बहुत पहले शास्त्र मर्यादा में परिगृहीत हो चुकी थी।

महायान : भक्ति आंदोलन तथा वल्लभाचार्य

३१. यद्यपि यह सत्य है कि महायान-वज्रयान का प्रभाव इस भक्ति आंदोलन में कहीं कहीं दिखाई पड़ता है तथापि संपूर्ण आंदोलन को अनुप्राणित मानने में बहुत सी बाधाएँ हैं। निर्गुनिया भक्त नाथपंथ के माध्यम से निश्चय ही महायान से संबद्ध हैं। इसी प्रकार चंडीदास, सहजिया वैष्णव, हितहरिवंश और उनके अनुयायियों की रचनाओं में प्राप्त उपास्य के रूपों एवं उपासना की पद्धतियों पर महायान वज्रयान का प्रभाव स्फुट है। परंतु वल्लभ आदि आचार्यों पर इनका प्रभाव नहीं दिखाई देता। यहाँ यह ध्यान देने का विषय है कि वल्लभाचार्य जी ने प्रमुख रीति से 'बालभाव' की उपासना ही प्रतिष्ठापित की थी। कालांतर में उनके उत्तराधिकारियों ने जो आंतर परिवर्तन किए उनका कारण हरिवंश जी की रसोपासना ही थी। अतः उपर्युक्त स्थापना से हिंदी सगुण काव्य भलीभाँति नहीं समझा जा सकता।

समन्वय की प्रक्रिया

३२. लोकधर्म के शास्त्रीय रूप का ग्रहण एक महत्वपूर्ण सामाजिक प्रक्रिया है। अनेक सामाजिक क्षेत्रों में यह प्रक्रिया देखी जाती है। लोकसाहित्य और शास्त्रीय साहित्य में जब प्रकृष्ट अंतर पड़ जाता है तब प्रायः शास्त्रीय साहित्य के तत्त्व ग्रहण कर लोकसाहित्य पनप उठता है और शास्त्रीय साहित्य उसके सामने जीर्ण दिखाई पड़ने लगता है। यही स्थिति भाषा तथा कला के क्षेत्रों में भी दिखाई देती है। किंतु यह विचारणीय है कि क्या धर्म के विषय में भी यह सामाजिक प्रक्रिया काम करती है।

३३. प्राचीन भारतीय समाजशास्त्र की समीक्षा से यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि श्रौत-स्मार्त-परंपरा में निरंतर परिवर्तन होते रहे हैं। इस परंपरा ने अपने आभोग में सतत नवीन तत्त्वों का संयोजन किया। प्राचीन ढाँचे के ऊपर प्राचीन पद्धति के

---

१. इंडियन एंटीक्वेरी जि० ६ पृ० ५१।

२. निम्बार्क : दशश्लोकी श्लोक सं० ५।

ही अनुकूल इसमे बराबर बाह्य तत्त्वों का संनिवेश होता गया। इस तरह श्रौत स्मार्त धर्म के अंतर्गत लोकधर्म का अस्तित्व सदा निमज्जित होता रहा है[1]।

३४. उपर्युक्त तथ्य धर्म के संबंध मे भी सत्य है। प्राचीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि श्रौत-स्मार्त-परंपरा ने समय समय पर आगम, तंत्र तथा नवीन जातियों द्वारा उत्थापित तथ्यों को अपनाकर, आत्मसात् कर समाज के समक्ष उपस्थित किया। जो इस परंपरा मे न आ सके वे वेदबाह्य होकर अलग रह गए। इनकी स्थिति प्रायः समाज के निचले वर्ग तक सीमित थी। इस सामाजिक प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन, विश्लेषण एवं इतिहास आगे स्पष्ट किया जायगा।

३५. भक्ति आंदोलन के कारण द्विविध हैं—प्रमुख और आनुषंगिक। आनुषंगिक कारणो मे—

[क] मुसलमानो के द्वारा बौद्ध विहारो का विध्वंस और हिंदू साम्राज्य के विनाश से शैव मठों की आश्रयहीनता तथा

[ख] साहित्य और भाषा के नये विकास का नवोदित आगमिक रूपों से संबंध।

३६. प्रायः यह कहा जाता है कि शंकराचार्य ने बौद्ध धर्म का उच्छेद कर दिया। किंतु यह सत्य है कि बौद्ध विहार एवं बौद्ध धर्मानुयायी सम्राट्, ईस्वी सन् की बारहवीं तेरहवीं शती तक विद्यमान् थे। पालवंश और चंद्रवंश के राजा सब बौद्ध थे। नालंदा और विक्रमशिला के विहारो का विनाश मुसलमानों ने ही किया। इनके दुर्धर्ष आक्रमणो से निराश्रित बौद्धों को भारत के बाहर जाकर शरण लेनी पड़ी। पहले बताया जा चुका है कि पूर्वमध्यकाल मे राज्याश्रित शैव धर्म का प्रभाव अप्रतिम था। इनके मठो का जाल सारे देश मे बिछा हुआ था[2]। हिंदू राज्यों के उच्छिन्न हो जाने से शैव धर्म यकायक क्षीण हो गया।

३७. पंद्रहवीं शताब्दी मे देशी भाषाओं का रूप निखर आया था। मराठी तथा बंगला भाषाएँ कुछ पहले से, और गुजराती, हिंदी, मैथिल भाषाएँ इसी समय पनपीं। इन नवोदित भाषाओ ने वैष्णव अर्चना मे अपना पूरा योग दिया। इनमें से अनेको ने पूर्व विवेचित यात्रा-समाज-लीला की परंपरा का उद्वहन किया।

---

१. सोर्सेज आफ हिंदू धर्मः डा० अनंत सदाशिव अल्तेकर।
२. प्रस्तुत प्रबंध अध्याय १। अनु० ३२।

वैष्णव भक्ति के परिकर, ये नवीन सांस्कृतिक परिवर्तन भक्ति आंदोलन के सहकारी कारण थे।

३८. किंतु भक्ति आंदोलन का प्रमुख कारण श्रौत-स्मार्त-परंपरा में आगम और तंत्रों का प्रवेश एवं इसके परिणामस्वरूप इनका प्रमाण कोटि में आ जाना था। इस भक्ति आंदोलन के पूर्व भी समन्वय के दो प्रयत्न दिखाई पड़ते हैं। इनमें से प्रथम प्रयत्न पंचम षष्ठ शताब्दी के आस पास और द्वितीय प्रयत्न एकादश द्वादश शताब्दी में दृष्टिगोचर होता है।

प्रथम प्रयत्न

३९. यद्यपि वैष्णवागम और वैदिक कर्म के सामंजस्य का साक्ष्य ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी से ही उपलब्ध होने लगता है तथापि गुप्तकाल के पश्चात् इसका व्यवस्थित और व्यापक रूप सामने आता है। निश्चय ही ईसा की पहली से चौथी शती तक के सत्तरह अभिलेख युक्त होम यूपों[1] से विदित होता है कि उस समय शैव तथा वैष्णव उपासनाएँ याज्ञिक क्रिया-कलाप के साथ संबद्ध हो गई थीं। किंतु भागवतों का विशेष प्रचार गुप्त राजाओं के समय में ही हुआ। इस समय भी श्रौत-स्मार्त-परंपरा और आगम, विशेषतः भागवत संप्रदाय का समिलन दिखाई पड़ता है। परमभागवत गुप्त सम्राटों ने अश्वमेध यज्ञ किए। परमभागवत स्कंद गुप्त 'परम ब्रह्मण्य भाव से युक्त' थे। गुप्तकाल के बाद यह प्रयत्न एक व्यापक रूप धारण कर लेता है। सातवीं शताब्दी से ही दो दो धार्मिक विरुदों को धारण करने की प्रवृत्ति शुरू हुई। महासामंत महाराज समुद्रसेन[2] परममाहेश्वर और अतिब्रह्मण्य थे। ललित सूरदेव[3] और माधव राज[4] परमब्रह्मण्य तथा परममाहेश्वर थे। इससे परिज्ञात होता है कि आगम एवं ब्राह्मण [श्रौतस्मार्त] प्रवृत्तियाँ समिलित हो रही थीं।

---

१. एरियाना एंटिका, ए कमेमोरेशन वाल्यूम इन आनर आव् फोगल में डा० बहादुर चंद्र छाबड़ा का लेख : 'होम यूपज'।

२. कार्पस इंस्क्रिप्शनम्, इंडीकेरस, जि० ३, पृ० २८८ आदि

३. इंडियन एंटीक्वेरी, जि० २९, पृ० १७७

४. जरनल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, जि० ७२, पृ० २८४ आदि

४०. कुछ वैष्णव स्मृतियाँ भी इसी काल की हैं। वृद्ध हारीत[1] स्मृति में तप्त शंख, चक्र तथा गदा आदि के धारण की विधियों का वर्णन है। बृहत्पराशर[2] के आश्रमवर्णन प्रायः वैखानस धर्मप्रश्न के आश्रमवर्णनों से मिलते हैं।

समन्वय प्रयत्न : उपनिषदों के माध्यम से

४१. इस काल में अथवा इस समय के कुछ बाद पांचरात्रिक श्रुतियाँ तथा पांचरात्रिक उपनिषदों का भी प्रणयन हुआ होगा। क्योंकि ईस्वी सन् नौ सौ में विद्यमान उत्पलाचार्य की 'स्पंदप्रदीपिका' में इनका उल्लेख प्रस्तुत ढंग से हुआ है—

पांचरात्रश्रुतावपि यद्वत् सोपानेन प्रासादमारुहेत्,
प्लवेन वा नदीं तरेत् तद्वच्छास्त्रेण भगवान् शास्ताऽवगन्तव्यः ।

पृष्ठ संख्या २

पांचरात्रोपनिषदि च ज्ञाता च ज्ञेयं च वक्ता च वाच्यं च भोक्ता च भोज्यं च ।

पृष्ठ संख्या ४०

४२. वास्तव में इस पांचरात्र श्रुति एवं पांचरात्रोपनिषद का संबंध पांचरात्र की काश्मीरागम शाखा से है। काश्मीरागम में 'वैकुंठ-नारायण' — सौम्य, नृसिंह कपिल तथा वराह युक्त चतुर्मुख विष्णु की आराधना होती थी। संभवतः इसी शाखा के अंतर्गत नारसिंह एवं वाराह नाम के उपसंप्रदायों का विकास हुआ। इनसे संबद्ध नृसिंहपूर्वतापनीय, नृसिंहोत्तरतापनीय और वाराहोपनिषद् परवर्ती उपनिषदों में आते हैं।

समन्वय प्रयत्न : शाखा के माध्यम से

४३. वैष्णवागम द्विविध है—वैखानस और पांचरात्र। आगमिक होते हुए भी वैखानसों का संबंध पहले से ही वेदों के साथ था। किंतु पांचरात्र को परंपरा में बराबर अवैदिक कहा गया। ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य में[3], वैखानस आगम के ग्रंथों

---

१. वृद्ध हारीत स्मृति। अध्याय १। श्लोक २४ तथा वही। अध्याय २। श्लोक १०, १८-२०

२. बृहत्पाराशर स्मृति। अध्याय १२। श्लोक १४५ से १७४ तक

३. वेदांत सूत्र। २।२।४५ पर शारीरक भाष्य।

मे[1] तथा स्वयं पांचरात्रिक ग्रंथों की उपनिबद्ध परंपराओं मे[2] पांचरात्र को अवैदिक बताया गया है किंतु इन दोनों संप्रदायो ने वेद से अपना संबंध स्थापित किया। वैखानसो ने कृष्ण यजुर्वेद की औखेय शाखा और पांचरात्रिको ने एकायन शाखा के माध्यम से वैदिक परंपरा से अपना संबंध जोड़ा है। यह एकायन शाखा काण्व से अभिन्न मानी जाती है। मद्रास के सरकारी पुस्तकालय मे सुरक्षित 'काण्वशाखा महिमा' के हस्तलेख के आधार पर श्री विनयतोष भट्टाचार्य ने इसको प्रमाणित किया है[3]। जयाख्य संहिता[4] एवं ईश्वर संहिता[5] के प्रासंगिक श्लोकों की तुलना से प्रतीत होता है कि काण्व तथा एकायन शाखा एक ही थी। यह प्रयत्न यामुनाचार्य ने आगे बढ़ाया। आगम-प्रामाण्य तथा काश्मीरागम-प्रामाण्य ग्रंथों मे उन्होंने सात्वत-पांचरात्र और काश्मीरागम पांचरात्र का वैदिकत्व सिद्ध किया है। वे बड़ी ही ओजस्विनी भाषा मे भागवतों को वाजसनेय के अंतर्गत एकायन शाखा से अन्वित

---

१. वैखानसं पांचरात्रं विधानद्वयं विष्णोस्तंत्रम्।
बैखानसं सौम्यमाग्नेयं पांचरात्रम्॥

काश्यपसंहिता, पृ० १७१

तथा :—

बैखानसविधिश्चेति पांचरात्रविधिस्तथा।
पूर्वन्तु वैदिकं प्रोक्तं पांचरात्रं तु तान्त्रिकम्॥

अत्रिसंहिता, श्लोक ११। पृ० ४५४

२. पांचरात्ररक्षा, पृष्ठ २३-२४

३. जयाख्य संहिता : भूमिका, पृष्ठ ६

४. काण्वीं शाखामधीयानावौपगायनकौशिकौ।
प्रपत्तिशास्त्रनिष्णातौ स्वनिष्ठानिष्ठितावुभौ॥
शांडिल्यश्च भरद्वाजो मुनिर्मौंजायनस्तथा।
इमौ च पंचगोत्रस्था : मुख्या : काण्वीमुपाश्रिताः॥

जयाख्य संहिता। श्लोक १०६, ११६

५. साक्षात्संकर्षणाल्लब्ध्वा वेदमेकायनाभिधम्॥
सुमन्तुं जैमिनिं चैव भृगुं चैवोपगायनम्।
मौंजायनं च तं वेदं सम्यगध्यापयत् पुरा॥

ईश्वर संहिता। श्लोक ४०-४१

करते है—'आँख खोलते ही शिखा, यज्ञोपवीत, पलाशदंड और मौंजी धारण किए हुए दिखाई पड़नेवाले भागवत द्विजकुमारों का तथा प्रतिदिन वाजसनेय की एकायन शाखा का अध्ययन करते हुए उपवीत-उत्तरीय-शिखाशाली दिखाई देनेवाले भागवत ब्राह्मणों को किस प्रकार अवैदिक कहा जा सकता है ?'[1]

समन्वय-प्रयत्न : भाष्य

४४. आगे स्पष्ट होगा कि कर्ममीमांसा और वेदांत का संबंध और स्मार्त परंपरा से तथा न्यायवैशेषिक और सांख्ययोग का संबंध आगमिक परंपरा से था। न्याय वैशेषिक पाशुपत शैवो से एवं सांख्य भागवतों से संबद्ध था। किंतु इस युग में पाञ्चरात्र विशिष्टाद्वैत दर्शन के माध्यम से वेदांत परंपरा मे आने का यत्न करने लगा। वैष्णव मत, वैष्णव स्मृतियाँ तथा विशिष्टाद्वैत का पारस्परिक संबंध भारुचि मे बड़ी स्पष्टता के साथ दिखाई पड़ता है। भारुचि ने वैष्णव धर्मसूत्र पर टीका लिखी, धर्मशास्त्रीय ग्रंथों के प्रणयन किए और विशिष्टाद्वैत दर्शन को अग्रसर करने मे योग दिया। 'द्वितीय प्रयत्न' मे प्रस्थानत्रयी उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता पर रामानुज ने भाष्य लिखकर इस प्रवृत्ति को आगे बढ़ाया।

द्वितीय प्रयत्न

४५. उपर्युक्त प्रवृत्ति मे नवम शताब्दी से विशेष वेग दिखाई देता है। इसका परिपाक एकादश-द्वादश शताब्दियो मे हुआ। इस काल के आस पास ही शैव, वैष्णव और स्मार्त धर्म के व्यंजक विरुद्ध साथ साथ धारण किए गए। चंबा के राजा सोम वर्मा[2] तो परम ब्रह्मण्य, परम माहेश्वर और परम वैष्णव थे। इस प्रसंग मे यह भी स्मरणीय है कि इस काल मे धर्मशास्त्री प्रायः शैव अथवा वैष्णव परंपरा से संबद्ध रहते थे। शिलालेखों[3] एवं धर्मशास्त्रीय[4] कृतियो से ज्ञात होता है कि बालवलभीभुजंग

---

१. ननु चक्षुर्विस्फारणसमनन्तरं शिखा-यज्ञोपवीत-पलाशदण्ड-मौंजीयुजो द्विजकुमारान् पश्यन्तो ब्राह्मणा इत्यवगच्छन्ति इह वा किमहरहरधीयमान-वाजसनेयैकायनशाखान् विलसदुपवीतोत्तरीयशिखाशालिनोऽध्यापयत्।

आगमप्रामाण्य, पृ० सं० ६६-७०

२. ऐंटीक्वीटीज आफ् चंबा, पृ० १८४

३. इंस्क्रिप्शन्स आफ् बंगाल, जि० ३, पृ० ४६

४. प्रायश्चित्त प्रकरण, छंदोगकर्मानुष्ठानपद्धति आदि के लिये द्रष्टव्य हिस्ट्री आफ बंगाल, जि० १ पृ० २२२

भट्ट भवदेव आगमों में निष्णात, वैदिक वाङ्मय के परिज्ञाता और धर्मशास्त्रीय ग्रंथों के रचयिता थे। इसी प्रकार महाराज बल्लाल सेन परम माहेश्वर[1] होते हुए भी धर्मशास्त्रीय ग्रंथों के लेखक थे। इन आगमिक विद्वानों के धर्मशास्त्र-प्रणयन से दोनों प्रवृत्तियों का समन्वय होना स्वाभाविक था।

समन्वय का विश्लेषण : लघु स्मृतियाँ—

४६. इस समय अनेक लघु स्मृतियों की सृष्टि हुई। वृद्ध गौतम, वशिष्ठ, शांडिल्य, कण्व आदि अनेक स्मृतियाँ अनेक वैष्णव कृत्यों और उत्सवों का वर्णन करती है। वृद्ध गौतम का तो प्रारंभ ही इस ढंग से होता है—

भगवन् वैष्णवा धर्माः किं फलं किं परायणाः ॥ श्लोक ३। अध्याय १

इसके अनंतर प्रत्न स्मृतियों के प्रति असंतोष व्यक्त करते हुए युधिष्ठिर श्री कृष्ण से प्रार्थना करते हैः—

युष्मदीयान् परान् धर्मान् पुण्यान् कथय मेऽच्युत ॥ श्लोक २७। अध्याय १

इसी प्रकार वशिष्ठ स्मृति में मुनीश्वर लोगों ने महर्षि वशिष्ठ से पूछाः—

भगवन् भवता प्रोक्ता यज्ञदानव्रतादयः।
वर्णाश्रमाणां कर्तव्या नित्यनैमित्तिकाः क्रियाः ॥ श्लोक २
क आचारः क आहारः कीदृग्वृत्तिः क आश्रयः।
वैष्णवानां मुनिश्रेष्ठ ब्रूहि सर्वमशेषतः ॥ श्लोक ३। अध्याय १

इस पर उत्तर देते हुए वशिष्ठ कहते है :—

शृणु, ध्वं मुनयः सर्वे सर्वं धर्मसनातनम्।
वैष्णवानां च विप्राणां यद् यदाचरणं शुभम् ॥ श्लोक ४।१

वृद्ध गौतम स्मृति में वैखानस और पांचरात्र पूजनविधियों का अलग अलग वर्णन है[2]। शाडिल्य स्मृति में वैष्णवों के पंचकाल का विवरण है। प्रसिद्ध वैष्णव तीर्थ तोताद्रि गिरि के हरिमंदिर में बैठे हुए शाडिल्य ऋषि से मुनियों ने प्रणाम पुरःसर गुह्य एवं सनातन एकायन शास्त्र की व्याख्या पूछी क्योंकि वैदिक कर्मकाड

---

१. इंस्क्रिप्शन्स आफ् बंगाल, जि० ३, पृ० ७३
२. गौतम स्मृति। अध्याय ८। श्लोक ८४-९२

निवृत्त हो चुके थे और उस अवस्था में पंचकालात्मक ज्ञान ही ज्ञातव्य था[1]। कण्व स्मृति में अश्मकुट्ट इत्यादि वैखानस महर्षियों के आचार वर्णित हैं[2]।

निबंध एवं टीका परंपरा —

४७. इसी युग में श्रौत-स्मार्त-परंपरा के अंतर्गत निबंध एवं टीका ग्रंथों की बाढ़ आ गई। इस कार्य में बड़े बड़े राजाओं तथा राजमंत्रियों ने हाथ बटाया। गोविंदचंद्र गहड़वाल के सांधिविग्रहिक लक्ष्मीधर ने और चालुक्य नरेश विक्रमादित्य के सांधिविग्रहिक विज्ञानेश्वर ने क्रमशः कल्पतरु तथा मिताक्षरा नाम के निबंध ग्रंथ लिखे। शिलाहार नरेश अपरार्क ने नारद स्मृति पर अपनी सुप्रसिद्ध व्याख्या लिखी। धाराधिप भोज तो स्मार्त धर्म का सुख्यात पोषक था। इस स्मार्त उद्योग में भी शैव, वैष्णव, शाक्त आदि सम्प्रदायों के तत्वों को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

नए उपनिषद्

४८. संभवतः इसी काल के समीप बहुत से वैष्णवोपनिषद्, शैवोपनिषद् एवं शाक्तोपनिषद् इत्यादि लिखे गए। ये पश्चाद्वर्ती उपनिषद् प्राचीन उपनिषदों से अनेक बातों में भिन्न हैं। इनमें न तो पुराने उपनिषदों का तत्ववाद मिलता है और न वस्तूपस्थापन की पुरानी शैली या भाषा ही। ये ग्रंथ प्रायः मंत्र, यंत्र तथा पूजा-पद्धति आदि के प्रसंग में अपने उपास्य के नाम, रूप, लीला और धाम का वर्णन करते हैं।

पुराण

५९. समन्वय के दूसरे प्रयत्न में पुराणों ने सबसे अधिक योग दिया। सामान्यतः पुराण साहित्य अपने मूल रूप में अत्यंत प्राचीन है। इस अर्थ में पुराण

---

१. श्रीमत्तोताद्रि गिरेर्मूर्ध्नि श्रीमत्यायतने हरेः।
शाण्डिल्यमृषिमासीनं प्रणम्य मुनयोऽब्रुवन् ॥ १ ॥
श्रीमदेकायनं शास्त्रं श्रुतं गुह्यं सनातनम्।
ज्ञानं च सर्ववेदानामन्तस्सारमिदं त्विति ॥ २ ॥
निवृत्तं वैदिकं कर्म यत्प्रोक्तं भवभेषजम्।
पंचकालात्मकं ज्ञानं तच्च ब्रह्मैकदैवतम् ॥ ३ ॥ अध्याय १। शांडिल्य०

२. कण्व स्मृति, श्लोक ४९१-४९३

शब्द अथर्व वेद[1], शतपथ ब्राह्मण[2], बृहदारण्यक[3], तैत्तिरीय आरण्यक, छांदोग्य उपनिषद् इत्यादि ग्रंथों मे मिलता है। परंतु वर्तमान रूप मे पुराण गुप्तकाल से लेकर मध्यकाल तक की रचनाएँ मानी जाती है। पहले बताया जा चुका है कि डा० रमेशचंद्र हाजरा ने अपने ग्रंथ 'पुरानिक रिकार्डस आन हिंदू राइट्स ऐंड कस्टम्स' मे पुराणों के स्मार्त तत्वो का विश्लेषण करते हुए सिद्ध किया है कि अपचीयमान श्रौत स्मार्त कर्मकांड का, आगमिक तत्वों के योग द्वारा, पुनः प्रवर्तन ही अवांतर कालीन पुराण साहित्य के रूप में प्रतिफलित हुआ है। दूसरे ऐतिहासिक भी इस तथ्य का समर्थन करते है कि पुराणों मे ब्राह्मणो ने स्मार्त और आगमिक धर्मों का समन्वय किया है[4]। फलस्वरूप स्मार्त वैष्णव, स्मार्त शैव आदि की परपराएँ बड़े वेग से प्रवृत्त हुई।

भाष्य

६०. श्रौत-स्मार्त-परंपरा मे आगमिक तत्वों की स्वीकृति का प्रमाण इस समय में लिखित वैदिक भाष्यो से भी मिलता है। अनंताचार्य ने यजुर्वेद के अनेक याज्ञिक मंत्रों का विष्णुपरक अर्थ किया है। इसी प्रकार काण्वसंहिता के मंत्रों की व्याख्या करते हुए आनंदबोध लिखते है—

स एव पुनरीश्वरो नारायणः स्वलीलायतनभूतेषु लीलया विहरन् नारायण इत्यभिधीयते।

पंचदेवोपासना—

६१. श्रौत-स्मार्त-परंपरा और आगमों के पारस्परिक समन्वय का व्यापक तथा अत्यंत प्रभावशाली सिद्धात था—पंचदेवोपासना। वैष्णव आगमों मे मिश्र उपासना पद्धति का उल्लेख हुआ है। पांचरात्ररक्षा में कालोत्तर का उद्धरण है—

वैदिकैस्तांत्रिकैर्वापि श्रौतैर्वाऽपि द्विजोत्तम।
स्वयंव्यक्ते तु भवने मिश्रैर्वा देवमर्चयेत्॥ पृ० १०

---

१. अथर्व वेद ७१।७।२४

२. शतपथ ब्राह्मण १।४।३१।१२

३. बृहदारण्यक २।४।१०

४. क्लैसिकल एज, पृ० २६७

इसी प्रकार शैव धर्म में भी मिश्र उपासना का उल्लेख है

तांत्रिकं वैदिकं मिश्रं त्रिधा पाशुपतं शुभम्।

... ...

रविं शम्भुं तथा शक्तिं विघ्नेशं च जनार्दनम्।
यजन्ति समभावेन मिश्रं पाशुपतं हि तत्॥[1]

यह मिश्र उपासना ही पंचदेवोपासना है। श्रौत-स्मार्त-परंपरा में भी यह प्राप्त होती है। पंच महायज्ञों में देवयज्ञ के समय इन पांच देवताओं के पूजन का विधान है—

आदित्यमथाम्बिकां विष्णुं गणनाथं महेश्वरम्।
पंचयज्ञपरो नित्यं गृहस्थः पंच पूजयेत्॥ स्मृति मुक्ताफल, पृ० ३८८

६२. इन पंचदेवों में लक्षित देवों के सगुणीकरण की प्रक्रिया प्राचीन है। हरिहर और त्रिदेव इसके प्रारंभिक रूप हैं। त्रिदेवों के साथ सूर्य के समावेश से देवचतुष्टय की कल्पना हुई। मूर्तिकला में इसी कारण एक ऐसी विचित्र मूर्ति निर्मित हुई जिसमें शिव, ब्रह्मा, विष्णु और सूर्य का समन्वय हुआ। ऐसी मूर्तियाँ किराडू[2] [राजपूताना], पावागढ़[3] [राजपूताना], खजुराहो,[4] गुजरात[5] और कालंजर[6] में उपलब्ध हुई हैं और हरिहर-हिरण्यगर्भ[7] तथा सदाशिव[8] के नाम से मूर्ति-शास्त्र में अभिहित होती हैं। देवचतुष्टय का एक दूसरा रूप भी मिलता है जिसमें ब्रह्मा के स्थान पर शक्ति की प्रतिष्ठा है। खजुराहो और ओसियों के विष्णु पंचायतन के प्रधान मंदिर में विष्णु तथा कोणों पर स्थित, चार छोटे मंदिरों में शिव, शक्ति, सूर्य और विष्णु प्रतिष्ठित हैं। ग्यारहवीं शती के मध्य में इसका प्रथम उल्लेख मिलता है। सोम वर्मा के

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी : मध्यकालीन धर्म-साधना के पृ० ३६ पर श्रीकर भाष्य का उद्धरण।
२. आर्कियालाजिकल सर्वे आफ् इंडिया, वेस्टर्न सर्किल, सन् १९०७-१९०८, पृ० ४१
३. वही, सन् १९१२, पृ० ४८
४. स्टेला क्रेमिरा : हिंदू टेम्पुल्स, जि० २, चित्र ६
५. आर्कियालाजी आफ गुजरात, पृ० १६३
६. कालंजर गढ़ के समीप नीलकंठ मंदिर में
७. अपराजित पृच्छा, पृ० ५४६
८. ईशानाशिव गुरु पद्धति ३।२७-३०

कुलैत ताम्रपत्र पर ब्रह्मा, गणपति, विष्णु, शिव तथा शक्ति की स्तुति है[1]। यहाँ स्मार्त पंचदेव का प्राचीनतम पुरातत्व संबंधी प्रमाण कलकत्ता के इंडियन म्यूजियम मे सुरक्षित उन शिव लिंगो मे मिलता है जिनके चारों ओर विष्णु, शक्ति, सूर्य तथा गणपति की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण है[2]। प्रायः इसी काल के अनेक लघुमदिर काशी में मिले हैं। इनके मध्य मे शिवलिग प्रतिष्ठित होता है और तीन तरफ, शिव को छोड़कर पंचदेवों के चार देवों मे से किन्हीं तीन का अकन होता है।

वैदिक देवता : ह्रास

६३. वैदिक परंपरा के देवता इंद्र, वरुण, अग्नि आदि का ह्रास हुआ। इसके साथ ही आगमिक देवों का अभ्युत्थान हुआ। वैदिक देवता लोकपालो के रूप मे ही रह गए और उनका स्वतंत्र पूजन बंद हो गया। इनके स्थान पर आगमिक देवताओं की प्रधानता हुई। इस प्रक्रिया का ही चरम विकास पचदेवोपासना मे मिलता है।

वैदिक कर्म और स्वाध्याय : ह्रास

६४. पूर्व मध्यकाल मे ही निगम परंपराएँ उच्छिन्न होने लगी थीं। अश्वमेध आदि विस्तृत सत्र सातवीं शताब्दी के बाद बंद हो गए थे। पृथ्वीराजरासो[3] मे जयचंद के द्वारा राजसूय यज्ञ करने का वर्णन है लेकिन पुरातत्व संबंधी साक्ष्य के अभाव और जयचंद्र की 'रंभामंजरी' की मौनिता से इतिहासकार इस विषय मे संदिग्ध है। सत्तरहवीं शताब्दी मे आमेराधिपति जयसिह[4] ने राजसूय यज्ञ करने का निश्चय किया था।

---

१. जयति भुवनकारणं स्वयम्भु : जयति पुरन्दरनन्दनो सुरारिः।
जयति गिरिसुतानिरुद्धदेहो दुहितापहरो हरश्च देवः॥
ऐंटीक्विटीज आफ् चंबा, पृष्ठ १८४

२. इण्ट्रोड्यूसिंग इंडिया, जे० एन० बनर्जी का

३. संयोगिता सलय

४. पूना ओरियंटलिस्ट, जि० २, पृ० सं० १६०-१८०; जरनल आफ इंडियन हिस्ट्री जि० १९ वीं, पृ० सं० २६४-२६८; इंडियन कल्चर, जि० ३, पृ० २७६-२७९

ब्रजनाथ की पद्य तरंगिणी मे—
केनाभवन् नृपतयो वत विक्रमाद्याः, केनाथ कारि नहितेपु तुरंगमेधः॥
अस्मिन्युगे निखिलभूपतिसार्वभौम, तद् यज्ञकृद्विजयते जयसिंह एकः॥
[पूना ओरियंटलिस्ट मे उद्धृत]

शायद किया भी हो, परंतु पेशवा दफ्तर में सुरक्षित पत्रों से प्रतीत होता है कि महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों द्वारा उसका यज्ञ करना एक विचित्र सी बात मानी गई। पुराणों में अश्वमेध यज्ञ कलिवर्ज्य माना गया है[1]।

६५. पञ्चमहायज्ञ[2] आदि साधारण यज्ञ भी नवीं शताब्दी में उच्छिन्न होने लगे। स्वाध्याय[3] परंपरा भी टूट चुकी थी। इस विषय में उदयनाचार्य[4] और उनके टीकाकार वर्धमान के उल्लेख बड़े महत्व के हैं। चरण[5] परंपरा भी निश्शेष हो गई थी।

पूर्वानुवृत्त

इस विवाद के लिए देखिए डा० सी० घोष : अश्वमेध बाई दि फ्यूडटरीज : इंडियन कल्चर जि० २, पृ० १४०-१४१ और दिनेशचंद्र सरकार : अश्वमेध बाई दि सैटरप, इंडियन कल्चर जि० २ पृ० ४४७

१. समुद्र-यात्रा-स्वीकारः कमण्डलुविधारणम्।
नैष्ठिकं ब्रह्मचर्यं च नरमेधाश्वमेधकौ॥
महाप्रस्थानगमनं गोमेधश्च तथा मखः।
एतान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः॥

[नारदीय पुराण पूर्वार्ध, २४।१२-१६। हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जि० ३ पृ० ९२८ पर उद्धृत]।

२. गुप्तकाल से लेकर कल्चुरि सं० ४८६ तक पंचमहायज्ञों का उल्लेख ताम्रपत्रों में मिलता है। उसके बाद के ताम्रपत्रों में इनका कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता। केवल रीवाँ में मिले कल्चुरि सामंत मलय सिंह के शिलालेख में इनकी चर्चा मिलती है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि ९वीं और १०वीं शताब्दी से पंचमहायज्ञ उतने प्रचलित नहीं रह गए थे। एक समय था जब कि पंचमहायज्ञ श्रौतमहायज्ञों से भी अधिक महत्वपूर्ण माने जाते थे। प्रशस्तपाद का कथन है 'पञ्चानां महायज्ञानां सायम्प्रातरनुष्ठानम्। शक्तौ सोमयज्ञसंस्थानांच'।

३. सचाऊ : अलबेरूनीज़ इंडिया, पृ० १२५। अनिरुद्ध भट्ट : पितृदयिता, पृ० ८। हलायुध : ब्राह्मण सर्वस्व, पृ० ४२

४. 'स्वाध्यायानुष्ठाने शीर्यमाणे कथंचिदनुवर्तते विश्वपरिग्रहाच्च न सहस सर्वोच्छेद इति युक्तमुत्पश्यामः' न्यायकुसुमांजलि १।३ पृ० १३२, श्री निवास प्रेस प्रकाशन सन् १९४१

५. प्र० प्र० पृ० ४४। टि० सं० २

६६. वैदिक परंपरा के उच्छेद मे उपर्युक्त कारणो के अतिरिक्त आगमों का विशेष हाथ था। धर्मशास्त्रों[1] के अतर्गत आगमो के कारण कलियुग मे सत्पथों के छिन्नमूल होने का उल्लेख मिलता है।

६७. इस प्रकार निगम और आगम के समन्वय से वह परंपरा प्रवर्तित हुई जिसको सामान्य रीति से स्मार्त वैष्णव, स्मार्त शैव, स्मार्त शाक्त आदि नामों से अभिहित किया जाता है। इसमे श्रौत तत्व क्षीण था और आगमिक तत्वो की उदग्रता थी।

६८. कर्मकाड और स्वाध्याय की श्रौत परंपरा का इस काल तक उच्छेद हो गया था और उनका स्थान आगमिक कृत्यो ने ग्रहण कर लिया था। इस प्रकार वेदसमर्थित होकर आगमधारा अन्यंत प्राभावुक हो गई थी। बताया जा चुका है कि मध्ययुगीन नैराश्यवाद की वृत्ति ने आत्मविश्वासहीनता और परलोक-प्रवणता को जन्म दिया था। इन प्रवृत्तियो के कारण भक्तिपरक आगमधारा का विकास तथा कर्मपरक निगमधारा का ह्रास हुआ। यथार्थतः आगमधारा ही स्मार्त परंपरा में निगम के नाम पर समाज मे समादृत हुई।

निगम-आगम : तंत्र

६०. गुह्य उपासना का साक्षात् संबंध तंत्रों से है। यद्यपि प्राचीन वैदिक कर्मकांड मे कुछ अश्लील कृत्यों का विवरण मिलता है तथा उपनिषदो की कुछ विद्याओं के वर्णन मे कहीं कहीं गुह्य साधना की झलक है तथापि इसका स्फुट विकसित रूप इस्वी सन् की तृतीय शताब्दी के 'गुह्यसमाज तंत्र' मे प्राप्त होता है। अनुश्रुति के अनुसार गुह्य साधना बौद्ध दार्शनिक असंग ने प्रवर्तित की थी। हिंदू धर्म मतो पर भी इस साधना का प्रभाव पड़ा। शैव-शाक्त-आचारो मे गुह्य साधना अनेक रूपों मे वर्तमान थी। वैष्णवागमो पर भी इस तंत्र का प्रभाव पड़ा, यद्यपि यह स्वल्प ही था। ऊपर महाकालोत्तर से उद्धृत श्लोक मे तांत्रिक अर्चा का उल्लेख है। पांचरात्र[2] रक्षा मे पांचरात्रिकों का एक भेद तंत्र भी बताया गया है जिनमे मंडल बनाकर पूजन का विधान था। ऐसे मंडल बदामी के मंदिर मे पाए गए हैं[3]।

---

१. कपिलस्मृति श्लोक १६।

२. पांचरात्ररक्षा, पृ० ८। तथा पौष्कर संहिता, पृ० १ पर मंडल विधान का वर्णन है—

मंडलानामतो मध्ये बिम्बसंघं प्रकाशते ॥

३. आर० डी० बनर्जी : बास रिलीफ्स आफ बदामी, चित्र सं० १२।

आगे स्पष्ट किया जायगा कि सहजयानियों के माध्यम से यह तांत्रिक गुह्य साधना वैष्णव उपासना मे भी आ गई।

७०. तंत्रो ने अपने को वेदवृत्त मे लाने का उद्योग किया। कुलार्णव तंत्र में इसका साक्ष्य मिलता है। कालातर मे तंत्रों का भी प्रमाण रूप से उन्नयन हुआ। कुल्लूक ने मन्वर्थमुक्तावली के दूसरे अध्याय के प्रथम मे हारीत का उद्धरण दिया है कि—'श्रुतिश्च द्विविधा, वैदिकी तात्रिकी च।'

हिंदू तथा जैन-बौद्ध धर्मों का समन्वय

७१. निगम, आगम एवं तंत्रों का सामंजस्य तो हुआ ही किंतु बौद्ध, जैन धर्मों के समन्वय की भी चेष्टा इस युग मे हुई। खजुराहो के वैद्यनाथ मंदिर से प्राप्त विक्रम संवत् १०११ का निम्नोक्त मंगलाचरण इस दृष्टि से अतीव मनोरंजक है—

> यं वेदान्तविदो विदन्ति मनसः संकल्पभूतं शिवं
> ब्रह्मैकं परमक्षरं तमजरं तं चामरं तद्विदः।
> अन्ये तत्सि[तच्छि]वमेव बुद्धममलं त्वन्ये जिनं वामनं
> तस्मै सर्वमयैक्यकारणपतेः सर्वाय [शर्वाय] नित्यं नमः॥

जैन, शैव और बौद्ध धर्मों के सम्मिलन के भी पुष्कल साक्ष्य मिलते हैं। इसका विशद् विवेचन परिशिष्ट मे किया गया है। जैन-वैष्णव-सम्मिलन के प्रमाण मूर्तियों[1] तथा लेखों[2] मे उपलब्ध होते है। दशावतारो मे बुद्ध की परिगणना भी इस दृष्टि से विचारणीय है।

लोकतत्व का समन्वय

७२. इस समन्वय के भरतकूप मे लोकतत्वो का भी तीर्थसलिल है। हूण और मगों के संबंध मे चर्चा की जा चुकी है। पंचदेवोपासना मे सूर्य की स्थिति तथा स्मार्त कर्मकांडो के पूर्व नवग्रह के पूजन मे अग्नि-सूर्य-पूजक मगों का और हेलिओस-मिहिर-सूर्य के उपासक हूणो का योग है। इनसे भी अधिक महत्वपूर्ण योग आभीरों का है। ये श्रौतपरपरा के ह्रास तथा आगमपरंपरा के विकास के साथ संबद्ध हैं।

७३. देवपूजकों से संबद्ध राधाकृष्ण की उपासना के विकास मे आभीरों की प्रेम कहानियो ने बड़ा हाथ बटाया। इसलिये इस प्रसंग मे उनका उल्लेख आवश्यक है।

---

१. जैन ऐंटीक्वेरी, जि० २०, पृ० १ से ३।

२. डा० अल्तेकर : राष्ट्रकूटज ऐंड देअर टाइम्स, पृ० २७२।

७४. ईस्वी सन् की चौथी शताब्दी के पूर्व ही गोपालकृष्ण का वैदिक विष्णु से तादात्म्य हो गया होगा। क्योकि कालिदास ने भी 'गोपवेष विष्णु' की चर्चा की है[1]।

७५. विभिन्न विद्वानों ने इन आभीरो का संबंध भिन्न भिन्न जातियों से जोड़ा है जैसे—शकों,[2] द्रविणों,[3] या 'अजरबेजां' मे बसे हुए 'अबेराई'[4] चरवाहों से। ये आभीर ईस्वी सन् के पहले ही इस देश मे विद्यमान थे[5]। ईसा पश्चात् दूसरी शताब्दी से इन्होंने अपना राज्यस्थापन शुरू कर दिया था। इसका पता हमे रुद्रसिंह प्रथम के गुंडा अभिलेख तथा ईश्वरसेन के नासिक शिलालेख से लगता है[6]। समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति मे आभीर राज्य का उल्लेख है[7]। घटियाला मे प्राप्त प्रतिहार कक्कुक के स्तंभ लेख से ज्ञात होता है कि आभीर बड़े ही अनार्य और जनदारुण थे[8]। नेपाल राज जिष्णुगुप्त [संभवतः ६४३ ई०] संभवतः आभीर था[9]। दक्षिण मे इनके अनेक छोटे छोटे राज्य थे। उन्होने कदंब[10], गंग[11] तथा पश्चिमी चालुक्यों[12] से युद्ध किया था। यादवों के शासन मे वे उच्च पदो पर सुशोभित थे[13]। सोलंकियो से उनका अच्छा

---

१. मेघदूत पूर्वार्ध, श्लोक संख्या १५।
२. क्रुक : ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स आफ नार्थ-वेस्टर्न फ्रांटियर, जि० १, पृ० ५१
३. कनक सभाई : 'तमिल्स एटीन हड्रेड इयर्स अगो, पृ० ५७।
४. प्रोसीडिंग्ज, इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस, सन्, १९५१ पृ० ६१
५. वही
६. भंडारकर : वैष्णविज्म शैविज्म ऐंड अदर माइनर रिलिजन्स आफ इंडिया, पृ० ५२–५३।
७. सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स, पृ० २५८
८. शिलालेख संख्या २ की चतुर्थ पंक्ति है—"असेव्यः साधुलोकानां आभीरजनदारुणः"। एपीग्रेफिया इंडिका जि० ९, पृ० २७९
९. डाइनेस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया जि० १, पृ० १९१
१०. मयूर शर्मा का चंद्रवल्ली शिलालेख, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स, पृ० ४५०
११. इंडियन ऐन्टीक्वेरी, जि० १३, पृ० १८८
१२. एपीग्रेफिया इंडिका, जि० १५, पृ० १०४
१३. एपीग्रेफिया कर्णाटिका, जि० ८, भाग २, पृ० ४८

संबंध था[1]। उत्तरापथ में इनके अनेक घोष थे। गुर्गी के अभिलेख मे आभीरपल्ली का उल्लेख मिलता है[2]। झाँसी जिले के दक्खिनी भाग का 'अहिरवार' और मिरजापुर जिले का 'अहिरौरा' नामक स्थान इनकी प्रभुसत्ता का द्योतन करते हैं। 'अहिरौरा' तथा मथुरा के पास व्रजमंडल मे आज भी इनकी घनी बस्तियाँ मिलती हैं। मतंग[3] और दंडी[4] क्रमशः आभीरा रागिनी एवं आभीरा गिरा का वर्णन करते हैं। अतः इन सब साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि यह जाति पूर्व मध्यकाल मे बहुत प्रभावशालिनी हो गयी थी जिसने हिंदू सभ्यता और संस्कृति पर भी अपनी अमिट छाप डाली। आभीर जाति यायावर किस्म की या बड़ी घुमक्कड़ थी। इसने वैदिक परंपरा का विरोध किया। मंदसोर से प्राप्त, नरवर्मा[5] के दशपुरस्थ अभिलेख मे 'इंद्रमह' के स्थान पर 'गोवर्धनपूजा' की प्रतिष्ठा हो जाने के बाद फिर से 'इंद्रमह' को श्रीकृष्णानुमत होने का वर्णन है—

प्रावृक [ट्] काले शुभ प्राप्ते मनस्तुष्टि करे नृणाम् ।
मघे [हे] प्रवृत्तो शक्रस्य कृष्णस्यानुमते तदा ॥
निष्पन्नव्रीहियवसा काशपुष्पैरलंकृता ।
भाभिरभ्यधिकं भाति मेदिनी शस्यमालिनी ॥ १३

इस संघर्ष की झलक विष्णुपुराण मे भी मिलती है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

मंत्रयज्ञपरा विप्राः सीरयज्ञाश्च कर्षकाः ।
गिरिगोयज्ञशीलाश्च वयमद्रिवनाश्रयाः ॥

श्लोक ३७|अध्या० १०|अंश ५

किंतु इसके विपरीत इस जाति का प्रवेश वैष्णवागमवादियों में हो गया। भागवत पुराण का कथन है—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरसुह्मा यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥

श्लोक ११|अध्या० २४|स्कंध ५

1. डाइनेस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया, जि० २, पृ० ६४१
2. मेमायर्स आफ आर्कियालाजिकल सर्वे इन इंडिया, जि० २३ पृ० १२२ इत्यादि।
3. बृहद्देशी, पृ० ११६
4. काव्यादर्श, पृ० ८। परि० १। श्लोक ३६।१३६
5. एपीग्रेफिया इंडिका, जि० १२, पृ० ३२०

७६. इन्हीं आभीरो के साथ संबद्ध गोपी एवं राधा की प्रेम गाथाएँ परवर्ती वैष्णवभक्तो तथा सहृदयो की चित्तद्रुति का कारण बनीं। गोपीकृष्ण की लीलाएँ विष्णु पुराण, हरिवंश और भागवत पुराण में यथाक्रम विशेषरूप से गाई गई हैं अश्वघोष के काव्य में कृष्ण की बाललीलाओं का संकेत मिलता है। भास की कृतियों मे गोपीकृष्ण की लीलाएँ वर्णित है। उदयपुरस्थ, अपराजित गुहिल के अभिलेख[1] [वि० सं० ७१८] मे गोपी-कृष्ण-प्रेम की चर्चा आई है। पर उपर्युक्त स्थानो मे राधा का शब्दशः उल्लेख कहीं नहीं मिलता। अतः बागची महोदय ने राधा को गीतगोविंदकार जयदेव के कुछ पूर्व, बंगाली आविष्कार माना[2]। किंतु यह मत सर्वथा भ्रांत है। राधा का उल्लेख हाल की सप्तशती,[3] पंचतंत्र, वेणीसंहार,[4] ध्वन्यालोक,[5] यशस्तिलकचंपू[6],

---

१. एपीग्रेफिया इंडिका, जि० ६, पृ० २६

२. हिस्ट्री आफ बंगाल : ढाका यूनीवर्सिटी, जि० १, पृ० ४०२

३. मुहमारुएण त्वं कह्ण गोरअं राहिआए अवणेन्तो।
एताणं बलवीणं अरणाणं वि गोरअं हरसि॥
आर० सी० भण्डारकर कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ० १८८-१८६ पर डी० आर० भंडारकर ने इसे प्रक्षिप्त प्रमाणित किया है। परंतु महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने इसे प्राचीन लिपिमाला, पृ० १६८ आदि पर इसे प्रामाणिक माना है।

४. कालिन्द्याः पुलिनेषु केलिकुपितामुत्सृज्य रासे रसं,
गच्छन्तीमनुगच्छताश्रुकलुषां कंसद्विषो राधिकाम्।
तत्पाद-प्रतिमा-निवेशित-पदस्योद्भूतरोमोद्गते—
रक्षुण्णोऽनुनयं प्रसन्नदयिता दृष्टस्य पुष्णातु वः॥
वेणी० १, मंगल श्लोक, सं० २

५. तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहः साक्षिणां
क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम्।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना
ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः॥
उद्योत २। पृ० २०२ तथा उद्योत ३। पृ० ५०६

६. किं न रेमे·······राधा नारायणेन। चंपू २। पृ० १४२

शिशुपालवध पर वल्लभदेव की टीका, लोचन[1], अभिनव भारती[2], क्षेमेंद्र के दशावतार, हेमचंद्र के काव्यानुशासन आदि मे मिलता है। त्रिविक्रम भट्ट के नलचम्पू मे राधाशब्द श्लिष्ट पदावली मे आया है[3]। वायु[4] तथा वाराह[5] पुराण राधा की चर्चा करते हैं। परन्तु विद्वान् लोग इनमे बहुत से अंशों को प्रक्षिप्त मानते हैं। संप्रदायप्रसिद्ध राधा का निर्विवाद उल्लेख वाक्पतिराज के उज्जैन से प्राप्त ताम्रशासन [वि० सं० १०३१], मे मिलता है[6]। अतएव अनुमानतः राधा की कहानी पाँचवीं छठीं शताब्दी से प्रचलित हो गई थी तथा नवीं दसवीं शताब्दी तक उनमे दिव्यत्व की स्थापना भी हो गई थी।

७७. वैष्णव उपासना मे कुछ प्रभाव आदिवासिओं का भी दिखाई पड़ता है। पूर्व मध्यकाल मे 'धर्म ठाकुर' की उपासना एक ऐसा ही तत्व है। कुछ विद्वानों का मत है कि निषाद भाषा के 'दुर्लो' या 'दुलोम' शब्द का सस्कृतीकृत रूप ही 'धर्म' है। बंगाल, उड़ीसा और दक्षिण भारत मे धर्म ठाकुर की उपासना का प्रचलन था। इसमे बौद्ध तथा वैष्णव उपादानो का विलक्षण समन्वय हुआ है। आजकल इस मत

---

१. याते द्वारवतीं पुरीं मधुरिपौ तद्वस्त्रसंव्यानया [अथवा तद्दत्तभम्पानतां]
कालिन्दीतट-रूढ-वंजुललतामालिंग्य सोत्कण्ठया।
तद्गीतं गुरुवाष्पगद्गद्गलत् तारस्वरं राधया
येनान्तरजनचारिभिर्जलचरैरुत्कण्ठमाकूजितम्॥ लोचन० पृ० ८१-८२

२. ......अन्यथा 'याते द्वारवती' सित्यादौ सोत्कण्ठयेति, उत्कमिति चानुवादो विफल एव स्यात्......।

अभिनव भारती, पृ० २२१-२०२

३. शिक्षितवैदग्ध्यकलापराधात्मिका परपुरुषे मायाविनि कृतकेशिवधे रागं बध्नाति।

—नलचम्पू।

४. राधाविलासरसिकं कृष्णाख्यं पुरुषं परम्।
श्रुतवानस्मि देवेभ्यः यतस्तद्गोचरो भवेत्॥ अ० १०४।५२ वाँ श्लोक

५. तत्र राधा समाश्लिष्य कृष्णमक्लिष्टकारिणम्।
स्वनाम्ना विदितं कुण्डं कृततीर्थमदूरतः॥
राधाकुण्डमितिख्यातं सर्वपापहरं शुभम्। अ० १६४।३३-३४।

६. यल्लक्ष्मीवदनेन्दुना न सुखितं यन्नार्दितं वारिधे,
+ + +
तद्राधा विरहातुरं मुररिपोर्वेल्लद्वपुः पातु वः॥

[इंडियन एंटीक्वेरी, जि० ६, पृ० ५१ श्लोक २]

के पर्याप्त साहित्य का अन्वेषण किया गया है[1]। गवर्नमेंट एपीग्रैफिस्ट श्री दिनेशचंद्र सरकार द्वारा प्रकाशित, कच्छपपृष्ठ के उट्टंकित अभिलेख, इस विषय में बड़े महत्व के हैं।[2] कछुए की पीठ पर वासुदेव मंत्र का उट्टंकन प्रमाणित करता है कि इन अभिलेखों के समय, दसवीं ग्यारहवीं शती, से ही निषाद तत्व वैष्णव धर्म से सलग्न होने लगे थे। उक्त मध्यकालीन निर्गुणियों पर तो इस मत का बहुत प्रभाव है।

दशावतारवाद : मीमांसा

७८. सात्वतों मे व्यूहवाद—वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध की, काश्मीरागम मे चतुर्मूर्तिवाद—नारायण, कपिल, नृसिंह तथा वराह की एवं वैखानसों में पंचवीरवाद—विष्णु, सत्य, पुरुष, अच्युत और अनिरुद्ध की पूजा प्रचलित थी। सात्वत पाचरात्र ग्रथो मे दशावतारो का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। वैखानस ग्रंथ गौणरूप से इनकी चर्चा करते हैं। दशावतारो मे नृसिंह, वराह, पुरुष-वामन, मत्स्य और कूर्म का उल्लेख वैदिक वाङ्मय मे उपलब्ध होता है। इनमे से नृसिंह और वराह काश्मीरागम मे भी स्वीकृत है। पाचरात्रिकों के वासुदेव एवं सकर्षण कृष्ण तथा बलराम के रूप से और बौद्धधर्म के शास्ता गौतम 'बुद्ध' के रूप से इन दशावतारों मे परिगृहीत हुए। यह अभी भी अन्वेषणीय है कि पौराणिक परशुराम जिन्होंने इक्कीस बार क्षत्रियो से पृथ्वीमडल शून्य कर दिया था वे किस प्रकार दक्षिण भारत मे प्रचलित धर्म ठाकुर संप्रदाय के अंतर्गत परशुराम से संबद्ध हैं। कल्कि अवतार की प्रेरणा बुद्ध के भावी अवतार मैत्रेय से मिली या नहीं, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। सामान्यतः दशावतार-सिद्धात समन्वय के प्रयत्नों का परिणाम है। इस विषय मे हेमचंद्र राय चौधरी का मत स्मरणीय है कि अवतारवाद सिद्धांततः

---

१. [१] जरनल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, सन् १९४२, पृष्ठ १३-१४१ [२] बी० सी० ला : इज़ कल्ट आफ धर्म अ लिविंग रीलिक आफ बंगाल, जि० १ [३] महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री : क:—प्रोसीडिंग्ज़ आफ एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, सन् १८९४, पृ० १३९। ख:—जरनल आफ एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, सन् १८९४, पृ० ५९-६१ और पृ० ६५-६८ [४] नगेंद्रनाथ वसु : आर्किआलाजिकल सर्वे आफ मयूरभंज स्टेट।

२. जरनल आफ राएल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, सन् १९४६, पृ० १०१-१०८

पाचरात्रिकों के व्यूहवाद से भिन्न है[1]। संभवतः इसी लिये निगम और आगम दोनों परंपराओं के साथ संबद्ध वैखानसागम में दशावतारों की चर्चा मिलती है। किंतु शुद्ध आगमिक सात्वत पाचरात्र संहिताओं में इनका उल्लेख नहीं है। इस प्रकार दशावतारवाद भी समन्वय की साधना है।

निष्कर्ष

७९. ऐसा प्रतीत होता है कि एकादश द्वादश शताब्दी के आस पास भारतवर्ष की प्रायः समस्त धर्मसाधनाएँ आगमों के 'नेतृत्व' में एकत्र हो रही थीं। वेद इस देश के बहुत बड़े जन समुदाय के लिये वैधता, प्रामाणिकता के एकमात्र स्रोत थे। उनके साथ सामंजस्य के कारण आगमिक प्रवृत्तियों को प्रामाण्य प्राप्त हुआ। इतना ही नहीं प्रत्युत ईश्वर का महत्त्व सबसे अधिक, वेदों से भी अधिक, हो जाने के कारण कर्मकाण्डों और उनके प्रतिपादक शास्त्रों की स्वतंत्र महत्ता घट गई। साधारणतः पंचदेव हिंदू-धर्म-साधना के अवलंब थे। इनमें भी शाक्तमत अंतःसाधनाप्रधान होने के कारण समाज के सुव्यक्त धरातल पर स्वतंत्र रीति से प्रचलित नहीं हुआ। सौर-गाणपत्य-सिद्धांत का प्रचार, प्रसार और प्रभाव स्वल्प एवं एकदेशीय था। पर शैव एवं वैष्णव परंपराएँ भारतीय धर्मसाधना को बड़े वेग से आंदोलित तथा अनुप्राणित कर रही थीं। इस समय की बौद्ध धर्मसाधना भी कुछ प्रभावशालिनी थी जो अनेकविध प्रतीकों के माध्यम से समाज में फैल रही थी। मुसलमानों के आक्रमण से यह धर्मसाधना बाह्य रूप से उच्छिन्न हो गई और हिंदू राज्याश्रय के विनष्ट होते ही शैव परंपरा भी ह्रास को प्राप्त हुई। इस समय शाक्त परंपरा भी अंशतः वैष्णव परंपरा में मिल रही थी। इस प्रकार निगम-आगम-समन्वय के द्वितीय प्रयत्न के समाप्त होते होते वैष्णव भक्ति ही भारत की प्रातिनिधिक धर्म-साधना रह गई।

८०. शैवमत ने राम के और शाक्तमत ने राधा-कृष्ण के प्रतीकों को अपना लिया था। परम शिव यदि राम बने तो त्रिपुरासुंदरी कृष्ण। तंत्रालोक के अनुसार—

'एष रामो व्यापकोऽत्र शिवः परमकारणम्॥

श्लोक ८८ आह्निक १

---

1 क्लैसिकल एज, पृ० ४१८-४१९ किंतु दिनेशचंद्र सरकार इस मत को नहीं मानते यद्यपि उन्होंने इसके पुष्ट प्रमाण नहीं दिए हैं [वही, पृ० ४१८]।

इसी प्रकार पद्मपुराण के अंतर्गत पातालखड मे श्रीकृष्ण का कथन है—

> अहं च ललिता देवी राधिका या च गीयते ॥
> अहं च वासुदेवाख्यो नित्यं कामकलात्मकः ।
> सत्यं योषित्-स्वरूपोऽहं योषिच्चाहं सनातनी ॥
> अहं च ललिता देवी पुंरूपा कृष्णविग्रहा ।
> आवयोरन्तरं नास्ति सत्यं सत्यं हि नारद ॥

तथा शक्ति-संगम-तंत्र की भी साक्षी है—

> कदाचिद्वात्मललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा ।
> लोकसम्मोहनार्थाय स्वरूपं बिभ्रती परा ॥

इसी अनुक्रम से वज्रयान के प्रज्ञा-उपाय भी सहजियों मे राधा-कृष्ण के प्रतीक पा चुके थे । प्रस्तुत प्रबंध मे अन्यत्र इस विषय पर कुछ विस्तार से विचार किया गया है । अतएव स्पष्ट ज्ञात होता है कि राम और कृष्ण के प्रतीक धर्मसाधनाओं में विविध रूपों से इस देश के बहुत बड़े भाग मे स्वीकृत हो गए थे ।

८१. यह स्वीकृति, जिसके पीछे आगम, निगम, तंत्र, बौद्ध और किसी अंश में जैन साधनाओं का योग था, इस युग की वह महान् घटना है जिसने भक्ति आंदोलन का सूत्रपात किया । समन्वय की यह प्रक्रिया हजार वर्षों से बराबर चली आ रही थी । इसका केंद्रबिंदु निगम और आगम का समन्वय था । वैदिक कर्माश्रित सामाजिक मूल्यो के स्थान पर धीरे धीरे आगमिक भक्तिपरक मूल्यों की संस्थापन-चेष्टा हो रही थी । इस काल मे आकर इन मूल्यो की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई । इस प्रकार वैदिक काल से उस समय तक चले आते हुए सामाजिक दर्शन को हटाकर भक्तिप्रेरित नवीन सामाजिक दर्शन की प्रतिष्ठा हुई । इसमे मुसलमानों के आक्रमण का तथा लोकतत्वों के उभार का योग अवश्य है, परंतु वह प्रासंगिक और सामान्य है । आगे के अध्यायों से इस बात की पुष्टि होगी कि सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक जीवन एवं सामाजिक कृतियाँ आगम की विशेषता भक्ति से अनुप्राणित है । नवोत्थित भारतीय साहित्य ने, भागवत मे तथा लीलाशुकनिर्मित कृष्णकर्णामृत में प्राप्त चित्रों की अपभ्रंश पद्धति ने एवं संगीत की ध्रुपद आदि शैलियो ने भक्ति आंदोलन के चरणों में अपनी अर्चनाएँ अर्पित कीं ।

भक्ति आंदोलन का उद्भवस्थान

८२. प्रतिनिधिक रूप से यह स्थान द्रविड़ देश माना गया है। पद्म पुराण उत्तर खंड के भागवत माहात्म्य का कथन है कि—

उत्पन्ना द्राविडे साऽहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित् क्वचिन् महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता॥
तत्र घोरकलेर्योगात् पाखण्डैः खण्डिताङ्गका।
दुर्बलाऽहं चिरञ्जाता पुत्राभ्यां सह मन्दताम्॥
वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी।
जाताऽहं युवती सम्यक् प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम्॥[1]

इसका समर्थन स्वयं भागवत की पंक्तियों मे देखा जा सकता है :—

कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः।
क्वचित् क्वचिन् महाराज द्रविडेषु च भूरिशः॥ श्लोक ३८

ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी।
कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी॥ श्लोक ३९

ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर।
प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशये॥
श्लोक ४०। अध्याय ५। स्कंध ११

कबीरपंथियों में भी अनुश्रुति प्रचलित है कि,

भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाए रामानंद।
परगट किया कबीर ने सप्त दीप नवखंड॥

इन पारंपरिक प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य साक्ष्य भी दिए जा सकते हैं। भागवत जो इस काल के भक्ति आंदोलन का प्रधान प्रेरक पुराण है वह संभवतः दक्षिण में लिखा गया। आलवार और भक्ति आदोलन के अनेक आचार्यों का संबंध दक्षिण से था। पांचरात्रिक आचार्य नाथमुनि, यामुन और रामानुज; पुष्टिमार्ग के आचार्य वल्लभ; द्वैत संप्रदाय के प्रवर्तक मध्वाचार्य आदि दक्षिण के ही थे। रामानंद के गुरु राघवानंद के विषय में भी अनुश्रुति है—

---

१. पद्मपुराण २०१।८६। ५४–५६ तथा भागवत माहात्म्य अध्याय १। श्लोक ४८–५०।

वंदे श्रीराघवाचार्यं रामानुज-कुलोद्भवम्।
याम्यादुत्तरमागत्य राममंत्र-प्रचारकम्॥
[पं० बलदेव उपाध्याय भागवत संप्रदाय, पृ० २४४]

८३. रामानंद के संबंध मे दक्षिणात्य आलवार भक्ति का प्रभाव अत्यंत स्पष्ट है। यदि वैष्णव-मताब्ज-भास्कर को उनकी रचना मान लें तो तमिल वेद और दक्षिणात्य तीर्थस्थानो के प्रति रामानद का अनुराग सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार गोपीभाव की उपासना दक्षिण मे शठकोप और अंदाल आदि मे मिलती है। परंतु उत्तरापथ मे इसके पूर्व गोपीभाव की उपासना का पता नहीं चलता। भागवत का प्रभाव सामान्य रूप से सभी प्रकार के सगुणोपासक भक्तो पर था। इससे उत्तरापथ की भक्ति पर दक्षिणी प्रभाव स्पष्ट हो जाता है।

८४. किंतु इस प्रसंग मे यह स्मरणीय है कि उत्तरापथ मे भक्तिधारा की परपरा पूर्व मध्यकाल मे प्रचलित थी। इसलिये उत्तरापथ के भक्ति आंदोलन को दक्षिण का न्यास नहीं कहा जा सकता। काश्मीरागम पाचरात्र संप्रदाय की अपनी उपास्य 'वैकुंठ' मूर्ति के मंदिर काश्मीर के अवंतिपुर[1] तथा अन्य स्थानो मे, गुजरात के कारवार्ड[2] मे तथा मध्यप्रदेश के खजुराहो मे पाए गए हैं। शिलालेखो के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि ग्वालियर[3] मे भी एक मंदिर था। इसकी मूर्तियाँ मथुरा, खजुराहो और बनारस इत्यादि स्थानो मे पाई गई है तथा देहली, बोस्टन[4] आदि संग्रहालयो में सुरक्षित हैं। इसी प्रकार से नवमूर्तिपूजन का 'तात्र' संप्रदाय तथा विष्णुपूजन का वैखानस संप्रदाय भी प्रचलित था।

८५. ईश्वर के प्रति रागात्मक संबंध और शृंगारपरक प्रवृत्तियाँ भी इस काल में दिखाई देती हैं। अभिलेखों मे इनके विविध रूपों का दिग्दर्शन कराया जा चुका है।

८६. लक्ष्मण सेन के सभाकवि जयदेव के गीतगोविंद तथा चंदेलराज कीर्तिवर्मा के राजकवि श्रीकृष्ण मिश्र के प्रबोधचंद्रोदय आदि ग्रंथ इस परंपरा की

---

१. आर्कियालाजिकल सर्वे आफ इंडिया ऐनुअल रिपोर्ट्स, सन् १९१३–१४, पृ० ४०
२. कज़िन्स : सोमनाथ ऐंड अदर मेडीवल टेम्पुल्स, चित्र २५
३. इंडियन ऐंटीक्वेरी, जि० १५, पृ० ३९, श्लोक ७२
४. म्यूज़ियम आफ फाइन आर्ट्स बुलेटिन, सन् १९१९, पृ० ६०

टूटी हुई कड़ियाँ हैं। इसलिये कहा जा सकता है कि वैष्णव भक्ति की परंपरा उत्तरापथ मे अविच्छिन्न ही नहीं, लोकप्रिय भी थी।

८७. साधारण भक्तितत्व के अतिरिक्त आलोच्य युग मे प्रचलित भक्ति की अनेक विशेषताएँ उत्तरापथ की प्राचीन भक्ति परंपरा की ही देन है।

[१] राधातत्त्व :—राधा का उल्लेख दक्षिण के पूर्वमध्ययुगीन साहित्य में नहीं प्राप्त होता जब कि गोपीभाव की उपासना विशेषतया उपलब्ध होती है। किंतु उत्तरापथ मे राधा की प्रतिष्ठा निश्चित रूप से पूर्वमध्ययुग में हो गई थी। इसके संबंध मे पुष्कल प्रमाण दिए जा चुके हैं। यह राधा प्रस्तुत युग के कृष्ण संबंधी सभी संप्रदायो का सबसे महत्वपूर्ण तत्त्व है।

[२] रामोपासना :—कहा यह जाता है कि दक्षिण भारत मे ही रामोपासना प्रचलित थी और राघवानद के माध्यम से उत्तरापथ में प्रसारित हुई। यह सत्य है कि कुलशेखर आलवार तथा शठकोपाचार्य [?] राम के परम भक्त थे। यह भी माना जा सकता है कि राघवानंद ने दक्षिण से लाकर ही राम मंत्र का प्रचार किया और रामानंद को शिष्य बनाया। किंतु रामानंद और मर्यादावादी भक्त तुलसीदास का संबंध अनिर्णीत है। अंतः साक्ष्यो से भी ज्ञात होता है कि रामानंद और तुलसीदास के सिद्धातो मे पर्याप्त पार्थक्य है।

८८. दूसरे, राघवानंद के पूर्व ही उत्तरापथ मे रामोपासना के प्रचार संबंधी अकाट्य प्रमाण मिलते हैं। कल्चुरि संवत् ९४४ सन् ११९२ के रीवा मे उपलब्ध मलयसिंह द्वारा उट्टंकित अभिलेख[1] मे 'राम देवालय' का वर्णन है। उसमे यह कहा गया है कि 'सिद्ध लोग तीव्र दुःख करके उच्च, ऊर्ध्व दिव्यलोक प्राप्त करते हैं किंतु जिनके द्वारा राम देवालय वंदित है वे प्रायः विश्वपद को प्राप्त कर लेते हैं'। ताम्रशासनों की पद्धति के अनुसार दाता मंगलाचरण मे अपने इष्ट की वंदना करता है। मान्धाता में उपलब्ध देवपाल के [विक्रम सवत् १२८२ = १२२५ ई०] में लिखे गए ताम्रशासन[2] का मंगलाचरण रामविषयक है, 'जिसने अपनी प्राणेश्वरी

१. तीव्रं तपोदुःखकरं प्रकृत्या, सिद्धा व्रजन्तो दिवमूर्ध्वमुच्चैः।
यद्रामदेवालयवाधित [वंदिता] ये, प्रायेण ते विश्वपदं प्रयाताः॥
मेमायर्स आफ आर्किआलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, जि० २३, पृ० १३३-१४१

२. येन मन्दोदरी-वाष्पवारिभिः स [श] मितो मृधे।
प्राणेश्व [श्व] रीवियोगाग्निः स रामः श्रेयसेऽस्तु वः॥
एपीग्रेफिया इंडिका, जि० ९, पृ० १०८

की वियोगाग्नि, मंदोदरी के वाष्प से बुझाई, वह राम हम आप को श्रेय की प्राप्ति करायें'।

८९. इसके अतिरिक्त उत्तरापथीन अनेक ग्रंथो और तंत्रालोक तथा नाथ-पंथियों के साहित्य मे राम की परंपरा दूसरे ही रूप मे मिलती है[1]। इसलिये उत्तर भारत की रामभक्ति को दक्षिण का न्यास कहना अनुचित है।

९०. दक्षिण भारत की भाँति उत्तरापथ मे भी भक्ति की धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं। इनमे पूर्व विवेचित निगम-आगम-समन्वय की प्रक्रिया समान रूप से विद्यमान थी।

परिशिष्ट

हिंदूधर्म में एकीकरण की प्रवृत्ति

ईसा पश्चात् दशवीं ग्यारहवीं शताब्दी के शैवधर्म की एक अनूठी कथा है। दक्षिण भारत मे इस समय जैन एवं शैव धर्म का तीव्र सघर्ष चल रहा था। शास्त्र का समर्थन शस्त्र कर रहे थे। धार्मिक विवाद मे राजनीतिक कुचक्र छिपा बैठा था। किंतु उसी समय उत्तरापथ मे शैवधर्म जैन और बौद्ध प्रभावो को आत्मसात् कर रहा था। उत्तरापथ की इसी धार्मिक कहानी के कुछ अज्ञात एवं अल्पज्ञात तथ्यों की विवेचना प्रस्तुत की जा रही है।

शैवधर्म का आर्हत संप्रदाय

कश्मीर के प्रसिद्ध त्रिकदर्शनाचार्य अभिनवगुप्त [९५०–१००० ईस्वी] के विपुलकाय ग्रंथ तंत्रालोक मे शैवधर्म के विभिन्न संप्रदायों मे जैन [आर्हत] की भी गणना है। त्रयोदश आह्निक मे दीक्षा के प्रसंग मे आचार्य का कथन है कि शैव-सिद्धाती, वैमलसिद्धांती, आर्हत और कारुक [यद्यपि शैव[2] हैं फिर भी] भैरव मातृमंडल मे प्रवेश के अधिकारी नहीं हैं। यह उल्लेख विचित्र और अविश्वसनीय प्रतीत होता है क्योकि शैव और जैन धर्मों के दर्शनों, उपासना के स्वरूपों और देवता-

---

१. प्रस्तुत प्रबन्ध अध्याय ३।अनु० ४३-४६

२. शैववैमलसिद्धान्ताः आर्हताः कारुकाश्च ये।
सर्वे ते पशवो ज्ञेया भैरवे मातृमण्डले ॥

जि० ८, पृ० १८५। आह्निक १३

मंडल में बड़ी विभिन्नता है। किंतु जैन-प्रभाव-संवलित शैवप्रवृत्ति के कुछ साहित्यिक और पुरातात्विक प्रमाण हैं।

दसवीं और ग्यारहवीं शती के कुछ जैन रहस्यवादी संतो ने जिन, बुद्ध, विष्णु और शिव को तत्वतः एक ही मानकर उनको शिव का रूपांतर माना है। जोइंदु के अपभ्रंश ग्रंथ योगसार[1] का कथन है कि जो शिव शंकर है, वही विष्णु है। वही रुद्र, वही बुद्ध, वही जिन, वही ईश्वर, वही ब्रह्मा और वही अनंत तथा सिद्ध है, उसी ग्रंथ का कथन है कि जैनधर्म मे व्याख्यात परमात्मा जिन, बुद्ध, विष्णु, और शिव[2] है। इतना ही नहीं उन्होने शिवपद की प्राप्ति को ही परम श्रेय माना है। 'श्रेष्ठ जिन यह मानते हैं कि जो परभाव को त्याग देता है तथा आत्मा के द्वारा ही आत्मज्ञान प्रात करता है वही शिवपुरगमन का अधिकार लाभ करता है[3]। जिनवर का यह उपदेश विचारणीय है। 'परमात्मप्रकाश' भी एक जैनग्रंथ है जो शिव को नित्य, निरजन, ज्ञानमय और परमानंद स्वभाव के रूप से वर्णित करता है[4]। उसी मे शिव के स्वरूप का आगे विवेचन है—

> परमपयगयाणं भासओ दिव्वकाओ
> भणसि मुणिवराणं मुक्खरो दिव्वजोओ।
> विसय सुहरयाणं दुल्लहो जा हु लोए
> जयउ सिव सरूवो केवलो कोऽवि नोहो ॥ २ ४। परमात्म०

इतना ही नहीं पाहुड दोहा ग्रंथ मे शैव संप्रदाय के सिद्धांतों का उल्लेख भी मिलता है। यह सिद्धात कि ससार शिवशक्ति का समन्वय है उक्त ग्रंथ में इस प्रकार मिलता है—

---

१. जो सिउ संकरु विण्हुसो, सो रुद्दवि सो बुद्धु।
सो जिणु ईसरु बंभु सो, सो आणंतु सो सिद्धु ॥ योगसार, १०५

२. विम्मलु जिक्कलु सुद्धु जिणु विण्हु बुद्धु सिव संतु।
सो परमप्पा जिणभणउ एहिउ जाणि णिभंतु ॥ वही, ६

३. अप्पा अप्पइ जो मुणइ जो परमाउ चएइ।
सो पावइ सिवपुरगमणु जिणवर एम मणेइ ॥ वही, ३४

४. णिच्चु णिरंजणु णाप्पमउ परमाणंद सहाउ।
जो एहउ सो संतु सिउ तासु मुणिज्जहि भाउ ॥ वही १७

सिव विण सत्तिण वावरइ सिव पुणु सत्ति विहीणु ।
देहि मि जाणहिं सयलु जगु बुज्झइ मोहि विलीणु ॥ ५५

तथा योगी जिसको देखने के लिये तीर्थों मे भटकता रहा, वह शिव उसके पास था किंतु उसने देखा नहीं[1]।

शिव और जिन की एकात्मता, शिव का परमात्मरूप, शिवपद का परमश्रेयत्व तथा शैवमत के अनेक दार्शनिक सिद्धांतों के उल्लेख इन ग्रंथों मे उपलब्ध होते है।

केवल इन रहस्यवादी ग्रंथो मे ही नहीं अपितु प्रबंध साहित्य मे भी इस संबंध की अनेक कथाएँ प्राप्त होती है।

प्रबंध चिंतामणि की एक कथा है कि सौराष्ट्र के नृपति कुमारपाल सोलंकी के गुरु जैनाचार्य हेमचद्र ने सोमनाथ की स्तुतिरचना की थी। ग्रथ मे कुछ श्लोक भी उद्धृत किए हैं,—

यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया तथा ।
वीतदोषकलुषश्चेद्भवान् एक एव भगवन्नमोऽस्तु ते ॥
भवबीजाङ्कुरजननाः रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा महेश्वरो वा नमस्तस्मै ॥[2]

इतना ही नहीं कुमारपाल ने हेमचंद्र के कहने से ही सोमनाथ मंदिर का निर्माण किया था। ऐसी ही कथा हरिभद्र सूरि के विषय मे भी प्रचलित है[3]।

इन साहित्यिक प्रमाणो के अतिरिक्त कतिपय पुरातात्विक साक्ष्य भी उस काल मे इन प्रवृत्तियों के अस्तित्व का ज्ञापन करते है।

---

१. जो पइँ जोइस जोइया तित्थइँ तित्थ भमेइ ।
सिउ पइँ सिंहु हहिंडियउ मिहिविण सक्किउ तोइ ॥ १७९

२. प्रबंधचिंतामणि, पृ० ८५

३. भूपोऽन्यदा मुनिं पप्रच्छ, "कयापि युक्त्याऽस्माकमपि यशःप्रसरः कल्पान्तस्थायी भवति" ? इति तदीय गिरं श्रुत्वा, "विक्रमार्क इव विश्वस्यानृण्यकरणवत्, यद्वा श्री सोमेश्वरस्य काष्ठमयं प्रासादं, वारिधिशीकरनिकरासन्नाम्भोधिनृपस्तमेव महर्षि पितरं गुरुं दैवतं मन्यमानो विजातीनितरद्विजान् निन्दन्, ततः प्रासादोद्धाराय तद्दैव दैवज्ञनिवेदितसुलग्नस्तत्र पंचकुलं प्रस्थाप्य प्रासादप्रारम्भमचीकरत्।
वही, पृ० ८२

कोकल के वैद्यनाथ मंदिर [खजुराहो] से प्राप्त वि० सं० १०११ का एक अभिलेख जिन, वामन [विष्णु], बुद्ध तथा वेदांतियों के ब्रह्म को शिव का ही रूपांतर[1] बतलाता है—

यं वेदान्तविदो विदन्ति मनसः संकल्पभूतं शिवं
ब्रह्मैकं परमक्षरं तमजरं तं चामरं तद्विदः।
अन्ये तत्सि [च्छ] वमेव बुद्धममलं त्वन्ये जिनं वामनं
तस्मै सर्वमयैक्यकारणपतेस्सर्वाय [शर्वाय] नित्यं नमः॥

चित्रोगढ़ से उपलब्ध कुमारपाल सोलंकी का [वि० सं० १२०७ अतः ११४६-५० ईसवी का] अभिलेख, शिवमंदिर के निर्माण की प्रशस्ति[2] है। जब कि शैव अभिलेख 'ॐ नमः शिवाय' से ही प्रारंभ होते हैं यह 'ॐ नमो सर्वज्ञाय' के नमस्कारात्मक मंगलाचरण से प्रारंभ होता है। यह मंगलाचरण, 'ॐ नमो सर्वज्ञाय' बराबर जैन अभिलेखों के ही प्रारंभ में लिखा जाता है। इसके पश्चात् शिवस्तुति भी जैन दर्शन एवं जैन विचार से प्रभावित है—

नमो··· ··[स] ज्ञाचिर्दग्धसंकल्पजन्मने।
शर्वाय परमज्योति-ध्वस्त-संकल्पजन्मने॥१

ज्ञानाग्नि से संकल्प दग्ध करनेवाले शिव की स्तुति की विशेषता, तत्कालीन जैन और शैव मगलाचरणों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। उसी दूबकुंड[3] से उपलब्ध वि० सं० ११४५ का विक्रमसिंह का अभिलेख शांतिनाथ की स्तुति इस प्रकार करता है—

बिभ्राणो गुणसंहतिं हततमस्तापो निजज्योतिषा
युक्तात्मापि जगंति संगतजयश्चक्रे सरागाणि यः।
उन्माद्यन्मकरध्वजोर्जितगजग्रासोल्लसत्केसरी
संसारोग्रगदच्छिदेऽस्तु स मम श्रीशान्तिनाथो जिनः॥१

इस दूबकुंड के शांतिनाथ तथा चित्रोगढ़ के शर्व के वर्णनों में कोई अंतर नहीं। स्तुतियों की तुलना उसी काल, प्रदेश और राजत्वकाल मे प्राप्त शिवाभिलेख के

---

१. एपिग्रेफिया इंडिका, प्रथम भाग, पृ० १४२
२. वही, द्वितीय भाग, पृ० ४२२
३. वही, द्वितीय भाग, पृ० २३७

मंगलाचरण से करने पर भेद स्पष्ट हो जायेगा। वैरावल[1] से प्राप्त कुमारपाल के समय की प्रशस्ति का मंगलाचरण है। पार्वती शिव का वक्रोक्तिपूर्ण संभाषण है—

येनाहं भवतः सहे सुरधुनीमन्तर्जटानामतः
कर्णोलालयसि क्रमेण कितवोत्संगेऽर्पितां धारयसि।
इत्यद्रेस्तनया सकोपमुखयोक्तोऽवोचदार्ये भुवो-
भूषेयं गुरुगण्ड कीर्त्तिरिति वः सोऽव्याद्भवानीप्रियः॥

'वे भवानीप्रिय आपकी रक्षा करें जो अपनी कुपिता प्रिया से इस प्रकार अधिक्षिप्त होने पर कि 'कितव ! मैने गंगा का तेरे जटाजूटों मे रहना सह लिया अतः तू क्रमशः उसको अपने उत्संग मे धारण करता है' बोले कि यह तो गुरु गंडदेव की कीर्ति है [गंगा नहीं] जो मेरे भ्रू का भूषण है'।

जाबालिपुर शाखा के प्रवर्तक चाहमानवंशीय कीर्त्तिपाल के नाडोल से उपलब्ध वि० सं० १२१४ [११५६ ईसवी] के ताम्रशासन[2] का मांगलिक श्लोक ब्रह्मा, श्रीधर, और शंकर की जगत् मे ख्यात विरागवान् जिनों के रूप से कल्पना करता है—

श्रियै भवन्तु वो देवा ब्र [ब्र] ह्म-श्रीधर-शंकराः।
सदा विरागवन्तो ये जनाः जगति विश्रुताः॥

शैवतीर्थ एव शैवव्रत राजस्थान मे इस काल के जैनो के लिये पवित्र और मान्य थे। श्वेतांबर अन्यदेवाचार्य से धर्मोपदेश सुनने के पश्चात् अमराणक ने शैव-तीर्थ काल कालेश्वर में स्नान कर जैन मंदिर को भूमिदान दिया था[3]; रत्नपुर,[4] किराड्ड [जोधपुर] से उपलब्ध शिलालेखों से ज्ञात होता है कि शालिग और पूतिग नामक जैन श्रावकों के उद्योग से महाराज श्री अल्हणदेव ने शिवरात्रि तथा कुछ विशिष्ट तिथियों पर जीवहिंसा बंद करवा दी थी। ये दोनों शिलालेख भी शैव मंदिर में ही स्थापित थे।

सौराष्ट्रनृपति कुमारपाल सोलंकी के धर्म की कथा भी बड़ी विचित्र है। उसके विरुद 'उमापतिवरलब्धप्रसाद' अथवा 'पार्वतीवरप्रौढप्रसाद' शैव धर्म में उसकी आस्था

---

१. भावनगर इंस्क्रिप्शन्स, पृ० १८६
२. एपीग्रेफिआ इंडिया, ६, पृ० ६६
३. वही, १६, पृ० ७२
४. भावनगर इंस्क्रिप्शन्स, पृ० १७२

के द्योतक हैं, किंतु वह कहीं कहीं आर्हत भी कहा गया[1]। जालौर मे उपलब्ध १२२१ वि० स० के शिलालेख मे वह 'गुर्ज्जराधीश्वर परमार्हत चालुक्यमहाराज कुमारपाल' के रूप से वर्णित है। उसने अनेक शिवमंदिरों के निर्माण तथा जीर्णोद्धार कराए। जालौर शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसने कुमार विहाराभिधान चैत्य का भी निर्माण किया था। उसके धर्म मे जैन-शैव-मत दोनो घुले मिले दिखाई देते हैं।

इस प्रकार ये साहित्यिक और पुरातात्विक प्रमाण जैन एवं शैव मत की समीपता का द्योतन करते है। कोई आश्चर्य नहीं कि तंत्रालोक द्वारा उल्लिखित प्राचीन भारत में कोई शैवधर्मातर्गत 'आर्हत' संप्रदाय हो, जो शिव के योगीरूप की ही अर्चा करता रहा होगा।

शैवधर्म पर बौद्ध प्रभाव : कुछ नवीन तथ्य

यदि पश्चिम भारत मे जैन-शैव संमिलन के सूत्र उपलब्ध होते है तो पूर्व भारत मे बौद्ध-शैव-संमिश्रण की कथा के प्रमाण मिलते हैं। यह दूसरी कथा कुछ परिचित है। यह एक ज्ञात तथ्य है कि सिद्धों की परंपरा में शैव और बौद्ध धर्मों का समन्वय हुआ। इस ओर भी विद्वानो का ध्यान आकृष्ट हुआ है कि 'पद्मनृत्तेश्वर' आदि बौद्ध देव जिनके ध्यान 'साधन-माला' मे तथा जिनकी मूर्त्तियाँ इस काल में उपलब्ध होती है, शिव के ही रूपातर प्रतीत होते हैं। किंतु इस विषय की आभिलेखिक सामग्री की ओर विद्वानों का ध्यान पर्याप्त रूप मे आकृष्ट नहीं हुआ है।

शाक्यसिंह की महापरिनिर्वाणस्थली प्राचीन कुशीनगर और आधुनिक कसिया के प्राचीन खँडहरों मे प्राप्त, एकादश शताब्दी में उट्टंकित, कलचुरिवंश का एक अभिलेख शैव-बौद्ध-धर्मों के समन्वय का साक्षी[2] है। शिलालेख प्रारंभ होता है शिव और बुद्ध की मिलित स्तुति से—'ओ३म् नमो रुद्राय ओ३म् नमो बुद्धाय'। इसके साथ ही प्राथमिक दो श्लोक शिव की वंदना के हैं, तृतीय बुद्धशक्ति तारा एवं चतुर्थ पंचम बुद्ध की स्तुति के श्लोक हैं। यह स्मरणीय है कि भगवान् बुद्ध विष्णु के

---

१. एपीग्रेफिया इंडिका, पृ० ४४, कुमारपाल सोलंकी के रत्नपुर शिलालेख मे भी उसका विरुद परमार्हत है—संवत् १२२१……प्रभुश्री हेमसूरि-प्रबोधित गुर्जरधराधीश्वर परमार्हत चोल्लुक्य महाराजाधिराज श्री कुमारपालदेव। पं० १-२ भावनगर इंस्क्रिप्शन्स, पृ० १७२

२. एपीग्राफिआ इंडिका, पृ० १२८ '[ओं] नमो रुद्रा [द्रा] य [ओं] नमोबुद्धाय'।

अवतार के रूप से आस्तिक धर्म मे परिगृहीत हो चुके थे। किंतु कसिया अभिलेख के बुद्ध वैष्णवावतार बुद्ध से भिन्न है क्योंकि कसिया अभिलेख के बुद्ध श्रेयरूप, सत्वप्रकृति हैं जिन्होंने स्वयं अनेक अवतार लिये है,[1] जब कि वैष्णवावतार एक मायावी अवतार है। इसी के तृतीय श्लोक मे तारा की वंदना है जो प्रथमतः बुद्धशक्ति थी, किंतु बाद मे शैव देवी के रूप से पूजित हुई। 'शक्ति-संगम-तंत्र' अक्षोभ्य शिव और तारा के संवाद के रूप से लिखा गया है।

चंबा [हिमाचल प्रदेश] में अनेक वरुणप्रस्तर पाए गए हैं। प्रपा अथवा जलाधार के निर्माण पर वरुण और उनके साथ अनेक पौराणिक देवताओं की मूर्तियो से उत्कीर्ण प्रस्तरखंड जलाधार के समीप स्थापित कर दिए जाते थे। साइ [चंबा] मे प्राप्त एक अभिलेखयुक्त वरुणप्रस्तर मे, जो शास्त्र संवत् १ और कलि संवत् ४२७० मे, अजयपाल के राजत्वकाल में प्रतिष्ठित किया गया था, वरुण, ब्रह्मा और ध्यानी महेश्वर के साथ बुद्ध की प्रतिमा उत्कीर्ण है। बुद्ध धर्म-चक्रप्रवर्तन-मुद्रा मे प्रकल्पित हैं और छोटे छोटे अक्षरो मे 'बौद्ध [बुद्ध]' शब्द उत्कीर्ण[2] है।

महायान-वज्रयान-देवतामंडल के प्रसिद्ध देव लोकेश्वर संभवतः मध्यदेश के नागराजाओं द्वारा शिवरूप के पूजित होते थे। 'सहस्रफणामणि-किरण-निकरा-वभारचर-नागवंशोद्भव-भोगिपुरवरेश्वर सवत्सन्याघ्रलाञ्छन-परमभट्टारक-महेश्वरचरणकञ्ज किञ्जल्क-पुञ्जपिञ्जरित-भ्रमरायमाण' नागराज की माँ गुंडा महादेवी के नारायणपाल ग्राम मे उपलब्ध अभिलेख मे उनके द्वारा लोकेश्वर के निमित्त भूमिदान का वर्णन है[3]। उसी वंश के कुरूसपाल मे प्राप्त अभिलेख मे खुदा है कि जो लोकेश्वर को दीपदान करता है वह शिवलोक जाता है[4]।

---

१. श्रेयः सत्वो (त्वो) प कृ [ति] पर [मं] पश्यता येन तत्तत्,
स्वप्राणैरप्यतिथि [षु] कृतं कीर्त्तितं य [त्कथा] भिः।
[योगाङ्गै] यज्जगति सुबहून् स (सं) न्वि (वि) धायावतारान्,
कृर्ति [तिः] कारुण्यैकप्र [भप्रकृतिरभवधः] स दासो मुनीन्द्रः॥

वही, पृ० १२१

२. फोगेलः एण्टीक्विटीज आफ चंबा स्टेट, पृ० २५१
३. एपीग्रेफिया इंडिका, जि० ४, पृ० ३११
४. वही, जि० १०, पृ० ११
हि० ए० सां० भू० १ (११००–१२)

वेरूल [एलोरा] के कैलासमंदिर में उत्कीर्ण एक शिवमूर्ति मे शिव भूमि-स्पर्श मुद्रा मे प्रकल्पित हैं तथा उनके सिर पर एक बोधिवृक्ष भी निर्मित है। यह मूर्ति निस्संदेह ही शैवधर्म पर बौद्ध प्रभाव प्रदर्शित करती है।

जावा [प्राचीन यवद्वीप] मे शैव-बौद्ध-धर्म के मिलन की कथा और भी रोचक है। वहाॅ के अभिलेखो मे 'शिव बुद्ध' शब्द अनेक बार आया है। इसका प्राचीनतम उल्लेख सिंपाड मे प्राप्त ऐरलड के ९५६ शक के अभिलेख में हुआ है। इसी प्रकार कुंजर कर्ण मे शिव-बुद्ध का पूर्णरूपेण तादात्म्य स्वीकृत है। इसी मे महादेव का निवास बुद्धपद कहा गया है। इससे भी अधिक मनोरंजक तथ्य है पाॅच ध्यानी बुद्धो का पाॅच पाशुपतों के साथ तादात्म्य[1]। पाॅच ध्यानी बुद्ध विरोचन, अक्षोभ्य, वज्रसत्व, अमिताभ और अमोघसिद्धि का कुशिक, गार्ग्य, मैत्रेय, कारुष तथा पतंजलि के साथ समीकरण परवर्ती योगसाधना मे शिव-बुद्ध-तत्व संमिलन की पूर्वश्रृंखला है।

इस प्रकार पश्चिम भारत का शैवधर्म जैनधर्म से तथा प्राच्य भारत का शैवधर्म बौद्धधर्म से प्रभावित हुआ। मध्यदेश का 'शैवसिद्धांत' जिस प्रकार पंजाब के रोहतक जिले से मैसूर तक आठवीं शती से ग्यारहवीं शती तक फैला—इसकी एक दूसरी कहानी है।

---

१. इंडियन कल्चर, भाग १।

तृतीय अध्याय

भक्ति : १

३

भक्ति : १

समूर्त एवं अमूर्त आराधना

१. आराधनाएँ दो प्रकार की होती हैं—'अमूर्त' और 'समूर्त'। अग्नि मे आहुति के माध्यम से उपासना करना अमूर्त आराधना का स्वरूप है और प्रतिमा का आराधन 'समूर्त' है[1]। अग्नि की उपासना-यज्ञ की परम्परा निस्सन्देह आर्य है। यद्यपि ईरानियों तथा वैदिकों मे यह प्रमुखतया प्राप्त होती है तथापि अन्य आर्यवंशों मे भी इसकी प्रतिष्ठा है। ब्राह्मणग्रंथों मे यज्ञ का विधान एव उसके कार्यों की दार्शनिक व्याख्याएँ हैं। शुल्व और श्रौत सूत्रों में याज्ञिक कर्मकाण्ड तथा उससे संबद्ध वेदिकानिर्माण इत्यादि का विस्तृत विवरण है। इस परम्परा मे कर्मकांड यज्ञ से संबद्ध था। इसमे वेदिकाविधान, यूपस्थापन, मण्डपनिर्माण इत्यादि प्रमुख हैं। स्वाध्याय की परंपरा भी यज्ञ से संबद्ध प्रतीत होती है। यज्ञ, के अवसर पर होता, उद्‌गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा के कार्यों के लिए ऋग्, यजुः, साम तथा अथर्व का संकलन हुआ। इस प्रकार वैदिक संस्कृति यज्ञबहुल है।

२. 'समूर्त' आराधना, प्रतिमा की पूजा वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध नहीं होती। विद्वानो ने प्रतिमाराधन के मूल का अनुसंधान शूद्र-द्राविड़ों मे, बौद्धों में तथा वैदिक आर्यों मे किया है[2]। सुनीतिकुमार चैटर्जी ने अभी हाल ही मे इस

---

१. तदाराधनं हि द्विविधममूर्तं समूर्तं चेति। अग्नौ हुतममूर्तम्। प्रतिमाराधनं समूर्तम्।
वैखानसागम। पृ० १

अमूर्तेति समूर्तेति द्विविधा साऽऽर्चना मता ॥ श्लोक २८

अमूर्ताग्न्याहुतिः प्रोक्ता समूर्ता प्रतिमार्चना। श्लोक २९। अत्रिसंहिता

२. पी० वी० काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जि० २, पृ० ७११

विषय का पुनः उत्थापन किया है। उनका कथन है कि पूजा शब्द मूलतः द्राविड़ी है, 'पू' = पुष्प [द्राविड़ी] ऽगे = ऽजे [तालव्यीकृत], ऽचे [तामिल-तेलगू] = ऽगे [कन्नड़]=करना। अतः पूजा का अर्थ 'पुष्प-कर्म है। जार्ल कारपेंटियर ने भी पूजा को द्राविड़ी पुशु=अवलेपन से सिद्ध करने का यत्न किया था[1]। इस प्रकार चैटर्जी भी समूर्त अर्चना का स्रोत द्राविड़ मानते हैं।

३. वर्तमान स्थिति में समूर्त अर्चना का जाति विशेष से संबंध बता सकना दुष्कर है। किंतु इतना स्पष्ट है कि वैदिक परंपरा में याज्ञिक क्रिया, प्रातिनिधिक कर्मकांड है। इसके विपरीत समस्त आगमों में मंदिरनिर्माण, प्रतिमास्थापन एवं अर्चापूजन प्रमुख कृत्य हैं। वैदिक धर्मसूत्रों में जहाँ चौल-केशांत, बाल मुँडवाने तक के वर्णन मिलते हैं वहाँ प्रतिमा प्रतिष्ठा, देवालय-निर्माण आदि के विधान कहीं नहीं मिलते। किंतु आगमों में याज्ञिक क्रियाकलापों का वर्णन स्वल्प है और 'क्रिया'—मंदिरनिर्माण, मूर्तिप्रतिष्ठा तथा 'चर्या'—पूजनप्रक्रिया का ही बाहुल्य है।

अमूर्त और समूर्त परंपराओं का समन्वय

४. वैदिक वाङ्मय में उल्लिखित विष्णु, वराह, नृसिंह और पुरुष ऐसे देवता हैं जिनका वैष्णव आगमों में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। काश्मीरागम के अंतर्गत वाराह तथा नारसिंह नामक उपसंप्रदाय ही हैं। अत्यंत प्राचीनकाल से ही वराह एवं विष्णु की उपासनाओं के साथ अमूर्त और समूर्त दोनों परंपराएँ संलग्न हो गई थीं। यजुर्वेद[2] और उसके पश्चात् शतपथ[3] ब्राह्मण में यज्ञ और विष्णु का तादात्म्य हुआ। बाद में विष्णु की कल्पना यज्ञपुरुष रूप से भी हुई। विष्णु[4] पुराण में याज्ञिकों के द्वारा विष्णु के यज्ञपुरुष के रूप में पूजित होने का उल्लेख मिलता है। महाभारत[5] में इस यज्ञपुरुष का स्वरूप वर्णित है। इसकी परंपरा बहुत बाद तक चलती रही। सूरदास[6] ने भी इसका वर्णन किया है। इसी प्रकार वाराह की भी

---

१. डा० रमेशचन्द्र मजूमदार: दि वैदिक एज, पृ० १६०

२. यज्ञो वै विष्णुः— यजुर्वेद २२।२०

३. यो वै विष्णुः स यज्ञः— शतपथब्राह्मण ४।२।३।६

४. यज्वभिर्यज्ञपुरुषो वासुदेवश्च सात्त्वतैः।
वेदान्तवेदिभिर्विष्णुः प्रोच्यते यो नतोऽस्मि तम्॥ श्लोक १४ अ० १७।४ वाँ अंश

५. शांति०। अध्याय ३३९। श्लोक ९—१०

६. सूरसागर। पद सं० ३९८ से ४०० तक

यज्ञवराह के रूप से कल्पना हुई। इस यज्ञवराह का रूप वैखानसागम के ग्रंथों में वर्णित है[1]।

५. वैखानस आगम मे पंचवीरो का तादात्म्य वैदिक पंचाग्नि से हुआ है। गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, अन्वाहार्य और सभ्य का क्रमशः विष्णु, सत्य, पुरुष, अच्युत एव अनिरुद्ध से एकीकरण अत्रिसहिता मे किया गया है[2]। इसी प्रकार आगमों मे अग्नि की उपासना का समावेश 'इज्या' के अग रूप मे देखा जाता है। जयाख्य सहिता याग का वर्णन करती है। वैसे ही ईशान-शिव गुरु-पद्धति में चार प्रकार की अग्नियो का वर्णन है—वैदिक, शैव, वैष्णव तथा काम्य। इनको विविध अवसरो पर विभिन्न रीति से प्रज्वलित करने का विधान है[3]।

समूर्तार्चन : मंत्र और समाधि

६. समूर्तार्चन की दो पद्धतियो का उल्लेख जयाख्यसंहिता मे हुआ है समाधि उपाय और मंत्र उपाय। इनमे मंत्र उपाय ही सुकर बताया गया है जिसमें मंत्रोद्धार आदि के अनंतर मंत्रसहित देवपूजा का विधान है[4]। समाधि उपाय में अनिलसंरोध के साथ मौन होकर हृत्पुंडरीक मे गरुड़ पर बैठे हुए भगवान् का ध्यान बताया गया है[5]। किंतु आगम की साधना शुद्ध देवालयीय साधना है। वैखानस आगम मे अमूर्त आराधना से समूर्त श्रेष्ठ बताई गई है। समूर्त के दो भेद है—[क] आलयार्चा, मंदिर मे देवपूजन तथा [ख] गृहार्चा। अत्रिसहिता के अनुसार आलयार्चा ही सुपूर्ण और उत्तम है[6]। भगवद्भक्तो को इसी पद्धति से पूजा करनी चाहिए।

---

१. वैखानसागम। पटल ५७। पृ० १६६
२. अत्रिप्रोक्त समूर्तार्चनाधिकरण। अध्याय २६वाँ
३. वैदिकः प्रथमः कल्पः शैवो वैष्णव एव च।
कास्यश्चेति चतुर्धाग्नेः कल्पाः स्युस्तन्त्रचोदिताः॥
सामान्यपाद। श्लोक १४। पृ० ११८
४. जयाख्य०। पटल ५। श्लोक २१–४६
५. वही। पटल १०। श्लोक १–५
६. आलयार्चा गृहार्चेति समूर्तार्चा द्विधा मता।
बल्युत्सवादिभिर्हीना न्यूना तस्माद्गृहार्चना॥ श्लोक ३५

देवालयीय तत्त्व : भक्ति

७. आलयार्चा ही आगमिकों की भक्तिसाधना है। देवालय भगवान् का निवासस्थान माना गया है। जिस प्रकार यह सारा संसार किसी न किसी रूप में भगवान् की मूर्ति है उसी प्रकार देवालय भगवान् का साक्षात् तनु है। अग्निपुराण के अनुसार साक्षात् हरि ही मंदिररूप से अवस्थित है—

> एवमेष हरिः साक्षात्प्रासादत्वेन संस्थितः।
> जङ्घा त्वस्य शिवो ज्ञेया स्कन्धे धाता व्यवस्थितः।
> ऊर्ध्वभागे स्थितो विष्णुरेवं तस्य स्थितस्य हि॥
>
> अग्नि०। अध्याय ६१ श्लोक २६–२७

इसी प्रकार शैव[1] और सौर[2] मंदिर में भी क्रमशः शिव तथा सूर्य की मूर्ति बताए गए हैं।

८. इस विश्वात्मक प्रासाद में 'जगती' [प्लिंथ, कुर्सी] से लेकर 'आमलक' के ऊपर स्थित चक्र, त्रिशूल आदि प्रतीकों तक जीवन का उत्तरोत्तर विकासक्रम प्रदर्शित होता है। इसकी तीन भूमिकाएँ हैं जिनकी सूचना के लिए तीन 'आवरण' रहते हैं। सबसे नीचे के आवरण में भगवान् तथा उनके पार्श्वदेवों की

देवस्यैव निवासत्वात्परिवारैः समायुता।
बल्युत्सवादिभिः सर्वैरुपचारैश्च संयुता॥ श्लोक २६
आलयार्चा सुपूर्णा यमुत्तमेति प्रकीर्तिता।
देवदेवस्य विष्णोस्तु उत्तमार्चाक्रमस्य वै॥

श्लोक २७। अध्याय १। अत्रिसंहिता

१. प्रासादं यच्छिवशक्त्यात्मकं तच्छक्त्यन्तैः स्याद् वसुधाद्यैस्तु तत्त्वैः।
शैवी मूर्तिः खलु देवालयाख्येत्यस्माद् ध्येया प्रथमं चाभिपूज्या॥
[ईशानशिवगुरुपद्धति, तीसरी जि०, अ० १२ श्लोक १६]

२. सर्वतत्त्वमयी यस्मात् प्रासादो भास्करी तनुः।
एवमेष रविः साक्षात् प्रासादत्वेन संस्थितः।
जगती पिण्डिका ज्ञेया प्रासादो भास्करः स्मृतः।
[वारेन्द्र रिसर्च सोसायटी से प्रकाशित 'अ स्टडी आन वास्तुविद्या में हयशीर्ष पांचरात्र के हस्तलेख से पृ० २२८ पर उद्धृत]

'भोगमूर्तियाँ' अंकित रहती हैं। मध्यम आवरण मे 'संहार मूर्तियाँ' होती हैं। इनमे भगवान् आसुरी प्रवृत्तियो के प्रतीकों का संहार करते हुए दिखाए जाते हैं। सर्वोच्च आवरण मे भगवान् की 'योग मूर्तियाँ' होती है। इन आवरणों के नीचे तथा इधर उधर सिद्ध गन्धर्व और अप्सराओं की, भक्तों एवं प्रवाहपतित पुरुषों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण रहती हैं जिससे प्रासाद की विश्वरूपता स्फुट हो जाती है।

९. इसके अतिरिक्त मदिर ईश्वर का प्रासाद भी है जहाँ वे कूटस्थ रूप से गर्भगृह मे निवास करते हैं और विशिष्ट अवसरों पर सभामंडप मे आकर अपने दर्शनो से दर्शकों को कृतार्थ करते हैं। वहीं से उत्सवों के अवसर पर वे यात्राकार्य संपन्न करते है। इसलिए उनकी दो अर्चायें मानी गई—'ध्रुवबेर' जो कूटस्थरूप से गर्भगृह मे रहती है और 'कौतुकबेर' अथवा उत्सवमूर्ति जो प्रत्येक दिन नियत समय पर सभामंडप मे पधारकर भक्तो को कृतकृत्यता प्रदान करती है। वही उत्सवों पर रथयात्रा अथवा दोलोत्सव आदि मे योग देती है।

१०. देवालय का निर्माण इन दोनो अर्चाओं तथा उनकी विभिन्न उपासनाओं को दृष्टि मे रखकर हुआ। गर्भगृह जहाँ अंधकार और प्रकाश के विचित्र संमिश्रण से रहस्यपूर्ण वातावरण का सर्जन होता है—भगवान् के कूटस्थ रूप का अपना आंतर निवासस्थान है। उसके सामने सभामंडप मे चलार्चा के लिए सभा का आयोजन होता है जहाँ देवदासी नृत्य करती है। उसके बाद तोरण होता है। उसकी झालर मे बँधा हुआ घंटा समय समय पर बजकर भगवान् की विशेष स्थितियों का संवाद सुनाता रहता है। इस प्रकार प्रासाद का प्रयोजन और अर्थ भगवान् की विविध अवस्थाओं तथा रूपों का निकेतन है। यहाँ भगवान् जगदीश्वर है। इसलिए वे ईश-सम्राट की तरह रहते हैं।

उपासना के रूप और उनके प्रयोजन

११. उपासनाओं के द्विविध रूप दिखाई पड़ते हैं—नित्य अर्चना और उत्सवो की अर्चना। पांचरात्रिकों के अनुसार नित्य की अर्चना मे 'पंचकाल' का विधान है[1]। ये हैं—(क) अभिगमन-मन, वाणी और कर्म से अवहित होकर देवालय मे गमन, (ख) उपादान-पूजा की सामग्रियो का संचयन, (ग) इज्या-पूजा, (घ) स्वाध्याय-मंत्र, जप एवं वैष्णव शास्त्रों का अभ्यास और (ङ) भोग-

---

१. जयाख्य संहिता। पटल २२। श्लोक ६८-७४

ध्यान। इनमे से इज्या मे अनेकविध उपचारों का वर्णन प्राप्त होता है—अवलेपन, संमार्जन, अंगराग, धूप, दीप, नैवेद्य तथा शंख, कांस्य, घंटा, काहल, मृदंग के साथ देवदासियों के नृत्यो का विधान है। साधारण विश्लेषण से भी यह ज्ञात होता है कि इस इज्या का विधान राजकीय आदर्श पर हुआ था। ये समस्त उपचार राजाओं के साथ संबद्ध है।

१२. प्राचीनकाल मे राजाओं के लिये अनेक प्रकार की यात्राओं का विधान था। इनका उल्लेख महाभारत, कामसूत्र, मानसोल्लास इत्यादि ग्रंथो मे हुआ है। इन विलास यात्राओं की निंदा अशोक के धर्मलेखों मे मिलती है। पांचरात्रिक ग्रंथो मे भी इन यात्राओं का समावेश पूजापद्धतियो मे है। अनेक प्रकार के उत्सव चैत्र पर्व, पवित्रक पर्व, रथयात्रा, दोलोत्सव, जन्मोत्सव, दीपोत्सव आदि पर यात्रा एवं उत्सव विधानों की व्यवस्था पाई जाती है।

१३. इस प्रकार प्रतीत होता है कि सगुण भक्ति सर्वथा देवालयीय है और देवालय की उपासनापद्धति राजकीय ढर्रे पर विकसित हुई है।

आगम : दर्शन

१४. कणाद, अक्षपाद, कपिल, पतंजलि, जैमिनि और बादरायण भारतीय षड्दर्शनो के प्रतिष्ठापक माने जाते है। इन दर्शनो मे से अनेक की प्रतिष्ठा ईसा की पूर्ववर्ती शताब्दियो मे हो चुकी थी। परंतु इनके प्रतिष्ठापकों की निश्चित तिथियो के संबंध मे विद्वानों का बड़ा मतभेद है।

आस्तिक दर्शन वेदो को स्वतः प्रमाण मानते हैं। उनके भी दो भेद किए गए है—श्रुतिमूल तथा प्रतीतिमूल। श्रुतिमूल दर्शन प्रमाणप्राप्त तथ्यों का हेतुविद्या के सहारे निर्वचन एवं विशदीकरण करते है। 'शाब्द' ही इनके लिये सर्वोपरि प्रमाण है। प्रतीतिमूल दर्शन अनुभूत तथ्यों का वैदिक मत्रो के साथ सामंजस्य घटित करते है। श्रुतिमूल दर्शनो मे कर्म मीमांसा और वेदात आते हैं। प्रतीतिमूल दर्शनो मे न्याय-वैशेषिक तथा साख्ययोग की गणना है। इनमे से कर्म-दर्शन का सिद्धातानुयायी मीमांसाशास्त्र तथा ब्रह्मदर्शन का सिद्धात स्वीकार करनेवाला वेदातशास्त्र प्रमुख रीति से श्रौत परंपरा से संबद्ध है, न्याय-वैशेषिक और साख्य योग विशेषतः आगमिक परंपराओं से संबद्ध प्रतीत होते हैं।

न्याय-वैशेषिक : पाशुपत-शैव

१५. आचार्य हरिभद्र सूरि षड्दर्शन समुच्चय मे नैयायिकों को शैव तथा वैशेषिको को पाशुपत बताते है[1]। उनके टीकाकार गुणरत्न ने भी इस कथन का समर्थन किया है[2]। किंतु जान पड़ता है कि हरिभद्र और गुणरत्न की अन्वितियाँ भ्रांत है। साहित्य एवं शिलालेखो के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि प्रसिद्ध वैशेषिक विद्वान् व्योमशिवाचार्य शैवसिद्धाती थे[3]। हरदत्ताचार्य की 'गणकारिका' पर 'रत्नप्रभा' टीका के लेखक भासर्वज्ञ ही 'न्यायभूषण' के लेखक है। 'न्यायभाष्य' के रचयिता उद्योतकर ने अपने को पाशुपत कहा ही है[4]। अतः यह निश्चित है कि पाशुपत न्यायदर्शन से तथा शैवसिद्धांती वैशेषिक दर्शन से संबद्ध थे। इसका संकेत शिवपुराण की वायवीय संहिता से भी प्राप्त होता है[5]। उसमे शिव के अवतार सोम शर्मा के चार शिष्यों मे से दो अक्षपाद और कणाद है जो क्रमशः न्याय एवं वैशेषिक दर्शनसूत्रो के रचनाकारो से अभिन्न ज्ञात होते है।

सांख्य : भागवत

१६. जिस प्रकार न्याय वैशेषिको का पाशुपत शैवो से घनिष्ठ संबंध परिज्ञात होता है उसी प्रकार साख्य भी भागवतो के साथ विशेष रीति से सबद्ध है। साख्य शास्त्र के प्रवर्तक कपिल भगवान् विष्णु के 'विभवावतार' माने जाते हैं। विष्णु तथा भागवत आदि पुराणो मे इनका इस रूप से विशद वर्णन मिलता है। पांचरात्र की सर्वाधिक प्रामाणिक संहिताओ मे से 'अहिर्बुध्न्य' मे सांख्यसिद्धांत का विस्तृत विवेचन है। इसमे पंचशिख के साठ परिच्छेदोवाले 'षष्टितंत्र' का भी उल्लेख

---

१. अथ न्यायमतं ब्रूमः शैवमित्यपराभिधम्।
अक्षपादो गुरुस्तेषां तेन ते ह्यक्षपादकाः॥
अथ वैशेषिकं ब्रूमः पाशुपतान्यनामकम्।
षट्दर्शन [समुच्चय। पृ० ११–१२]

२. वही। पृ० २०

३. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, जिल्द १०, पृ० १६९

४. डा० मजूमदार : क्लैसिकल एज, पृ० ३००

५. वायवीय संहिता। अध्याय ९। श्लोक ४१–४२

हुआ है[1]। महाभारत के शांतिपर्व मे सांख्य महात्मा नारायण से संबद्ध बताया गया है :—

> सांख्य विशालं परमं पुराणं महार्णवं विमलमुदारकान्तम् ।
> कृत्स्नं च सांख्यं नृपते महात्मा नारायणो धारयतेऽप्रमेयम् ॥
>
> श्लोक ११४। अध्याय ३०

इसी प्रकार विष्णु को सांख्य का पचीसवाँ तत्व बताया गया है—

> पञ्चविंशतिमो विष्णुः निस्तत्त्वतत्त्वसंज्ञितः ।
> तत्त्वसंश्रयणादेतत् तत्त्वमाहुर्मनीषिणः ॥
>
> श्लोक ३७। अध्याय ३०२। वही

> यन्मर्त्यमसृजद् व्यक्तं तत्तन्मूर्त्यधितिष्ठति ।
> चतुर्विंशतिमो व्यक्तो ह्यमूर्तः पञ्चविंशकः ॥
>
> श्लोक ३८। वही

योगदर्शन

१७. योग के प्रवर्तक पतजलि का पाशुपतों से घनिष्ठ संबंध है। प्रबोधचंद्र बागची लिखते है कि इडोनेशिया में नकुलीश के चार शिष्य—कुशिक, गार्ग्य, कारूष तथा मैत्रेय के साथ पतजलि पाशुपत पंचदेव के रूप से पूजित होते हैं[2]। योग की परंपरा जो पाशुपत दर्शन मे और उसके बाद नाथपंथियों मे प्रवाहित हुई वह इस अनुश्रुति का समर्थन करती है। किंतु सामान्यतः योग का प्रभाव समस्त भारतीय दर्शनों पर दिखाई देता है।

१८. इस प्रकार आगमिक धारा से प्रतीतिमूल दर्शन का घनिष्ठ संबंध है और श्रुतिमूल दर्शन का श्रौतस्मार्त परंपरा से। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि बाद मे चलकर वैष्णवागम की धारा मे वेदात का प्रवेश हो गया। इसी समय वैष्णव स्मृतियों का भी प्रणयन हुआ जिससे श्रौतस्मार्त परंपरा में वैष्णव तत्व परिगृहीत हुआ। इस विषय मे भारुचि[3] का नाम विशेष रूप से उल्लेख्य है। 'मिताक्षरा' मे भारुचि का मत दिया गया है। 'सरस्वती विलास' से यह भी ज्ञात

---

१. अहिर्बुध्न्य० २१। १८–२०

२. बागची : हिस्ट्री आफ बंगाल, पृ० ४०६ टिप्पणी १

३. पी० वी० काणे : हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जि० १ पृ० २६४–२६६

होता है कि भारुचि ने विष्णु धर्मसूत्र पर अपनी टीका लिखी थी। इस धर्मसूत्र मे चतुर्व्यूह की पूजा का विधान है। इस प्रकार भारुचि धर्मशास्त्री वैष्णव प्रतीत होते हैं। रामानुजाचार्य अपने पूर्ववर्ती विशिष्टाद्वैत के छह आचार्यों मे भारुचि का नाम लेते है। प्रायः विद्वान् इन दोनो धर्मशास्त्री तथा विशिष्टाद्वैती भारुचि को अभिन्न मानते है। यदि यह सच है तो स्वीकार करना पड़ेगा कि निगमागमसमन्वय मे वैष्णव तत्त्व वैष्णव स्मृतियों के रूप से श्रौतस्मार्त-परंपरा मे और वेदांत दर्शन विशिष्टाद्वैत के रूप से वैष्णवों मे गृहीत हो गया था। इस प्रकार वैष्णवागम दर्शन प्रारंभ मे सांख्य से और बाद मे वेदांत से संबद्ध हो गया।

भक्ति एवं दर्शन

१९. भक्ति की भाँति ही भक्ति दर्शन मे देवालीय तत्त्व मिलते हैं। उपास्य के विविध रूपो की कल्पना मंदिर मे प्रतिष्ठित विग्रह के सादृश्य पर स्थित हुई। इन मंदिरो के विभिन्न आवरणों मे क्रमशः योग, भोग और वीर मूर्तियों की स्थापना होती थी। योगमूर्ति विष्णु का बुद्ध के धर्मकाय, शैवाद्वैतियो के परम शिव और दार्शनिकों के ब्रह्म से बहुत अधिक साम्य है। संभोग मूर्ति की तुलना 'संभोग-काय', 'शिव' और 'ईश्वर' से की जा सकती है जिसमे वह अपनी शक्ति अथवा शक्तियों के सहित लीलाविलास करता है। बौद्धों के 'निर्माणकाय', शैवाद्वैतियों के 'ईश्वर' और दार्शनिको के 'अवतार' से 'वीर' मूर्ति की समता हो सकती है। इसमे असुर, दैत्य, राक्षसों का संहार करता हुआ विग्रह चित्रित होता है। इस प्रकार इन देवालयीय मूर्तियो से ब्रह्म, ईश्वर और अवतार के दार्शनिक तत्वों से घनिष्ट संबंध प्रतीत होता है।

२०. मुक्ति की कल्पना मे भी आलयार्चा का प्रभाव दिखाई देता है। आगमो में मुक्ति का अर्थ 'अपुनरावृत्ति', सर्वदा के लिए 'देवलोक' मे निवास है। वैखानस आगम मे चार प्रकार की मुक्तियों का उल्लेख मिलता है—सालोक्य, सामीप्य सारूप्य तथा सायुज्य[1]। ये चारो मुक्तियाँ देवनिवास और उसमे भक्त की स्थिति

1. तदाराधनेन संसारांस्तरति। मग्नो जीवात्मा परमात्मानं नारायणं प्रविशति। सोऽप्यपुनरावृत्तिकं प्रसादयति। पश्चात् कृतकृत्यो भवति संसारान्निर्मुक्तः सोऽपि। समाराधनविशेषाच्चतुर्विधपदावाप्तिः, सालोक्य-सामीप्य-सारूप्य-सायुज्यमिति। आमोदप्राप्तिः सालोक्यम्। प्रमोदप्राप्तिः सामीप्यम्। सम्मोदप्राप्तिः सारूप्यम्। वैकुण्ठप्राप्तिः सायुज्यमिति।

वैखानसागमः। पटल ७०। पृ० २२०

के आधार पर क्रमिक रूप से व्यवस्थित जान पड़ती है। भक्त की देवलोक की प्राप्ति को 'सालोक्य', उस लोक में भी देवता के समीप पहुँच जाने को 'सामीप्य', उपास्य के रूप को प्राप्त कर लेने को 'सारूप्य' तथा उस आराध्य की प्रभविष्णुता के पाने को 'सायुज्य' कहा गया है। इस 'सायुज्य' में भी भक्त को सृष्टि के सर्जन आदि भगवदीय ऐश्वर्यों की संप्राप्ति नहीं होती[1]। इससे विदित होता है कि इहलौकिक

---

१. सालोक्यमेकस्मिन् लोके अवस्थानम्। सामीप्यं समीपे अवस्थानम्। सारूप्यं तुल्यरूपप्राप्तिः। सार्ष्टिर्जगत्सृष्ट्यादिवर्जं तुल्यप्रभावत्वम्। एकत्वं चतुर्भुजादि-मूर्त्यधिष्ठाता पुरुषेण सहैक्यम्। मुक्ताफल—कैवल्यदीपिका। पृ० ८८

भागवत के ३रे अध्याय के १३वे श्लोक में पाँच प्रकार की मुक्तियों का उल्लेख है। उसके 'सार्ष्टि' नामक मोक्ष की व्याख्या में श्रीधर स्वामी लिखते हैं 'समानैश्वर्यम्' तथा 'एकत्व' को 'सायुज्य' बताते हैं। श्री रूप और जीव गोस्वामी के अनुसार राधारमण गोस्वामी अपनी दीपिन्याख्या दीपिका टीका में कहते हैं 'मत्सेवनं विना न गृह्णन्ति इत्युक्त्वा यत्र सेवा तत्सालोक्यादिचतुष्टयं मत्सेवार्थमेव गृह्णन्ति, न तु स्वसुखैश्वर्योत्कर्षार्थम्, एकत्वन्तु भगवत्सायुज्य-ब्रह्मसायुज्यलक्षणं द्विविधमपि न गृह्णन्ति, सदा मत्सेवाविनाभूत्वादितिव्यज्यते'। श्रीमद्वीरराघवाचार्यकृत भागवतचन्द्रचन्द्रिका में मुक्तियों की तारतमिकता पर भी विचार किया गया है—ननु 'विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्' इति मुक्तौ फलतारतम्यं प्रतिषिद्धं, मैवम् एते सर्वे सायुज्य एवान्तर्भूताः, तत्र सायुज्यं नाम समान-गुणयोगः, गुणाष्टकाविर्भावरूपः युज्यते इति युग्धर्मः, धर्मो हि धर्मिणा युज्यते समानः युग् यस्य स सयुक्, सयुजो भावः सायुज्यं साधर्म्यं तथा च गीतं भगवता 'मम साधर्म्यमागता' इति अत्र सालोक्यादिचतुष्टयस्यापि ब्रह्मसायुज्यान्त-र्भूतत्वज्ञापनाय सालोक्यादीनां भेदेनोपपादनं साधर्म्ये सति हि सालोक्यादिकं सर्वं सम्पन्नमेवेति, सालोक्यादेः सायुज्यान्तर्भूतत्वं युक्तं, देवतान्तरप्राप्तौ हि सालोक्यादिभेदावाप्तिः, ब्रह्मप्राप्तौ तु सायुज्यन्तर्भूतत्वेनैव सालोक्यादिप्राप्तिरिति विशेषः। यदा भगवत्प्राप्तावपि श्रीविष्णुलोकादिषु द्वारकादिष्विव तथाविधभेदोऽस्तीति तदपेक्षिणां प्राप्य भेदद्योतनाय पृथङ्निर्देशः यदाहुः—

लोकेषु विष्णोर्निवसन्ति केचित् समीपमृच्छन्ति च केचिदन्ये।
अन्ये तु रूपं सदृशं भजन्ते सायुज्यमन्ये स तु मोक्ष उक्तः॥

इति तस्मान्मुक्तौ फलतारतम्यशङ्का न कार्या।

श्रीमद्भागवत नव टीकाओं के साथ वृंदावन से प्रकाशित पृ० ६४६—७४७

देवालय की स्थितियों के समान भक्त को देवलोक मे भी अनुवर्तन करना पड़ता है। देवालय मे स्थित विग्रह जगदीश्वर है। 'अभिगमन' के द्वारा भक्त देवनिवास, मंदिर मे पहुँचता है। अधिकारी होने पर 'अंतराल' तक और कभी कभी 'गर्भगृह' के अंदर तक जाकर भगवान् का सामीप्य लाभ करता है। जगन्नियंता के अनुग्रह से उसे उपास्य का बाह्यरूप उपलब्ध होता है जिसका साक्षात् दर्शन वह देवविग्रह मे करता रहता है। अंत मे वह उन कतिपय आंतर गुणों को भी प्राप्त कर धन्य होता है जिनका गायन वह निरंतर स्तुतियो मे करता आया है। देवालय की तरह ही देवलोक मे भी भक्त और भगवान् विलग ही रहते हैं। भक्त भगवान् की स्तुति करता हुआ 'चरमानद' को प्राप्त होता है। सायुज्य[1] की इस परमोच्च स्थिति मे भी वह ईश्वर से एक सा हो जाता है, एक ही नहीं। इस प्रकार उपास्य के रूप और मुक्ति के भेद आदि देवालयीय भावना से भावित सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार भागवत के प्रासंगिक श्लोक की व्याख्या प्रायः सभी टीकाकारों ने आगमिक परंपरा की चतुर्विध मुक्तियों को दृष्टिपथ में रखकर की है। उन्होने भागवत की 'एकत्व' मुक्ति को 'सायुज्य' के साथ अन्वित किया है और 'सार्ष्टि' को मुक्ति का एक नया भेद मान लिया है। केवल बोपदेव ने 'एकत्व' को शब्दशः 'सायुज्य' नहीं कहा है। पर ऐसा प्रतीत होता है कि भागवत का 'एकत्व' वास्तव मे आगमिक 'सायुज्य' से भिन्न और केवलाद्वैतियों के ब्रह्म-जीवैक्यवाद, अभेदवाद से अभिन्न है। निगम-आगम-समन्वय की परंपरा इस प्रतीति का पोषण करती है। मुक्तियों के क्रमभेद और स्तरभेद का उल्लेख वैखानसागम मे बहुत स्पष्ट तथा भागवतचंद्रचंद्रिका मे पूर्वपक्ष के रूप से उपन्यस्त है।

१. सायुज्यमुक्ति की कल्पना जयाख्य में अधिक प्रौढ़ दिखाई देती है। जिस प्रकार सरिता के सागर मे [४।१२१] और ईंधन के अग्नि मे [४।१२२] पड जाने पर कोई भेद लक्ष्य नहीं होता, उसी प्रकार सायुज्य मुक्ति मे भक्त और भगवान् का भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। संश्लेष के कारण दोनों एक से प्रतीत होते हैं, यथार्थतः वे कुछ भिन्न उस अवस्था मे भी रहते हैं। इसी को जयाख्य में निम्न ढंग से व्यक्त किया गया है—

यत्सम्यग्ब्रह्मवेतृत्वं सनाग्या चैव भिन्नता॥ — श्लोक ५१

ईषद् ब्रह्मसमापत्तिस्तदभिन्नं तु वै स्मृतम्। — श्लोक ५२। पृ० ३२

२१. जिस प्रकार कर्ममीमांसाशास्त्र वैदिक कर्मकाडों की व्याख्या और व्यवस्था के लिए प्रवृत्त हुआ उसी प्रकार यह देवालयीय दर्शन, भक्ति के विभिन्न तत्वों के उपबृंहण तथा स्पष्टीकरण में विनियुक्त प्रतीत होता है। अतः दर्शन का स्वतंत्र विवेचन इस प्रबंध में नहीं किया गया।

भक्ति के विभाग

२२. शास्त्रों मे वैष्णवभक्ति का विभाजन त्रिविध रूप से किया गया है—पहला विभिन्न स्रोतों के आधार पर, दूसरा उपास्य देवों के आधार पर और तीसरा प्रवृत्तियो के आधार पर। वेदांतदेशिक के पांचरात्ररक्षा ग्रंथ मे उद्धृत कालोत्तर के अनुसार वैदिक, तांत्रिक, श्रौत और मिश्र—ये चार प्रकार की उपासनाएँ हैं[1]। इसी प्रकार वृद्धहारीत स्मृति मे श्रौत, स्मार्त तथा आगम इन त्रिविध उपासना पद्धतियों की चर्चा है[2]। कहीं कहीं देवता के भेद से भी भक्ति के संप्रदायो का विभाग किया गया है। विष्णुपुराण में यज्ञपुरुष, वासुदेव और विष्णु की उपासना क्रमशः याज्ञिक, सात्वत तथा वेदांतियों से सबद्ध की गई है[3]। इसी प्रकार पंचवीर, चतुर्व्यूह एवं वैकुंठनारायण की पूजा के आधार पर यथाक्रम वैखानस, पांचरात्रिक तथा काश्मीरागमवादियो का भेद बताया गया है[4]। पांचरात्ररक्षा मे इसी आधार पर आगम, मंत्र, तंत्र और तंत्रांतर के भेद भी मिलते हैं[5]।

बोपदेवकृत भक्ति का विभाजन

२३. बोपदेव ने श्रीमद्भागवत के इतस्ततः बिखरे हुए भक्ति के विभिन्न भेदों को मुक्ताफल मे बड़े सुन्दर और व्यवस्थित ढंग से संग्रथित किया है। उनके मतानुसार भक्ति का विभाजन इस प्रकार है :—

---

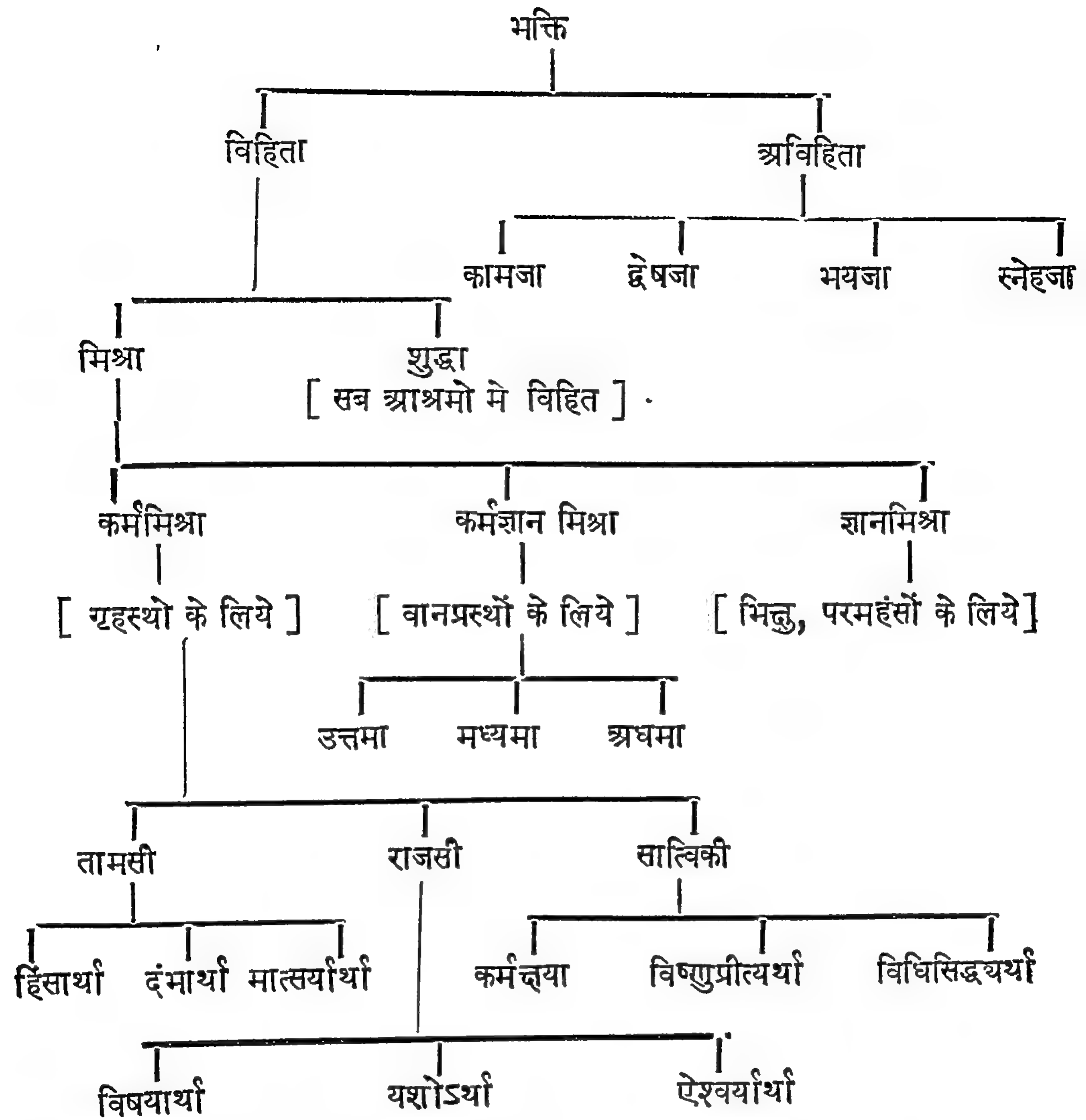
१. पांचरात्र० । पृ० ६४

२. अध्याय ८ । श्लोक ७९

३. विष्णु० ५ । अंश १० । अध्याय श्लोक १९ ।

४. पांचरात्र० । पृ० १४–१६

५. वही । पृ० ६१



वेदोक्त मर्यादाओं का पालन करते हुए भगवान् मे मनोनिवेश ही विहिता भक्ति का स्वरूप है। इससे भिन्न पद्धति पर किया जाने वाला मनोनिवेश अविहिता भक्ति के भीतर आता है। विहिता भक्ति के पुनः दो विभाग किए गए हैं—मिश्रा तथा शुद्धा। मिश्रा भक्ति के भी कर्ममिश्रा, कर्मज्ञानमिश्रा एवं ज्ञानमिश्रा—ये तीन भेद हैं। इनमे से कर्ममिश्रा के नवभेद गृहस्थों के लिए, ज्ञानकर्ममिश्रा के तीन भेद वानप्रस्थों के लिए विहित है। विहिता भक्ति के ये प्रकार 'सगुणा' भक्ति के नाम से अभिहित हुए हैं। पर चतुर्थाश्रमी भिक्षुओं के लिए कही गई भेदरहित, ज्ञानमिश्रा,

विहिता भक्ति 'निर्गुणा' बताई गई है। विहिता शुद्धा भी एक प्रकार का मनोनिवेश है। इसको निष्काम और अविच्छिन्न होना जरूरी माना गया। शुद्धाभक्ति का कोई भी अधिकारी हो सकता है, सिर्फ उसके अंतःकरण को रजोगुण और तमोगुण से विरहित, तथा विशुद्ध सत्व से उद्वेलित होना आवश्यक है जिससे भगवान् के प्रति अनुरागोदय होने पर उसमे विना प्रयत्न के ही शुद्धा भक्ति आविर्भूत हो सके। अविहिता भक्ति के कामजा, भयजा, द्वेषजा और स्नेहजा नामक चार भेदों के यथाक्रम चार अधिकारी बताए गए हैं—गोपियाँ, कंस, चैद्यादिक नृप तथा वृष्णिवंशी संबंधी[1]।

वल्लभाचार्य के अनुसार भक्ति के विभाग

२४. प्राणियों के अनुसरणार्थ बताए गए श्रीवल्लभाचार्य के तीन मार्गों[2] मे पुष्टि मार्ग ही भक्ति मार्ग है। पुष्टिका मतलब भगवान के अनुग्रह से है[3]। यह पुष्टि भक्ति भी चार प्रकार की बताई गई है—प्रवाह पुष्टि, मर्यादा पुष्टि, पुष्टि पुष्टि और शुद्ध पुष्टि। इनमे से पहले प्रकार की भक्ति-पद्धति मे वे लोग आते है जो संसार के प्रवाह मे पतित होते हुए भी भगवत्कृपा से ऐसे आचरण करते हैं जिनसे उन्हे भगवान् की प्राप्ति हो सकती है। दूसरी पद्धति के लोग विषयतृष्णा से पराङ्मुख होकर इंद्रियों को अपने वश में रखते हुए भगवान् की लीला के श्रवण, कीर्तन आदि द्वारा अपना मन भगवान् मे केंद्रित करते हैं। तीसरी पद्धति मे पहले से पुष्टिप्राप्त वे लोग आते हैं जो और अधिक पुष्टि [ईश्वरानुग्रह] पाकर भक्ति के अनुकूल ज्ञानार्जन की क्षमता संपादित करते हैं। चौथे प्रकार के शुद्ध पुष्टि प्राप्त लोग केवल भगवत्प्रेम मे डूबे रहते हैं। उनका बुद्धि प्रयत्न प्रक्षीण और भजनकीर्तन एक मात्र व्यसन हो जाता है[4]।

---

१. मुक्ताफल। पृ० ८३–९२

२. अत्रैवं स्वरूपनिश्चायनेन यावन्तः पुष्टिप्रयुक्ता मार्गा भक्तिरूपास्ते पुष्टिमार्गेऽन्तर्भवन्ति, ये लौकिकाः सर्गपरम्परां न विच्छन्दन्ति न ते प्रवाहेऽन्तर्भवन्ति, ये वेदनियमं नातिवर्तन्ते ते मर्यादामन्तर्भवन्ति।

पं० रामचंद्र शुक्ल : सूरदास, पृ० १०२

३. 'पोषणं तदनुग्रहः'। भाग० २।१०।४

४. पं० रामचंद्र शुक्ल : सूरदास, पृ० १०६–१०७

श्री रूप गोस्वामी के भक्तिभेद

२५. श्री रूप गोस्वामी ने भक्ति के साधन, भाव और प्रेम नाम के तीन भेद दिए हैं[1]। पर जीव गोस्वामी अंतिम दो भेदों को साध्यकोटि में रखते हैं[2]। साधनरूपा भक्ति के पुनः दो भेद किए गये हैं—वैधी तथा रागानुगा[3]। वैधी ही बोपदेव की विहिता भक्ति एवं वल्लभ का मर्यादा मार्ग है[4]। ब्रजवासियों में अभिव्यक्त रूप से विराजती हुई रागात्मिका का अनुसरण करने के कारण दूसरी साधनरूपा भक्ति कही जाती है[5]। रूप गोस्वामी ने इसके भी दो भेद किए हैं—कामानुगा तथा संबंधानुगा[6]। रागानुगा के ये भेद वास्तव मे बोपदेव की कामजा और स्नेहजा नामक अविहिता भक्ति के भेदो से अभिन्न हैं[7]। रूप गोस्वामी ने पुष्टिमार्ग का संबंध इसी रागानुगा साधन भक्ति से जोड़ा है[8]।

२६. साध्यरूपा भक्ति के अंतर्गत आनेवाली भाव भक्ति और प्रेम भक्ति मे मात्राकृत वैषम्य है। भाव से रूप गोस्वामी का तात्पर्य उन चित्तवृत्तियो से है जो विभाव जनित और शरीरेन्द्रिय विकारों की विधायिका होती हैं[9]। यह भाव 'शुद्धसत्वविशेषात्मा' तथा प्रेम रूपी सूर्य की किरण के समान बताया गया है जो भक्त मे उपास्य के प्रति रुचि उत्पन्न कर उसके चित्त को स्निग्ध बना देता है[10]। इसकी उत्पत्ति प्रायः वैधी या रागानुगा साधनाओं से होती है। पर विरल रूप मे उपास्य अथवा उसके भक्त के प्रसाद से भी भावोदय बताया गया है[11]। यह भाव आस्वादनीय रति रूप होता है।[12]

---

१. हरिभक्ति० पूर्व विभाग। लहरी २। श्लोक १
२. वही, दुर्गम०। पृ० २३
३. हरिभक्ति०, पूर्व विभाग। लहरी २। श्लोक ३
४. वही। लहरी २। श्लोक ६०
५. वही। लहरी २। श्लोक ६०–६१
६. वही। लहरी २। श्लोक ७५
७. हरिभक्ति०, दुर्गम०। पृ० ६०
८. हरिभक्ति० दक्षिण विभाग। लहरी २। लोक ६०
९. वही। लहरी ४। श्लोक १०७–१०८
१०. वही, पूर्व०। लहरी ३। श्लोक १
११. वही। लहरी ३। श्लोक ४–५
१२. वही। लहरी ३। श्लोक ३

२७. उपर्युक्त भाव ही सान्द्रात्मस्वरूप होने पर 'प्रेमा' मे परिणत हो जाता है[1]। इसके भी दो भेद होते हैं—भावोत्थ तथा अतिप्रसादोत्थ[2]। भावोत्थ प्रेमा भक्तियों मे वैधी भक्ति माहात्म्य ज्ञान युक्त होती है और रागानुगा प्रायः 'केवल' अर्थात् माधुर्यमात्र ज्ञान युक्त होती है[3]। जीव गोस्वामी 'प्रायः' की टीका करते हैं "वैध्यंशयुक्तत्वेऽपि न केवल स्यादित्यर्थ"[4]। तात्पर्य यह कि रागानुगा या पुष्टिमार्ग की साधना भक्ति जो भाव दशा से होते हुए प्रेमा तक पहुँचती है उसमे भी विधिविधान का लगाव रहने के कारण उसे शुद्ध 'केवल' नहीं कहा जा सकता। 'केवला' प्रेमा भक्ति जो शुद्ध 'माधुर्यज्ञान युक्त' रहती है वह भगवान् के 'अतिप्रसाद' से लब्ध होती है। संगदान का सुयोग ही भगवान् के 'अतिप्रसाद' का परिचायक है[5]।

भक्तिभेद : विश्लेषण

२८. वोपदेव की भक्ति के विवेचन में आगमिक परंपरा का बहुत प्रभाव प्रतीत होता है। गृहस्थों के लिए कर्ममिश्रा के नवो भेद और कर्मज्ञान मिश्रा के तीनो भेद प्राचीन आगमिक परंपरा के विकास हैं। अत्रि संहिता में त्रिविध तथा वैखानसागम मे चतुर्विध उपासनाओं का उल्लेख है। योगार्थी योगमार्ग से योगमूर्ति की, भोगार्थी भोगमार्ग से भोगमूर्ति की, वीर्यार्थी वीरमार्ग से वीर मूर्ति की और शत्रुजयार्थी राजा आभिचारिक मार्ग से आभिचारिक मूर्ति की आराधना करता है। इन भेदों मे सात्विकी योगमार्ग, राजसी भोगमार्ग और तामसी भक्तियाँ वीर एवं आभिचारिक मार्गों मे समाहित हैं। वानप्रस्थों के लिए कर्मज्ञान मिश्रा के तीनो भेद आगमों की यतिविहित उपासना पर आधृत हैं। ज्ञानमिश्रा ब्रह्म की अमूर्तोपासना निर्गुणा भक्ति है जो वैष्णवागम की देवालय परंपरा के एकांतियों की भक्ति से मिलती है। शुद्धा भागवत की आत्यंतिक भक्ति है। वल्लभ मे श्रौतस्मार्त और आगमिक परंपरा का समन्वय दिखाई देता है। मर्यादा पुष्टि मे स्मार्त तत्व है जब कि पुष्ट पुष्टि और शुद्ध पुष्टि आगमिक है। रूप गोस्वामी की साधन भक्ति मे थोड़ा सा स्मार्त तत्व है अन्यथा वह पूर्ण रीति से आगमिक है। प्रेमाभक्ति के उस अंश में

---

१. हरिभक्ति०, पूर्व० । लहरी ४ । श्लोक १
२. वही, लहरी ४ । श्लोक ३
३. वही, लहरी ४ । श्लोक ५
४. वही, दुर्गम० । पृ० ११७
५. वही, पूर्व० । लहरी ४ । श्लोक ४

वज्र-सहज-यान का प्रभाव परिलक्षित होता है जिसका विकास सहजिया वैष्णव तथा आलोच्ययुग के रसवादी भक्तो मे दिखाई पड़ता है।

भक्ति के त्रिविध रूप

२९. इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'पराभक्ति' के त्रिविध रूप से पहले ही आलोच्य युग तक प्रचलित थे। मर्यादावादी भक्ति मे वर्णाश्रम धर्म आदि वेदोक्त मर्यादाएँ पहले से ही स्वीकृत चली आ रही थीं। विवेच्यकाल मे इसकी अभिव्यक्ति प्रमुखरूप से तुलसी मे दिखाई पड़ती है। रागानुगा साधना या पुष्टि मार्गी भक्ति मे लौकिक-वैदिक-मर्यादाएँ उपेक्षित थीं। पर भक्ति-साधना-संबंधी आचार अवश्य अनुष्ठेय माने जाते थे। पुष्टिमार्गी भक्तो की रचनाओं मे इस ढंग की विवृति मिलती है। शुद्ध प्रेमाभक्ति के अतर्गत उपास्य के 'अतिप्रसाद' में उपासक सारे विधिनिषेधो के ऊपर उठकर छके रहते थे। समीक्ष्यकाल के रसवादी भक्तो की कृतियाँ इसको प्रमाणित करती है।

भक्ति का स्वरूप : तुलसीदास

३०. तुलसी साहित्य में भक्ति के विविध रूपो और स्तरों का वर्णन है। इनमे दो प्रमुख है। कवि के ही अनुकरण पर इन्हे 'भेदभक्ति' और 'अभेद भक्ति' कहा जा सकता है। इनमे उन्हे भेद भक्ति विशेष प्रिय है[1]।

तुलसी की भेद भक्ति :—

३१. भेद भक्ति वह भक्ति है जिसमे भक्त शरीर के त्याग के पश्चात् भी भगवान् के लोक मे दास के रूप से निवास करता है। किंतु अभेद भक्ति से मोक्ष की अवस्था मे दास [भक्त] का 'नाश' हो जाता है—जीव ब्रह्म मे लीन हो जाता है। तुलसी की भेद भक्ति का नाम भागवत मे 'आत्यतिक भक्ति' है जिसमे भक्त सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और एकत्व भक्तियों को भी इसीलिए स्वीकार करता कि

---

१. ताते उमा मोच्छ नहिं पायो। दसरथ भेद भगति मन लायो॥

मानस लंका०। दो० ११२। पं० ६

तातें मुनि हरि लीन न भएऊ। प्रथमहि भेद भगति बर लएऊ॥

मानस अरण्य०। दो० ९। पं० २

उनमे भगवान् की सेवा का अवसर नहीं रहता[1]। कुछ व्याख्याकारो का मत है कि यहाँ केवल एकत्व मुक्ति का निषेध है क्योंकि अभेद हो जाने पर सेवा का अवसर नहीं रह जाता, अन्य स्थितियो मे तो भक्त भगवान् के लोक मे सेवापरायण रहते ही हैं। अभेद का यह तिरस्कार ही भेद भक्ति का आधार है। यह भेद भक्ति ही वोपदेव की शुद्धा भक्ति है। तुलसी के अनुसार इसमे निर्हेतुकता[2], निश्चलता[3], अविरलता[4] और अनन्यता आवश्यक है। तुलसी की निर्हेतुकता इतनी दृढ़ है कि वे कहते हैं—

> परौं नरक फल चारि सिस मीचु डाकिनी खाउ।
> तुलसी राम सनेह को जो फल सो जरि जाउ॥

दोहा० ९२

तुलसी की अनन्यता का अन्यतम प्रतीक चातक है[5]। वे स्वयं राम घनश्याम के लिए चातक बन गए[6]—वह चातक जो मरते दम तक अपने अनन्य प्रेम के संरक्षण

---

१. अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥ श्लोक १२
सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना॥ श्लोक १३
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः॥
श्लोक १४ भागवत। स्क० ३। अध्याय २९

२. रीझत राम सनेह निसोतें। को जग मंद मलिन मति मोतें।
मानस बाल०। दो० २८। पं० ११

३. नेमु प्रेमु संकर कर देखा। अविचल हृदय भगति कै रेखा॥
वही। दो० ७६। पं० ४

तुलनीय—

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता।
भगवद्गीता अध्याय ६। श्लोक १९

४. अविरल भगति विसुद्ध तव श्रुति पुराण जो गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥
दो० ८४ क। मानस उत्तर०

५. दोहावली। दो० २७८ से दो० ३१२ तक

६. वही। दो० २७७

के लिए प्राणों का भी परित्याग कर देता है[1]। सर्प[2], मृग,[3] कमल[4], मीन[5], मयूरशिखा बूटी[6] के रूपकों से तुलसी ने अपनी 'ऐकांतिक' भक्तिभावना व्यक्त की है।

तुलसी की अभेदभक्ति

३२. तुलसी ने ज्ञान और वैराग्य से पुष्ट भक्ति का भी विवेचन किया है[7]। यह बोपदेव की ज्ञान मिश्रा भक्ति है। इस ज्ञानमिश्रा निर्गुणा भक्ति का अधिकार भिक्षुओ अथवा परमहंसो को ही है जिनके लिए विधि और निषेध की मर्यादाएँ नहीं होती। यह अभेद भक्ति तुलसी की प्रातिनिधिक भक्ति नहीं है। उन्होने अनेक अवसरों पर भेद भक्ति का समर्थन कर अभेद भक्ति के प्रति अपनी अरुचि व्यंजित की है। शरभंग जैसे तपस्वी मुनि तथा दशरथ जैसे प्रतापी पिता एवं सम्राट भेद भक्ति से अनुरक्त चित्रित हुए है। भुशुडि स्पष्टतः गरुड़ से कहते है—

ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहंगबर॥

मानस उत्तर०। दो० ७६। पं० ३

भेद भक्ति पर अनुराग सामाजिक मर्यादाओ के प्रति मान्यता की भावना से उद्भूत है क्योकि इस भक्ति मे उनकी प्रतिष्ठाएँ सुरक्षित है। इसके विपरीत अभेद भक्ति मे मर्यादाओ का तिरस्कार है। निर्गुनियो को तुलसी ने इसीलिए जमकर फटकारा है[8]।

साधनरूपा भक्ति : तुलसीदास

३३. भक्ति साधनो के अंतर्गत विप्रचरणो मे 'अति प्रीति' एवं 'श्रुति रीति' से 'निज कर्म' के अनुष्ठान के साथ तुलसीदास जी ने 'नवधा भक्ति' की चर्चा की

---

१. वही। दो० ३०२
२. वही। दो० ३१३, ३१५
३. वही। दो० ३१४
४. वही। दो० ३१६
५. वही। दो० ३१७, ११८, ३२०
६. वही। दो० ३१६
७. मानस बाल०। दो० ४०। पं० ३ तुलनीय भाग०। स्क० १ अ०२। श्लोक १२
८. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० सं० ११७ से ११६ तक

है[1]। इस स्थान पर 'श्रवनादिकनव भक्ति' का उल्लेख उन्होंने भागवत[2] के सर्वमान्य आधार के अनुसार किया है। पर अन्यत्र उन्होंने जिस 'नवधा भगति' का विवरण दिया है वह अध्यात्म रामायण की प्रेमलक्षणा भक्ति से प्रायः मिलता है। शबरी से राम कह रहे हैं—

नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥

गुरु पद पंकज सेवा तीसरि भक्ति अमान।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो वेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरति बहुकरमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
सातव सम मोहिमय जग देखा। मोतें ०अधिक संत करि लेखा॥
आठव जथालाभ संतोषा। सपनेहु नहिं देखइ परदोषा॥
नवम सरल सब सों छलहीना। मन भरोस हिय हरष न दीना॥
नव महुँ एकउ जिन्हकें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनी मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥

मानस अरण्य। दो० ३५। पं० ७ से दो० ३६। पं० ७ तक

३४. अध्यात्म रामायण में इसी प्रसग का विवरण यहाँ तुलनीय है—

तस्माद्भामिनि संक्षेपाद्वक्ष्येऽहं भक्ति - साधनम्।
सतां संगतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम्॥
द्वितीयं मत्कथालापस्तृतीयं मद्गुणेरणम्।
व्याख्यातृत्वं मद्वचसां चतुर्थं साधनं भवेत्॥
आचार्योपासनं भद्रे मद्बुद्ध्याऽमायया सदा।
पंचमं पुण्यशीलत्वं यमादि - नियमादि च॥

---

1. प्रथमहिं बिप्र ·चरन अति प्रीति। निज निज कर्म निरत स्रुति रीति॥
यहि कर फल पुनि विषय विरागा। तब मम चरन उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥
मानस अर०। दो० १६। पं० ६—८

2. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ भागवत ७।५।२३

निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठं साधनमीरितम् ।
मम मंत्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते ॥
मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः ।
बाह्यार्थेषु विरागित्वं शमादिसहितं तथा ॥
अष्टमं नवमं तत्त्वविचारो मम भामिनि ।
एवं नवविधा भक्तिः साधनं यस्य कस्य वा ॥
स्त्रियो वा पुरुषस्यापि तिर्यग्योनिगतस्य वा ।
भक्तिः संजायते प्रेमलक्षणा शुभलक्षणे ॥

[अध्यात्म० अरण्य० । सर्ग० १० । श्लोक २२-२८]

नवधा भक्ति के दोनों विवरणों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि तुलसीदास ने अध्यात्म के चतुर्थ लक्षण–भगवद् वचनो का व्याख्यातृत्व तथा सप्तम लक्षण–साग मंत्रोपासना को जोड़कर अपनी पाँचवीं भक्ति साधना का रूप गठित किया है और रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए अपनी ओर से आठवाँ लक्षण यथालाभ संतोष आदि को जोड़ दिया है। वस्तुतः अध्यात्म रामायण की नवधा के बीज भागवत मे उपलब्ध होते है[1]।

३५. रूप गोस्वामी ने भागवत की नवधा भक्ति के एकागिक तथा अनेकागिक

---

1. श्रद्धामृतकथायां मे शश्वद्यदनुकीर्तनम् ।
   परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥
   आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् ।
   मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥
   मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ।
   मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ।
   मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च ।
   इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः ॥
   एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् ।
   मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ॥

   भागवत ११ । १९ । श्लोक २०–२४

नामक दो भेद प्रदर्शित किए हैं[1]। इस ढंग के भेद पर भी तुलसी की आस्था प्रतीत होती है। अध्यात्म रामायण के अनुगुण भक्ति की स्थापना करते हुए राम की उक्ति है—

नव महुँ एकउ जिन्हकें कोई। नारि पुरुष सचराचर कोई ॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें ॥

मानस अरण्य०। दो० ३६। प० ७-८

३६. इसी से तुलसी के वाल्मीकि ने जानकी लक्ष्मण सहित राम के निवास-स्थान योग्य लंबी तालिका मे उपर्युक्त दोनो ढंग की साधनरूपा भक्तियों से संपन्न व्यक्तियो के अंतःकरणो का सन्निवेश किया है[2]।

तुलसी की भावरूपा भक्ति

३७. श्री मधुसूदन सरस्वती के अनुसार मन सहज कठोर होता है। पर रागादि विषयो के संनिधान मे वह द्रवित होने लगता है और द्रुत अवस्था मे विषय का ही आकार ग्रहण कर लेता है। वस्तुतः द्रवीभूत चित्त में विनिक्षिप्त वस्तु का यह स्वकीय आकार ही भाव है[3]। अतएव साधनरूपा भक्ति से प्राप्त होनेवाली भावभक्ति का तात्पर्य हुआ—भजनीय के अनुरूप आकार ग्रहण करनेवाली भक्त की एक विशेष मनोवृत्ति। इस मनोवृत्ति के दो भेद किए जा सकते है—निरहंकारा एवं साहंकारा[4]। निरहंकारा शमप्रधाना मनोवृत्ति अभेदभाव की भक्ति है। इसमे भक्त

---

१. सा भक्तिरेकमुख्याङ्गाश्रितानेकाङ्गिकाथवा।
स्ववासनानुसारेण निष्ठातः सिद्धिकृद्भवेत् ॥

हरिभक्ति०, पूर्व। लहरी २। श्लोक ५८—५९

२. मानस अयो०। दोहा १२८। पं० ३ से लेकर दोहा १३१ तक

३. द्रुते चित्ते विनिक्षिप्तः स्वाकारो यस्तु वस्तुना।
संस्कार-वासना-भाव-भावनाशब्दभागसौ ॥ भगवद्भक्ति रसायन१। श्लोक ६

४. श्री रूपगोस्वामी ने 'केवल शांत' के विषय मे लिखा है—
नास्ति यत्र सुखं न दुःखं न द्वेषो न च मत्सरः ॥ श्लोक २९
समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः।
सर्वथैवमहङ्काररहितत्वं व्रजन्ति चेत् ॥ श्लोक ३०।पश्चिम० १। हरिभक्ति०

इससे ज्ञात होता है कि किसी विशिष्ट अवस्था में भक्त की रामरूपा भगवन्निष्ठा बुद्धि, जिसे रूप गोस्वामी शांता रति के विना दुर्घट मानते हैं, सर्वथैव

और भगवान् के बीच किसी विशेष संबंध की स्थापना अनावश्यक है। फिर भी यदि किसी सबंध की स्थिति अनिवार्य हो तो इसमे अद्वैत भाव की कल्पना की जा सकती है। साहंकारा मनोवृत्ति मे दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य मे किसी न किसी भाव का होना आवश्यक है। ये संपूर्ण भाव द्वित्वमूल है। इन संबंधों में से, रामानुज और उनके अनुयायी कहे जानेवाले रामानंद के तथा मध्वाचार्य के संप्रदायो मे ईश्वर और जीव का सेव्य-सेवक-भाव संबंध ही स्वीकृत है। इनके अतिरिक्त स्मार्तधारा मे दास्य भाव की ही महिमा गाई गई है। वृद्धहारीत स्मृति मे परस्वरूप ईश्वर को स्वामी और जीव को दास बताया गया है[1]। इसी लिये दास्य भाव को परम धर्म, परम हित एवं परम तप बताने के साथ कहा गया है कि इस भाव से ही मुक्ति हो सकती है अन्यथा नरक निश्चित ही है। ब्रह्मादिक देवता तथा वशिष्ठादि महर्षि परम दास्य की आकाङ्क्षा से ही विष्णु का पूजन करते हैं[2]। जो नराधम नारायण के दास नहीं होते वे जीते जी चाडाल होगे इसमे कोई सदेह नहीं है[3]। इस लिये जिस शरीर मे जीवों को परमात्मा का दास्य भाव नहीं प्राप्त होता वही नरक और सर्व दुःखों का फल कहा जाता है। विष्णु का दास्य भाव ही जीवन का परम सुख एवं फल है[4]।

३८. इनमे से स्मार्त परंपरा के अनुकूल ही तुलसीदासजी का दास्य भाव पर विशेष आग्रह है और इस आग्रह के ही व्याज से इन्होने अन्य भावो का प्रत्याख्यान किया है। भुशुंडि से वे कहलाते हैं—

अहंकार शून्य हो सकती है। यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से निरहंकारा मनोवृत्ति असंभव है, मनोवृत्ति सदैव अहंकारपूर्विका होगी तथापि शांत भक्त और दास्य भाव आदि के भक्तों से तुलना करने पर यह स्पष्ट परिज्ञात होगा कि शांत मे अहंकार अतिक्षीण एवं दास आदि में वह अत्यधिक उदग्र होता है। चूँकि अणुमात्र भेद भी महद्—अध्यवसायकर माना जाता है अतः उपर्युक्त प्रकृष्ट अंतर को दृष्टि में रखकर मनोवृत्ति के साहंकारा और निरहंकारा भेद किए गए हैं।

1. वृद्ध हारीत०। अध्याय १। श्लोक १६–१७
2. वहीं। अध्याय ३। श्लोक ११२
3. वही। अध्याय १। श्लोक २०
4. वही। अध्याय ३। श्लोक ११०

सेवक-सेव्य-भाव बिनु, भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम-पद-पंकज, अस सिद्धांत बिचारि॥

दो० ११९ क। मानस उत्तर०

हनुमान् के प्रति स्वयं राम ने अनन्य भक्त उसी को बताया है जो दृढ़तापूर्वक दास्य भाव की भक्ति करता है—

सो अनन्य जाके असि, मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत॥

दो० ३। मानस किष्कि०

राम की स्तुति के प्रसंग मे परम भक्त सुतीक्ष्ण अपनी उत्कट अभिलाषा का उद्घाटन करते हुए कहते हैं—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

पं० २१। दो० ११। मानस अरण्य०

तुलसी के उपास्य राम को दास्य भाव की भक्ति अत्यंत प्रिय है। इसलिए जब भरद्वाज ने उनसे 'निजपद सरसिज' में 'सहज स्नेह' का वरदान देने की प्रार्थना की तो वे 'भाव भगति' जनित आनंद से अघा गए[1]। इसी दास्य भाव की चरम भक्ति के कारण हनुमान् 'बड़भागी[2] हुए और कृपानिधान राम की सेवा का सर्वाधिक सौभाग्य उन्हीं को प्राप्त हुआ। अतएव भुशुंडि ने 'सब सुख खानि भगति मनि' के खोजियों के लिए जिस 'भाव सहित' खोजने की शर्त रखी है वह भाव दास्य भाव ही हो सकता है[3]।

३९. तुलसी के वाल्मीकि ने राम के रहने योग्य भक्तों के मन मंदिर का विवरण देते हुए नारद भक्तिसूत्र[4] की ग्यारह आसक्तियों—भाव दशाओं में से सात का उल्लेख किया है—

---

१. मानस अयो० दो० १०७। पं० ८ से वही। दो० १०८। पं १ तक

२. मानस लंका। दो० ११। पं० ७

३. मानस उत्तर०। दो० १२०। पं० १५

४. गुणमाहात्म्यासक्ति-रूपासक्ति-पूजासक्ति-स्मरणासक्ति-दास्यासक्ति—सख्यासक्ति-कान्तासक्ति-वात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्ति-तन्मयासक्ति-परमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति।

नारद०। सं० ८२

जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
पं० ४
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे॥
पं० ५। दो० १२८। मानस अयो०

यह नवधा साधना मे उक्त 'श्रवण' की विकसित भावमयी अवस्था ही नारद की 'गुणमहात्म्यासक्ति है।

जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु।
मुकताहल गुन गन चुनइ राम बसहु हियँ तासु॥
दो० १२८। वही

यह नवधा भक्ति के 'स्मरण' की विकासप्राप्त भावमयी दशा ही नारद की 'स्मरणासक्ति' है।

कर नित करहिं राम पद पूजा। राम भरोस हृदय नहिं दूजा॥
पं० ४
चरन राम तीरथ चलि जाहीं। राम बसहु तिन्हके मन माहीं॥
प० ५। दो० १२६। वही

यह 'अर्चन' का ही प्रवृद्ध भावमय रूप 'पूजासक्ति' है।

जाति पाँति धन धरम बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥
पं० ५
सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई। तेहि के हृदय बसहु रघुराई॥
पं० ६। दो० १३१। वही

यह 'आत्मनिवेदन' की साधना ही 'आसक्ति' मे व्यक्त हुई है।

सरगु नरकु अपवर्ग समाना। जहँ तहँ देख धरें धनु बाना॥
पं० ७। वही

यह शुद्ध 'तन्मयासक्ति' का दृष्टांत है। इसी प्रकार विशुद्ध रूपासक्ति का उदाहरण भी है—

लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहि दरस जलधर अभिलाखे॥
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप बिंदु जल होहि सुखारी॥
तिन्हकें हृदय सदन सुखदायक। बसहु बंधु सिय सह रघुनायक॥
पं० ६–८। दो० १२८। वही

इस प्रसंग में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि उपर्युक्त तन्मयता और रूप की आसक्तियाँ तुलसी के मतानुसार दास्य भाव से भावित होनी चाहिए।

करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहि कें उर डेरा॥

पं० ८ दो० १३१। वही

यह 'दास्य भाव' की परिपुष्ट अवस्था ही 'दास्यसक्ति' कही जाती है जिसका महत्व तुलसीदास जी सर्वोपरि मानते हैं। इसके अतिरिक्त—

'सकल भायँ सेवहिं सनमानी'

पं० ८। दो• १२६। वही

और

स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिन्हके सब तुम्ह तात।
मन मंदिर तिन्हकें बसहु, सीय सहित दोउ भ्रात॥

दो० १३०। वही

कहकर तुलसीदास जी ने अधिक से अधिक 'सख्यासक्ति' तक की गुंजायश स्वीकृत की है। नारद भक्तिसूत्र की 'वात्सल्य', 'कांत' तथा 'परमविरह' की आसक्तियों का समाव उनकी भक्ति मे असंभव है। फिर भी गवेषकों ने उन्हे बाहर बाहर मर्यादावादी तथा भीतर भीतर माधुर्य माधुर्य भाव का उपासक समझने-समझाने की चेष्टा की है। उनके प्रमाण इस तथ्य को निश्चित रीति से सिद्ध नहीं कर पाते[1]।

४०. सामान्य रीति से भक्ति सूत्रो में भगवान् को दैन्यप्रिय बताया गया है। पर उपर्युक्त दास्यभाव के परिपोष के लिये उपास्य का महतोमहीयान् और उपासक का अणोरणीयान् होना और भी अधिक आवश्यक है। इसलिये तुलसीदास के राम में ऐश्वर्य की परा सीमा दिखाई देती है और तुलसी में दीनता की पराकाष्ठा। तुलसीदास अपने आराध्य से प्रार्थना करते हैं—

मोसम दीन न दीनहित तुम्ह समान रघुबीर।
अस बिचारि रघुबंसमनि हरहु विषम भवभीर॥

दो० १७६। मानस उत्तर०

मानस के प्रारंभ में वे अपने दैन्य का विवरण देते हुए कहते हैं—

जे जनमे कलिकाल कराला। करतब बायस बेष मराला॥

पं० १

---

१. द्रष्टव्य अध्याय ७। अनुच्छेद ५६ से ६५ तक

तिन्ह महं प्रथम लीक जग मोरी। धींग धरम ध्वज धंधक धोरी ॥
पं० ४

जौं अपने सब अवगुन कहऊँ। बाढ़इ कथा पार नहिं लहऊँ ॥
पं० ५। दोहा० १२

यही नहीं प्रत्युत मानस के सभी भक्त पात्र स्थान स्थान पर भगवान् के प्रति अपनी दीनता का विवरण देते हैं। कवितावली और विनयपत्रिका आदि मे भी तुलसी अपनी दैन्यानुभूति का संश्लिष्ट प्रतीक चित्र प्रस्तुत करते हैं। इसके साथ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि तुलसी की यह दीनता लोकसामान्य नहीं है बल्कि भक्ति भाव की एक विशिष्ट भूमिका है। इसका स्पष्टीकरण उन्होने चातक चौंतीसी मे किया है—

तीनि लोक तिहुँ काल जस चातक ही के माथ।
तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ ॥
दोहा० २८८

केवल यहीं नहीं अपितु 'मानस रूपक' के अन्तिम अंश मे भी उन्होने अपने दैन्य के स्वरूप को स्पष्ट रीति से उन्मीलित कर दिया है—

आरति बिनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुबारि न खोरी ॥
पं० १। दोहा ४३। मानस बाल०

अतः तुलसी के दैन्यपरक पद्यो से उनकी जीवनी का सुस्पष्ट चित्र प्रस्तुत करने की चेष्टा में विशेष सतर्कता अपेक्षित है।

तुलसीदास की प्रेमा भक्ति

४१. भाव ही सांद्र होकर प्रेमा की पदवी प्राप्त करता है। इसे प्राप्त करना ही भक्ति का चरम उद्देश्य माना गया है। इसी को रूप गोस्वामी ने रसरूप कहा है[1]। और 'मानस रूपक' मे इसको अवर्णनीय बताया है—

प्रेम भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई ॥
वही प० ६। दोहा ३६

मानस मे वसिष्ठ के मतानुसार प्रेम भक्ति रूपी जल के बिना आभ्यंतर मल की सफाई

---

१. रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं ॥
पृष्ठ १। दोहा ५३। मानस उत्तर०

कथमपि संभव नहीं[1]। तुलसी ने 'अविरल प्रेम भक्ति' के ज्वलंत दृष्टांत के रूप में सुतीक्ष्ण का चित्रण किया है—

निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ मन लाई॥
अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई॥

प० १०-१३। दो० १०। मानस अरण्य०

रूप गोस्वामी की भाँति तुलसीदास भी प्रेमा भक्ति की दुर्लभता और विरलता स्वीकार करते जान पड़ते हैं। भक्ति की यह भूमिका सनकादि महर्षियों के भी आकर्षण का विषय है। इसीलिये वे श्री राम से अपनी अनपायिनी भक्ति देने की यांचा करते हैं[2]।

४२. तुलसीदास ने भक्ति की पूर्वोक्त त्रिविध अवस्थाओं का बड़ा ही मनोरम तथा समन्वित वर्णन निम्नलिखित दोहे में किया है—

बीज राम गुन गन नयन जल अंकुर पुलकालि।
सुकृती सुतन सुखेत बर बिलसत तुलसी सालि॥

दोहावली ५६८

उपास्य राम

४३. विद्वानों की प्रारंभ से ही यह धारणा रही है कि उत्तर भारत में रामावत संप्रदाय का उद्भव और विकास बहुत बाद में हुआ। सर रामकृष्ण भंडारकर[3] तथा फर्कुहर[4] इस संप्रदाय के आविर्भाव का समय खीस्टीय सन् की ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व तथा प्रतिष्ठा का समय रामानंदी काल या चौदहवीं शताब्दी मानते हैं। डा० बड्थ्वाल इसकी प्रतिष्ठा का श्रेय राघवानंद को देते हैं[5]। इसी प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है कि अनेक विद्वान् रामानंद से ही उत्तरापथ में राम की निर्गुण एवं सगुण दोनों परंपराओं का प्रादुर्भाव मानते हैं।

---

१. प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभि अंतर मल कबहुँ न जाई॥
वही। दोहा ४९। पं० ६

२. मानस उत्तरकांड। दोहा ३४

३. वैष्णविज्म शैविज्म ऐंड अदर माइनर रिलीजस सेक्ट्स आफ इंडिया पृ० ६६

४. ऐन आउट लाइन आफ रिलीजस लिट्रेचर आफ इंडिया, पृ० ३२५

५. रामानंद की हिंदी रचनाएँ, पृ० ४१

४४. किंतु ये मत निर्भ्रांत नहीं प्रतीत होते। पहले इस बात की चर्चा आ चुकी है कि रामानंद के कई सौ वर्ष पूर्व राम के देवालय उत्तरापथ मे विद्यमान थे और वे इष्ट के रूप से पूजित होते थे[1]। अतः राम की सगुण परंपरा राघवानंद के भी पहले उत्तर भारत मे वर्तमान थी। यदि विष्णु सहस्रनाम पर शाकरभाष्य को आद्य शंकराचार्य द्वारा रचित माना जाय तो ईसा की आठवीं शताब्दी मे राम के दो रूप स्वीकृत मालूम पड़ते हैं। परब्रह्म रूप तथा दाशरथी रूप। इन दोनों की अभिन्नता भी उन्हे स्वीकृत है[2]। राम की परब्रह्मरूपता के समर्थन मे उन्होने पद्मपुराण का प्रमाण भी उपस्थित किया है[3]।

४५. राम की निर्गुण परंपरा भी उत्तरापथ मे बहुत प्राचीन है। विलक्षणता यह है कि यह परंपरा शैव, नाथ पंथी, और निर्गुनियो के साथ सबद्ध है। तंत्रालोक[4] मे 'राम' शब्द 'शिव' के लिए आया है। जयरथ और उनके द्वारा उद्धृत आगम[5]

---

१. द्रष्टव्य अध्याय २। अनुच्छेद ८८

२. नित्यानन्देऽस्मिन् रमन्ते इतिरामः—स्वेच्छया वपुर्वहन् वा दाशरथी रामः। श्री शंकराचार्य विरचित—[प्रकरण] ग्रंथ संग्रह, पृ० ४४५

३. रमन्ते योगिनो यस्मिन्नित्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनैतत्परब्रह्माभिधीयते। इति पद्मपुराणे। वही

४. तंत्रालोक के प्रथम पटल की ८६वीं कारिका के 'रामस्थ' पद की व्याख्या में अभिनव गुप्त कहते है—अन्तर्यामिरूप एकदेशः तं गच्छति जानाति यः सः तदेकतानतया तन्निष्ठ इति यावत्—अतएवोक्त रामस्थ इति। रमते तत्तजडाजडात्मना विश्ववैचित्र्यात्मना क्रीडति इति रामः परमात्मा तत्र तिष्ठति तद्रूपतया परिस्फुरति' —पृ० १२१। तथा पृ० १२२ दे—

५. तदुक्तं श्री त्रिशिरो भैरवे—

गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् जाग्रदुन्मिषन्निमिषंस्तथा।
धावनं प्लवनं चैव आयासः शक्तिवेदनम्॥
बुद्धिभेदाः तथा भावाः संज्ञाः कर्माण्यनेकशः।
एतच्चतुर्दशविधं रामं तु परिकीर्तितम्॥
व्यापितं देवदेवेन शिवेन परमात्मना।

तंत्रालोक। पृ० १२६

वाक्यो मे परमशिव रूप मे राम की कल्पना है। यह धारणा[1] गोरखबानी तथा मानिक चंदेर गान[2] तक चली जाती है। भावनोपनिषद्[3] के मंगलाचरण मे 'रामचंद्र पद' की कल्पना शिव बिंदु युक्त श्रीचक्र से करते हुए उसकी वंदना है। शैवशाक्तागम के प्रसिद्ध ग्रंथ 'शारदा तिलक' का मंगलाचरण भी राम की स्तुति से प्रारंभ होता है। अतः यह निश्चित है कि उत्तर भारतीय शिव-शक्ति-संबद्ध परंपरा मे प्राचीनकाल से ही राम की निर्गुण रूप मे उत्तर भारत मे मान्यता थी। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि रामानद जो निर्गुण-सगुण-उपासना के सेतु माने गए हैं वे अनेक ग्रंथो मे वैष्णव दीक्षा के पूर्व 'शैव गोसाईं' बताए गए[4]। रामानंद के गुरु राघवानंद वैष्णव होने के साथ ही एक पहुँचे हुए योगी भी माने जाते हैं।

४६. इस प्रकार राम की दो परंपराएँ राघवानंद के पूर्व ही उत्तरापथ में प्रचलित दिखाई पडती हैं। आलोच्य युग मे भी ये परंपराएँ वर्तमान थीं। निर्गुण परंपरा कबीर आदि मे और सगुण परंपरा तुलसी इत्यादि मे प्रतिफलित हुई है। तुलसी यावज्जीवन राम के चरणों मे अनुराग की अभिलाषा करते हैं—यदि वे राम जगदीश्वर हो तब तो कहना ही क्या और यदि वे महीश्वर हों तब भी उनका अनुराग प्राप्त करना तुलसी अपने लिए बहुत बड़े सौभाग्य की वस्तु मानते है।

जौं जगदीस तौ अति भलो जौं महीस तौ भाग।
तुलसी चाहत जनम भरि राम चरन अनुराग॥

दोहावली ९१

राम के प्रति निष्काम एवं एकतान सेव्य भाव की अनुरक्ति ही उनका चरम इष्ट था। संप्रति, इन्हीं राम के स्वरूप और स्वभाव का विवेचन प्रस्तुत किया जायगा।

४७. तुलसीदास ने अपने उपास्य राम के 'जगदीश' रूप को अनेक तरह से उपस्थापित किया। उन्होंने मानस के आदि, मध्य और अवसान मे सर्वत्र उनकी

---

१. गोरखबानी, पृ० १२७, १४८, १५५, २४५ आदि।

२. ग्रियर्सन द्वारा संपादित मानिक चंदेर गान में अनेकत्र उल्लेख।

३. स्वाविद्यापद्तत्कार्यं श्रीचक्रोपरिभासुरम्। बिंदुरूपाशिवाकारं रामचन्द्रपदं भजे॥
तांत्रिक टेक्सट्स, संपा० आर्थर एवलन, जिल्द ११, कौल एँड अदर उपनिषद्स

४. रामानंद की हिंदी रचनाएँ : भूमिका

भगवद्रूपता का प्रतिपादन करते हुए[1] साक्षात् परब्रह्म बताया है[2]। परब्रह्म की भाँति तुलसी ने राम को निर्गुण सगुण उभय रूप बताया है[3]। किंतु राम के निर्गुण रूप की अपेक्षा भक्तिभावना की दृष्टि से उन्हे सगुण विग्रह ही अधिक उपयोगी जान पड़ा। इसी से उन्होने राम के सगुण स्वरूप के प्रति ही अपना विशेष आग्रह व्यक्त किया है। कुंभज ऋषि का कथन है—

> जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभव गम्य भजहिं जेहि संता।
> अस तव रूप बखानउं जानउं। फिरि फिरि ब्रह्म सगुन रति मानउं॥
> [पं० १२-१३। दो० १३। मानस अर०]

इंद्र भी यही कहते है—

> कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव। अव्यक्त जेहि श्रुति गाव॥
> मोहि भाव कोसल रूप। श्री राम सगुन सरूप॥
> पं० १३-१४। दो० ११३। मानस लंका०

स्वयं वेदो से वे राम की प्रार्थना कराते हैं—

> जे ब्रह्म अज अद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं।
> ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥
> पं० २१–२२। दो० १३। मानस उत्त०

४८. सगुण ब्रह्म के विराट रूप से भी तुलसी ने राम को अभिन्न दिखाया है। सर्वप्रथम माता कौसल्या को ही इस विराट विभूति का दर्शन कर चमत्कृत होना पड़ा[4]। जनकपुर की यज्ञशाला मे तत्त्वदर्शियों को भी प्रभु विराटमय दिखाई पड़े थे[5]। कागभुशुंडि भी विराट पुरुष राम के उदर मे बहुत दिनो तक भटकते रह गए[6]। मंदोदरी ने रावण से इन्हीं राम का वर्णन करते हुए कहा है—

---

१. मानस, उत्तर०। दोहा ६१। पंक्ति ६
२. वही बाल०। मंगल श्लोक ६
३. वही, अरण्य०। दोहा ११। पं० ११; वही। दो० ३२। पं० ३; वही। लंका० दोहा ११५। पंक्ति ३; वही। उत्तरकांड दोहा १२। पं० १; वही। दोहा ३४। पंक्ति ३।
४. वही, बाल०। दो० २०१ से दो० २०२। पं० ४ तक
५. वही। दो० २४२। पं० १
६. वही, उत्तर०। दो० ८०। पं० ३ से दो० ८२ तक

विस्व रूप रघुबंस मनि, करहु बचन बिस्वासु।
लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु॥
१४। मानस लंका०

पद पाताल सीस अज धामा। अपर लोक अँग अँग विश्रामा॥ पं० १
भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घनमाला॥ पं० २
जासु घ्रान अस्विनी कुमारा। निसि अरु दिवस निमेप अपारा॥ पं० ३
श्रवन दिसा दस बेद बखानी। मारुत स्वास निगम निज बानी॥ पं० ४
अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला॥ पं० ५
आनन अनल अंबुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा॥ पं० ६
रोम राजि अष्टादस भारा। अस्थि सैल सरिता नस जारा॥ पं० ७
उदर उदधि अधगो जातना। जगमय प्रभु की बहुत कलपना॥ पं० ८

अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान्॥
१५। मानस लंका०

४९. विराट पुरुष राम का यह वर्णन अध्यात्म[1] रामायण के वर्णन की अपेक्षा भागवत[2] के वर्णनों से विशेष अनुप्राणित है।

५०. तुलसीदास ने अपने उपास्य राम का विष्णु से तादात्म्य स्थापित करते हुए कहीं कहीं उनकी चतुर्भुज मूर्ति का दिग्दर्शन कराया है[3]। वास्तव में विष्णु का यह स्वरूप परतत्व से अभिन्न है। यह केवल सृष्टि का पालन करनेवाली शक्ति का प्रतीक मात्र नहीं है। वैखानसादि आगमों के 'महाविष्णु' से इसका एकात्म माना जा सकता है। फिर भी पालन करने वाली शक्ति के कार्यों का आरोप उनपर अनेक बार हुआ है। इसीसे तुलसी ने राम को विष्णु के अवतारों से भी अन्वित किया है यथा—

मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी॥ पं० ७
जब जब नाथ सुरन्ह दुखु पायो। नाना तनु धरि तुम्हइं नसायो॥
पं० ८। दोहा ११०। मानस लंका०

---

१. अध्यात्म० अरण्य०। सर्ग ९। श्लोक ३९-४५

२. भागवत०। स्कन्ध २। अध्याय १। श्लोक २५-२७, वही। स्कन्ध ८। अध्याय २०। श्लोक २३-२६

३. मानस, बाल०। दो० १९२। पं० १-४, वही, अरण्य० दोहा० ३२। पं १-२

इस प्रकार तुलसी के राम में परब्रह्म, विराट पुरुष, लोकपालक विष्णु तथा उनके अवतारों का एक साथ समावेश है।

५१. तुलसी के उपास्य 'महीश' रूप मे दशरथनंदन थे। कालिदास के समय में वे विष्णु के अवतार मात्र थे। विष्णु-सहस्रनाम-भाष्य और पद्मपुराण के उल्लेखों के समय वे परब्रह्म से अभिन्न हो गए थे। यही परपरा शठकोपाचार्य की सहस्रगीति, मलयसिह के शिलालेख, देवपाल के ताम्रशासन आदि मे उपलब्ध होती है। इसमे राम केवल अवतार नहीं अपितु अवतारी रूप परिज्ञात होते है। अध्यात्म रामायण में इस अवतारी रूप का विशद चित्रण मिलता है। इसीसे निर्गुण पथी कबीरदास को 'तिहुँलोक' मे प्रसिद्ध 'दशरथ सुत' के स्थान पर राम नाम का 'अन्य मरम' बताना पड़ा। इसके ठीक विपरीत दाशरथी राम की भगवद्रूपता का प्रतिपादन तुलसी को अत्यंत सतर्कता, जागरूकता और तत्परता के साथ करना पड़ा।

५२. भगवान् शब्द का विशेष अर्थ है। विष्णु पुराण मे 'समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, संपत्ति, ज्ञान और वैराग्य इन छह पदार्थों को 'भग' बताया गया है'[1]। इन षट् पदार्थों की जिसमे परिपूर्ण समष्टि हो उसे भगवान् कहते हैं। तुलसी के राम 'ज्ञान विराग सकल गुन' के अयन है[2]। वे 'धरम धुरीन'[3] और 'श्रुति सेतु पालक'[4] हैं। उनके ऐश्वर्य, यश और सपत्ति की महिमा अपरंपार है। भुशुंडि गरुड़ से कहते हैं—

तुम्हहिं आदि खग मसक प्रजंता। नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अंता॥

पं० ५

---

१. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्योश्चैव षण्णां 'भग इतीरिणा॥
विष्णु०। अंश ६। अध्याय० ५। श्लोक ७४

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि बिना हेयैर्गुणादिभिः॥
वही, अंश ६। अध्याय० ५। श्लोक ७६

२. मानस, बाल०। दोहा २०६। पं० ८

३. वही, अयो०। दोहा ५३। पं० ५

४. वही। दोहा १२६। पं० ६

तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा॥
पं० ६

रामु काम सत कोटि सुभग तनु। दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन॥
पं० ७

सक्र कोटि सत सरिस बिलासा। नभ सत कोटि अमित अवकासा॥
पं० ८

मरुत कोटि सत बिपुल बल, रबि सत कोटि प्रकास।
ससि सत कोटि सुसीतल, समन सकल भव त्रास॥
दो० ९१ क

काल कोटि सत सरिस अति, दुस्तर दुर्ग दुरंत।
धूमकेतु सत कोटि सत, दुराधरष भगवंत॥
दो० ९१ ख

प्रभु अगाध सत कोटि पताला। समन कोटि सत सरिस कराला॥
पं० १

तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघपूग नसावन॥
पं० २

हिमगिरि कोटि अचल रघुबीरा। सिंधु कोटि सत सम गंभीरा॥
पं० ३

कामधेनु सत कोटि समाना। सकल कामदायक भगवाना॥
पं० ४

सारद कोटि अमित चतुराई। बिधि सत कोटि बरनि नहिं जाई॥
पं० ५

विष्णु कोटि सम पालन कर्ता। रुद्र कोटि सत सम संहर्ता॥
पं० ६

धनद कोटि सत सम धनवाना। माया कोटि प्रपंच निधाना॥
पं० ७

भार धरन सत कोटि अहीसा। निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा॥
पं० ८

मानस उत्तर०

वास्तव मे तुलसी के राम पर विचार करते समय उनकी इस भगवद्रूपता का बराबर ध्यान रखना आवश्यक है अन्यथा तुलसी के राम का विचार समीचीन नहीं कहा जा सकता। वह अविचारित रमणीय हो सकता है परंतु सुविचारितसुस्थ कभी न होगा। इसलिए रामचरित मे लोकमंगल आदि की मर्यादाओं का मूल मर्यादापुरुषोत्तम के अपने स्वरूप मे ही निहित प्रतीत होता है, किसी भावना-विशेष से आहार्य या आरोपित नहीं ज्ञात होता।

५३. प्रायः यह कहा जाता है कि तुलसी के राम मे शील, शक्ति और सौंदर्य की पराकाष्ठा है। कुछ विद्वान् इस स्थापना पर शंका करते हैं और कहते है कि उनमे केवल सौंदर्य की परा सीमा दिखाई देती है, शील और शक्ति की व्यंजना त्रुटिपूर्ण है। किंतु ये दोनो दृष्टियाँ परपरा की दृष्टि से तुलसी की प्रकृति और सिद्धात के अनुरूप नहीं ज्ञात होतीं। तुलसी ने अपने भगवान् को छहो तत्त्वो से अलकृत किया है।

माधुर्य : शील

५४. शास्त्रवादी और रसवादी भक्तो के उपास्य से तुलसीदास के राम की तुलना करने पर उनका शील सुस्पष्ट हो जाता है। यह बात दूसरी है कि शील के प्रतिमान, मर्यादा की सीमारेखाएँ समयानुसार कुछ बदलती रहें और तुलसी के राम मे कुछ सामंतकालीन छाया अनजान मे ही आ गई हो। इसमे संदेह नहीं कि तुलसी के राम अपने युग मे शील के सर्वोत्कृष्ट आदर्श थे।

५५. राम का सौंदर्य शास्त्रवादी और रसवादी कवियो के उपास्य की तुलना मे न्यून है। माधुर्य मे छके और रस मे पगे इन भक्तो ने जो रूपमाधुरी अपनी रचनाओं मे बिखेरी है वह अन्यत्र दुर्लभ है। बाल और किशोर कृष्ण के हृदयहारी चित्र, तथा युवक कृष्ण की मधुर लीलाएँ एवं स्वामिनी राधा की मनोरम झाँकियाँ दूसरे साहित्यो मे विरल है। यदि तुलसी के राम शील के निधान हैं तो उनके कृष्ण रूप के भांडार।

५६. यह अंतर न काव्यगत है और न व्यक्तिगत रुचि पर आश्रित। मर्यादा-मार्गीय तुलसीदास के मर्यादापुरुषोत्तम दूसरे प्रकार चित्रित हो ही नहीं सकते। पुष्टिमार्ग और रसमार्ग के सूर तथा हरिवंश लीलापुरुषोत्तम तथा आह्लादिनी शक्ति को दूसरी तरह कैसे चित्रित करते?

देवतामंडल

५७. तुलसी वाङ्मय में उपनिबद्ध देवतामंडल का अध्ययन सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसमे श्रौतस्मार्त एवं आगमिक धाराओं का समन्वय बड़ा

स्पष्ट है। उस समय स्मार्त परंपरा में [क] पंचदेव [ख] गौरी-गणेश [ग] नवग्रह और [घ] लोकपालों की पूजा प्रतिष्ठित थी। वैष्णवागमों के विभिन्न संप्रदायों में विष्णु के भिन्न भिन्न रूपों और विभिन्न परिवार चतुर्व्यूह, पंचवीर और चतुर्मूर्ति की प्रतिष्ठा थी। ये सब संप्रदाय घुल मिल कर किस प्रकार राम और कृष्ण की दो धाराओं में विभक्त हो गए थे इसका संकेत पहले किया जा चुका है। इस समन्वय में विष्णु के दशावतार की परंपरा बाद तक बराबर चलती रही। रामपरंपरा में रामपरिवार का देवतामंडल बना। इसमें भी राम पंचायतन की कल्पना हुई। यह रामावत देवतामंडल स्मार्तदेवतामंडल के साथ बड़ी अच्छी तरह से समन्वित हुआ है। स्मार्त पंचदेवोपासना में वैष्णव भक्त विष्णु को मध्य में रखकर चारों तरफ क्रमशः शंकर, गणेश, सूर्य और देवी की प्रतिष्ठा करते हैं। विनयपत्रिका के प्रारंभ में ही इन चारों—गणेश, सूर्य, शंकर और देवी की वंदनाएँ हैं। इसके पश्चात् विष्णु की वंदना के स्थान पर राम पंचायतन का समावेश है—मारुतनंदन, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न और सीताराम की वंदनाएँ हैं। इस प्रकार तुलसी ने स्मार्त पंचदेवोपासना के अंतर्वृत्त में राम पंचदेवोपासना की अभिनव रमणीय सृष्टि की है।

स्मार्त पंचदेवोपासना

५८. स्मार्त परंपरा के गृहस्थ को नित्यप्रति पंचमहायज्ञ—ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, नृयज्ञ और भूतयज्ञ करना चाहिए। दसवीं ग्यारहवीं शती से देवयज्ञ पंचदेवों की अर्चना से संपन्न होने लगा था। अतः स्मार्त गृहस्थ के लिये नित्य पंचदेवपूजन का विधान बना[1]। तुलसीदास ने भी चित्रकूट में अयोध्या के गृहस्थों के द्वारा पंचदेव पूजन कराया है—

> करि मज्जनु पूजहिं नर नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी॥ पृ० ४
> रमारमन पद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी॥
> पृ० ५। दो० २७३। मानस अयो०

इसी प्रकार स्वयं तुलसी ने विनयपत्रिका के मंगलाचरण में पंचदेवों की वंदना की है।

---

१. आदित्यमम्बिकां विष्णुं गणनाथं महेश्वरम्।
पञ्चयज्ञपरो नित्यं गृहस्थः पञ्च पूजयेत्॥
स्मृतिमुक्ताफल, आह्निक। पृ० ३८४

सूर्य

५९. इनके संबंध मे तुलसी ने अनेक पौराणिक आख्यानो की ओर संकेत किया है। इक्ष्वाकु वंश से संबध[1], हनुमान के द्वारा निगले जाने का प्रसंग[2] आदि कथाओं की ओर तुलसी ने अनेक स्थानो पर सकेत किया है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण उल्लेख त्रिदेवो के साथ और त्रिदेव रूप मे मिलता है। पचदेवोपासना के विकास मे बताया जा चुका है कि त्रिदेवो के साथ मिलकर सूर्य ने देवचतुष्टय की योजना की थी। बारहवीं तेरहवीं शताब्दी तक सूर्य, ब्रह्मा, विष्णु और शिव की 'विश्वमूर्तियाँ' मिलती है जो 'सदाशिव' और 'हरिहर हिरण्यगर्भ' के नाम से ख्यात है। 'अपराजितपृच्छा' [१३ वीं शती] और सूत्रधार मडन के देवतामूर्तिप्रकरण' [१४ वीं शती] मे इस मूर्ति के अनेक रूपों का उल्लेख है। मगो की कथा पहले कही जा चुकी है। भविष्य पुराण मे इनके इतिहास और सिद्धातो का विवरण है। इसके अनुसार सूर्य त्रिदेव स्वरूप है—

> उदये ब्रह्मरूपस्तु, मध्याह्ने तु महेश्वरः।
> अस्तमाने स्वयं विष्णुस्त्रिमूर्तिस्तु दिवाकरः॥

तुलसी भी कहते है 'हरि-संकर-विधि-मूरति स्वामी'[3] सूर्य पूजन की दूसरी परंपरा वैदिक है। इसका भी वर्णन तुलसी के वाङ्मय मे है। द्वादशादित्य[4] का उल्लेख तो वे करते ही हैं। पर इससे भी आगे बढ़ कर उनका कथन है कि सूर्य का यश वेद-पुराण-वर्णित है[5]।

६०. उक्त दोनों परपराओ के सूर्य तुलसी मे अपना स्वतंत्र महत्त्व खो बैठे हैं। वे रामभक्त के रूप से ही चित्रित हुए। राम के जन्मोत्सव पर—

> कौतुक देखि पतंग भुलाना। एक मास तेहि जात न जाना। पं० ८
>
> मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ।
> रथ समेत रबि थाकेउ निसा कवन बिधि होइ॥ दो० १९५

---

१. मानस अयो०। दो० ३७। पं० ३

२. विनयपत्रिका। पद २५। पं० ३; हनुमानबाहुक। कवित्त ४; हनुमानचालीसा-'संकर सुवन केसरी नन्दन'।

३. विनय०। पद २। पं० ४

४. कविता०, सुंदर०। पद २०

५. विनय०। पद २। पं० ५

यह रहस्य काहूं नहिं जाना। दिनमनि चले करत गुन गाना ॥
पं० १। दो० १९६ मानस बाल०

शंकर

६१. ये त्रिदेव तथा पंचदेव के वर्ग मे संमिलित है। ब्रह्मा और विष्णु के साथ और परब्रह्म राम के नीचे सृष्टि के विविध कार्यो मे रत चित्रित हुए हैं। उपर्युक्त दोनों उद्धरणों मे वे पंचदेवो मे परिगणित हैं। तुलसी ने अनेक स्थलो पर शिवभक्ति और रामभक्ति मे साधन-साध्य-भाव की स्थापना की है[1] और शिवद्रोही रामभक्त की अधोगति बताई है[2]। वास्तव मे शिव 'सेवक स्वामि सखा सियपी के'[3] है। इससे आगे बढ़कर कभी कभी वे राम और शिव में अभेद की स्थापना करते है। इसीसे उन्होने शिव को राम रूपी रुद्र कहा है[4]। यह अभेद परंपरा तुलसी मे दो स्रोतों से आई हुई ज्ञात होती है। तंत्रालोक मे परम शिव और राम का तादात्म्य वर्णित है। दूसरी धारा पुराणो के हरिहर रूप तथा उससे विकसित शिल्प रूप प्रद्युम्नेश्वर[5] की है। जिसमे शिव और विष्णु का अनेक रूपो से तादात्म्य व्यंजित है।

६२. रुद्राष्टक' मे तुलसी ने शिव को विभु, व्यापक, ब्रह्म और वेदस्वरूप आदि कहकर उनके परब्रह्मस्वरूप की अभिव्यक्ति की है[6]। विनयपत्रिका मे अर्ध-नारीश्वर का बड़ा सुंदर चित्र है[7]। किंतु इनका परम रामभक्त रूप ही तुलसी को सर्वाधिक प्रिय है। इनका सर्वस्व है—राम नाम[8]। राम नाम का जप और उनकी लीला का गान ये निरंतर करते है।

६३. तुलसी का शिव से अपना संबध है। ये शिव को अपना गुरु मानते

---

१. मानस, लंका०। दो० २। पं० ६ से दो० ३। पं० ४, वही, उत्तर० दो० ४५
२. इस विषय मे काकभुशुंडि के पूर्वजन्म का वृत्तांत ही उदाहरण है।
३. मानस बाल० दो० १५। पं० ४
४. विनय०। पद ११। पं० १६
५. जरनल आफ राएल एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल सन् १९५३। विनय० पद ४९
६. मानस, उत्तर०। दो० १०७ से दोहा १०८ तक
७. विनय०। पद १४
८. गीता० बाल०। पद १२

हैं। मानस बालकांड के मंगलश्लोक में इन्होंने शंकररूपी गुरु की वंदना की है[1]। विनयपत्रिका में भी उन्होंने इस संबंध का निर्देश किया है[2]। किंतु गीतावली के निम्नलिखित पद्य में बड़े मनोहर तथा प्रच्छन्न ढंग से उन्होंने अपना यह संबंध व्यक्त किया है—

अवध आजु आगमी एकु आयो।
करतल निरखि कहत सब गुन गन, बहुतन परिचौ पायो॥
बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुहायो।
संग सिसुसिष्य, सुनत कौसल्या भीतर भवन बुलायो॥
पं० १-४। पद १४। गीता०

तुलसीदास की एक पद्धति है कि वे प्रायः आराध्य के दर्शनों के लिये किसी न किसी रूप और व्याज से अपने को वहाँ तक पहुँचाते हैं। आगमिक योगी शंकर के साथ का यह 'शिशु शिष्य' भी तुलसी का प्रतिनिधित्व करता जान पड़ता है।

गौरी-गणेश

६४. गणपति उपासना की उत्पत्ति के संबंध में विद्वानों का मतभेद है फिर भी इतना निर्विवाद है कि गुप्तकाल के पश्चात् यह जनप्रिय हो गई थी और ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी से गणपति पंचदेवों में प्रतिष्ठित हो गए थे। स्मार्त परंपरा में गणेश का महत्व एक विषय में अन्य चार देवताओं से भी अधिक है कि ये विघ्न-विनाशक होने के कारण प्रत्येक मंगल कृत्य के प्रारंभ में पूजित होते हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति में विनायक सिद्धिदाता कहे गए हैं[3]। गोभिल स्मृति[4] के अनुसार प्रत्येक शुभ कार्य के आरंभ में गणाधिप के पूजन का विधान है। तुलसी में यह परंपरा पंचदेवोपासना के कृत्य की परंपरा से भी अधिक सुदृढ़ प्रतीत होती है। उनके बहुत से ग्रंथ मानस, विनयपत्रिका, जानकी मंगल, रामलला नहछू, रामाज्ञाप्रश्न के प्रारंभ में गणेश की वंदना है। तुलसी ने समस्त मांगलिक कृत्यों के पूर्व गणपति की पूजा का

---

१. वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वंद्यते॥ श्लोक ३

२. विनय०। पद ११। पं० १६

३. याज्ञवल्क्य०। अध्याय १। श्लोक २७१

४. गोभिल०। अध्याय १। श्लोक १३

वर्णन किया है—राम के विवाहार्थ प्रस्थित होते हुए दशरथ[1], सीता को विदा करते समय जनक[2], बारात के अयोध्या लौटने पर रानियाँ[3], राम के राज्याभिषेक की तैयारी आदि के अवसर पर साधारण लोग[4] गणपति का स्मरण और पूजन करते हैं। यह प्रवृत्ति इतनी उदग्र है कि अपने मातापिता गौरी-शंकर के विवाह में भी उनकी पूजा का वर्णन हुआ। इस विचित्र स्थिति की व्यवस्था भी तुलसी को करनी पड़ी—

मुनि अनुसासन गनपतिहि पूजेउ संभु भवानि।
कोउ सुनि संसय करै जनि सुर अनादि जिय जानि॥

दो० १००। मानस बाल०

यह असामान्य महत्त्व, प्रथम पूज्यता गणपति को रामनाम के प्रभाव से ही मिली है[5]। इस प्रकार इनके माध्यम से भी तुलसी राम के अलौकिक प्रभुत्व की अभिव्यक्ति करते हैं।

६५. गणेश की तरह ही गौरी भी स्मार्त परम्परा में पूर्णतः प्रतिष्ठित हैं। विशेषतः मांगलिक कृत्य के अवसरों पर हर-गौरी की पूजा का विधान है। किंतु यह परंपरा तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी की ही है। अनंतदेव के 'संस्कारकौस्तुभ' और गोपीनाथ के 'संस्काररत्नमाला' तथा कमलाकर भट्ट के 'धर्मसिंधु' में इस पूजन का विधान है। तुलसीदास में यह परंपरा परिस्फुट है। जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, रामाज्ञा प्रश्न और रामलला नहछू के प्रारंभिक मंगलों में गौरी की वंदना है। मानस, गीतावली आदि में अनेक स्थलों पर गणेश के साथ गौरी के स्मरण और पूजन का उल्लेख तुलसी ने किया है। मानस से ज्ञात होता है कि विवाह के पूर्व तथा मनोवांछित वर की प्राप्ति के लिए कुमारिकाएँ गौरी पूजन किया करती थीं[6]।

नवग्रह आदि

६७. नवग्रह की पूजा की चर्चा भी तुलसी के ग्रंथों में आई है[7]। अनिष्ट-

---

१. मानस बाल०। दो० ३२६। पं० ८
२. वही। दो० ३३८
३. वही। दो० ३४९
४. वही। दो० ६। पं० ८
५. महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ॥
मानस बाल०। दो० १९। पं० ४
६. मानस, बाल०। दो० २२८। पं० २
७. वही। दो० १४ छ

निवारण और इष्टसाधन के लिये भी उन्होंने ग्रहपूजन का वर्णन किया है[1]। आलोच्य युग के बहुत पूर्व ही वैदिक देवता अपनी प्रतिष्ठा खोकर लोकपाल की स्थिति में आ गए थे। स्मार्त परंपरा मे इनके पूजन का विधान है। तुलसी ने इनका उल्लेख तो किया है पर उनकी पूजा की चर्चा नहीं की है। ग्रामदेवी और नगरदेवता के पूजन की परंपरा अत्यधिक प्राचीन है। तुलसी ने ग्रामदेवी[2] और कुलदेव[3] के पूजन का कई स्थानों पर उल्लेख किया है। उन्होने देवों का चित्रण 'सदा स्वारथी', भोग परायण एवं तप आदि के बाधक रूप मे किया है। तीर्थस्थानों, पुण्यतोया नदियों और पवित्र पर्वतो की गणना तुलसी ने देवों मे की है। इनकी चर्चा यथास्थान आगे की जायगी।

ब्रह्मा

६७. इनका इतिहास विलक्षण है। पहले दिखाया गया है कि वे त्रिदेव और देवचतुष्टय मे स्वीकृत है। पचदेवो की एक परपरा मे भी उनका स्थान था। किंतु बाद मे यह परंपरा प्रतिष्ठित न हो सकी। शाक्त तथा गाणपत्य संप्रदायों के उत्थान एवं उनके शैव और वैष्णव संप्रदायो के संबंध से ब्राह्म संप्रदाय का ह्रास हुआ। इसकी व्याख्या के लिये सरस्वती का पौराणिक आख्यान अति प्रसिद्ध है। तुलसी मे ब्रह्मा त्रिदेवों मे सृष्टिकर्ता के रूप से वर्णित है। पौराणिक ब्रह्मा अवसर विशेष पर उपद्रव की स्थिति मे देवो के अग्रणी बन शिव अथवा विष्णु के पास जाते है। तुलसी में यह रूप भी दिखाई पड़ता है। मानस मे भूभार से उद्विग्न पृथ्वी के प्रति उनका कहना है—

जाकरि तैं दासी सो अबिनासी हमरउ तोर सहाई॥

पृ० १२। दो० १८४। मानस बाल०

राम की पूजा : अवांतरकालीन उपनिषद्—

६८. राम की तान्त्रिक पूजा अवांतरकालीन उपनिषदों से मिलने लगती है। इनमे राम के अंगव्यूहों, आवरणों, यंत्रों एवं मंत्रो का विशद वर्णन है। अंगव्यूहो में वायु पुत्र, विघ्नेश, वाणी, दुर्गा, क्षेत्रपालक, सूर्य, चंद्र, नारायण, नारसिंह, वायु, वाराह, तत्संबद्ध मंत्र, सीता, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, भरत, विभीषण, सुग्रीव, अंगद,

---

१. गीता० बाल०। पद १२

२. मानस, अयो०। दो० ८। पं० ४

३. वही। दो० ६। पं० ८

जांबवंत तथा प्रणव—ये सब राम के अंग हैं। इनके पूजन के बिना राम को विघ्नकारी बताया गया है। इसी प्रकार राम, आत्मा, वासुदेव, धृष्टि, हनुमान, वशिष्ठ, नील, ध्रुव, इंद्र और वज्र के दस आवरणों का इनमे वर्णन है। राम के त्रिकोणात्मक और षट्कोणात्मक द्विविध यंत्रों की चर्चा भी है। त्रिकोण मे राम-लक्ष्मण-सीता तथा षट्कोणों मे राम-सीता-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न-हनुमान स्थित होते हैं। इन उपनिषदों मे अनेक प्रकार के राम मंत्रो का विवरण भी है। एक-द्वि-त्रि-चतुरक्षर मंत्र-जप के लिये वीरासन पर बैठे हुए, ज्ञानमुद्रा से सुशोभित, सीता-लक्ष्मण-सहित राम के ध्यान का विधान मोक्षार्थियो के लिये विहित है। जयार्थी के लिए पंचाक्षर मंत्र, जानकी-लक्ष्मण-सुग्रीव विभीषण-मुनिगणसयुक्त राम का ध्यान उल्लिखित है[1]।

राम-लक्ष्मण-सीता—

६६. तुलसीदास मे उक्त औपनिषद पूजाविधि का कुछ रूप दिखाई देता है। उन्होंने द्व्यक्षर 'राम' मंत्र के महत्व का उद्घाटन तथा सीता-लक्ष्मण-सहित राम का ध्यान अनेक स्थलो पर उपस्थित किया है। दोहावली के प्रारंभ मे ही इस ध्यान के चार रूप दिए है। वैराग्यसंदीपिनी इस ध्यान से आरभ होती है। निम्नलिखित ध्यान रामरहस्योपनिषद् के ध्यान से बहुत अधिक मिलता है—

> **राम बाम दिसि जानकी लषन दाहिनी ओर।**
> **ध्यान सकल कल्यान मय सुरतरु तुलसी तोर॥** दोहावली १

चित्रकूट के परिपार्श्व मे यह ध्यान उन्हे विशेष प्रिय था। दोहावली[2] और बरवै रामायण[3] मे इसका वर्णन है। मानस के अनेक प्रसंगों में यही ध्यान है। अरण्य कांड का प्रारंभ इसी ध्यान से होता है। शरभंग[4] और सुतीक्ष्ण[5] आदि भक्तों की यही कामना रहती है कि भगवान इसी रूप मे उनके हृदय मे निवास करते रहें।

---

१. इनका विस्तृत विवेचन राम पूर्वोत्तरतापनीय एवं राम रहस्योपनिषद् में हुआ है।

२. दोहा० ४

३. बरवै० ४२

४. सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु स्याम।
मम हिय बसहु निरंतर सगुन रूप श्री राम॥
दो० ८। मानस अरण्य०

५. अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम॥ दो० ११। वही

राममंत्र—

७०. तुलसी ने इस मंत्र का अनेकविध महत्त्व अनेक स्थानों पर उद्घाटित किया रामरहस्योपनिषद् मे एकाक्षर राम मंत्र के निर्वचन के प्रसंग मे हनुमान् सनकादि मुनियो से कहते हैं—

> वह्निस्थं शयनं विष्णोरर्धचन्द्रविभूषितम् ।
> एकाक्षरो मनुः प्रोक्तो मन्त्रराजसुरद्रुमः ॥ मंत्र १। अध्याय २

तुलसी भी प्रायः यही बात कहते है—

> बंदउँ रामनाम रघुबर को । हेतु कृसानु - भानु - हिमकर को ॥
> पं० १ दो० १६। मानस बा०
>
> बिधि-हरि-हरमय बेद प्रान सो । अगुन अनूपम गुननिधान सो ॥
> पं० २। वही
>
> महामंत्र सोइ जपत महेसू । कासीं मुकुति हेतु उपदेसू ॥
> पं० ३। वही

महा रामायण मे भी इस मत्रराज की चर्चा है जो ऊपर की पक्तियो से तुलनीय है[1] । रामानंद ने भी वैष्णव-मताब्ज-भास्कर मे राम मंत्र को त्रिदेवों का व्यजक बताया है[2] ।

७१. राम के द्वयक्षर मंत्र की महत्ता का वर्णन तुलसी ने बहुत जगह किया है—

---

१. रकारोऽनलबीजं स्यात् ये सर्वे बडवादयः ।
कृत्वा मनोमलं सर्वं भस्म कर्म शुभाशुभम् ॥ १ ॥
आकारो भानुबीजं स्यात् वेदशास्त्रप्रकाशकः ।
नाशयत्येव सो दीप्त्या हृत्स्थमज्ञानजं तमः ॥ २ ॥
मकारश्चन्द्रबीजं स्याद्यदपां परिपूरणम् ।
त्रितापं हरते नित्यं शीतलत्वं करोति च ॥ ३ ॥
वैराग्यहेतुः परमो रकारः कथ्यते बुधैः ।
आकारो ज्ञानहेतुश्च मकारो भक्तिहेतुकः ॥ ४ ॥

मानस पीयूष धारा टीका की टिप्पणी में पं० रामेश्वर भट्ट द्वारा उद्धृत पृ० २८

२. रेफरूढ़ास्त्रिमूर्तिः—वैष्णव० । श्लोक १२। पं० ३

बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास ।
राम नाम बर बरन जुग सावन भादव मास ॥ दो० १९ । बाल०

आखर मधुर मनोहर दोऊ । बरन बिलोचन जन जिय जोऊ ॥
पं० १। वही

एक छत्रु एक मुकुट मनि सब बरननि पर जोउ ।
तुलसी रघुबर नाम के बरन बिराजत दोउ ॥ दो० २०। वही

नाममाहात्म्य

७२. मन्त्रो का माहात्म्य बौद्धो के मंत्रयान मे बहुत विकसित हो गया था। वैखानसो के काश्यप ज्ञानकांड और जयाख्य संहिता तथा परवर्ती उपनिषदो मे इसका बहुत अधिक माहात्य वर्णित है। तुलसी मे इस परंपरा का उत्कर्ष दिखाई देता है। वे राम मंत्र को ब्रह्म राम से भी श्रेष्ठ प्रतिपादित करते है—

निरगुन तें एहि भाँति 'बड़ नाम प्रभाउ अपार ।
कहउँ नामु बड़ राम तें निज बिचार अनुसार ॥

तुलसी ने मानस बालकांड के आरंभ मे तथा दोहावली आदि अन्य रचनाओ के अनेक स्थलो पर विस्तार के साथ इस विषय का उपस्थापन किया है।

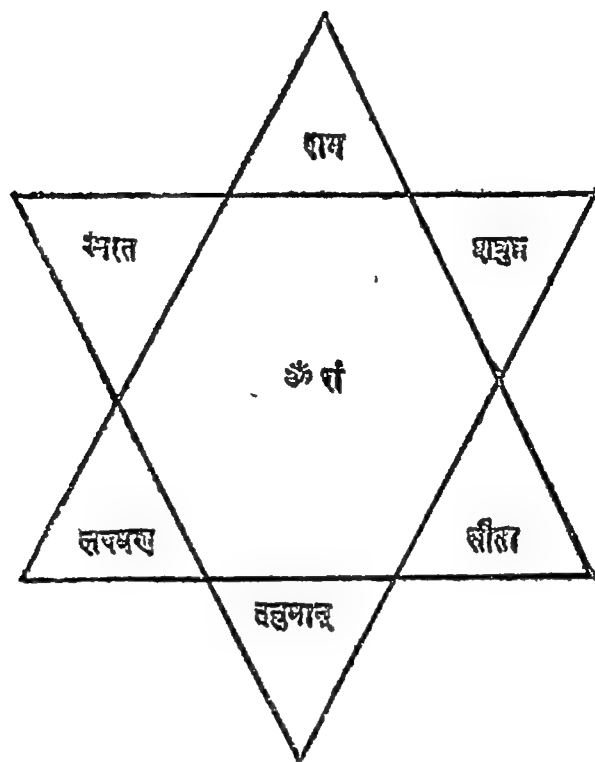
राम पंचायतन और राम षट्कोण

७३. विनयपत्रिका मे तुलसी ने क्रमशः देव स्तुतियाँ की हैं। यह क्रमिक वर्णन उनकी देव-मंडल-व्यवस्था के समझने मे बहुत सहायक है। वे गणपति, सूर्य, शिव और शक्ति के पश्चात् हनुमान्, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न तथा सीता की वंदना करते हैं। इसमें एक व्यवस्था दिखाई देती है। वैष्णव पंचायतन मे विष्णु के मध्यवर्ती प्रधान मंदिर में प्रवेश के पहले चार देवों—गणपति, सूर्य, शक्ति[1] और शिव के दर्शन करने पड़ते हैं। इस आवरण के पश्चात् विष्णु का प्रधान मंदिर आता है जिसके सामने ही 'वाहन' अथवा 'लाछन', सामान्यतः गरुड़ की स्थिति रहती है और फिर विष्णु के पार्श्वदेवों के दर्शन होते हैं। इस प्रधान वैष्णव मंदिर के स्थान पर तुलसी ने राम के आयतन की प्रतिष्ठा की है तथा उसमे राम षट्कोण का ध्यान रखा है। इसमें

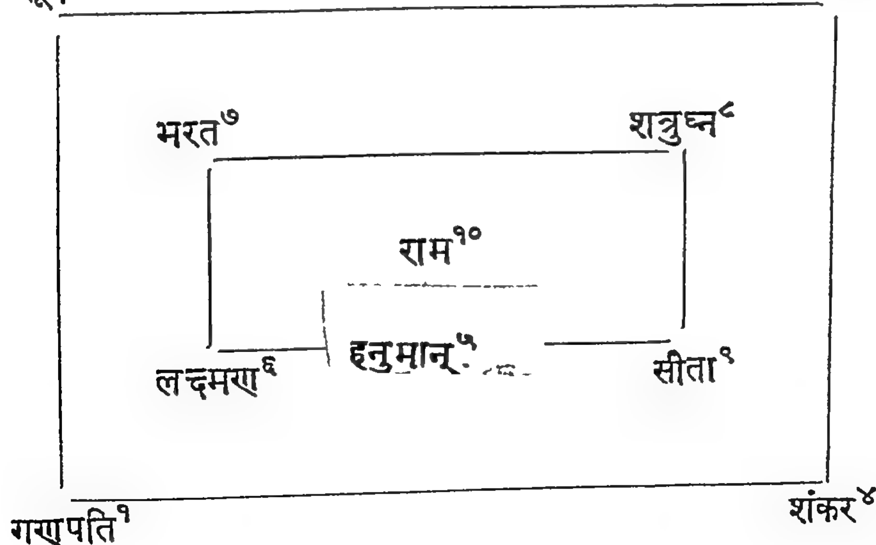
---

१. वैष्णव पंचायतन का यही क्रम है। किंतु विनयपत्रिका में तुलसी ने शिव शक्ति का स्थान परिवर्तन कर दिया।

हनुमान्, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता और राम की प्रतिष्ठा है। राम षट्कोण का चित्र इस प्रकार है—



हनुमान् की स्थिति गरुड़ के स्थान पर है। उनके अनंतर पंचदेव हैं। इस प्रकार तुलसी ने स्मार्त पंचदेवोपासना के बाह्य आवरण मे रामपंचोपासना की व्यवस्था की है—



हनुमान्

७४. कुछ विद्वानों के अनुसार 'वृषाकपि' के ही रूपातर हनुमान् हैं। पूर्व-मध्यकाल मे हनुमान् की प्रतिष्ठा के साक्ष्य मिलते हैं। उत्तरापथ में उनका प्राचीनतम

मंदिर दशम शताब्दी का है। हनुमान् की इस प्रतिमा के नीचे हर्ष संवत् ३१६ = सन् ९२२ ईस्वी का एक अभिलेख[1] भी है। यह मूर्ति सर्वप्रथम यहीं प्रकाशित की जा रही है[2]। इस काल मे हनुमान् का संबंध शिव से ही प्रतीत होता है। शार्गधर की शित्राप्रशस्ति मे हनुमान् पाशुपत पंचायतन मे गिने गए। गोरक्ष, भैरव, आंजनेय, सरस्वती और सिद्धि विनायक का एक शैव पंचायतन है[3]। देवपाल के हरसूदा शिलालेख [१२७५ विक्रमी] के अनुसार भी हनुमान् की मूर्ति शैव मंदिर मे गोरक्ष के साथ रखी गई थी[4]। वैष्णव परंपरा मे तो हनुमान् थे ही। जयाख्य संहिता मे हनुमान् द्वारा देवदेव की सेवा का वर्णन है[5]। पुराणों मे हनुमान् प्रायः शिव के अवतार तथा शिवपुराण की शतरुद्र संहिता मे शिव के पुत्र बताए गए है। तुलसी मे दोनो परंपराएँ मिलती है, साथ ही वे अंजनीकुमार[6], केसरीनंदन और पवनतनय[7] के रूप से भी उल्लिखित हुए हैं। तुलसी ने उनको महानाटक का कवि भी बताया है[8]।

निष्कर्ष

७५. उपर्युक्त चित्र स्पष्ट रीति से स्मार्त और आगम धाराओं का समन्वय प्रदर्शित करता है। परंतु तुलसी साहित्य मे स्मार्त देवताओं का अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। वे राम के भक्त रूप से चित्रित है और यही उनके यथास्थित महत्त्व का प्रतिष्ठापक है, अन्यथा तुलसी स्पष्ट शब्दो मे कहते है कि—

> **ईस न, गनेस न, दिनेस न, धनेस न,**
> **सुरेस, गुरु, गौरी, गिरापति नहिं जपने।** कवित्ता०। सं० ७८

---

१. कनिंघम्स आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट्स, जि० २१।

२. द्रष्टव्य, प्रस्तुत प्रबन्ध, चित्र संख्या १

३. एपीग्रेफिया इंडिका, जि० १, पृ० २८४

४. इंडियन ऐंटीक्वेरी, जि० २०। पृ० ३१०

५. जयाख्य संहिता। पटल १। १४६ वां श्लोक

६. विनय०। पद २९

७. विनय०। पद ३३, २९

८. विनय०। पद २६

भक्ति परंपरा में अद्वैत

७६. वैष्णवागम से सांख्य के तथा श्रौत परंपरा से वेदांत के संबंध की चर्चा पहले की जा चुकी है। आगम मूलतः द्वैतपरक है किंतु इस द्वैत परंपरा पर अद्वैत का प्रभाव बहुत अधिक दिखाई देता है। पाचरात्र दर्शन मे अद्वैतपरक दृष्टातों का उपयोग है। श्रेडर ने ऐसे अनेक उदाहरणों की चर्चा की है[1]। जयाख्य मे सरित्-समुद्र और इधन-अग्नि के निर्देशन आए है[2]। सातवीं शताब्दी से अद्वैत का प्रचार और भी वेग से आगे बढ़ा। यह प्रक्रिया काश्मीर के दार्शनिक इतिहास मे बड़ी स्पष्ट है। गुप्त काल मे और उसके कुछ बाद तक यहाँ द्वैतवादी काश्मीरागम और द्वैतवादी शैव सिद्धात के साहित्य का प्रचार था। कालातर मे इसका अद्वैतपरक व्याख्यान हुआ। इसका बड़ा सुंदर उदाहरण शेष की 'आधारकारिका' का है। यह द्वैतवादी वैष्णवो का ग्रथ था और साख्यनय की दृष्टि से लिखा गया था। अभिनव गुप्त ने इसको परिवर्तित कर शिवाद्वय की दृष्टि से इसकी व्याख्या की। इस प्रकार सांख्य दर्शन के अनुसार लिखे हुए द्वैतवादी वैष्णव ग्रंथ ने शैवाद्वैत का परिधान ग्रहण कर लिया है। अन्य अनेक तत्र इस परंपरा में द्वैतपरक माने जाते थे। कालातर मे उसकी अद्वैत दृष्टि से व्याख्या हुई[3]। सभवतः इसी ढंग से अद्वैतवादी वैष्णव भक्ति की परपरा भी चली होगी जिसके कुछ सूत्र प्रबोधचंद्रोदय मे और मधुसूदन सरस्वती के साहित्य मे प्राप्त होते हैं। प्रबोधचंद्रोदय में मायावाद[4] तथा जीवब्रह्म की एकता[5] अभिमत है। इस एकता का बोध विष्णुभक्ति के माध्यम से ही

---

१. ऐन इंट्रोडक्शन टु दि पांचरात्र ऐंड दि अहिर्बुध्न्य संहिता, पृ० ९३

२, सरित्सङ्घाद् यथा तोयं सम्प्रविष्टं महोदधौ।
अलक्ष्यश्चोदके भेदः परस्मिन् योगिनां तथा ॥ जयाख्य०। पटल ४। श्लोक १२१
यथानेकेन्धनादीनि सम्प्रविष्टानि पावके।
अलक्ष्याणि च दग्धानि तद्वद् ब्रह्मण्युपासकाः ॥ वही। पटल ४। श्लोक १२२

३. जगदीशचंद्र चटर्जी : काश्मीर शैविज्म, पृ० १०

४. मध्याह्नार्कमरीचिकास्विव पयःपूरो यदज्ञानतः
खं वायुर्ज्वलनो जलं क्षितिरिति त्रैलोक्यमुन्मीलति।
यत्तत्त्वं विदुषां निमीलति पुनः स्रग्भोगिभोगोपमं
सान्द्रानन्दमुपास्महे तदमलं स्वात्मावबोधं महः ॥ अंक १। श्लोक १

५. मोहान्धकारमवधूय विकल्पनिद्रामुन्मथ्य कोऽप्यजनि बोधतुषाररश्मिः।
श्रद्धाविवेकमतिशान्तियमादिकेन विश्वात्मकः स्फुरति विष्णुरहं स एषः ॥
अंक ६। श्लोक ३०

संभव है। इस प्रबोधोदय के पश्चात् नीरजस्क एवं सदानंद पद में सन्निविष्ट होने पर भी, अपने को विष्णु मानता हुआ भी, पुरुष विष्णुभक्ति की पादसेवा करता है[1]। इस प्रकार प्रबोधचंद्रोदय नाटक में अद्वैत वेदांत और भक्ति का समन्वय है।

तुलसी के ब्रह्म राम—

७७. तुलसीदास जी के परम तत्व राम, श्रौत परंपरा के 'ब्रह्म' के पर्याय हैं। वेदांत के ब्रह्म के समान राम के दो रूप हैं—निर्गुण और सगुण। निर्गुण रूप में उनका वर्णन निषेधमुख हुआ है—अज, अकल, अनीह, अनाम, अरूप, अखंड, अमल, अविनाशी, निराकार, निर्विकार आदि[2]। वेदांतपद्धति के अनुसार ही इसे तुलसी ने विरुद्ध धर्मों का आश्रय बताया है—

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥ पं० ५
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥ पं० ६
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा॥ पं० ७
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा अमित जाइ नहिं बरनी॥ पं० ८

दो० ११८। मानस बाल०

तुलसी का यह वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद् की पद्धति पर हुआ है[3]। यह सच्चिदानंद रूप है। इस प्रकार राम का निर्गुण रूप शांकर मत के परब्रह्म से असाधारण रूप मे मिलता है। यह निर्गुण ब्रह्म, ज्ञानियों के लिये ध्येय है। वास्तव मे इस ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति अत्यत कष्टसाध्य है और मायाकृत बाधाओ का भय भी इस साधना में अनवरत बना रहता है। लेकिन इस मार्ग के निर्विघ्न निभ जाने पर साधक को कैवल्य परमपद की प्राप्ति होती है। ब्रह्म साक्षात्कार करते ही वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है—

'जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई'

इस प्रकार निर्गुण ब्रह्म और जीव के ऐक्य का बोध, ज्ञान का विषय है।

---

१. प्रबोध०। अंक ६। पृ० २४१
२. मानस अयो०। दो० २१६। पं० ६ तथा मानस उत्तर० दो० १११ पं० ३-४
३. अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥
श्वेता०। ३। मंत्र १६

७८. यही निर्गुण सगुण हो जाता है। कमल से सुशोभित सरसी का वर्णन करते हुए तुलसी कहते है—

फूले कमल सोह कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भए जैसा॥
पं० २। दोहा १७। मानस किष्कि०

तुलसी ब्रह्म के सगुण और निर्गुण रूप मे कोई अंतर नहीं देखते। उन्होने इस सिद्धांत का उपस्थापन बडी तत्परता से किया है। मानस के आरंभ में नामनिरूपण के अंतर्गत उन्होंने स्वयं यह मत उपस्थित किया है कि—

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥ पं० १
एक दारुगत देखिअ एकू। पावक जुग सम ब्रह्म बिबेकू॥ पं० ४
दोहा २३। मानस बाल०

इसके बाद मानस मे विविध स्थलो पर उन्होंने इसकी पुष्टि की है। पार्वती की शंका का समाधान करते हुए शिव जी का कथन है—

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥ पं० १
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥ पं० २
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें॥ पं० ३
दोहा० ११६। मानस बाल०

इस तथ्य से अनभिज्ञ, अज्ञानी जीव ही राम के सगुणनिर्गुण रूपों मे भेदबुद्धि रखते है—

निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥ पं० १
जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥ पं० २
चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ। प्रगट जुगल ससि तेहि के भाएँ॥ पं० ३
उमा राम बिषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥ पं० ४
दो० ११७। मानस बाल०

देवगुरु बृहस्पति ने भी राम के निर्गुणसगुण द्विविध रूपो की अभिन्नता का वर्णन इन शब्दो मे किया है—

अगुन अलेप अमान एक रस। राम सगुन भए भगत प्रेम बस॥ पं० ६
दो० २१८। मानस अयो०

इस प्रकार निर्गुण से अभिन्न सगुण श्रीराम हरि को हरिता, विधि को विधिता तथा

शिव को शिवता प्रदान करते[1] एवं उन्हे अपने इंगितों पर नचाते रहते है। वाल्मीकि का राम से कहना है—

जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥ पं० १
दोहा १२७। मानस अयो०

७६. राम का यह रूप अद्वैतियो के सगुण ब्रह्म, भागवतों के पुरुष, जयाख्य के वैकुंठ और वैखानसागम के महाविष्णु के समान है। तुलसी के अनुसार राम का यह रूप दाशरथी राम से अभिन्न है। इस तथ्य को उन्होंने बड़े समरंभ के साथ पद पद पर व्यक्त किया है। मानस के अनेक पात्रों की यही शका थी कि अवधेश-कुमार राम और परब्रह्म राम का अभेद कैसे हो सकता है? भरद्वाज की इस शंका का याज्ञवलक्य ने, सती के संदेह का शंकर ने और गरुड़ की विचिकित्सा का कागभुशुडि ने समाधान किया। शिव का पार्वती के प्रति कहना है कि—

राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा। पं० ५
सहज प्रकास रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिज्ञान बिहाना॥ पं० ६
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥ पं० ८

पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि प्रगट परावर नाथ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नाएउ माथ॥
दो० ११६। मानस बाल०

शिव ने उन संशयात्माओं[2] की कटु निंदा की है जो ब्रह्म और राम में भेद करते है—

कहहि सुनहि अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाषंडी हरिपद बिमुख जानहि झूठ न साच॥
दो० ११४। मानस बाल०

---

१. विनय०। पद १२९

२. 'निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन न जानइ कोइ' कहकर तुलसी ने सगुण राम के जन्मकर्म मे संबद्ध दिव्य लीलाओ के प्रयोजन की दुरुहता व्यंजित की है। तुलनीय—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
गीता०। अध्याय ४। श्लोक ९

अग्य अकोबिद अंध अभागी । काई विषय मुकुर मन लागी ॥पं०१
लंपट कपटी कुटिल बिसेषी । सपनेहुँ संतसभा नहिं देखी ॥पं०२
कहहिं ते बेद असंमत बानी । जिन्हकें सूझ लाभ नहिं हानी ॥पं०३
मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना । राम रूप देखहिं किमि दीना ॥पं०४
जिन्हकें अगुन न सगुन बिबेका । जल्पहिं कल्पित बचन अनेका ॥पं०५
हरिमाया बस जगत भ्रमाहीं । तिन्हहि कहत कछु अघटित नाहीं ॥पं०६
बातुल भूत बिबस मतवारे । ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे ॥पं०७
जिन्ह कृत महा मोह मद पाना । तिन्हकर कहा करिअ नहिं काना ॥पं०८
दो० ११५ । मानस बाल०

दोहावली में 'सगुण' के बिना 'निर्गुण' कहनेवालों को चुनौती देते हुए तुलसीदास स्वयं कहते हैं—

ज्ञान कहै अज्ञान बिनु तम बिनु कहै प्रकास ।
निर्गुन कहै जो सगुन बिनु सो गुरु तुलसीदास ॥ दो० २५१

८०. तुलसी के मतानुसार प्रधानतया सगुण ब्रह्म भक्ति का विषय है। निर्गुण ब्रह्म इस भक्ति के लिए सगुण हो जाता है। जिस प्रकार निर्गुण तत्व, ज्ञान-साधना से विशेषतः संबद्ध है उसी प्रकार सगुण तत्व प्रधानतः भक्ति से अन्वित है। तुलसीदास ने इसका स्पष्टीकरण लोमश और कागभुशुडि के प्रसंग में बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। लोमश बार बार निर्गुण ब्रह्मज्ञान का उपदेश देते थे किंतु काकभुशुंडि सगुण ब्रह्म की आराधना का आग्रह करते थे[1]। इसी प्रकार अगस्त्य निर्गुण ब्रह्म के ज्ञाता और व्याख्याता होने पर भी सगुण ब्रह्म में भक्ति किया करते थे[2]।

८१. निर्गुणब्रह्म के ज्ञान, आत्म साक्षात्कार से मोक्ष मिलता है[3]। मोक्ष अर्थात् जीव ब्रह्म की एकता हो जाती है। किंतु सगुण ब्रह्म के आराधक इस मुक्ति का निरादर करते हैं और भगवत्सेवा को ही साध्य मानते हैं[4]। निर्गुण ब्रह्म की उपासना-अभेद भक्ति से मुक्ति मिलती है। सगुण ब्रह्म की आराधना—भेद भक्ति में भगवान् और भक्त का अंतर सेवकसेव्यभाव रूप से निरंतर काम्य है[5]।

---

१. मानस उत्तर० । दोहा १११।पं० १२–१३
२. मानस अरण्य० । दोहा १३ । पं० १२–१३
३. मानस अरण्य० । दोहा १६। पं० १
४. मानस उत्तर० । दोहा ११९ । पं० ७
५. मानस उत्तर० । दोहा ११९ क

८२. मानस मे भागवत के पाँचो प्रकार की मुक्तियों का संकेत मिलता है। विराध, वालि और विभीषणादि के संबंध मे निज धाम [सालोक्य], रामेश्वर पर गंगाजल चढ़ाने से सायुज्य, सरयूमज्जन के प्रसंग मे सामीप्य, जटायु के साथ सारूप्य तथा रावण इत्यादि के अंतर्निवेश [एकत्व ?] की चर्चा हुई है। किंतु तुलसीदास ने वालि के माध्यम से इन मुक्तियो की उपेक्षा करते हुए आत्यंतिक भक्ति की स्पृहा की है—

अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जो बर माँगऊँ।
जेहि जोनि जन्मउँ कर्मबस तहँ राम पद अनुरागऊँ ॥

पं० ६–७ दो० १० । मानस किष्किं०

८३. इस प्रसंग मे तुलसीदास की जीव-विषयक-धारणा अत्यंत महत्वपूर्ण है। सगुण और निर्गुण ब्रह्म की अभिन्नता तथा मुक्ति की अपेक्षा भक्ति की प्रधानता तुलसीदर्शन को केवलाद्वैत सिद्धात से कुछ पृथक् कर देते है। किंतु निर्गुण सगुण ब्रह्म का विवेचन इसमे अद्वैत पद्धति से हुआ है। इस दृष्टि से जीव एवं माया की स्थिति भी अन्वेषणीय है।

जीव

८४. तुलसी वाङ्मय मे ब्रह्म-जीव-संबंध को व्यक्त करने वाली अनेक रचनाएँ हैं। इनमे से कुछ का विवेचन एकाधिक रीतियो से किया जा सकता है—

सरिता जल जलनिधि महुँ जाई। होइ अचल जिमि जिव हरि पाई ॥

पं० ८। दो० १४। मानस किष्किं०

साधारणतः इस दृष्टात की व्याख्या अभेदपरक होती है। लेकिन जयाख्य मे इसका भेदपरक विवेचन है। 'ईश्वर अस जीव अबिनासी' की भी अनेकविध व्याख्याएँ मिलती हैं। 'ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती' की 'द्वाः सुपर्णा सयुजा सखाया' से की जा सकती है। इसकी भी विविध व्याख्याएँ हुई है। किंतु कुछ स्थल ऐसे है जिनकी केवल अद्वैत दृष्टि से ही व्याख्या हो सकती है—

सो तैं ताहि तोहि नहि भेदा। बारि बीचि इमि गावहि बेदा ॥

पं० ६। दो० १११। मानस उत्तर०

जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ॥ पं० ३। दो० १२७। मानस अयो०

अतएव सामान्यतः यह प्रतीत होता है कि तुलसी को ब्रह्म और जीव की एकता स्वीकृत है।

८५. शांकर वेदांतियों की इस मान्यता का आधार विवर्तवाद है। इसके अनुसार परिवर्तन अतात्विक हैं और तत्त्व को आवृत कर उसके स्थान पर झूठी वस्तु का उपस्थापन कर देने वाली माया की शक्तियों से भासित होते हैं। इसके विपरीत परिणामवाद मे परिवर्तन तात्त्विक होते हैं। इसलिए परिणामवादी दर्शन जीव और ब्रह्म की एकता नहीं मानते। इस विषय का निष्कर्ष निकालने के पहले तुलसी का मायाविषयक मत देख लेना चाहिए।

माया

८६. माया ईश्वर की शक्ति है और वह उसी के अधीन होकर सचराचर जगत् का पसारा फैलाती है[1]। परिच्छिन्न चैतन्य जीव तथा अपरिच्छिन्न चैतन्य ईश्वर के बीच मे उसकी अवस्थिति है[2]। एक ओर वह ईश्वर से नियंत्रित और दूसरी ओर जीव का नियन्त्रण करती रहती है[3]। इद्रिय और इंद्रियों के विषयों की जहाँ तक व्याप्ति हो सकती है, वह सब मायिक है। तुलसीदास ने इस माया के दो भेदों की चर्चा की है, विद्या एवं अविद्या[4]—

---

१. मानस बाल०। मंगल श्लोक ६, वही। दो० ११७ से दो० ११८। पं० १ तक

मम माया संभव संसारा। जीव चराचर बिबिधि प्रकारा॥

मानस उत्तर०। दो० ८६। पं० ३

२. मानस अयो० दो० १२३। पं० २, मानस अरण्य०। दो० ७। पं० ३

३. ग्यान अखंड एक सीताबर। माया बस्य जीव सचराचर॥
मायाबस्य जीव अभिमानी। ईसबस्य माया गुनखानी॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥

मानस उत्तर०। दो० ७८। पं० ४–६, मानस बाल०। दो० २२। पं० ४–५,
वही। दो० २०२। पं० ३–४

४. विद्या और अविद्या का उल्लेख ईशावास्योपनिषद् मंत्र ११ में मिलता है। परंतु यह कहना मुश्किल है कि ये दोनों माया के ही भेद हैं। देवी भागवत में भगवती के विद्याविद्यात्मक दो रूपों की चर्चा है जिनमें से पहला जीव को बंधन से छुडानेवाला एवं दूसरा बंधन मे डालने वाला है—

विद्याविद्येति देव्या द्वे रूपे जानीहि पार्थिव।
एकया मुच्यते जन्तुरन्यया बध्यते पुनः॥

[प्रभातचंद्र चक्रवर्ती : दि डाक्ट्रिन आफ शक्ति इन इंडियन लिटरेचर, पृ० २२ टिप्पणी में उद्धृत]

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया ॥ पं० २
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई ॥ पं० ३
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ ॥
पं० ४। दो० १५। मानस अरण्य०

इनमें से विद्या माया को उन्होने सृष्टि-स्थिति-संहार-कारिणी[1] सीता का विग्रह माना है। मनु और शतरूपा ने देखा—

बाम भाग सोभति अनुकूला। आदिसक्ति छबिनिधि सुखमूला ॥ पं० २
जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ॥ पं० ३
भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई ॥
पं० ४। दो० १४८। मानस बाल०

यह विद्या माया राम की अनुग्रह शक्ति है। यह सत्य होते हुए भी उनसे भिन्न अथवा स्वतंत्र नहीं है—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउ सीता-राम-पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ॥
दो० १८। मानस बाल०

विष्णुमाया के इन दो रूपों का प्राचीनतम उल्लेख संभवतः मार्कण्डेय पुराण का है—

सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी।
संसार-बन्ध-हेतुश्च सैव सर्वेश्वरेश्वरी ॥

भागवत पुराण [१०।४०।२५, ११।११।३–४] में भी माया के द्विविध रूप उल्लिखित है। अध्यात्म रामायण अरण्य कांड [सर्ग ३। श्लोक ३२ से ३५] में माया के इन रूपों की चर्चा राम से संबद्ध की गई है।

1. सृष्टिस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥मानस बाल०। मंगल श्लोक ५,
तथा मानस अयो०। दो० १२६। पं० ६
एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें ॥
पं० ६। दो० १५ मानस अरण्य०

अविद्या माया अतिशय दुःखरूप है। उसी के कारण यावज्जीवन जीव भवकूप मे पड़े हुए है[1]।

८७. इस प्रकार तुलसी मायावाद स्वीकार करते हैं। किंतु उनकी यह माया अद्वैतवाद तथा वैष्णवो की 'माया' के युगल तत्त्वों से गठित हुई है। जयाख्य संहिता मे विष्णु की चार शक्तियाँ मानी गई है—लक्ष्मी, कीर्ति, जया और माया। पांचरात्रिक ग्रंथो मे माया का बड़ा विशद विवेचन मिलता है। प्रद्युम्न से कूटस्थ पुरुप और माया शक्ति का जन्म हुआ। यह माया शक्ति ही भगवत् शक्ति, मूल-प्रकृति, शश्वत् विद्या और विद्या के नाम से अभिहित होती है। यह माया सांख्यो की प्रकृति से इसलिये भिन्न है कि इसमे गुणों के अतिरिक्त नियति और काल तत्त्व भी रहते है। लक्ष्मी तंत्र के अनुसार माया कोष मे सत्, रज और तम के क्रम से महाविद्या, महालक्ष्मी और महाकाली का निवास रहता है। यह माया अद्वैतियो की माया की तरह झूठी नहीं है। प्रलय के बाद भी वह नारायण के साथ रहती है।

८८. अद्वैतियों की माया साख्यो की प्रकृति की भाँति त्रिगुणात्मिका है तथा अनिवर्चनीय भी। ब्रह्मज्ञान के अनतर उसका विनाश हो जाता है। तुलसी की माया मे उपर्युक्त दोनो रूपों का समावेश है। यह समन्वय भागवत और अध्यात्म रामायण मे भी दृष्टिगोचर होता है।

जगत् : तुलसी

८९. तुलसी ने जगत्, प्रपंच को मायाकृत[2] बताया है। इसी लिये वह द्वंद्वमय[3] मोहमूल[4] और नश्वररूप[5] है—

सपने होइ भिखारि नृप, रंकु नाकपति होई।
जागें हानि न लाभ कछु, तिमि प्रपंच जिय जोय॥
दो० ९२। मानस अयो०

---

१. एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥
पं०५। दो० १५। मानस अरण्य०

२. मानस, किष्किं०। दो० ७। पं १८

३. वही, बाल०। दो० ६। पं० ४ से दो० ६ तक

४. वही, अयो० दो० ९२। पं० ८

५. वही, लंका०। दो० ७७

यही कारण है कि विनयपत्रिका में तुलसी ने जीव को सचेत करते हुए कहा है—

जग नभ बाटिका रही है फलि फूलि रे।
धुवाँ कैसो धौरहर देखि तू न भूलि रे॥ पं० ७–८। पद ६६

इस प्रकार साफ जान पड़ता है कि तुलसीदास जी संसार को माया विजृम्भण मानते है। केवलाद्वैतियो के शब्दो मे जगत् पारमार्थिक नहीं अपितु व्यावहारिक सत्य है, अतः मिथ्या है। आत्मसाक्षात्कार अथवा भगवदनुग्रह प्राप्त कर लेने पर ज्ञानी या भक्त के लिए जगत् का द्वंद्वात्मक अस्तित्व मिट जाता है। इसी पक्ष का उन्मीलन करते हुए तुलसीदास शिव जी के द्वारा वंदना कराते है—

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें॥
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥
बंदउँ बाल रूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥
पं० १–३। दो० ११२। मानस बाल०

इसी तथ्य की अभिव्यक्ति तुलसी के वाल्मीकि की इन उक्तियों मे हुई है—

जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुन धामू॥ पं० ७
जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥ पं० ८

रजत सीप महुँ भास जिमि जथा भानुकर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥ दो० ११७

एहि विधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥ पं० १
जौं सपनें सिर काटै कोई। बिनु जागे न दूरि दुख होई॥ पं० २
जासु कृपाँ असि भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई॥
प० ३। दो १२८ मानस बाल०

निष्कर्ष

६०. इस प्रकार तुलसीदर्शन मे अद्वैत सिद्धात के साथ निम्नलिखित मतभेद है—

[१] तुलसी का सगुण ब्रह्म मायिक नहीं है। उनके निर्गुण और सगुण रूपों मे कोई भेद नहीं। अद्वैत दर्शन मे निर्गुण ब्रह्म ही परातपर तत्त्व है और सगुण ईश्वर मायोपहित माना जाता है।

[२] जीव का ब्रह्म से ऐक्य रूपी मोक्ष अद्वैत वेदातियो के लिए चरम पुरुषार्थ है। किंतु तुलसी के मत मे भक्ति ही अंतिम साध्य है।

[३] विद्या और अविद्या के भेद से माया दो प्रकार की मानी गई है—एक सत्य और दूसरी मिथ्या।

किंतु अद्वैत वेदांत से तुलसी के मत मे कुछ स्थलो पर अद्‌भुत साम्य है—

[१] ब्रह्म और जीव तत्त्वतः एक ही हैं। प्रबोध के पश्चात् उनमे भेद विनष्ट हो जाता है।

[२] विवर्तवाद उन्हें स्वीकृत है। अतः जगत् मिथ्या है।

[३] शक्ति और शक्तिमान् मे अंतर नहीं होता। विद्या सत्य होते हुए भी राम की शक्ति है और उनसे भिन्न नहीं है। इसलिये तत्त्व एक ही है—अद्वैत।

९१. तुलसी के दर्शन का ढाँचा अद्वैतका है। किंतु भक्ति के अनुरोध से उसमे सगुण ब्रह्म और परम पुरुषार्थ के विषय में कुछ पार्थक्य हो गया है। दिखाया जा चुका है कि प्रबोधचन्द्रोदय मे मायावाद, ब्रह्मजीवैक्य स्वीकार करके भी अंतिम पुरुषार्थ भक्ति ही माना गया। इसी प्रकार अद्वैतसिद्धि के रचयिता श्री मधुसूदन सरस्वती भी कृष्ण से बड़ा तत्त्व न जानने का उद्‌घोष करते हैं[1]। वे भक्तिरसायन में भक्तियोग को ही परम पुरुषार्थ भी मानते हैं[2]। ऐतिहासिक तथा सैद्धांतिक दृष्टि से अद्वैत-भक्तिपरक उनका उद्गार बड़े महत्व का है—

---

१. वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥
श्लोक १। पृष्ठ १२६। गीता मधुसूदनी।

२. नवरसमिलितं वा केवलं वा पुमर्थं
परममिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति॥ भक्ति रसायन १।१

भगवद्भक्ति-रसायन और गीता मधुसूदनी दोनों ग्रंथ निर्विवाद रूप से श्री मधुसूदन सरस्वती के माने जाते हैं। भक्तिरसायन से अनुमित उपर्युक्त अद्वैत भक्ति की पुष्टि गीतामधुसूदनी से होती है। सारांशतः वे अपने को परमशिव-स्वरूप मानते हैं फिर भी कृष्णभक्ति में प्रवृत्त होते हैं और जो कृष्ण के ऐसे महात्म्य को स्वीकार नहीं करते उनको मूढ नारकी कहते हैं—

सदा सदानन्दपदे निमग्नं मनो मनोभावमपाकरोति।
गतागताया समपास्य सद्यः परापरातीतमुपैति तत्त्वम्॥ श्लोक २

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः
स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः ।
शठेन केनापि वयं हठेन,
दासीकृता गोपवधूविटेन ॥

उपसंहार—

९२. मर्यादावादी भक्त तुलसी की उपासना मे दो धाराएँ सर्वत्र दिखाई देती हैं। उनकी भेदभक्ति स्मार्त कर्मकाडो के सहित है। यद्यपि स्मार्त वर्णाश्रमधर्म और कर्मकाड अपने आप मे महत्त्वपूर्ण नही है तथापि ईश्वरकृत होने के कारण मान्य एवं भक्ति के साधन है।

९३. उन्होने स्मार्त पंचायतन के अतर्गत अपने राम पचायतन का विनिवेश कर स्मार्त और आगम दोनो परंपराओ का समन्वय किया है। किंतु समस्त स्मार्त देवताओ को राम का भक्त सिद्ध कर राम की सर्वोत्कृष्टता स्थापित की है।

९४. अद्वैततत्त्व को स्वीकार करके भी वे निर्गुणसगुण को अभिन्न और मुक्ति से भक्ति को श्रेयस्कर मानते हैं। इस प्रकार उन्होने गमरूपी प्रासाद के अद्वैत आमलक पर भक्तिकलश की प्रतिष्ठा की है। स्मार्त धारा और आगम धारा का सामंजस्य तुलसी मे अवश्य है परतु भक्तिपरंपरा स्मार्त परंपरा से अधिक वलवती है।

—०—

शैवाः सौराश्च गाणेशा वैष्णवा शक्तिपूजकाः।
भवन्ति यन्मयाः सर्वे सोऽहमस्मि परः शिवः॥ श्लोक २

प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यमद्भुतम्।
न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढा निरयं गताः॥ श्लोक ४

मधुसूदनी पृष्ठ १२६-२७

यह एक विचारणीय विषय है कि प्रबोधचंद्रोदय के अंतर्गत काशी के प्रसिद्ध प्राचीन आदिकेशव मंदिर में प्रबोधोदय वर्णित है। मधुसूदन सरस्वती अपने समय मे काशी के प्रख्यात विद्वान् थे। मानसकार का अधिकांश प्रौढ़ जीवन काशी में व्यतीत हुआ। इस प्रकार ये तीनों अद्वैतवादी भक्त काशी के थे।

चतुर्थ अध्याय

भक्ति : २

भक्तिस्वरूप : अष्टछापी भक्त

१. सामान्य रीति से इन भक्तो ने अपनी कृतियो मे स्वतः भक्ति की व्याख्या नहीं की है। किंतु नारद-भक्ति सूत्र[1] के अनुसार ही वल्लभाचार्य की भक्ति के लक्षण 'सुदृढ़ और सबसे अधिक स्नेह'—मे 'माहात्म्यज्ञान' की उपाधि लगी हुई है[2]। इस माहात्म्यज्ञान की अभिव्यक्ति इन कवियो की रचनाओ मे सर्वत्र मिलती है। वल्लभसप्रदायो की सभी गद्दियों की स्वरूपसेवाओ मे वात्सल्य भाव की प्रधानता है। केवल श्रीनाथ जी की सेवा निकुंज भाव की होती है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभ में वल्लभाचार्य जी ने अपने संप्रदाय मे बोपदेव की 'स्नेहजा' नामक भक्ति का प्रमुख रूप से प्रवर्तन किया था। परंतु भागवत की भक्ति का स्वरूप, 'जिस किसी प्रकार भी हो श्रीकृष्ण मे अपना मन लगाना चाहिए'[3] उन्हे मान्य था[4]। अतः

---

१. सूत्र सं० २२–२३

२. माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ॥ तत्त्वदीपनिबंध। श्लोक ४६
तुलनीय—माहात्म्यज्ञानयुक्तस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया साष्ट्र्यादि नान्यथा ॥
[हरिभक्तिरसामृतसिंधु पृ० ११७ पर 'पांचरात्र' से उद्धृत]

३. तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत् ॥
भागवत। स्कंध ७। अ० १। श्लोक ३१

४. भागवत : सुबोधिनी। अध्याय १, विवेकधैर्याश्रय। श्लोक ११–१६

अन्य भावों की भक्तियाँ भी उनकी पद्धति में गृहीत हो गई होंगी। इसीसे अष्टछाप के भक्त कृष्ण की सभी प्रकार की लीलाओं के साथ स्थान स्थान पर उनकी महत्ता का उल्लेख करना नहीं भूलते।

२. डा० दीनदयालु गुप्त के अनुसार वल्लभाचार्य ने गोपी भाव की भक्ति का उपदेश तो किया था पर उस समय संप्रदाय में राधा तत्त्व का प्रवेश न हो सका था। इस तत्त्व की प्रतिष्ठा गो० विठ्ठलनाथ जी के समय में हुई जिसका स्रोत हित हरिवंश और चैतन्य महाप्रभु की उपासनाएँ थीं[1]। इस उपस्थापना में कुछ तथ्यों का निवेश उचित मालूम पड़ता है। पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि गोपी भाव की उपासना दक्षिण से संबद्ध थी और राधा तत्त्व उत्तर का था। सर्वप्रथम निंबार्काचार्य ने अपने उपास्य के वाम भाग में राधा की प्रतिष्ठा की। समय पाकर इस राधा तत्त्व की परंपरा हरिवंश आदि में नए रूप से विकसित हुई। फिर यहाँ से इस तत्त्व का प्रवेश वल्लभ सप्रदाय में हुआ। इस संप्रदाय में गोपीभाव या राधा तत्व का महत्व वढ़ जाने के कारण अवांतर काल में हरिराय जी ने भक्ति के दो रूपों की कल्पना की है—पदांभोज भक्ति एवं वदनाम्बुज भक्ति। उन्होंने पहली को 'शीतल' और 'सुलभ' एवं दूसरी को 'उष्ण' तथा 'दुर्लभ' बताया है[2]।

३. इस वर्ग में भक्ति का पर्याय 'सेवा' है। यह सेवा भी तीन प्रकार की बताई गई है—तनुजा सेवा, वित्तजा सेवा और मानसी सेवा[3]। इन सेवाओं में मानसी सेवा ही परा या फलस्वरूपा बताई गई है[4]। इसका कारण यह है कि भगवान् के दर्शन और स्पर्श की उपलब्धिभावमयी अवस्था, विशेष आह्लादजनक होती है। इसीलिये सूरदास ने कहा है—

मनसा और मानसी सेवा, दोउ अगाध करि जानों॥

सूर० । पद २११ । पं० ५

---

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, पृ० ४२६–२७

२. भक्तिर्द्विधा पदाम्भोजवदनाम्बुजभेदतः।
प्रथमा शीतला भक्तिर्यतः श्रवणकीर्तनात्।
तत्रैव मुख्यसम्बन्धः सुलभो नारदादिषु।
द्वितीया दुर्लभा यस्मादधरामृतसेवनात्॥
श्री हरिराय वाङ्मुक्तावली। भक्तिद्वैविध्यनिरूपणम्। श्लोक १–२

३. सिद्धांत मुक्तावली। षोडस ग्रंथ। श्लोक २

४. वही। श्लोक १

४. इस भक्ति मे भी 'लोकाश्रय' के पूर्ण परित्याग के साथ दृढ़तापूर्वक 'अनन्याश्रय' होना परमावश्यक माना गया है। लोकाश्रय के त्याग की अभिव्यक्ति इस वर्ग के भक्तो की रचनाओ एवं उनके जीवनवृत्त से प्रमाणित होती है। सूरदास ने 'कंचन से मिट्टी तक का परित्याग करते हुए शरीर का मोह छोड़कर हरिभजन' का उपदेश दिया है[1]। परमानददास की गोपिका ने भी 'एक नंदनंदन के ही कारण सबसे दुश्मनी मोल ले ली थी[2]। अष्टछाप मे कुंभनदास की वार्ता से विदित होता है कि उन्हे अकबर के निमंत्रण और भेंट आदि देने के लिये मानसिंह की अभिलाषा मात्र से अपार क्लेश हुआ था[3]।

५. एकमात्र उपास्य का आश्रय करना 'अनन्याश्रय' कहा जाता है। इसके बिना भगवत्प्रेम की उत्कट स्फूर्ति संभव नहीं होती। इसी से वल्लभाचार्य जी ने 'विवेकधैर्याश्रय' मे बताया है कि भक्त को कृष्ण से अतिरिक्त देवताओ के भजन पूजन का या प्रार्थनाकार्य के लिये भी उनके मदिरो मे स्वतः गमन का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। जैसे ब्रह्मास्त्र केवल अपने लक्ष्य पर तथा चातक स्वाती नक्षत्र के मेघ मात्र पर कॆंद्रित रहता है वैसे ही भक्त को भी होना चाहिए[4]।

६. इसी से सूरदास भक्तिपथ का अनुसरण करनेवाले के लिए सुतकलत्र आदि का प्रेम परित्याज्य मानते हैं[5]। कामनाओ का छूटना आवश्यक बताते है[6]। 'कोमल वचन' एवं 'दीनता' को[7] स्पृहणीय ठहराते है तथा अनन्योपासना की महिमा उद्घाटित करते हुए कहते है—

> गोविंद सौं पति पाइ, कहं मन अनत लगावै।
> स्याम भजन बिनु सुख नहीं, जौं दस दिसि धावै॥
> पति को व्रत जो धरे तिय, सो सोभा पावै।
> आन पुरुष को नाम लै पतिव्रतहि लजावै॥
>
> सूर०। पद ३५५२। पं० १-४

---

१. डा० दीनदयाल : अष्टछाप, पृ० ६७८
२. डा० धीरेन्द्र वर्मा : अष्टछाप। पृ० ६९
३. वही। प्रसंग २–३। पृ० ७२–८२
४. विवेकधैर्याश्रय : षोडशग्रंथ : श्लोक १४-१५
५. सूर०। पद ३६३। पं० १
६. वही। पद ३६२
७. वही। पद ३६१। पं० ३

सूरदास ने उपर्युक्त सिद्धांत की ही भूमिका मे कहा है—

स्याम बलराम कौं सदा गाऊं।
स्याम बलराम बिनु दूसरे देव कौं, स्वप्न हूँ माहिं नहिं हृदय लाऊं।
यहै जप, यहै तप, यहै मम नेम व्रत, यहै मम प्रेम फल यहै ध्याऊं॥
यहै मम ध्यान, यहै ज्ञान, सुमिरन यहै, सूर-प्रभु देहु हौं यहै पाऊं॥
सूर०। पद १६७ तथा द्रष्टव्य पद ७५, पद ३५४

७. वास्तव मे सूरदास जी ने भागवत[1] के आधार पर और उसी प्रसंग मे चार प्रकार की भक्तियाँ बताई हैं। माता देवहूति के प्रश्न करने पर कपिल भगवान् ने उनसे कहा—

माता, भक्ति चारि प्रकार। सत, रज, तम गुन, सुद्धा सार॥
भक्ति एक पुनि बहुविधि होइ। ज्यों जल रंग मिलि रंग सु होइ॥
भक्ति सात्विकी चाहत मुक्ति। रजोगुनी, धन कुटुंबऽनुरक्ति॥
तमोगुनी चाहै या भाइ। मम बैरी क्यों हूँ मारि जाइ॥
सुद्धा भक्ति मोहि कौं चाहै। मुक्तिहुँ कों सो नहि अवगाहै॥
मन क्रम बच मम सेवा करै। मन तें सब आसा परिहरै॥
सूर०। पद ३९४। पं० ३-८। पृ० १३३

इस प्रसंग मे यह अवश्यज्ञातव्य है कि भागवत के जिन श्लोकों के आधार पर वोपदेव ने मुक्ताफल मे भक्तिभेद स्थिर किये है वे ही सूरदास के भी अवलंब हैं। पर दोनो के वर्गीकरण मे पहला अतर यह है कि सूर ने स्थूल दृष्टि से वर्गभेद किया है और वोपदेव ने सूक्ष्म दृष्टि से। इसीलिए सगुणा भक्ति के भागवतोक्त नौ भेद सूर के तीन भेदों मे ही सिमट कर रह गए हैं। इन तीनों प्रकार की भक्तियो को सूरदास ने सकाम बताया है और शुद्धा को निष्काम। वस्तुतः इस निष्काम शुद्धा के भी वोपदेव ने दो भेद कर दिए हैं—ज्ञानमिश्रा तथा शुद्धा। इस अंतर का कारण यह मालूम पड़ता है कि वोपदेव का लक्ष्य शास्त्रीय छानबीन था जब कि सूरदास की दृष्टि अनन्याश्रयिणी निर्गुणा शुद्धा पर केन्द्रित थी। जो पारम्परिक भेद उन्होंने बताए हैं वह प्रासगिक होने के कारण अपरिहार्य थे। उनको तो 'अनन्य भक्ति' से ही प्रयोजन था 'जिसमे उपासक के हित और भगवान् के हित मे अभेद हो जाता है—वह कुछ भी कामना नहीं करता, इससे भगवान् को बड़ा संकोच होता है कि मैं इसके लिए

१. भागवत ३।२९। ७-१४

क्या करूँ ? ऐसे भक्त के शत्रु मित्र नहीं होते और वह 'सुज्ञानी' की भूमिका मे पहुँच जाता है[1]। मर्यादावादी तुलसी की अनन्यता से, शास्त्रवादी भक्तो की इस अनन्यता का अंतर देवतामंडल के विवेचन मे स्पष्ट किया जायगा।

साधना भक्ति—

८. पुष्टि मार्ग में भगवान् का अनुग्रह ही भक्ति का नियामक माना जाता है[2]। वल्लभाचार्य का कथन है कि हरि किसी की साधनसंपत्ति से संतुष्ट नहीं होते। अतः भगवान् को प्रसन्न करने के लिए भक्तों के पास एकमात्र साधन है—दैन्य निवेदन[3]। इसीसे इस भक्ति को 'निःसाधना' भक्ति कहा जाता है। फिर भी भगवान् की ओर उन्मुख चित्तवृत्ति के उत्तरोत्तर के विकास के लिए साधना भक्ति स्वीकृत हुई है। वल्लभाचार्य ने बीजरूपा भक्ति की अभिवृद्धि एवं प्रौढ़ि के निमित्त श्रवणादिक नव भक्ति को स्वीकार किया है और यह कहा है कि गृहस्थ को स्वधर्म-पालनपूर्वक अविरुद्ध भाव से कृष्ण का भजन करना चाहिए। व्यावृत्त चित्त होने पर भी गृहस्थ को श्रवणादि भक्ति साधना मे प्रयत्नवान् होना चाहिए। इसीसे यथाक्रम-प्रेम, आसक्ति एवं व्यसन नामक भक्ति की त्रिविध भूमिकाओ का उदय होता है। सच पूछा जाय तो चिन्मुख स्नेह या प्रेम से लौकिक राग का विनाश होता है, भगवान् मे आसक्ति होने से घर बार मे अरुचि उत्पन्न हो जाती है। इससे भक्त को गार्हस्थिक प्रपंच बाधक प्रतीत होने लगते हैं, उनके प्रति अनात्म-बुद्धि जग जाती है। परंतु भक्त को कृतार्थता तो कृष्ण के प्रति पूर्ण व्यसन होने पर ही मिलती है[4]।

---

१. सूर। पद ३६४। पं० ६, ११-१२। पृ० १२२

२. अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामकमिति स्थितिः।

श्लोक १८। षोडशग्रंथ, सिद्धांतमुक्तावली

३. नहि साधनसम्पत्या हरिस्तुष्यति केवलम्।
भक्तानां दैन्यमेवैकं हरितोषणसाधनम्॥

फल० अध्याय ४। श्लोक २। भागवत सुबोधिनी

४. बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः।
अव्यावृत्तं भवेत् कृष्णे पूजनं श्रवणादिभिः॥
व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा।
ततः प्रेमा तथाऽऽसक्तिर्व्यसनं च तदा भवेत्॥

× × × ×

स्नेहाद्रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद् गृहारुचिः॥

६. भागवत मे भगवान् ने बताया है कि सांसारिक विषयों का अनुध्यान करने से चित्त उन्हीं विषयों मे फँस जाता है लेकिन मुझ मे संसक्त होने पर वह मुझ में ही विलीन होता है[1]। तात्पर्य यह कि विषयात्मिका प्रवृत्ति जड़ासक्ति होने के कारण 'बंध' का कारण है लेकिन भगवद्विषयिणी या चिन्मुखी होने पर वही वृत्ति बंधन से छुड़ाने का कारण बन जाती है। इसी से भागवत मे काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य सौहृद आदि किसी वृत्ति को भगवान् मे नित्य विनियुक्त करनेवाले की तन्मयता का वर्णन हुआ है[2]। इस सिद्धात को परिपुष्ट करते हुए वल्लभाचार्य जी ने कहा है कि "जीव, अंतःकरण, प्राण, इंद्रिय, देह, विषय, गृह, अर्थ और पुत्रादि मे भगवद्भावना करनी चाहिए। काम क्रोधादि भावो की भी भगवान् की ओर ऐसी प्रवृत्ति होनी चाहिए जिससे संसार निवृत्त हो जाय[3], ठीक वैसे ही जैसे आत्मबोध मे प्रपंच विलय हो जाता है"। इस सिद्धात की पीठिका पर ही शास्त्रवादी रचनाकारों ने श्रीकृष्ण के प्रति निःसंकोच भाव से अपने समस्त सासारिक भावों को समर्पित कर दिया है। इस

गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते।
यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥

भक्तिवर्धिनी। षोडश०। श्लोक २ से ५ तक

१. विषयान्ध्यायायतश्चितं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चितं मय्येव प्रविलीयते ॥ श्लोक २७। अ० १४। भाग० स्कन्ध ११।

२. कामाद्द्वेषाद्भयात्स्नेहाद् यथाभक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः ॥

श्लोक २६। अध्या० १। भागवत स्कन्ध ७।

× × × इसी अध्याय का श्लोक ३० और ३१ भी द्रष्टव्य।

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥

श्लोक १५। अध्याय २६। भागवत स्कन्ध १०।

३. जीवेऽन्तःकरणे चैव प्राणेष्विन्द्रियदेहयोः।
विषयेषु गृहेऽर्थे च पुत्रादिषु हरिर्यतः ॥
तादृशी भावना कुर्यात् कामक्रोधादिभिर्यथा।
पूर्वप्रपंचविलयो यथा ज्ञाने तथा यतः ॥

भाग० सुबोधिनी। फल० अध्या० १।१५ वें श्लोक की टीका

सिद्धांत को यथावत् ध्यान में न रखने के कारण कभी कभी सत्समीक्षकों को भी इनकी रचनाओं मे सुरुचि का अभाव खटकने लगता है।

१०. यद्यपि वल्लभाचार्य जी ने स्पष्ट रीति से 'सुबोधिनी' मे बताया है कि भगवान् केवल साधन संपति से संतुष्ट नहीं होते (वास्तव मे भक्तो के लिए एकमात्र दैन्य भाव हरि की तुष्टि का साधन है)[1] तथापि इस पुष्टिमार्ग की रागानुगा भक्ति मे दैन्य भाव की वह प्रतिष्ठा न मिलेगी जो मर्यादामार्गी तुलसीदासजी की रचनाओं में वर्तमान है। इस वर्ग के छीत स्वामी आदि अनेक भक्तो की रचनाओ मे 'दैन्य निवेदन' का दृष्टात ढूँढ़ने से भी न मिलेगा। सूरसागर मे विनय के पदो मे दैन्य भाव का जो उत्कट प्रदर्शन है वह आगे बढ़ने पर शिथिल हो जाता है। गोपियों की दैन्यपरक उक्तियाँ विरल है। 'चौरासी वैष्णवन' की वार्ता के अनुसार जब सूरदास जी सर्वप्रथम महाप्रभु वल्लभाचार्य के दर्शनार्थ गए तो उन्होंने 'हौं हरि सब पतितन को नायक' तथा 'प्रभु मैं सब पतितन को टीको'—ये दो पद गाकर सुनाए। इस पर 'श्री आचार्य महाप्रभून ने कह्यो जो सूर ह्वै कै ऐसो घिघियात काहे को है, कछू भगवत्लीला वर्णन करि'[2]। सुना जाता है कि इसके बाद से सूरदास जी ने लीलागान शुरू कर दिया और उन्हे 'घिघियाने' से छुट्टी मिली। अतएव 'दैन्य' का मर्यादामार्गीय महत्व शास्त्रवादी भक्तों के निकट उस रूप मे तो नहीं ही था। उपास्य और उपासना के विभेद से ही 'दैन्य भाव' का रूप उभयत्र पृथक् दिखाई देता है।

११. वल्लभाचार्य जी ने भगवान् के प्रति 'सर्वतोऽधिक', 'सुदृढ़' प्रेम की प्राप्ति के निमित्त घरबार के छोड़ने की आवश्यकता नहीं समझी। पर विरहानुभव की उत्कट संवेदना के लिए अवश्य ही गृहत्याग को उन्होने सुखावह बताया है। साथ ही यह भी कहा कि गृहत्याग के बाद भक्त जो वेष धारण करे उसे वह स्वीय स्त्री पुत्रादि की झंझटो से निवृत्त होने के लिए ही समझे[3]। अष्टछाप के कवियो की जीवनी से इसके प्रमाण मिलते है। सूरदास गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट होने के पहले ही त्यागी हो गए थे। नंददास, छीत स्वामी और गोविंद स्वामी गृहस्थाश्रम से निकलकर विरक्त हुए थे। परमानंददास और कृष्णदास बिना विवाह किए ही माता पिता के साथ गृहस्थी मे रहे थे। इन छहों भक्तों ने बिना वेशपरिवर्तन के ही श्रीनाथ जी की सेवा की।

---

१. द्रष्टव्य, टिप्पणी संख्या ३, पृ० १४६

२. धीरेन्द्र वर्मा : अष्टछाप। पृ० ४।

३. विरहानुभवार्थं तु परित्यागः सुखावहः।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा॥ संन्यास० षोडश०। श्लोक ७

इसके विपरीत कुंभनदास और चतुर्भुजदास ने आजीवन गृहस्थ रह कर श्रीनाथ जी की सेवा की।

१२. उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वल्लभाचार्य को 'सुदृढ़' एवं 'सर्वतोऽधिक' भगवत् स्नेह की साधनावस्था मे कर्म, ज्ञान और उपासना—तीनों अभिमत हैं। संभवतः इसी की विवृति सूरसागर मे मिलती है। कपिल भगवान् के माध्यम से सूरदास ने कहा है—

त्रिविध भक्ति कहौं सुनि अब सोइ। जातें हरिपद प्रापति होय॥
एकै कर्म जोग कों करैं। बरन आसरम धरम विस्तरैं॥
अरु अधर्म कबहूँ नहिं करैं। ते नर याही विधि निस्तरैं॥
एकै भक्ति जोग कौं करैं। हरि सुमिरन पूजा बिस्तरैं॥
हरि-पद-पंकज प्रीति लगावैं। ते हरिपद कौं या विधि पावैं॥
एकै ज्ञान जोग बिस्तरै। ब्रह्म जानि सबसों हित करैं॥
ते हरि पद कौं या बिधि पावै। क्रम क्रम सब हरि पदहिं समावैं॥[1]

इसकी अंतिम पंक्ति ध्यान देने योग्य है। 'क्रम क्रम सब हरि पदहिं समावैं' का यही सौरस्य प्रतीत होता है कि बिना श्रीकृष्ण के अनुग्रह के भगवत्प्रेम नहीं मिल सकता और बिना प्रेम के हरिपद की प्राप्ति असंभव है। अतः कर्म-ज्ञान-भक्ति रूपी साधन 'क्रम मुक्ति' के साधक है।

१३. वल्लभाचार्य ने भगवद्भक्ति के लिए 'महात्म्यज्ञान' आवश्यक माना है। इसके लिए भक्त को भगवान् के साथ अपना 'अंशांशीभाव' संबंध जानना आवश्यक है। यदि पुष्टिमार्गी भक्त इस बोध को प्राप्त करने मे असमर्थ हो, तो उन्होने उसके लिए भगवत्स्वरूप की नित्य पूजा और उत्सवादि में दत्तचित्त होना जरूरी बताया है[2]। चतुःश्लोकी मे तो उन्होने 'स्मरण भजन' को कभी न छोड़ने की बात कही है[3]। इसी प्रकार भक्तिवर्धिनी मे उन्होने अपना मत व्यक्त किया है कि भगवान् की सेवा

---

१. सूर०। पद २६४। पं० ४–१०, पृ० १२७ तुलनीय : भागवत ३। अध्याय २२

२. ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत् पूजोत्सवादिषु॥ सिद्धांत०। षोडश०। श्लोक १७

३. अतः सर्वात्मना शश्वद् गोकुलेश्वरपादयोः।
स्मरणं भजनं चापि न त्याज्यमिति मे मतिः॥ चतुःश्लोकी षोडश०। श्लोकी ४

या कथा मे जिसकी दृढ़ आसक्ति होती है उसका कभी विनाश नहीं होता[1]। इन सब सिद्धांतो से स्पष्ट है कि देवालयीय उपचारों की वे विशेष महत्ता स्वीकार करते थे।

१४. भगवत्स्वरूप की नित्य सेवाविधि मे नवधाभक्ति के अनेक अंगों की साक्षात् उपयोगिता थी। इसी से अष्टछापी भक्तों की रचनाओं मे इसकी चर्चा कहीं कहीं मिलती है। उदाहरणार्थ सूरदास ने एक स्थान पर श्यामसुदर के चरणकमलों में नवलक्षणा भक्ति की कल्पना किंजल्क रूप मे की है[2]। राजा अंबरीष की कथा में इनका विवरण देते हुए कहते है—

स्रवन कीर्तन सुमिरन करै। पद सेवन अरचन उर धरै॥
बंदन दासपनो सो करै। भक्तनि सख्य भाव अनुसरै॥
काय निवेदन सदा बिचारै। प्रेम सहित नवधा बिस्तारै॥

सूर०। पद ४४६। प० ५-७

डा० दीनदयालु गुप्त के अनुसार सूरदास जी ने इस नवधा के साथ 'प्रेम लक्षणा' का भी उल्लेख किया है—

श्रवण कीर्तन स्मरण पादरत अरचन बंदन दास।
सख्य और आतम निवेदन, प्रेम लक्षणा साथ॥

डा० गुप्त : अष्टछाप। पृ० ५४३

डा० गुप्त ने परमानंददास का एक पद अपने निजी संग्रह से उद्धृत किया है जिसमें उपर्युक्त दशधा भक्तियो के साथ प्रत्येक भक्तों का भी अलग अलग विवरण है—

ताते दसधा भगति भली।
जिन जिन कीनी तिनके सनते नेकु न अबत चली॥
श्रवण परीक्षित तरे राजरिषि, कीर्तन करि सुकदेव।
सुमिरन करि प्रह्लाद निर्भय भयो, कमला करी पद सेव॥

---

१. सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिः दृढा भवेत्।
यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापीति मे मतिः॥ भक्ति०। षोडश०। श्लोक ६

२. भृंगी री, भजि स्याम-कमल-पद, जहाँ न निसि को त्रास।
जहँ बिधु भानु समान, एक रस, सो बारिज सुख रास॥
जहँ किंजल्क भक्ति नव लच्छन, काम ज्ञान रस एक।
निगम, सनक, सुक, नारद, सारद, मुनि जन भृंग अनेक।

सूर०। पद ३३९। पं० १-४

पृथु अरचान, सुफलकसुत बंदन, दास भाव हनुमंत।
सखाभाव अर्जुन बस कीने श्री हरि श्री भगवंत॥
बलि आतम समर्पन करि हरि राखे अपने पास।
अविरल प्रेम भयौ गोपिन कौ बलि परमानँददास॥

वही। पृ० ५४३

संभवतः परमानंददास को इस रचना की प्रेरणा हरिभक्तिरसामृतसिंधु में उद्धृत निम्नलिखित श्लोक से मिली होगी—

श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद् वैयासकिः कीर्तने
प्रह्लाद स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने।
अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कृष्णाप्तिरेषां परम्॥

पृ० ८६-८७

१५. नवधा भक्तियों मे से आरभिक तीन—श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण नामक भक्तियाँ विशेषतः भगवान् के नाम, लीला एवं धाम से संश्लिष्ट है, और पाद सेवा, अर्चन तथा वंदन उनके रूप से संबद्ध हैं। दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन ही अपने 'सांद्ररूप' मे भाव दशा को प्राप्त होती हैं। इसी से नंददास ने 'रूपमंजरी' के अंतर्गत प्रथम वर्ग की साधना भक्ति को 'नाद मार्ग' नाम दिया और दूसरे वर्ग की साधना भक्ति को 'रूप मार्ग' [1]।

१६. अष्टछाप की वार्ताओ के अनुसार वल्लभसंप्रदाय मे आठ समय की सेवाओं का बड़ा महत्व है। इसकी सामान्य व्यवस्था तो वल्लभाचार्य जी ने श्रीनाथ जी के प्राकट्य के थोड़े ही समय के भीतर कर दिया था। परंतु विट्ठलनाथ जी ने इन सेवाओं का मंडान बड़ी ही तत्परता से किया[2]। भगवान् की श्रीमाधुरी के दर्शनों का सौभाग्य भक्तों को आजदिन कतिपय 'समय सेवाओं' के अवसर पर ही उपलब्ध होता है।

१७. डा० दीनदयालु गुप्त[3] तथा श्री प्रभुदयाल मीतल ने अपने ग्रंथों में उपर्युक्त आठ समय की कीर्तन सेवा का विवरण प्रस्तुत किया है जो नित्यक्रम,

---

१. जग में नाद अमृत मग जैसो। रूप अमीकर मारग तैसो॥

रूपमंजरी। दो० २२। पं० ४ तथा, गुप्त : अष्टछाप०। पृ० ५४२

२ छीत०। पद २३। पं० ३

३ अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, ५६८-५६६

ऋतुक्रम तथा उत्सवक्रम के अनुसार परिवर्तित रूप मे भी आयोजित होती है। इन सब व्यवस्थाओं से वल्लभ संप्रदाय की भक्ति का देवालयीय परंपरा से घनिष्ठ संसर्ग व्यक्त होता है।

भाव भक्ति : शाखवादी या पुष्टिमार्गी भक्त

१८. पुष्टिमार्गीय भक्ति यद्यपि भगवत्कृपा से ही साध्य मानी गई है फिर भी इस संप्रदाय मे 'स्वरूप सेवा' और दूसरे कारणों से साधना भक्ति स्वीकृत है। इस साधना का परपरया लक्ष्य प्रेम लक्षणा ही है। यद्यपि साधना और प्रेम लक्षणा के बीच इस संप्रदाय मे किसी दूसरे भक्तिभेद की कल्पना नहीं की गई है, तथापि रूप गोस्वामी की भावभक्ति का रूप इस मार्ग मे निम्नलिखित ढंग से समझा जा सकता है।

१९. बताया जा चुका है कि नवधा साधना के अतिम तीन रूप परिपुष्ट होकर भाव दशा को प्राप्त होते है। इनमे से 'सख्य' भाव को दास्य से भिन्न माधुर्य आदि का उपलक्षण समझना चाहिए। इस अवस्था मे उपासक का उपास्य के साथ कोई न कोई रागात्मक संबंध होता ही है। यद्यपि वल्भाचार्य जी ने प्रमुख रीति से 'वात्सल्य भाव' की प्रतिष्ठा की किंतु इसके साथ ही अन्य भावो के ग्रहण का अवकाश अनवरुद्ध रखा। फलतः अष्टछापी भक्तो की भक्ति 'सख्य' भाव की दृढ़ हुई। बिट्ठलनाथ जी ने 'माधुर्य' भाव का अंतरंग गोष्ठी मे प्रसार किया। छीतस्वामी के निम्नलिखित पदांश से इसका संकेत मिलता है—

> **पिय नवरंग गोवर्धनधारी।**
> **अभिनव रस सिंगार सरस श्री बिट्ठल प्रभु चितचारी॥**

छीत० १४ वां पद। पं० १-२

'अभिनव रस सिंगार' से नव प्रवर्तित 'माधुर्य' रस अभीष्ट ज्ञात होता है। दूसरे स्थल पर 'गुप्त रस' शब्द से इसी भाव की प्रतीति होती है। जैसे—

> **कहा कहौं री, आली, तोसौं श्री बिट्ठल प्रभु निपुन सबनि मैं।**
> **भगवद् भाव गुप्त रस अनुभव प्रगट कियो सब अपने जननि मैं॥**

वही। पद १८७। पं० १-२

इसी से छीत स्वामी ने बिट्ठलनाथ जी को 'रसरूप' कहा है[1]। वल्लभाचार्य जी के 'विरहानुभव'—

---

१. छीत०। पद ११। पं० १

यच्च दुःखं यशोदायाः नन्दादीनां च गोकुले ।
गोपिकानां तु यद्दुःखं तद्दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥
निरोधलक्षण । षोडश० । पं० १

से संमिश्रित होकर विट्ठलनाथ जी का 'गुनरस' छीत स्वामी की रचना मे निम्नलिखित ढंग से व्यक्त हुआ है—

प्रानप्यारे कुँवर नेंकु गाइए ।
आनन कमल अधर सुंदर धरि मोहन, वेनु बजाइए ॥
अमृत हास मुसकनि बलैयां लेउं नैननि की तपनि बुझाइए ।
परम दुसह बिरहानल व्यापत तन सब जरत जुड़ाइए ॥
उभय कर कमल हृदय सों परसि कै बिरहिनि मरत जिवाइए ।
छीत स्वामि गिरिधर तुम से पति पूरन भाग जु पाइए ॥
वही । पद ११६

२०. इस भावावस्था मे ही नारद-भक्ति-सूत्र[1] मे कही गई ग्यारह प्रकार की आसक्तियों का स्वरूप स्फुट होता है। भक्तिसूत्रों मे इन आसक्तियों को 'परा भक्ति' का साधक बताया गया है। 'परा' ही 'प्रेम लक्षणा' भक्ति है। इस स्थिति मे 'भाव भक्ति' के अंतर्गत—इन आसक्तियो का विकास मान लेने में विशेष बाधा नहीं दिखाई देती। 'श्रवण', 'स्मरण', 'सख्य', 'दास्य' और 'आत्मनिवेदन' नामक साधन भक्तियाँ ही भावभक्ति मे क्रमशः 'गुणमाहात्म्यासक्ति', 'स्मरणासक्ति' आदि नामों से अभिहित होती है। 'पूजासक्ति' मे अवश्य ही 'अर्चन', 'वंदन' और 'पादसेवन' नामक तीन साधनाभक्ति के रूप जुड़े हुए प्रतीत होते है। 'तन्मयतासक्ति' के किसी एक देश मे 'कीर्तन' नामक साधनाभक्ति का समाहार हो सकता है। इनके अतिरिक्त 'रूपासक्ति', 'वात्सल्यासक्ति', 'कांतासक्ति' और 'परमविरहासक्ति' नामक भाव दशाएँ स्वतंत्र हैं। अष्टछाप के भक्तों में इन सभी प्रकार की आसक्तियो के दृष्टांत मिलते हैं। पर 'रूपासक्ति' के व्यंजक पदों की प्रचुरता है। इस प्रघट्टक के ठीक पूर्व उदाहृत पद पद छीत स्वामी की 'परमविरहासक्ति' का निदर्शक है।

प्रेमाभक्ति : शास्त्रवादी भक्त

२१. वल्लभाचार्य जी ने 'पांचरात्र' के अनुसार भक्ति का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा कि इस भक्ति से ही मुक्ति लभ्य है अन्यथा नहीं। सूरदास जी ने भी इसी

१. सूत्र सं० ८२

का उल्लेख अनेक बार किया है। वेद भगवान् कृष्ण की स्तुति मे कहते हैं 'भक्ति करै से उतरै पार'[1] तथा 'प्रेम भक्ति बिनु मुक्ति न होइ'[2]। उन्होने श्रीकृष्ण से कहलाया है कि हम तो सिर्फ 'प्रेम प्रीति के गाहक' हैं[3]। परंतु यह प्रेम लक्षणा भक्ति 'प्रभु प्रसादोत्थ' मानी गई है। भक्त को तो भगवान् की प्रेममयी उपासना करनी चाहिए। इसी से 'भक्त विरह-कातर करुनामय' भगवान् भक्तों के 'पीछे पीछे डोलने' लगते हैं[4]। पर यह भी भगवान् की अपनी कृपालु प्रकृति है। किसी अन्य साधना से वे हठात् आकृष्ट नहीं किए जा सकते। इसी से परमानंद दास कहते है—

जब ते प्रीति स्याम सों कीनी।
ता दिन ते मेरे इन नैननि ने कहुँ नींद न लीनी॥
सदा रहत चित चाक चढ्यो सो और कछु न सुहाय।
मन मे रहे उपाय मिलन को इहै बिचारत जाय॥
परमानंद पीर प्रेम की काहू सों न कहिए।
जैसे बिथा मूक बालक की अपने तन मन सहिए॥

अष्टछापः गुप्त, पृ० ५५०.

कुंभन दास ने भी अपने 'परम भावते' मोहन को नेत्रों के सामने से कभी न टलने की प्रार्थना की है[5]। छीत स्वामी ने भी—

प्रीतम प्रीति तें बस कीनों।
उर अंतर तें स्याम मनोहर मै कहुँ जान न दीनों॥
सहि नहिं सकति बिछुरनो पल भरि भलौ नेमु यह लीनों।
'छीतस्वामी' गिरि धरन श्री बिट्ठल भक्ति-कृपा-रस भीनों॥

छीत० । पद ११२.

गोविंदस्वामी का दृढ़ विश्वास है कि—

---

१. सूर० । पद ४६१८। पं० २०
२. वही । पद ४६१६। पं० ८
३. सूर० । पद २३६ । पं० ८
४. सूर० । पद ८ । पं० ७
५. कुंभन० । पद २०६ । पं० १

प्रीतम प्रीति ही तें पैये ।
जदपि रूप गुन सील सुघरता इन बातननि रिझैये ॥
सत कुल जनम करम सुभ लच्छन बेद पुरान पढ़ैये ।
'गोविंद' प्रभु बिना स्नेह सुवा लौं रसना कहा नचैये ॥
गोविंद० । पद ३४३

२२. उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि वल्लभ संप्रदाय की प्रेम लक्षणा भक्ति मे साधनावस्था तक तो लोकमर्यादा, कर्म और ज्ञान का जो कुछ भी थोड़ा बहुत स्वरूप स्वीकृत हो पर उसके बाद भक्ति शास्त्र की श्रवण, स्मरण, सेवा आदि मान्यताओं का ही निर्वाह शेष रह जाता है। इसका कारण उनके उपास्य, लीला पुरुषोत्तम तथा उनकी ललित लीलाओं की उपासना मे निहित है।

उपास्य : कृष्ण

२३. पाचरात्रिकों मे चतुर्व्यूह के अंतर्गत वासुदेव-कृष्ण-पूजन का विधान है। ये वासुदेव द्विविध हैं—दैविक वासुदेव और मानुष वासुदेव[1]। इनके अतिरिक्त इस वैखानस पांचरात्र परंपरा मे श्रीकृष्ण की पूजा का भी विधान है[2]। इन श्रीकृष्ण के नवनीतनृत्त, कालियमर्दन और पार्थसारथी तीन रूपों मे से किसी एक की प्रतिष्ठा दशावतारो मे विहित है। किंतु इसके बहुत पूर्व से कृष्ण की स्वतंत्र पूजा प्रारंभ हो गई थी। उदयपुर से प्राप्त सं० ७१८ विक्रम सन् ६६१ ईस्वी के अपराजित गुहिल के अभिलेख का मंगलाचरण गोपी और कृष्ण की क्रीड़ाओं का वर्णन करता है[3]। मंगलाचरण होने के कारण यह कृष्ण के स्वतंत्र पूजन का निश्चित प्रमाण है। इस समय के आसपास दक्षिणी आलवारो मे भी कृष्ण भक्ति के प्रचुर प्रचार के साक्ष्य मिलते है।

२४. भक्ति संप्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्यों मे सर्वप्रथम निंबार्काचार्य ने कृष्ण को स्वतंत्र रीति से उपास्य मानकर अपनी भक्ति साधना का प्रसार किया। आलोच्ययुग मे वल्लभाचार्य जी ने भी इसी परंपरा को आगे बढ़ाया जिसकी बड़ी सशक्त अभिव्यक्ति हिंदी साहित्य मे हुई है।

---

१. वैखानसागम । पृ० २०६
२. वही । पृ० २०३
३. एपीग्रेफिया इंडिका, जि० ४, पृ० २९

अष्टछापी भक्त

२५. अष्टछापी भक्तो के उपास्य रसरूप पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचद्र हैं। उन्होंने इनकी बाल-किशोर-पौगंड अवस्थाओ की ललित लीलाओं का विशद गान किया है। सूरसागर को छोडकर इस वर्ग के भक्त कवियो की रचनाओं मे कृष्ण की ब्रज लीला के अलावा अन्य लीलागान के पद नहीं मिलते। इससे स्पष्ट है कि इन कवियों के आकर्षण का प्रधान विषय ब्रजेश्वर कृष्ण की लीलाएँ ही थीं।

२६. वल्लभ संप्रदाय मे ब्रजकृष्ण को ही रसरूप माना गया है। इसका कारण यह है कि इस रूप मे भगवान् की लीलाएँ भक्तो के एकात आह्लाद के निमित्त हुई है। इसी तरह हरिभक्तिरसामृतसिधु मे श्री रूप गोस्वामी ने गोकुलवासी श्री कृष्ण को ही 'पूर्णतम' माना है। वास्तव मे उन्होने श्री कृष्ण के त्रिविध रूपो की कल्पना है—पूर्णतम, पूर्णतर और पूर्ण। इस वर्गीकरण का आधार उन्होंने भगवद्-गुण-प्रकाश बताया है। 'अखिल-गुण-प्रकाश' होने के कारण गोकुलवासी श्रीकृष्ण ही पूर्णतम स्वरूप है। इनकी अपेक्षा मथुरावासी और द्वारिकावासी श्रीकृष्ण मे गुणप्रकाश उत्तरोत्तर क्षीण है। इसीसे वे क्रमशः पूर्णतर एवं पूर्ण माने गए है[1]।

२७. अष्टछापी कवियो ने लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को बार बार पूर्णपुरुषोत्तम और विभिन्न अवतारो का उत्स–अवतारी कहा है। इसीलिये उनका अवतार एकाकी नहीं होता। उनके साथ ही उनका 'अक्षरधाम' तथा उनकी अनंत 'लीलामयी शक्तियाँ' भी अवतीर्ण होती है। इसीसे सूरदास ने 'ब्रज' को श्रीकृष्ण का 'निज धाम' कहा है तथा वहाँ की यावद् वस्तुओ को 'नित्य' माना है[2]। नददास भी कहते हैं—

जब हरि लीला इच्छा करै। जगत में प्रथम भक्त अवतरैं॥
तिनपै प्रभु कौ परिकर जितौ। प्रगट होत लीलाहित तितौ॥
तब श्रीकृष्ण अवतरहिं आइ। सिद्ध करैं भगतन के भाइ॥

भाषा दशम०। पृ० २२०। नददास

२८. श्रीकृष्ण ही परब्रह्म परमेश्वर, सगुण और निर्गुण उभयरूप हैं। किंतु अष्टछापी भक्तो के लिए उनकी सगुण लीलाएँ ही गेय थीं। इन भक्तों ने श्री कृष्ण का लीलागान करते समय कहीं कहीं उन्हे त्रिदेवों से और विभिन्न अवतारो से अभिन्न वर्णित किया है। यज्ञ-पुरुष-अवतार-वर्णन मे सूरदास जी कहते हैं—

---

१. हरिभक्ति० दक्षिण०। लहरी १ श्लोक ७६-७८
२. सूरसागर०। पद ३४९८। पं० ९—१०

जब प्रभु प्रगट दरसन दिखायौ।
विष्नु-विधि-रुद्र सम रूप ये तीनिहूँ, दच्छ सौं बचन यह कहि सुनायौ॥
पं० १-२। पद ४००। सूरसागर

भागवत के अनुसार भगवान् के चौबीस अवतारो का वर्णन करते हुए सूर कहते है—

भूमि रेनु कोउ गनै, नछत्रिन गनि समभावै।
कह्यौ चहै अवतार, अंत सोऊ नहिं पावै॥
सूरसागर। पद ३७८

किंतु सूर ने इन अवतारो को 'हरि' से संबद्ध किया है। डा० दीनदयालु गुप्त के अनुसार ये 'हरि' विराट पुरुष अथवा अक्षर ब्रह्म हैं। वल्लभमत मे अवतारो का मूल अक्षर ब्रह्म ही माना जाता है।

देवतामंडल

२६. वल्लभ के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये अक्षर ब्रह्म के गुणावतार हैं। इस मत मे गुणाभिमान ही सगुणत्व का नियामक है[1]। नंददास ने इस गुणाभिमान के कारण, परब्रह्म श्रीकृष्ण की माया से, त्रिशूली विधि, हरि तथा मदन के निरुद्ध होने का वर्णन किया है—

जे जग मे जगदीस कहै अति रहे गर्व भरि।
सब कर कियो निरोध अपुन निज सहज खेल करि॥ ९॥
महा मोहनीमय माया मोहे तिरसूली।
कोटि कोटि ब्रह्मांड निरखि निरखि विधिहू गति भूली॥१०॥
महाप्रलै को जल बल लै गिरि बरस्यौ हरि।
न जनौ गरव गिरि तें गिरि कत गयौ धूरि मूरि ररि॥११॥
ब्रह्मादिक को जीति महामद मदन भरयौ जब।
दर्पदलन नंदललन रास रस प्रगट करयौ तब॥१२॥
सिद्धांत पंचाध्यायी

---

1 स एव हि जगत्स्रष्टा तथापि सगुणो न हि।
गुणाभिमानिनो ये वै तदंशाः सगुणाः स्मृता॥

तत्वदीप०। शास्त्रार्थ० श्लोक ८१

गुणाभिमान रहित स्थिति मे शिव विधि-विष्णु आदि सब परब्रह्म श्रीकृष्ण के स्वरूप के भीतर ही हैं—इस तथ्य की अभिव्यक्ति करते हुए सूरदास यज्ञपुरुष से कहलाते हैं-

विष्नु, रुद्र, बिधि एकहिं रूप। इन्हैं जानि मति भिन्न स्वरूप ॥
जातै ये परगट भये आइ। ताकौं तू मन में निज ध्याइ ॥

सूर० । पद ३९९

संभवतः इसी गुणाभिमानशून्य अवस्था मे शिव के साथ कृष्ण का अभेद मानकर हरिहर का एक साथ वर्णन सूरसागर मे हुआ है[1]।

३०. शिव-गौरि-पूजन तथा अनेक नारी सुलभ व्रतो एवं नियमों के परिणाम स्वरूप श्रीकृष्ण को प्राप्त करने का सौभाग्य वर्णित करती हुई यशोदा[2] तथा शिव, शक्ति और सविता की आराधना से श्रीकृष्ण को पतिरूप मे प्राप्त करने की स्पृहा रखनेवाली गोपिकाओ[3] के वर्णन से परिज्ञात होता है कि उस काल मे इनकी उपासनाएँ सार्वजनीन रूप से प्रचलित थीं। इसी की अभिव्यक्ति उक्त प्रसंगो मे सूर ने की है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव पर गाए जानेवाले सोहर[4] मे भी लोकप्रचलित प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। सूरदास ने विनय के पदो के अंतर्गत अपने दोषों की समग्र गणना कर सकने मे गणेश और शारदा को भी असमर्थ बताया है[5]। यह

१. हरि-हर संकर, नमो नमो।
अहिसायी, अहि-अंग-बिभूषन, अमित-दान, बल-बिष-हारी।
नीलकंठ, वर नील कलेवर, प्रेम-परस्पर कृतहारी।
चंद्रचूड, सिखि-चंद्र-सरोरुह, जमुनाप्रिय, गंगाधारी।
सुरभि-रेनुतन, भस्म विभूषित, बृष-बाहन, बन-बृष-चारी।
अज-अनीह-अविरुद्ध-एकरस, यहै अधिक ये अवतारी।
सूरदास सम, रूप-नाम-गुन, अंतर अनुचर-अनुसारी ॥ १७१ ॥
सूर० । पद ७८६ तथा द्रष्टव्य पद ७८७—७८८

२. सूर० । पद ६९८ । पं० ५

३. वही । पद १३८२, १३८४, १३८५, १३६८, १३९८, १४००, १४०४, १४०६, १४१५, १४१६

४. गौरी गनेस्वर बीनऊँ [हो] देवी सारद तोहिं।
गावौं हरि को सोहिलो [हो] मन आखर दै मोहिं ॥
सूर० । पद० ६५८ । पं० १—२

५. वही । पद १११, १२५, १८२

हिं० स० सां० भू० ११ (११००—१२)

विवरण भी इनकी लोकसिद्ध प्रकाड लेखन और वक्तृत्व शक्तियों से अनुप्राणित है। इंद्रपूजा के स्थान पर गोवर्द्धनपूजन का वर्णन विष्णु और भागवत पुराणों की परंपरा का अनुवर्तन मात्र है। सूर के समान ही अन्य अष्टछापी कवि भी इन देवताओं के विषय मे विशेष कुछ नहीं कहते।

३१. इससे स्फुट हो जाता है कि अष्टछापी कवियों मे स्मार्त पंचदेवोपासना गौरी-गणेश पूजन इत्यादि का महत्त्व स्वीकृत नहीं है। ये केवल कृष्ण और उनसे सबद्ध विषयो के गान मे ही विशेष रूप से संसक्त थे।

अष्टछापी भक्तिदर्शन : ब्रह्म

३२. अष्टछाप के भक्तो का वल्लभ संप्रदाय से घनिष्ठ सबध माना जाता है। अतएव अष्टछापी भक्तों के दर्शन की पूर्वपीठिका के रूप मे शुद्धाद्वैत दर्शन की सामान्य जानकारी आवश्यक है। वल्लभाचार्य ने परमतत्त्व को पुरुषोत्तम कहा है। ये सगुण निर्गुण उभय रूप हैं। सर्प के कुंडल के समान इनमे दोनों विभिन्नरूप युगपत् स्थित हैं[1]। अप्राकृत गुणों के कारण वे सगुण तथा प्राकृत गुणो के अभाव से निर्गुण कहे जाते हैं।

३३. पुरुषोत्तम स्वतत्र, सर्वदोषहीन और ऐश्वर्य आदि छहो गुणों की समग्रता के कारण 'पूर्णगुणविग्रह' माने जाते हैं। उनका पूरा शरीर आनंद से विनिर्मित है। वे सत्, चिद् और आनंदरूप हैं[2]।

३४. पुरुषोत्तम से कनिष्ठ अक्षर ब्रह्म है। इसमें सत् और चित तो परिपूर्ण रहता है पर आनंद की पूर्ण स्थिति न होने से यह 'गणितानंद' कहा जाता है और इसीसे यह निर्गुण है। यह अक्षर ब्रह्म ही पुरुषोत्तम का परम धाम है। पुरुषोत्तम की क्रीडेच्छा होने पर इस गणितानद अक्षर ब्रह्म से सृष्टि, स्थिति और संहार के लिए ब्रह्मा, विष्णु और महेश का आविर्भाव होता है[3]।

३५. पुरुषोत्तम पूर्ण गुण विग्रह हैं किंतु अक्षर ब्रह्म विग्रहहीन है। पुरुषोत्तम अगणितानंद और भक्ति से लभ्य है परंतु अक्षर ब्रह्म गणितानंद और ज्ञान से प्राप्य

१. द्रष्टव्य—ब्रह्मसूत्र ३।२।२७ पर अणुभाष्य

२. निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतंत्रो, निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः।
आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः, सर्वत्र च त्रिविधभेदविवर्जितात्मा॥
तत्वदीप०। शास्त्रार्थ०। श्लोक ४८

३. ब्रह्मसूत्र १।१।२ पर अणुभाष्य

है[1] । पुरुषोत्तम और अक्षर ब्रह्म इन दोनों का विवेचन भगवद्गीता मे मिलता है। पांचरात्रिक ग्रंथो मे परमतत्त्व का निरूपण वल्लभ के मत के अनुकूल हुआ है। वहाँ भी परमतत्व हेय-गुण-रहित होने के कारण निर्गुण एवं षाड्गुण्य से युक्त होने से सगुण कहा गया है। उनकी धारणा के अनुसार यह तत्त्व लक्ष्मी-नारायण-रूप में अवस्थित रहता है[2] । किंतु केवलाद्वैतियो ने भक्ति मार्ग के उपास्य सगुण ब्रह्म को, ज्ञान-गम्य निर्गुण ब्रह्म से निम्न और मायिक, तथा निर्गुण को सर्वोपरि परब्रह्म माना है। वल्लभाचार्य मे आगमो का क्रम ही स्वीकृत प्रतीत होता है। पाचरात्र का शुद्धाद्वैत से संबंध विष्णु स्वामी के माध्यम से बताया जा सकता है। अनुश्रुति है कि विष्णु स्वामी और श्रीधर स्वामी 'परम नारसिंह' थे। यह नारसिंह संप्रदाय काश्मीरागम पाँचरात्र की एक शाखा थी। वल्लभ सिद्धांत मे पुरुषोत्तम की तीसरी कल्पना 'अंतर्यामी' रूप से भी हुई है।

३६. सूरसागर की ब्रह्मा जी द्वारा की गई स्तुति,[3] कालियकृत प्रार्थना,[4] अमरस्तवन,[5] वरुण की प्रार्थना[6] तथा वेदस्तुति[7] आदि मे वल्लभमत के अनुकूल श्रीकृष्ण के त्रिविध रूपों की अभिव्यक्ति मिलती है। दूसरे स्थानों पर सूरदास स्वयं कहते है—

आपु कर्ता आपु हर्त्ता आपु त्रिभुवन नाथ।
आपु हीं सब घट कौ व्यापी, निगम गावत नाथ ॥

पं० ५–६ । पद २२२१ । सूर०

तथा—

एकै देह बहुत करि राखे गोपी ग्वाल मुरारी।

पं० ५। पद २२२३। वही

---

१. तेन ज्ञानमार्गीयाणां न पुरुषोत्तमप्राप्तिरिति सिद्धम्।
यस्यान्तः स्थानीत्यनेन परस्य लक्षणमुक्तम्। तच्च
मूत्सादिप्रसङ्गे गोकुलेश्वरे स्पष्टमुच्यते ॥ ब्रह्मसूत्र ३।३।३३ पर अणुभाष्य
२. भागवत संप्रदाय, पृ० १२०
३. सूर० । पद १११०
४. वही । पद ११७६
५. वही । पद १५६२
६. वही । पद १६०२
७. वही । पद १७६२

अन्यत्र सूर ने श्रीकृष्ण को पांचरात्रिकों के लक्ष्मीनारायण से अभिन्न व्यक्त किया है। देवगण इंद्र को समझाते हुए कहते हैं—

> तुम जानत जब धरनि पुकारी। पापहिं पाप भई अति भारी॥ पं० ३
> पौढ़ें सेष संग श्री प्यारी। ते ब्रज भीतर हैं बपुधारी॥
>
> पं० ४। पद १५६३। सूर०

३७. किंतु सूरसागर के बहुत से पदों मे ब्रह्म संबंधी कुछ बातें वल्लभमत के अनुकूल नही जान पड़तीं। वार्ता के अनुसार वल्लभ संप्रदाय मे दीक्षित होने के पूर्व वे गोसाईं थे और शिष्य बनाया करते थे। बाद मे सब प्रपंच त्याग कर वे लीलागायक हो गए[1]। संभवतः इसीलिये सूरसागर की उन रचनाओं मे परब्रह्म और उनके सगुण निर्गुण-रूप के संबंध मे ऐसी बातों का समावेश हो गया है जो वल्लभमत के अनुरूप नही है। उदाहरणार्थ 'परब्रह्म' को अपने भीतर ही पा जाने की बात वल्लभमतानुकूल क्या किसी भी सगुण-भक्ति-संप्रदाय के अनुगुण नहीं है। पर सूरदास इस पद मे निर्गुनियों के स्वर मे कह रहे हैं—

> आपुनपौ आपुन ही में पायौ।
> सब्दहि सब्द भयौ उजियारो सतगुरु भेद बतायौ॥
>
> पं० १-२। पद ४०७। वही

यहाँ 'सब्द' और 'सतगुरु' पद ध्यान देने योग्य हैं। सतगुरु के शब्दों से आत्मज्ञान की उपलब्धि निर्गुनियों की सर्वमान्य परिपाटी है। सूरदास ने बहुत से पदों मे नाभि में स्थित कस्तूरी की मृग द्वारा खोज का उल्लेख किया है[2]। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'रूप-रेखा' रहित ब्रह्म का श्रीकृष्ण के रूप मे अवतीर्ण होना लिखा है[3] पर वल्लभमत मे श्रीकृष्ण 'पूर्ण-गुण-विग्रह' माने जाते हैं। 'अंशी ब्रह्म' के रूप से सूर ने उनका अनेक बार वर्णन भी किया है। ऐसी स्थिति मे 'निर्गुण' का 'सगुण' रूप में आविर्भाव वर्णन केवलाद्वैत का प्रभाव माना जा सकता है[4]। 'निर्गुन ब्रह्म सगुन लीलाधर'[5] का दूसरा कोई अर्थ नहीं हो सकता। इसी प्रकार—

---

१. डा० धीरेंद्र वर्मा: अष्टछाप, पृ० ५
२. सूर०। पद ४६
३. वही। पद २२२५
४. वही। पद ५
५. वही। पद ८८१

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगैं मीठे फल कौ रस अन्तरगत ही भावै॥
परम स्वाद सबही सु निरंतर अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर सो जाने जो पावै॥
रूप-रेख-गुन-जाति जुगुति बिनु निरालंब कित धावै।
सब बिधि अगम बिचारहि तातें सूर सगुन लीला पद गावै॥ पद २। सूर०

इस पद का प्रतिपाद्य 'निर्गुण' वल्लभमत के 'अक्षर ब्रह्म' का पर्याय नहीं माना जा सकता। इस प्रकार सूरसागर की बहुत सी रचनाएँ परब्रह्म की दृष्टि से वल्लभमतानुकूल नहीं है।

२८. नंददास ने निश्चय ही वल्लभमत के अनुरूप परब्रह्म के सगुण रूप को निर्गुण से—पुरुषोत्तम को अक्षर ब्रह्म से श्रेष्ठ बताने के लिये भक्ति-संप्रदाय-सिद्ध युक्तियो का सहारा लिया है। निर्गुण तत्त्व की सर्वोपरि महत्ता दिखलाते हुए उद्धव गोपियों से कहते है—

जे गुन आवैं दृष्टि माहिं नस्वर हैं सारे।
इन सबहिन ते बासुदेव अच्युत हैं न्यारे॥
इंद्री दृष्टि बिकार तें रहित अधोछज-जोति।
सुद्ध सरूपी ग्यान को प्रापति तिन को होति॥
सुनो ब्रज नागरी॥ पद २७। भ्रमर०

इस पर गोपिकाएँ जवाब देती हैं—

नास्तिक हैं जे लोग कहा जानै निज रूपै।
प्रगट भानु कौं छाँड़ि गहत परछाईं धूपै।
हमरैं तो यह रूप बिन और कछु सुहाय।
जौ करतल आमलक के कोटिक ब्रह्म दिखाय॥
सखा, सुनि स्याम के॥ पद २८। वही

गोपिकाओ द्वारा कहलाये गए इस तत्त्व को उन्होने अनेकत्र 'घनीभूत ब्रह्म' कहकर व्यक्त किया है[1]। सिद्धात पंचाध्यायी मे वे स्पष्ट रीति से वल्लभमत का ही प्रस्तार करते हुए कहते हैं—

---

१. नंददास ग्रंथावली, पदावली, संख्या ४२, पंक्ति ९। वही सिद्धांत पंचाध्यायी। छंद २०

षटगुन अरु अवतार धरन नारायन जोई।
सबको आश्रय अवधिभूत नंदनंदन सोई॥ छंद ७

सिसु कुमार पौगंड धर्म पुनि बलित ललित लस।
धर्मी नित्य किसोर नवल चितचोर एक रस॥ छंद ८

इस प्रसंग मे यह स्मरण करना आवश्यक है कि नंददास विठ्ठलनाथ जी के शिष्य थे। उनके समय मे सखी भाव की उपासना भी वल्लभमत में स्वीकृत हो गई थी। इसकी झलक भी ऊपर के 'नित्य किसोर' मे मिलती है।

अष्टछापी भक्तिदर्शन : जगत् और मोक्ष

३९. वल्भाचार्य के अनुसार जीव और जगत् परब्रह्म के अंश रूप हैं। जब सच्चिदानंद पुरुषोत्तम को रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती है तब अग्निपिंड से स्फुलिंगों की तरह सत्, चित्, गणितानंद अक्षर ब्रह्म के अविकृत चिदंश से जीवों का और अविकृत सदंश से जगत् का प्रादुर्भाव होता है। इस व्यापार मे भगवान् की क्रीड़ेच्छा ही कारण होती है। जीवो और जगत् के निर्गमन मे क्रमशः आनंदांश तथा चिदानंदांश तिरोहित रहता है[1]।

४०. आनदांश के तिरोहित होने से जीव मे भगवद्गुणों का लोप हो जाता है। 'ऐश्वर्य' के तिरोधान से दीनता और पराधीनता, 'वीर्य' के तिरोभाव से सभी प्रकार के दुःखों की आस्पदता तथा 'यश' के तिरोहित होने से सब तरह की हीनता उसमे उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार उसे 'श्री' के तिरोधान से सभी भाँति की विपत्तियो का आश्रय, 'ज्ञान' के तिरोभाव से देहादि मे अहं बुद्धि का और अपस्मार के रोगी की तरह विपरीत बोध का अधिष्ठान बनना पडता है। 'वैराग्य' के तिरोहित हो जाने से उसमे विषयों के प्रति आसक्ति जगती है[2]। वल्लभ मत मे जीव अणुरूप, असख्य एव नित्य माने जाते हैं। अतः शुद्धाद्वैत के ज्ञान के बाद भी उनका अंशभाव मुक्ति मे बना रहता है।

४१. पुष्टि प्रवाह-मर्यादा मे वल्लभाचार्य जी ने दो प्रकार की जीवसृष्टि बताई है—दैवी और आसुरी या प्रवाही। इनमे से दैवी सृष्टि के जीवों के पुष्टि और मर्यादा नामक दो वर्ग किए गए हैं। माना जाता है कि दैवी पुष्टि सृष्टि भगवान् के

---

१. तत्त्वदीप० । शास्त्रार्थ० । श्लोक ३०-३४
२. द्रष्टव्य—ब्रह्मसूत्र ३।२।५ पर अणु भाष्य

श्री अंगों से उन्हीं की स्वरूपसेवा के निमित्त हुई है[1]। प्रायः अष्टछापी कवियों की रचनाओं मे 'दैवी जीवों' की चर्चा उपलब्ध होती है।

४२. अक्षर ब्रह्म से आविर्भूत जगत् पुरुषोत्तम का केवल लीलाविलास है। तिरोहित अवस्था मे वह ब्रह्म से अभिन्न रहता है। जिस प्रकार लपेटा हुआ कपड़ा फैला देने पर भी वही रहता है उसी प्रकार आविर्भाव की अवस्था का जगत् और तिरोभाव की अवस्था का ब्रह्म एक रूप माना जाता है।

४३. वल्लभ संप्रदाय मे 'जगत्' और 'ससार' विभिन्न पदार्थ माने जाते हैं। जगत् तो भगवान् का सद् अश ही है। पर 'संसार' जीव की कल्पना है। जीव की ममत्व बुद्धि के कारण अभेदात्मक जगत् मे अपने-पराए, अच्छे-बुरे का भेद उत्पन्न हो जाता है। यही पदार्थ संसार है। इस संस्कार का निमित्त कारण अविद्या माया से आवृत जीव तथा उपादान कारण स्वयं अविद्या है। शुद्धाद्वैत के ज्ञानोदय से या भगवत् कृपा की प्राप्ति से जीव के 'संसार' का विनाश हो जाता है, पर ब्रह्मरूप होने के कारण 'जगत्' विनष्ट नहीं होता। यह अवश्य है कि श्रीकृष्ण की आत्मरत, आत्मक्रीड अवस्था में जगत्प्रपंच भी उन्हीं मे समाहित हो जाता है[2]। श्रीकृष्ण की इस अवस्था को ही महाप्रलय की दशा कहा जाता है।

४४. इस प्रकार वल्लभ मत मे जीव और जगत् नित्य सिद्ध हैं। जीव की मुक्ति का का अर्थ अविद्याकल्पित संसार से छूटकर पुरुषोत्तम का सान्निध्य प्राप्त करना है। इस संप्रदाय मे आगमोक्त, सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्तियों के अतिरिक्त एक ऐसी मुक्ति की चर्चा है जिसमे भक्त भगवान् की लीला में प्रविष्ट हो 'स्वरूपानद' लाभ करता है। यह स्वरूपानंद नित्य भगवत्सेवा रूप है। भागवत में इसे आत्यतिकी भक्ति के नाम से स्मरण किया गया है। सांसारिक शरीर की स्थिति मे भी भक्त इस सेवा कार्य मे नित्य रत रहता है। शरीर त्याग के अनंतर वह भगवान् के दिए हुए विग्रह से भजनानंद का आस्वाद लिया करता है। यह विग्रह भी अप्राकृत सच्चिदानंद रूप माना गया है[3]। श्रीमद्भागवत की आत्यंतिक भक्ति के विवरणात्मक श्लोकों की व्याख्या मे वल्लभाचार्य जी ने स्वरूपसेवा को ही सब मुक्तियों

---

१. भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत् ॥ पुष्टि० । षोडश० । श्लोक १२

२. संसारस्य लयो मुक्तौ न प्रपंचस्य कर्हिचित् ।
कृष्णस्यात्मरतौ त्वस्य लयः सर्वसुखावहः ॥ तत्वदीप० । शास्त्रार्थ० । श्लोक २७

३. द्रष्टव्य—ब्रह्मसूत्र ४।४।९–१० पर अणुभाष्य

से बढ़कर आनंद प्रदान करनेवाली बताया है[1]। साथ ही उनका यह भी कथन है कि मुक्ति की प्राप्ति केवल भक्ति से ही संभव है अन्यथा नहीं[2]।

४५. सूरदास जी ने मुक्ति संबंधी वल्लभमत का उद्घाटन कई पदों मे किया है। उद्धव से कृष्ण का कथन है कि तुम ज्ञानलभ्य सायुज्य मुक्ति का उपदेश गोपियों को करना। यदि इसे भी अंगीकार न करेंगी तब उस दशा में मुझे उनका कर्जदार दास बनकर पुनः व्रजवास करते हुए गोचारण करना पड़ेगा[3]। इसी प्रकार गोपिकाओं ने भी श्रीकृष्ण की मानसी सेवा पर सब प्रकार की मुक्तियो को निछावर करते हुए उद्धव को खूब टेढ़ी सीधी बातें सुनाई है—

निरगुन कहौ कहा कहियत है, तुम निरगुन अति भारो।
सेवत सुलभ स्याम सुंदर कौं, मुक्ति लही हम चारी॥
हम सालोक्य, समीप, सायुज्यौ, रहति समीप सदाई।
सो तजि कहत और की औरै, तुम अलि बड़े अदाई॥

इसी प्रकार छीत स्वामी की भी चरम स्पृहा व्रज मे वास करने की तथा घनश्याम के मृदुहास को देखने आदि की है—

अहो! विधना! तोपै अँचरा पसरि माँगौं
जनमु जनमु दीजै याही व्रज बसिबो।
अहीर की जाति, समीप नंद घर,
घरी घरी घनस्याम हेरि हेरि हँसिबो।

पद ११७। छीतस्वामी

इसी प्रकार अन्य अष्टछापी कवियो की रचनाओं मे भी सेवारस के सामने विविध मुक्तियों का महत्त्व फीका दिखाई पड़ता है।

४६. परब्रह्म और जीव-जगत् के संबंधों की अभिव्यक्ति भी सूर के पदों मे वल्लभ सिद्धातो के अनुकूल हुई है। ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं, प्रकृति तथा पुरुष का भेद केवल कहने सुनने के लिए है[4]। मुरारी ने अपने एक ही शरीर को गोपी

---

१. द्रष्टव्य—भाग० ३।२९।१२–१४ पर सुबोधिनी
२. तत्त्वदीप०। शास्त्रार्थ०। श्लोक ४६
३. सूर०। पद ४०४९
४. सूर०। पद २३०५

ग्वाल आदि अनेक रूपो मे फैला रखा है[1] तथा कीट से ब्रह्म पर्यंत जल स्थल आदि भी इन्हीं से मंडित है[2]। ये सब उक्तियाँ जीव और जगत् को परमेश्वर का अंश सिद्ध कर रही हैं। दर्पण मे प्रतिबिंब की भाँति समग्र जड़जीवात्मक सृष्टि के कर्ता एकमात्र हरि भगवान् माने गए है[3]।

४७. किंतु सूरदास जी के कतिपय पदो में 'जगत्' और 'संसार' संबंधी वल्लभ सिद्धात के प्रतिकूल अभिव्यंजनाएँ भी हुई हैं। यथा—

यह जिय जानि, इहीं छिन भजि, दिन बीते जात असार।
सूर पाइ यह समौ लाहु लहि, दुर्लभ यह संसार॥ पद ६८। सूर०

बताया जा चुका है कि वल्लभ मत मे संसार जगत् से भिन्न माया मोह मय पदार्थ की संज्ञा है! ऐसी स्थिति मे भजन भाव के लिये संसार का विनष्ट हो जाना ही श्रेयस्कर है, फिर ससार की दुर्लभता क्या? इसी प्रकार सूरदास जी का जगत्संबंधी प्रयोग भी द्रष्टव्य है—

नारि के रूप कौं देखि मोहै न जो, सो नहीं लोक तिहुँ माहिं जायौ।
सूर स्वामी सरन रहित माया सदा, को जगत जो न कपि ज्यौं नचायौ॥
पद ४३७। वही

सांप्रदायिक दृष्टि से जगत् भी ईश्वर का अंश और उन्हीं की विलासेच्छा का व्यक्त रूप है। वह अक्षर ब्रह्म से आविर्भूत है—माया से निर्मित नहीं। इसलिए जगत् के साथ माया का संबंध वल्लभमत से संगत नहीं जान पड़ता। प्रतीत होता है कि सूरदास जी ने सदा सांप्रदायसिद्ध पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग नहीं किया।

रसभक्ति

४८. किशोरी रूप मे भक्त की युगल किशोर की उपासना रसभक्ति है। इसमे किशोरी राधा ही परम आराध्य हैं। वे 'स्वतंत्र शक्ति' और 'महासुखतनु' हैं। वे 'गुरु' हैं। इस प्रेम पीयूष मूर्ति की कुंजतल्प मे सेवा करना ही साधना है। इस निकुंज लीला मे एक मात्र किशोरी गोपिकाओ का प्रवेश है। अतः भक्त को निरंतर यह भावना करनी चाहिए कि वह रूप यौवन-संपन्ना प्रमदाकृति किशोरी है। उसकी आकांक्षा हो—

---

१. वही। पद २२२२
२. वही। पद २२२१
३. वही। पद २७८

दुकूलं बिभ्राणामथ कुचतटे कञ्चुकपटं
प्रसादं स्वामिन्याः स्वकरतलदत्तं प्रणयतः।
स्थितां नित्यं पार्श्वे विविध परिचर्यैकचतुरां
किशोरीमात्मानं किमिह सुकुमारीं नु कलये॥ श्लोक ५२। राधासुधा०

पूर्वपीठिका

इस रसभक्ति के निर्मायक तत्वों के यथार्थ परिज्ञान के लिये धार्मिक इतिहास का जानना आवश्यक है इस भक्ति के विकास में महायान सहजयान, त्रिपुरासुंदरी-सिद्धात आदि का योग था।

५०. महायान मे 'शून्यता' के रूपविकास से क्रातिकारी परिवर्तन हुए। योग्य शिष्य का नाम ही बोधिचित्त है। उसमे 'शून्यता' और 'करुणा' की भावना का होना आवश्यक है। शून्यता और करुणा के संमिलन से 'निर्वाण' मिलता है। बाद मे यही शून्यता तथा करुणा, प्रज्ञा एवं उपाय के साथ समीकृत हुई। इनके 'अद्वय' से ही निर्वाण के पर्याय 'महासुख' की प्राप्ति मानी गई। शून्यता और प्रज्ञा स्त्री रूप से तथा करुणा एवं उपाय पुरुष के रूप से कल्पित हुए। इनके अद्वय, सामरस्य या संमिलन ने ही 'युगनद्ध' [तिब्बती यब-युम] रूप ग्रहण किया।

५१. इस मत मे दो सिद्धातों का और योग हुआ। 'अहंकृति' सिद्धात के अनुसार ध्यान के अवसर पर ध्याता अपने को ध्येय रूप से देखता है। साधक स्वयं अपने को 'हेरुक' के रूप मे प्रकल्पित करता है। इस प्रकार ध्याता और ध्येय मे भी अद्वय भाव होता है। दूसरे सिद्धांत के अनुसार लौकिक स्त्री पुरुष, पारलौकिक स्त्री पुरुष प्रज्ञा और उपाय के रूपातर माने गए। इस प्रकार साधक और उसकी मुद्रा—उपाय तथा प्रज्ञा के प्रतिरूप थे।

५२. 'प्रज्ञा' को 'भगवती', 'मुद्रा', 'वज्रकन्या' और 'युवती' कहा गया। उसकी वयस् षोडश वर्ष की मानी गई। उसका लक्षण 'पद्म' था। इसी प्रकार 'उपाय' भी 'भगवान्', 'वज्रसत्व' तथा 'युवक' के रूप से कल्पित हुआ। उसका लक्षण 'वज्र' था। 'वज्र' और 'पद्म' का 'समायोग' ही साधना थी।

५३. 'पारमितानय' तथा 'मंत्रनय' मे मंत्रमंडल की उपासना प्रमुख थी। किंतु इस काल मे आते आते इन सारी पद्धतियों का परित्याग हो गया और सहजमार्ग [क] मुद्रा की सहायता से 'वज्र पद्म' का समायोग तथा [ख] यौगिक प्रक्रियाओं मे शरीर मे नाभी के समीप निर्माण चक्र में अवस्थित शक्ति का विकास करना—ही प्रधान साधना थी।

५.४. बौद्धतंत्र के समान शैव और शाक्त तंत्रो मे इसी प्रकार गुह्य उपासनाएँ थीं। शैव संप्रदायो मे 'सोम सिद्धात' विशेष रूप से विचारणीय है। इसका इतिहास इस समय अंधकार से आच्छन्न है। केवल चीनी स्रोतो[1] से उपलब्ध न्याय ग्रंथों, भारतीय साहित्य[2] मे विरल तथा पक्षपातपूर्ण उल्लेखों एवं शिलालेखों[3] के साक्ष्य से इसकी सामान्य रूपरेखा ज्ञात होती है। यह सिद्धांत संभवतः ईसा के पूर्व ही प्रवर्तित हो गया था। आस्तिक दर्शन इसे कामात्मवादी कहते और नास्तिक दर्शनों मे गिनते थे। इसके अनुसार शिव और पार्वती समालिंगित रूप में आराध्य है। साधक भी पार्वती की प्रतिरूपा स्त्री से सानंद आलिंगित होकर उपासना करता था। प्रबोधचंद्रोदय का कापालिक कहता है कि—

> दृष्टं क्वापि सुखं विना न विषयैरानन्दबोधोज्झिता
> जीवस्य स्थितिरेव मुक्तिरुपलावस्था कथं प्रार्थ्यते।
> पार्वत्याः प्रतिरूपया दयितया सानन्दमालिङ्गितो
> मुक्तः क्रीडति चन्द्रचूडवपुरित्यूचे भवानीपतिः॥ श्लोक १६। अंक ३

पशुपतों की गणकारिका मे 'साधन' के अंतर्गत शृंगारण, मंदन आदि अश्लील चेष्टाओं का विधान है। इसमे तथा कौलों से संबद्ध निःश्वासतत्व संहिता मे,[4] जिसकी एक प्रति गुप्तकालीन लिपि मे प्राप्त हुई है, गुह्य उपासना का विधान है। इस संहिता के चार विभाग हैं—[१] मूल सूत्र [२] आदि, उत्तर सूत्र, [३] प्रथमनय सूत्र और [४] पूर्व, गुह्य सूत्र। उत्तर सूत्र मे मूर्ति स्थापना, अभिषेक, दीक्षा आदि का

---

१. गाइजप्पे तुचिः प्री दिङ्नाग बुद्धिस्ट लॉजिक ऐज नोन फ्रॉम चाइनीज टेक्स्ट्स इंट्रोडक्शन, गायकवाड ओरियंटल सीरीज।

२ द्रष्टव्य—[क] लाकुलं सोमतंत्र च जगाद परमेश्वरः।
ईशान शिवगुरु पद्धति। जि० २। पृ० ६

[ख] वामं पाशुपतं सोमं लागलं चैव भैरवम्।
न सेव्यमेतत्कथितं वेदबाह्यं तथेतरम्॥
वीरमित्रोदय। जि० १। पृ० २२

और [ग] दि सोम ऑर दि सोम सेक्ट आफ दि शैवजः इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, जि० ८, पृ० २२०

३. भावनगर इंसक्रिप्शन्स पृ० १८६-१८७

४. प्रबोधचंद्र बागची : स्टडीज इन तंत्रज, पृ० ६—८

विधान है परंतु पूर्व सूत्र मे गुह्य साधना का विवरण है। इसी के आधार पर कौलों के दो भेद हो गए—[क] उत्तर कौल तथा [ख] पूर्व कौल। उत्तर कौलों मे जीवित युवती की देवीरूप से पूजा होती थी किंतु पूर्व कौलो मे उसके अंग विशेष की अर्चा का विधान था। इन कौलों का नवीं दशवीं शताब्दी मे व्यापक प्रचार था। भारत[1] एवं जावा[2] के शिलालेखो मे इनका उल्लेख है। ये नारी रूप धारण करके देवी की उपासना करते थे।

५५. इन्हीं से संबद्ध त्रिपुरासुंदरी सिद्धात है। इसमे भी उपर्युक्त साधनाएँ दिखाई देती है। इस मत मे शिव और शक्ति के सामरस्य को 'सुंदरी' कहते हैं। वे नित्य षोडशवर्षीया किशोरी हैं। इनकी उपासना के लिए साधक को किशोरी का रूप धारण करना अनिवार्य है।

५६. वैष्णव सम्प्रदाय मे यह गुह्य उपासना नहीं दिखाई देती। विष्णु की भोगमूर्ति में, विष्णु तथा उनकी शक्तियाँ साथ साथ परिकल्पित होती हैं। उनका घोर शृंगारपरक विलासवर्णन सप्तम शताब्दी से उपलब्ध होने लगता है। कहीं कहीं उनकी गोपी भाव से उपासना भी दिखाई देती है लेकिन इस संप्रदाय में—[क] शक्ति प्राधान्य तथा [ख] जीवित स्त्री की या उसके अंग विशेष की उपासना प्राचीन ग्रंथों में कहीं नहीं मिलती। पर आलोच्य युग की रसभक्ति मे अनेक उपर्युक्त सहजयानी और शैव शाक्त तत्वो की स्वीकृति मालूम पड़ती है।

रसतत्त्व

५७. भक्ति के दो भेद किए गए है—शास्त्रभक्ति और रसभक्ति। ब्रह्म रसरूप है। रसास्वादन के लिये ब्रह्म एक से दो हो जाता है—कृष्ण रूप और राधा रूप। इनकी पारस्परिक लीला वृंदावन के निकुंज मे हुआ करती है। नित्यविहारी कृष्ण एकमात्र पुरुष हैं और किशोरी राधा ही उनकी शक्ति है। इनका पारस्परिक संबंध ही 'हित'—प्रेम है। सारी सृष्टि मे 'हित' तत्त्व ही व्याप्त एवं व्यापक है। सिद्ध देह से इस 'हित' का साक्षात्कार करना ही रसभक्ति है। इसके लिये अनेक उपचारों सहित पूजन तथा मंत्रमंडलयुक्त उपासना अनावश्यक है।

५८. यह द्रष्टव्य है कि सहजयान मे मत्रमंडल की उपासना का परित्याग हो गया था और पद्म वज्र की सहज उपासना ही प्रचलित थी। यह सहज उपासना

---

१. एपीग्रेफिया इंडिका, जि० २, पृ० १२२

२. डा० रमेशचंद्र मजूमदार : इंसक्रिप्शंस आफ कंबुज देश, पृ० २७४

द्विविध रूपिणी थी—प्रथम, मुद्रा से युगनद्ध 'हेरुक' का ध्यान और द्वितीय, निर्माण चक्र मे ही मुद्रा की कल्पना कर रसपान करना[1]। इस रसभक्ति मे भी पाचरात्रिक मंत्रमंडल युक्त पूजा का प्रत्याख्यान हुआ और युगनद्ध—समालिंगित रूप से युगल उपास्यो का ध्यान एकमात्र साधना बनी। परंतु एक विशेष बात यह है कि इन वैष्णवो ने युगल सरकार को शरीर के किसी चक्र में नहीं देखा। राधाकृष्ण की ऐतिहासिक परंपरा थी ही। अतः पिंड में ही ध्यान केंद्रित करने की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ी। वृंदावन मे राधा और कृष्ण का अहर्निश विहार ही ध्येय था। सहजिया वैष्णवो ने अवश्य ही वृंदावन का प्रतीकात्मक अर्थ किया है। स्त्री का शरीर ही उनका वृदावन है। किंतु इन 'हितवादियो' को यह व्याख्या अमान्य रही। उन्होने लौकिक वृदावन को ही नित्य लीलास्थली माना। साराश में 'हित तत्त्व' की तीन विशेषताएँ है—

(क) प्रणय भक्ति,
(ख) राधा और कृष्ण के युगल तत्त्व की साधना, तथा
(ग) किशोरी रूप से उपासना।

(क) प्रणय भक्ति

५९. यह मध्ययुग के धार्मिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व था। योरोप के साधको ने ईसामसीह के प्रति प्रणय व्यक्त किया—'दुलसे दोदोई' जो हालैंड में 'डिवोशियो मॉर्डना' के रूप से व्यवस्थित हुआ[2]। काव्य मे मसीह के प्रति प्रणयपरक गीतिकाव्यो और चित्रो मे उनके प्रेमोन्मत्त चित्र इसी प्रवृत्ति से प्रेरित थे। फ्रास और इटली के गीतिकारो ने इस दिव्य रति को विधि [लॉ] के रूप से स्वीकृत किया और 'प्रेमानुभूति का व्याकरण' लिखा[3]।

६०. इसी प्रकार सूफियों ने अपने उपास्य को प्रिय अथवा प्रिया के रूप मे कल्पित कर उसके प्रति अपना प्रणयनिवेदन किया। पर 'युगल तत्त्व' का अभाव इन दोनों मार्गों मे है। यहाँ भक्त सीधे ही अपना प्रेम ईश्वर को अर्पित करता है।

---

१. डा० रमेशचंद्र मजूमदार : हिस्ट्री एँड कल्चर आफ इंडियन पीपुल, जि० ५ दि स्ट्रगिल फार इम्पायर, पृ० ४१४
२. जे हुइजंगा : वेनिंग आफ दि मिडिल एजेज, पृ० १९७–२०१
३. एस० सी० डे : अर्ली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव फेथ एँड मूवमेंट इन बंगाल, पृ० १२३–१२५

भारत में प्रणय भक्ति

६१. हित संप्रदाय के पूर्व से ही प्रणय भक्ति का रूप मिलता है। आलवारों मे गोपीभाव से कृष्ण की उपासना थी। शठकोप नम्मालवार स्त्रीवेश धारण कर अर्चन किया करते थे। उपास्य के दर्शन को वे 'आध्यात्मिक सहवास' के रूप से वर्णित करते है[1]। अण्डाल [रंगनायकी] की भक्ति भी गोपी भाव की थी। किंतु इस भक्ति मे युगल तत्व की स्वीकृति नहीं थी।

ख. युगलतत्व की उपासना

६२. उपास्य के द्विविध रूप की कल्पना प्राचीन है। वज्रयान मे प्रज्ञा और उपाय के मिलित रूप का ध्यान होता है। इस संमिलन से 'महासुख' होता है। करुणा और शून्यता का युगनद्ध रूप आचार्य ही 'महासुख' है जिसके प्रयत्न से बोधिचित्त साधक मुद्रा सहित दो उपास्यो के मिलित रूप की साधना मे प्रवृत्त होता है।

६३. प्रत्यभिज्ञा दर्शन मे भी शिव और शक्ति के सामरस्य रूप की उपासना वर्णित है। शिव और देवी, चंद्र एवं चद्रिका के समान हैं। 'त्रिपुरासुंदरी' सिद्धात मे कामेश्वर तथा कामेश्वरी के सामरस्य रूप की कल्पना है। यह 'सुंदरी' सतत षोडश वर्षीया है। इस प्रकार वज्र-सहजयान मे शैव और शाक्त तंत्रों मे युगल तत्व की उपासना मिलती है।

ग. किशोरी रूप से उपासना

६४. राधावल्लभ संप्रदाय मे युगल सरकार तो किशोर एवं किशोरी रूप है ही—साधक को भी किशोरी रूप बनना पड़ता है। त्रिपुरासुंदरी सिद्धांत में भी 'सुदरी' की उपासना के निमित्त भक्त को किशोरी भाव ग्रहण करना पड़ता है। इन दोनों तत्वों-'सुंदरी' के 'नित्यषोडशिका' और 'किशोरी भाव' के कारण राधावल्लभ सप्रदाय और त्रिपुरा सुंदरी सिद्धात बहुत करीब दिखाई देते हैं।

राधा तत्व

६५. ऊपर युगल तत्व के संबंध मे विचार करते समय देखा गया है कि शैव शाक्त और वज्रयान मे युगल तत्वों की उपासनाविधि मिलती है। किंतु प्राचीन वैष्णवागमों मे शक्तिपक्ष दबा हुआ है। विष्णु के साथ श्री और भूमि, लक्ष्मी

---

१. पं० बलदेव उपाध्याय : भागवत दर्शन, पृ० ४८७–४८८

और सरस्वती, श्री और पुष्टि का ध्यान, अंकन और उपासना तो पहिले से ही होती थी किंतु वे सर्वथा आनुषंगिक थीं। राधा का महत्व उनकी पूर्ववर्तिनी शक्तियो को कथमपि प्राप्त न हो सका।

६६. राधा के उल्लेख ईसा की प्राथमिक शताब्दियो से ही मिलने लगते है किंतु राधाकृष्ण के रूप से उपासना का साक्ष्य दशवीं शती से पूर्व नहीं जाता। वाक्पतिराज का उज्जैन मे प्राप्त ९७३ ईस्वी के ताम्रपत्र मे मंगलाचरण के रूप से राधाकृष्ण की वंदना है जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'राधाकृष्ण' की साधना दशम शती मे प्रचलित ही नहीं हो गई थी अपितु राजवृंद भी इसी ओर झुक रहे थे[1]।

राधाकृष्ण-तत्व-विकास की कुछ स्थितियाँ

६७. बौद्ध धर्म मे बुद्ध के 'त्रिकाय' की कल्पना है। 'निर्माणकाय' शाक्य मुनि का लौकिक सांसारिक रूप है। 'संभोगकाय' बुद्ध का वह सूक्ष्म स्वरूप है जिससे असंख्य ज्वालाएँ निकलती है और जिससे वे धर्मोपदेश करते है। 'धर्मकाय' अनंत, अपरिमेय तथा सर्वत्र व्यापक परमार्थभूत रूप है। इन त्रिकायो के समान तीन 'अवसरो' की चर्चा शैवतंत्रो मे है। ये तीन 'अवसर' है—'लय', 'भोग' और 'अधिकार'। वैष्णव तंत्रो मे इन्हीं के अनुकूल तीन रूपो की चर्चा है—'योग', 'भोग' और 'वीर'। योग मे शक्ति का लय रहता है, भोग मे उसकी लीला का लास्य तथा वीर मे उसके द्वारा असाधु तत्वो का संहार होता है। भोग मूर्त्तियो की चर्चा वैष्णव तंत्रो मे अनेक स्थलो पर है। विष्णु के प्रत्येक अवतार अपनी शक्तियों के सहित इस रूप मे कल्पित होते हैं। किंतु यहाँ पर विष्णु का ही प्राधान्य है शक्ति का नहीं।

६८. प्रत्यभिज्ञा दर्शन मे इन तीन रूपो की तुलना 'शिव' 'सदाशिव' और 'ईश्वर' के रूप से की जा सकती है। इसमे भी शिव तत्व का प्राधान्य है। किंतु त्रिपुरासुदरी सिद्धात मे शक्ति तत्व का प्राधान्य हो गया। 'सुदरी' के रूप मे कामेश्वर और कामेश्वरी—दोनों का समन्वय है। 'सुंदरी' किशोरी की अवस्था की है। राधा इन्हीं किशोरी सुंदरी का वैष्णव रूप प्रतीत होती है। राधावल्लभ सप्रदाय मे राधा तत्व का प्राधान्य है। कृष्ण की भी वे आराध्या हैं। इसमे भी सुदरी सिद्धांत के समान राधाकृष्ण का सामरस्य है। और अत मे यहाँ राधा किशोरी के रूप से प्रकल्पित है।

---

1. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत प्रबंध का अध्याय २। अनुच्छेद ७६

६६. वज्रयान में गुरु शून्यता और करुणा का युगनद्ध रूप है। उसमें प्रज्ञा और उपाय का भी सामरस्य होता है अतः यह 'महासुखरूप' है। वह शिष्य को निर्वाण तक पहुँचाता है। उसी प्रकार राधावल्लभ संप्रदाय में राधा [१] गुरु [२] महासुखतनु और [३] हिततत्व तक शिष्य को पहुँचानेवाली है। राधासुधानिधि का कथन है कि—

> ईशानी च शची महासुखतनुः शक्तिः स्वतन्त्रा परा।
> श्रीवृन्दावननाथपट्टमहिषी राधैव सेव्या मम॥

श्लोक ७८। राधासुधा०

यहाँ 'महासुखतनु' शब्द का प्रयोग बहुत महत्वपूर्ण है। यह स्पष्ट निदर्शन है कि राधा के निर्माण में वज्रयान का हाथ अवश्य था। ऐसा प्रतीत होता है कि 'संभोगमूर्ति' विष्णु के शक्ति तत्व ने 'त्रिपुरासुंदरी' और वज्रसहजयान के तत्वों से परिपुष्ट होकर राधावल्लभ संप्रदाय की राधा के आंतर रूप का निर्माण किया।

रसभक्तों के द्वारा विवेचित भक्ति

७०. बताया जा चुका है कि रसभक्ति में भक्त उपास्य के 'अतिप्रासादोत्थ' प्रेमाभक्ति में छके रहते थे। वे युगल सरकार की निकुंज लीला का दर्शन, गायन तथा तत्कालीन परिचर्या में ही रत रहते थे।

निकुंज लीला

७१. राधा और कृष्ण का संयोग 'हित', 'प्रेम' या 'रस' कहा जाता है। इसकी तुलना कामेश्वर तथा कामेश्वरी के सामरस्य अथवा प्रज्ञा एवं उपाय के युगनद्धरूप से उत्पन्न 'महासुख' से की जा चुकी है। इसी महासुख-रस में तल्लीन हो जाना रसभक्ति है। हरिवंश ने 'भामिनी'[1] रूप से 'अविचल जोरी'[2] नित्य युग्म की भक्ति का उपदेश दिया है। निम्नलिखित पद से इसका रूप स्पष्ट होता है—

> नागरि निकुंज ऐन, किसलयदल रचित सैन,
> कोक कला कुसल कुँवरि अति उदार री।
> सुरत रंग अंग अंग हाव भाव भृकुटि संग,
> माधुरी तरंग मथत कोटि मार री॥

१. हित चौरासी। पद ४८
२. वही। पद ७०

मुखर नूपुरनि सुभाव, किंकिनी बिचित्र राव,
बिरम बिरम नाथ बदत बर बिहार री।
लाड़िली किसोर राज, हंस हंसिनी समाज,
सींचत हरिबंस नैन सुरस सार री॥

नित्य क्रीड़ारत, युगल, राधावल्लभ की रूप माधुरी से अपने नेत्रों को तर करते रहना ही 'निकुंज सेवा' की भक्ति है। बिना इस मिलित मूर्ति के दर्शनो के ध्रुवदास को चैन नहीं है—

भुज पर भुज उर पर उरज अधर अधर जुरि नैन।
ऐसी बिधि जो रहैं तौ कछुक होइ चित चैन॥ दो० ९० । रहस्यमंजरी

हरिराम व्यास का तो अपने संबंध मे यह कहना है—

'व्यासदासि' नवकेलि बिलोकति, बिन ही मोल बिकानी॥
पं० ४ । पद ६२ । व्यासवाणी

लीला का स्वरूप

७२. राधिकोपनिषद्[1] के अनुसार रसाब्धि शरीर वाले भगवान् रसास्वाद के निमित्त श्रीकृष्ण तथा राधा के द्विविध रूपो को धारण करते है। इसी उपनिषद् में राधा नाम का एक रहस्य यह भी बताया गया है कि कृष्ण से आराधित होने के कारण वे राधिका हैं। आनंद के लिए द्विधा विभक्त होने से इनमे 'स्वसुखित्व'—अपने ही सुख का भाव नहीं होता। दोनों एक दूसरे की सुख चेष्टा मे व्यासक्त रहते हैं। इसी तत्त्व को 'तत्सुखी' भाव कहा जाता है। इसकी विवृति हित हरिवंश में निम्नलिखित ढंग से हुई है—

जोई जोई प्यारो करै सोई मोहि भावै,
भावै मोहि जोई सोई सोई करै प्यारे।
मोकों तो भावती ठौर प्यारे के नैननि की,
प्यारो भयो चाहै मेरे नैननि के तारे॥

---

१ कृष्णेन आराध्यते इति राधा—येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहेनैकः क्रीडार्थं द्विधाभूत्। राधिकोपनिषद्
हिं० स० सां० भू० १२ (११००—६२)

मेरे तन मन प्रान हूँ ते प्रीतम प्रियै,
अपने कोटिक प्रान प्रीतम मोसों हारे।
[जै श्री] हित हरिबंस हंस हंसिनी स्यामल गौर,
कहौ कौन करै जल तरंगनि न्यारे ॥ पद १। हितचौरासी

७३. युगल किशोर राधा और उनके वल्लभ वृंदावन की नित्य निकुंज क्रीड़ा मे संसक्त रहा करते हैं। कभी कभी इस रस केलि मे 'रसिक मोहन' राधा का रूप भी धारण कर लेते हैं। इस अखंड आनंद की धारा मे मान, विरह आदि लौकिक प्रेम के उपादानों का पता ही नहीं चलता। इस संबंध मे हरिराम व्यास की कतिपय रचनाएँ अपवाद स्वरूप मालूम पड़ती हैं[1]।

लीला का स्वरूप और भेद

७४. विद्वानों ने भगवान् की द्विविध लीलाओ की चर्चा की है—'कुंज लीला' एवं 'निकुंज लीला'। इनमे से पहली लीला की अपेक्षा दूसरी लीला अंतरंग मानी गई है। यों तो ब्रजलीला के सभी भक्तों ने अपने को गोपी भाव से भावित कर भगवान् कृष्ण को ही परमोपास्य माना है पर 'कुंज लीला' के उपासकों मे 'कृष्ण रति' तथा 'निकुंज लीला' के उपासकों मे 'राधा रति' को स्थायी भाव माना गया है। 'कृष्ण रति' के अनुसार विषयालंबन कृष्ण एवं आश्रयालंबन गोपिकाएँ हैं किंतु 'राधा रति' के अनुसार विषयालंबन राधा और आश्रयालंबन कृष्ण हैं। इस प्रकार 'कुंज लीला' मे श्रीकृष्णचरणों की तथा 'निकुंज लीला' मे राधाचरणों की प्रधानता है, स्वयं श्रीकृष्ण राधा की अनन्य आराधना मे सलग्न रहा करते है। रसरत्नावली मे ध्रुवदास कहते हैं—

सुमन सुखासन सेज पर लटकी कुँवरि सुभाइ।
पिय नैननि के करनि सों तहाँ पलोटत पाइ ॥ दो० ३८ ॥

'कुंज लीला' के उपासकों ने रस के परिपाक के लिये विरहानुभव की प्रधानता स्वीकार की है। वल्लभाचार्य जी ने अपनी बलवती स्पृहा व्यक्त करते हुए कहा है—

यच्च दुःखं यशोदायाः नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां च यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित् ॥
श्लोक १। निरोधलक्षण : षोडशग्रथ

---

१. विजयेंद्र स्नातक : राधावल्लभ संप्रदाय, पृ० १२७

यह भी सर्वविदित है कि सूरदास ने गोपिकाओं के अश्रुओं से ही 'सागर' भरा है। अतः इनमे विप्रलंभ शृंगार की प्रमुखता है।

७५. परंतु 'निकुंज लीला' मे नित्य संयोगावस्था वर्तमान रहती है। वहाँ वियोग का प्रवेश ही अशक्य है। फिर भी विरहावस्था मे अनुभूत होनेवाली प्रेम की उत्कट और तीव्र पिपासा अनवरत जगी रहती है। रहस्यमंजरी मे ध्रुवदास लिखते हैं—

देखिबो जहाँ बिरह सम होई। तहँ कौ प्रेम कहा कहै कोई॥
अटपट भाँति कौ बिरह सुनि, भूलि रहीं सब कोई।
जल पीजत है प्यास कों, प्यास भयो जल सोइ॥

वास्तव मे हित हरिवंश ने चक्रवाकयुग्म एवं सारसदंपति की वार्ता से संबद्ध दो कुंडलियों मे इस अद्‌भुत प्रेम सिद्धांत की अभिव्यक्ति की है।

७६. कविसप्रदाय के अनुसार रात्रि के आगमन के साथ ही चक्रवाकी अपने प्रियतम से बिछुड़ कर जलाशय के दूसरे तट पर जा बैठती है। सारी रात विरह की दारुण वेदना भोगती हुई वह मिलन की आकांक्षा मे प्रातःकाल की प्रतीक्षा करती रहती है। विरहाग्नि से उद्दीप्त प्रेम संमिलन की वेला मे विशेष आवेग से युक्त होकर उसे अत्यधिक आनंद प्रदान करता है। इस वियोगपुष्ट प्रेम की महत्ता का प्रतिनिधित्व करनेवाली चक्रवाकी पर सारस व्यंग कसता हुआ कहता है—

चकई प्रान जु घट रहै पिय बिछुरंत निकज्ज।
सर अंतर अरु काल निसि तरफ तेज घन गज्ज॥
तरफ तेज घन गज्ज लज्ज तुहि बदन न आवै।
जल बिहून करि नैन भोर किय भाय बतावै॥
हित हरिबंस बिचारि याद अस कौन जु चकई।
सारस कह संदेस प्रान घट वहै जु चकई॥ पद ५। स्फुट वाणी

सारसयुग्म के संबंध मे भी कविप्रसिद्धि है कि वे दूसरे से कथमपि पृथक् नहीं होते। वियोगविरहित सतत संयोग के वे प्रतीक हैं। इसी से एक का वियोग होते ही दूसरा तड़प तड़प कर अपना प्राणोत्सर्ग कर देता है। अतएव नित्य संयोगी सारस की दृष्टि से प्रियविछोह मे चकई का जीवित रहना प्रेम का दंभमात्र है। पर चकई की दृष्टि से प्रिय वियोग की दुःसह व्यथा मे भी प्रिय का स्मरण करते हुए जीवन

धारण करना ही प्रेम की परिपूर्णता है, जिसने इस रस को चखा ही नहीं वह उसका स्वाद क्या जाने ? इसलिए वह सारस के व्यंगमय वचनों का उत्तर देती हुई कहती है—

सारस सर बिछुरंत को जौ पल सहै सरीर।
अगिन अनंग जु तिय भखै तो जानै परपीर॥
तौ जानै पर पीर धीर धरि सकहि वज्र तन।
मरत सारसहि फूटि पुनि न परचौ जु लहत मन॥
हित हरिबंस बिचारि प्रेम विरहा बिन वा रस।
निकट कंत नित रहत मरम कह जानै सारस॥ पद ६। स्फुट वाणी

इस प्रकार हरिवंश के प्रेमसिद्धांत मे न तो केवल सारस का विरह-सुख-शून्य नित्य मिलनजन्य प्रेम स्वीकृत है और न केवल चक्रवाकी का दुर्वह-वियोग-प्रसूत अनुपम स्नेह की। वास्तव मे राधाकृष्ण के प्रेम की अनिर्वचनीय गाथा है, जैसा कि ध्रुवदास कहते हैं—

न आदि न अंत विहार करैं दोउ, लाल प्रिया में भई न चिन्हारी।
नई नई भाँति नई नई कांति, नई नवला नव नेह विहारी॥
दियै चित आहि, रहे मुख चाहि, रहे तन प्रान सु सर्वसु हारी।
रहैं इक पास करैं मृदु हाँस, सुनौ ध्रुव प्रेम अकत्थ कथा री॥
भजन सत सिंगार।

इसीलिये स्वामी करपात्री जी ने 'भगवत् तत्त्व' ग्रंथ मे इस प्रेमसिद्धांत को इन शब्दों मे व्यक्त किया है—'सारस पत्नी लक्ष्मणा केवल संप्रयोगजन्य रस का ही अनुभव करती है और चकवी विप्रयोगजन्य तीव्र ताप के अनंतर सहृदय-हृदय-वेद्य संप्रयोगजन्य अनुपम रस का आस्वादन करती है, परंतु वह भी विप्रयोग काल मे संप्रयोगजन्य रस से वंचित रहती है। परंतु नित्य निकुंज मे श्री निकुंजेश्वरी को अपने प्रियतम परम प्रेमास्पद श्री ब्रजराज किशोर के साथ सारसपत्नी लक्ष्मणा की अपेक्षा शतकोटि गुणित दिव्य संप्रयोगजन्य रस की अनुभूति होती है और साथ ही चकवी की अपेक्षा शतकोटि गुणित अधिक विप्रयोगजन्य तीव्र ताप के अनुभव के अनंतर पुनः दिव्य रसानुभूति होती है। यही इसकी विशेषता है'[1]।

---

१. स्वामी करपात्री जी : भगवत् तत्त्व, पृ० १६१

७७. यह रस शैवाद्वैत मे 'परम शिव' को 'शिव' रूप देता है तथा सृष्टि का विधायक है। इसलिये यह लौकिक धरातल पर प्राप्य नहीं है। किंतु सहजियों के यहाँ प्रज्ञोपाय के ऐहिक प्रतीक नरनारी के सामरस्य मे अथवा शक्ति के विस्फार से 'निर्माण चक्र' मे मिलता है। यह लौकिक धरातल है। राधाकृष्ण की लीला का स्तर लौकिक अलौकिक है। यह लीला वृंदावन के निकुंज मे होती है अतः लौकिक किंतु इसका दर्शन 'सिद्ध देह' से ही लभ्य है अतएव अलौकिक।

वृंदावन

७८. राधावल्लभ संप्रदाय मे वृंदावन का अत्यधिक महात्म्य है। यद्यपि वृंदावन का वर्णन और महात्म्य प्राचीन पुराणो मे मिलता है। नृसिंह[1] पुराण में भगवान् अपने अनेक क्षेत्रों मे वृंदावन की परिगणना करते हुए कहते हैं कि मैं वृंदावन मे नित्य गोपाल के रूप से स्थित रहता हूँ। पद्मपुराण मे यह वैकुंठ का एक अंश[2] विशेष माना गया है। साथ ही इसकी अंतरंग[3] व्याख्या भी वहीं मिलती है। परंतु राधावल्लभ संप्रदाय मे नित्य लीलास्थली होने के कारण वृंदावन की महत्ता वैकुंठ, गोलोक इत्यादि से भी बढ़कर मानी गई है।

उपास्य : 'राधा' का किशोरी तत्त्व

७९. सोम सिद्धांत, कामात्मवादी शैव संप्रदाय था। इसका सोम-चंद्र से विशेष संबंध है। परंपरा है कि इसका प्रवर्तन सोम ने शक्ति को प्रसन्न करने के लिये किया था। चिंताहरण चक्रवर्ती ने सोम तथा उसकी कलाओं का रहस्यवादी अर्थ इस सोम सिद्धांत से संबद्ध माना है[4]। त्रिपुरासुंदरी सिद्धान्त मे भी चंद्र को शक्ति तत्त्व माना है[5]। चंद्र की सोलह कलाएँ होती हैं। इसलिये शक्ति षोडशवर्षीया किशोरी कही गई। ललिता या त्रिपुरासुंदरी सोलह वर्ष की किशोरी मानी जाती है। वैष्णव

---

१. तीर्थ-कृत्य-कल्पतरु, पृ० १८७ पर वाराह पुराण से उद्धृत तथा पृ० २९२ पर नरसिंह पुराण से उद्धृत।

२. पद्म पुराण ४।६९।९

३. वही ४। ७९।८–१४

४. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, जि० ८, पृ० २२०

५. उपाध्याय : भारतीय दर्शन, पृ० ६०३

संप्रदाय मे राधा भी किशोरी के रूप से ध्यातव्य हैं। सहजिया वैष्णव, गौड़ीयों तथा चंडीदास आदि मे उनके इस रूप का मधुर वर्णन है। यहाँ तक कि बंगाली वैष्णव संप्रदाय मे 'किशोरी भजन' स्वयं एक धार्मिक मत है[1]।

८०. इस राधावल्लभ संप्रदाय मे भी राधा 'नित्य किशोरी' रूप से पूजित होती है। हरिवंश अनेक स्थलो पर उनको नवीन किशोरी,[2] नवल किशोरी,[3] किशोरी[4] आदि विशेषणो से अन्वित करते हैं। किंतु महत्त्वपूर्ण हैं—सुंदरी' और 'जुवती'। हरिवंश का लीला गान है—

स्याम सुंदरी बिहार बाँसुरी मृदंग तार मधुर घोष नूपुरादि किंकिनी चुरी'

पं० ३। पद १०। हितचौरासी

यहाँ सुदरी शब्द स्वाभाविक रीति से राधा के पूर्व रूप त्रिपुरासुंदरी का स्मरण दिला देता है।

८१. वैसे ही 'जुवती' और विशेषतः 'रस जुवती' शब्द साभिप्राय मालूम पड़ते हैं। हरिवंश जय कामना करते हैं—

जै श्री हित हरिवंश रस जुवती तू लै मिली सखी प्रान अँकोर

पं० ६। पद १३। हितचौरासी

पहले बताया जा चुका है कि 'प्रज्ञा' को 'युवती', 'वज्र युवती' एवं 'कन्या' के नाम से वज्रसहजयान मे अभिहित किया गया है।

८२. अतः ऐसा प्रतीत होता है कि राधावल्लभ संप्रदाय मे 'किशोरी' का अर्थ निगूढ परंपरा से संबद्ध है। शास्त्रवादी भक्तों की राधा से रूपतः साम्य होते हुए भी मूलतः वे भिन्न ज्ञात होती हैं।

देवतामंडल

८३. रसवादी भक्त स्मार्त और आगम धाराओं के देवताओं की सर्वथा उपेक्षा करते हुए अपने उपास्य की अनन्य उपासना में विश्वास करते थे। किसी विशिष्ट

1. शशिभूषण दास गुप्त : राधा का क्रम विकास, पृ० २६७
2. हितचौरासी। पद ७। पं० १
3. वही। पद ७८। पं० १
4. वही। पद ३०। पं० ७

प्रसंग में कहे जानेवाले हित:रिवंश के निम्नलिखित पद से इस ऐकांतिक अनन्योपासना का सिद्धांत परिस्फुट होता है—

> यह जु एक मन बहुत ठौर करि कहि कौनें सचु पायौ।
> जहँ तहँ बिपति जार जुबती लौं, प्रगट पिंगला गायौ॥
> द्वै तुरंग पर जोर चढ़त हठि, परत कौन पै धायौ।
> कहि धौं कौन अंक पर राखै, जो गनिका सुत जायौ॥
> जै श्री हितहरिबंस प्रपंच बंच सब, काल व्याल कौ खायौ।
> यह जिय जानि स्याम स्यामा पद कमल संग सिर नायौ॥

पद ५६। हित-चौरासी

८४. इस सिद्धास की उग्र और कठोर अभिव्यक्तियाँ हरिराम व्यास मे पाई जाती है। उनके कथन हैं कि हरिदासो को देखते ही स्मार्त देवताओ का समूह भूतों की तरह रफूचक्कर हो जाता है—

> हरिदासन के निकट न आवत प्रेत-पितर-जमदूत॥
> × × ×
> ग्रह, गनेस, सुरेस, सिवा, सिव डरकर भाजत भूत॥

पं० १, ३। पद ८६। व्यास०

किंवदंती है कि व्यास जी की कन्या के विवाह मे अनन्य धर्म के विपरीत उनसे गणपति पूजन कराया गया। उन्होंने इस दुष्कर्म के संपादको पर अपना घोर अमर्ष व्यक्त करते हुए कहा है—

> मरैं वे जिन मेरे घर गनेस पुजायौ।
> × × ×
> व्यासदास कन्या पेटहिं क्यों न मरी अनन्य धर्म में दाग लगायौ॥

पं० १–३। पद २८६। व्यास०

> मो अनन्य के मंदिर में जिन थापि गनेस पुजायौ।
> तिनको बंस बेगि हरि तोरो गाय गूह जिनि खायौ॥

पं० ३–४। पद २९०। वही

व्यास जी ने केवल स्मार्त देवताओ का ही बहिष्कार नहीं किया, प्रत्युत राधाकृष्ण के-अतिरिक्त अन्य आगमिक देवरूपों का भी उपहास किया है—

झूलैं मेरे गंडकीनंदन।
मानहुँ भटा कढ़ी सें बोरे अंग लगाये चंदन॥
हाथ न पांइ नैन नहिं नासा ध्यान करत कछु होत अनंद न।
जालंधर अरु वृंदावल्लभ गावै व्यास कहा कहि छंदन॥
पद २९९। वही

८५. राधावल्लभ ही व्यास के एकमात्र उपास्य हैं। वे अवतार नहीं अवतारी तथा सर्वोच्च देवता हैं। उन्हीं के शब्दों मे—

राधावल्लभ मेरो प्यारो।
सर्वोपरि सबहिन को ठाकुर सब सुखदानि हमारो॥
× × ×
अवतारी सब अवतारन कौ महतारी महतारौ।
पं० १, २, ६। पद ७१। वही

उपसंहार

८६. इस प्रकार शास्त्रभक्ति और रसभक्ति मे स्वरूपगत भेद ही नहीं अपितु सांस्कृतिक तथा मौलिक अंतर भी है। रूपगत भेद मुख्यतया तीन हैं—

क. राधा की प्रमुखता
ख. कृष्ण का विहारीरूप और
ग. आगमिक साधन पद्धति का भी तिरस्कार

ये तीनो सिद्धात रसभक्ति को शुद्ध देवालयीय परपरा से कुछ दूर कर देते हैं। राधा की प्रधानता इसको शाक्त संप्रदाय के समीप ला देती है। यहाँ तक कि बार्थ इस संप्रदाय को 'वैष्णवाइट शाक्त' नाम से अभिहित करता है[1]।

८७. इसके साथ ही यही तत्त्व इस सप्रदाय को अष्टछापी भक्तों से पृथक् कर देता है। कृष्ण का विहारी रूप अष्टछापियो के कृष्ण से रूपतः ही भिन्न नहीं प्रत्युत मूलतः भिन्न है। रूपगत भेद यह है कि शास्त्रवादी भक्त कृष्ण के शिशु, किशोर, पौगड रूपों को अपनाते हैं—उनमे विष्णु की 'संभोग मूर्ति' और 'वीर मूर्ति' दोनों का समावेश है पर रसवादियों मे केवल विहारी कृष्ण हैं। अष्टछाप के

---

1. बार्थ : दि हिंदू रिलीजन्स आफ इंडिया, पृ० २३६

कृष्ण का संबंध साक्षात् वैष्णवागमो से है। वे वासुदेव-कृष्ण-विष्णु की परंपरा मे आते हैं। किंतु रसवादी कृष्ण का आभ्यंतर स्वरूप वज्रसहयान के 'उपाय और करुणा' से विनिर्मित है। यह पक्ष तीसरे अंतर से और भी पुष्ट होता है।

८८. शास्त्रवादी भक्त यद्यपि श्रौतस्मार्त परंपरा से हटे हैं परंतु उन्होंने आगमों के बाह्याचारों को स्वीकार किया था। रसवादी भक्तों ने इन आगमिक बाह्याचारों का भी स्पष्टतः परित्याग कर दिया। इसमें वे निर्गुनियों तथा सहजियों के सन्निकट आ जाते है जो निगमागम परंपराओ का स्पष्टतः प्रतिवाद करते थे।

८९. इन रूपगत भेदों का कारण यह है कि शास्त्रभक्ति एवं रसभक्ति की धाराएँ दो विभिन्न उत्सों से पोषण प्राप्त करती हैं। शास्त्रभक्ति देवालयीय आगमिक परंपरा है। देवालय का निर्माण, उसमे अर्चा की स्थापना, अष्टविध दैनिक उपासना और उसके अनुकूल भक्त की जीवनचर्या—ये संपूर्ण देवालयीय तत्त्व शास्त्रभक्ति मे मिलते हैं। किंतु रसभक्ति मे उपास्य, उपासना पद्धति तथा भक्तो के आचरण—ये तीनों तत्त्व तांत्रिक [सेक्सो-यौगिक] परपरा से परिगृहीत हैं। सारांश मे शास्त्रभक्ति देवालयीय है और रसभक्ति कामिक यौगिक [सेक्सोयौगिक] परंपरा से संबद्ध है।



पंचम अध्याय

सामाजिक व्यवस्था

५

सामाजिक व्यवस्था

चतुर्विध समाज

१. मध्यकाल में चार प्रकार के धार्मिक जीवनों [टाइप्स आफ रिलीजस लाइफ] के अनुरूप चतुर्विध समाज थे[1]। एक प्रकार का समाज चरण या श्रौत

---

1. समम् अजन्ति अस्मिन्निति समाजः—यह समाज शब्द की व्युत्पत्ति है। समम् का अर्थ है साथ और अज् धातु का अर्थ है व्यवहार करना। संस्कृत शब्दशास्त्र की परंपरा के अनुसार यदि 'समज' पशुओं के झुंड की संज्ञा है तो 'समाज' मनुष्यों के समूह की अभिधा। अतः समाज शब्द का भारतीय अर्थ हुआ—मनुष्यों का वह समूह जो साथ साथ कार्यव्यवहार करता है।

 समाज शब्द के अंग्रेजी पर्याय 'सोसायटी' की मान्य परिभाषा है—'टोटैलिटी आफ रिलेशनशिप्स' अर्थात् पारस्परिक संबंधों का समूह। साधारणतः मनुष्यों के उस समूह समाज कहा जाता है जो सामान्य संबंधों तथा आचारविचारों से एक सूत्र मे बँधे होते हैं। उदाहरणार्थ हिंदू समाज, मनुष्यों का वह समूह है जो एक सामान्य संबंधसमष्टि अथवा आचारविचार, यथा-वर्ण, आश्रम आदि का अनुवर्तन करता है। द्रष्टव्य-मैकिवर : एलीमेंट्स आफ सोशल साइन्सेज, पृ० १ से ३ तक।

 इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज और सोसायटी इन दोनों शब्दों में सामान्य संबंधसमुच्चय अर्थात् संबंधों का संकलन तथा उनकी व्यवस्था की प्रधानता है। अतएव समाज मे संबंध समष्टि पर अधिक जोर है—मनुष्यों के एकत्रीभाव मात्र पर नहीं।

 प्रस्तुत अध्याय में इसी दृष्टि से समाज शब्द का व्यवहार किया गया है।

परंपरा का अभिमानी था। कालांतर मे चरण परंपरा के शिथिल हो जाने पर इसी के अतर्गत विकसित स्मृतियो और पुराणों से यह समाज प्रभावित तथा परिचालित होने लगा। दूसरे प्रकार का समाज देवालय से संबद्ध देवपूजको का मतानुयायी था। वैष्णवागमो एवं अन्य उपासनापरक धाराओ के प्रति इस समाज की परम श्रद्धा थी। संक्षेप मे यह वैष्णव भक्त समाज था। तीसरे प्रकार का समाज मठपरंपरानुवर्ती उन संन्यासपरक शैव तपस्वियों से नियंत्रित था जिनमे शैवागमो, शिव-शाक्तागमों और तदनुकूल शास्त्रो की पूर्ण प्रतिष्ठा थी। चौथे प्रकार का समाज वेद-शास्त्र-विरोधी योगप्रमुख समाज था। पूर्व मध्ययुग के नाथसिद्ध तथा उत्तर मध्ययुग के निर्गुनिया सत इस समाज से संबद्ध हैं।

२. श्रौतस्मार्त परंपरावादी समाज का नेतृत्व विद्वान् ब्राह्मण करते थे। इनके दो वर्ग थे। पहला वर्ग राज्य अथवा धर्मप्राण समाज का आश्रय प्राप्त कर शास्त्राभ्यास और शिक्षणकार्य मे संसक्त रहता था। इस वर्ग के राज्याश्रित विद्वान् सामाजिक क्षेत्र मे ऐतिहासिक काव्यों की परपरा–'विलास', 'चरित', 'प्रशस्ति' आदि की अवतारणा कर रहे थे। किंतु इनकी साधारण प्रवृत्ति शास्त्रचिंतन की थी जिसमे इन्होने प्रायः सभी क्षेत्रों मे अत्यंत सूक्ष्म और तलस्पर्शी विचार किया है। दूसरा वर्ग पुरोहितो का था। सामान्यतः पौरोहित्य वर्ग अत्यंत प्राचीन है। वैदिक काल मे ही इस वर्ग की प्रतिष्ठा के सूचक उल्लेख मिलते हैं। इसके पश्चात् सातवीं शताब्दी तक यह वर्ग आर्थिक दृष्टि से वैदिक यज्ञो एवं अन्य विस्तृत कर्मकाण्डो पर आश्रित था। परंतु अवातर काल में यज्ञों के समाप्त हो जाने पर 'महादान' प्रभृति दान परपराओं एवं 'होम' 'शातिकर्म', 'कथावाचन' आदि की दक्षिणाओं से इस वर्ग की जीविका चलने लगी। तीर्थ, व्रत, संस्कार इत्यादि विषयों का निर्णय और उनकी व्यवस्था पर इनका एकात अधिकार था। तात्पर्य यह है कि इस वर्ग की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति स्मार्त कर्मकाड द्वारा होती थी। अतः स्मार्त वाङ्मय और उनके सिद्धांत यथा वर्णाश्रम मर्यादा, समाज में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता आदि इस वर्ग से संबद्ध है।

३. देवालय परपराश्रित समाज मे नेता थे—देवपूजक। आलोच्य युग के पूर्व ही इनके भी दो वर्ग हो गए थे, आचार्य भक्त और केवल भक्त। आचार्यों ने भक्ति-दर्शन की प्रतिष्ठा तथा देवपूजन विधि का विधान आदि कार्य प्रधान रूप से किया। 'केवल' भक्तों ने ईश्वराधन मात्र मे अपना मन रमाया। ये परंपरायें आलोच्य युग मे भी बराबर चलती रहीं। अनन्य भक्ति को प्राप्त करना ही इनका

चरम लक्ष्य था। इसीसे श्रौतस्मार्त परंपरा की सामाजिक मर्यादा, वर्णाश्रम व्यवस्था, ब्राह्मणो की श्रेष्ठता इत्यादि आचारविचार इन्हें उस रूप मे मान्य नहीं थे। देवपूजक वर्ग की सामाजिक आवश्यकताएँ, उपर्युक्त ब्राह्मण वर्ग की आवश्यकताओ से भिन्न थी। स्मार्त संस्कारो और भक्तो के संस्कारो मे भी पर्याप्त पार्थक्य था। यही कारण है इस वर्ग की जीवनवृत्ति ब्राह्मण वर्ग की भाँति कर्मकाड के आश्रित न होकर भक्ति के अधीन थी। इस प्रकार सामाजिक दृष्टि से श्रौतस्मार्त वर्ग की अपेक्षा देवपूजक वर्ग मे वर्णाश्रम-धर्म-पालन के स्थान पर ईश्वरोपासना की और कर्मकांड के स्थान पर प्रपत्ति सिद्धांत की महत्ता स्थिर हुई। स्मार्त वर्ग मे ब्राह्मणो की जो प्रतिष्ठा थी वही प्रतिष्ठा देवपूजक वर्ग मे भक्तो की थी। अतएव श्रौतस्मार्त परंपरानुयायी समाज से भक्त समाज की स्थिति भी पृथक् हो गई।

४. कालांतर मे श्रौतस्मार्त और देवालयीय परंपराओं का समन्वय हुआ। इसका इतिहास पूर्व अध्याय मे दिया जा चुका है। इनके समन्वय से एक वर्ग बना जिसे स्मार्त वैष्णव कहा जा सकता है। इन स्मार्त वैष्णवो के साहित्य मे आगमिक वैष्णवो के प्रति कुछ मृदु आक्रोश दृष्टिगोचर होता है। वृद्धहारीत का कथन है कि श्रौतस्मार्त पद्धति से ही विष्णु का पूजन करना चाहिए। उदाहरणार्थ वृद्धहारीत स्मृति के आठवे अध्याय (श्लोक १७६–१९१) मे शाडिल्य ऋषि का यह उपाख्यान दिया गया है कि उन्होने प्रारंभ मे वैदिक पद्धति छोड़कर आगमिक पद्धति से विष्णु की उपासना की थी। फलतः उन्हे शाप मिला। कालातर मे वैदिकोपासना करने के पश्चात् ही वे इस शाप से मुक्त हो सके। यहाँ यह स्मरणीय है कि शाडिल्य एकायन शाखा[1] के प्रवर्तकों मे से एक है तथा उनकी शाडिल्य संहिता पाचरात्रिको का एक मान्य ग्रंथ है। इसी प्रकार आगमिक भी इस स्मार्त वैष्णवोपासना के प्रति आस्था नहीं रखते थे।

५. इस स्मार्त वैष्णपोपासना मे स्मार्त समाजविधान एवं धार्मिक कृत्य के साथ वैष्णव भक्ति के दर्शन होते हैं। किंतु इस वैष्णव भक्ति मे दास्य भाव की ही प्रधानता है।

६. मठवादी शैव परंपरा का आलोच्य युग में भी बड़ा प्रभावशाली संगठन था। संन्यास की दो[2] परंपराये हैं—वैदिक और आगमिक। वैदिक परंपरा मे

---

१. प्र० प्र०। अध्याय २। अनुच्छेद ४३ तथा टिप्पणी सं० ४

२. विस्तृत विवरण, द्रष्टव्य। अध्याय ६। अनुच्छेद ११ से २२ तक।

संन्यास का ग्रहण चतुर्थाश्रम के रूप मे होता है। इस आश्रम मे भिक्षु के लिये एकाकी रहकर निरंतर भ्रमणशील होना अनिवार्य है। किंतु आगमिक परंपरा मे संन्यासी का जीवन मठ से संबद्ध रहता है। वात-रशन, नग्न और भस्मधारी इन आगमिक संन्यासियों का उल्लेख वेदो मे मिलता है। उसके पश्चात् लकुलीश ने और उनके बाद गुहावासी ने विस्तृत मठपरंपराएँ प्रवर्तित कीं। इस वर्ग में पाशुपत तथा उससे उत्पन्न सप्रदायो के संन्यासी आते हैं।

७. अनुश्रुति है कि आद्य शंकराचार्य ने चार मठों के साथ दस प्रकार के संन्यासियो की प्रतिष्ठा की थी। इनमे से सात प्रकार के संन्यासियों में शूद्रों का प्रवेश हो सकता है। नागा साधुओ के अखाड़ों की चर्चा आगे की जायगी।

८. यह मठ अखाड़ा परंपरा, भक्त वैरागियों की परंपरा से भिन्न है। प्राचीन काल के वैखानस व्रत को वहन करने वाले, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षु तथा आलोच्य काल के वैरागियो का दर्शन एवं जीवन अन्यत्र उपस्थापित किया जायगा। भक्तो के संसारपरित्याग और इन लोगो के संन्यास का अंतर भी वहीं स्पष्ट किया जायगा।

९. चौथी परंपरा योगमार्गी नाथों और सिद्धो की थी। इनके जीवन की साधिका इन्हीं की अलौकिक चमत्कारविधायिनी यौगिक शक्तियाँ थीं। पूर्व लिखित तीनों प्रकार की परंपराओ मे शब्द प्रमाण या आप्त वचनों की पूर्ण प्रतिष्ठा थी। पर इस परपरा के अनुयायियो ने शब्द प्रमाण की पूरी अवहेलना करते हुए योग साधनाओं से उद्भूत आत्मानुभूति का महत्व सर्वोपरि प्रतिष्ठापित किया। इसीलिए वेद शास्त्रो का खंडन किया, सगुण ईश्वर या अर्चा विग्रहों की खिल्लियाँ उडाईं, कान फूँकने वाले गुरुओं को जमकर फटकारा। यद्यपि सांख्ययोग और न्यायवैशेषिक प्रतीतिमूल आस्तिक दर्शन कहे जाते हैं तथापि उनमे शाब्द प्रमाण की भी पूर्ण स्वीकृति है। किंतु प्रस्तुत वर्ग मे शाब्द प्रमाण सर्वथा अमान्य है। इन्होने बताया कि अगर ईश्वर है तो वह बाहर नहीं, भीतर है। यदि वह मिल सकता है तो अंतःसाधना या यौगिक क्रियाओं से मिल सकता है, बाह्य कर्मकांड जिसे वे पाषंड या आडंबर कहते हैं, कभी नहीं मिल सकता। आलोच्य युग के निर्गुनिया संतों मे इसी परंपरा के आचार विचारों की अभिव्यक्ति मिलती है।

आलोच्य युग के सगुण काव्य में सामाजिक जीवन

१०. आलोच्य विषय, भक्तिकालीन हिंदी सगुण काव्य में धर्म से प्रभावित सामाजिक जीवन [सोशियो रिलीजस लाइफ] ही प्रमुख रीति से व्यक्त होता है।

इन काव्यों मे आर्थिक आधार पर निर्मित सामाजिक वर्ग उभर कर नहीं आ सके। अत: इनमे सामाजिक व्यवस्थायें [सोशल ऑर्गैनिजेशंस], सामाजिक संस्थाएँ [सोशल इंस्टीट्यूशंस], और सामाजिक परंपराएँ [सोशल एसोशियेशंस] धार्मिक दृष्टि से वर्णित तथा आलोचित है। व्यक्तियों के अंतर्वैयक्तिक एवं सामाजिक संबध भी इसी दृष्टि से उपस्थापित है। सामूहिक जीवन [कम्यूनिटी लाइफ] का वर्णन नगण्य है।

११. हिंदी सगुण काव्य की दूसरी विशेषता यह है कि इसमे विशेष रूप से श्रौतस्मार्त परंपरा के अंतिम उत्थान मे आनेवाले स्मार्त वैष्णवो के एवं दसवीं ग्यारहवीं शती के आस पास प्रवर्तित वैष्णवागम परंपरा के सिद्धातानुयायी समाज का प्रतिफलन हुआ है। इसलिये इस काव्य मे मठाश्रित तथा योगप्रमुख परंपराओं के सिद्धात और जीवन आलोचित रूप मे ही अभिव्यंजित हुए हैं। कारण यह है कि सगुण भक्ति अर्थात् साकारोपासना आगामिको एवं स्मार्तों मे स्वीकृत और प्रतिष्ठित थी। शैवागम इस काल के हिंदी साहित्य पर विशेष प्रभाव न डाल सके। इसके कई कारण हैं। सबसे पहले श्रौतस्मार्त शास्त्रकारो ने पंचदेवोपासना मे शिव को स्वीकार कर इसके प्रसार मे अवरोध की भूमिका उपस्थित की। दूसरे हिंदू राज्यो के विनष्ट होने से मठों का राज्याश्रय समाप्त हो गया। तीसरे यवनों द्वारा मठों का ध्वंस होने से शैव धर्म का आश्रय नष्ट होने लगा। फिर इन्हीं दिनो वैष्णव भक्ति का आदोलन नए वेग से उत्तर भारत मे प्रवर्तित हुआ। ऐसी स्थिति मे उस काल के हिंदी साहित्य पर शैव प्रभाव की क्षीणता स्वाभाविक है। योगप्रमुख परपरा मे सगुण भक्ति स्वीकृत ही नहीं थी। इसलिये हिंदी सगुण काव्य मे स्मार्त तथा वैष्णव देवपूजकों की परंपराएँ ही उपलब्ध होती है।

अनुशीलन पद्धति

१२. अतः वैज्ञानिक क्रम यह प्रतीत होता है कि समाज का अनुशीलन सामान्यतः धार्मिक दृष्टि से और विशेपतः स्मार्त एवं आगमिक वैष्णवो की दृष्टि से किया जाय। सगुण काव्य मे उपेक्षित तथा गर्हित रूप से व्यक्त होनेवाली तृतीय और चतुर्थ वर्ग की परंपराएँ विरोधी पक्ष प्रस्तुत कर उपर्युक्त विषय का मनोरम परिपार्श्व बना सकेंगी। यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जायगा कि इन विभिन्न परंपराओ के निर्माण मे विभिन्न आर्थिक स्तर और सामाजिक जीवन का कितना योग रहा है।

अगले अध्याय मे उस सामाजिक जीवन [कम्यूनिटी लाइफ] को भी झलकाने का प्रयास किया जायगा जिसकी क्वाचित्क अभिव्यक्ति इस काव्य मे मिलती हैं।

१३. वर्णाश्रम की सामाजिक व्यवस्थाओं का उपर्युक्त चतुर्विध समाज पर प्रभाव था। इसकी अभिव्यक्ति इन समाजो मे कहीं स्वीकृति और कहीं प्रतिक्रिया रूप मे दिखाई पडती है। वस्तुतः इनमे सामाजिक व्यवस्थाओ की मूलभित्ति, स्वरूप और आपेक्षिक महत्ता का यथेष्ट अंतर है। विभिन्न समाजो के जीवनदर्शन और व्यवहार मे इन व्यवस्थाओ का भिन्न भिन्न स्थान तथा महत्त्व था।

वर्णोत्पत्ति का सिद्धांत

१४. वैदिक परंपरा मे चारो वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्म से बताई गई है। ऋग्वेद,[१] वाजसनेय संहिता,[२] मनुस्मृति[३] और भागवत[४] पुराण आदि मे यह सिद्धांत उपलब्ध होता है। किंतु वैष्णव संहिताओं, अवातरकालीन स्मृतियो एवं पुराणो में विष्णु ही चतुर्वर्ग के स्रष्टा बताए गए हैं। अहिर्बुध्न्य संहिता[५] में इसका उल्लेख है। लघुहारीत स्मृति के प्रारंभ मे ही 'भोग पर्यंक' पर आसीन 'देवदेव' द्वारा 'वेद-वेदाग-भूषण ब्रह्मा' के प्रति इस आदेश का वर्णन है कि आप अपने मुख, बाहु उरु और पाद से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों की रचना करें[६]। यह सिद्धात आलोच्य काल के शताब्दियो पूर्व विकसित हो गया था। क्योकि सलीमपुर

---

१. ब्राह्मणोस्यऽमुखमासीद्बाहूराजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥ १०।९०।१२

२. वाजसनेय संहिता [१४।२८]

३. लोकानान्तु विवृद्धयर्थं मुखबाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्॥
मनु० १।३१; तथा द्रष्टव्य वशिष्टस्मृति ४।२

४. पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः।
उर्वो वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत॥ भाग० [२।६।३७]
विप्र-क्षत्रिय-विट्-शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात्पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः॥ भाग० [११।१७।१३]

५. [६।६।११]

६. [१।१०–१३]

में उपलब्ध जयपाल के अभिलेख[1] मे आगमिक वर्णोत्पत्ति का यह सिद्धांत मिलता है। इसी प्रकार परम सहिता मे चतुर्व्यूह के वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध से यथा क्रम एक एक वेद, आश्रम, वर्ण एवं दिशा के सृष्टिमार्ग का वर्णन है[2]। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि श्रौत परंपरा मे ब्रह्म चतुर्वर्णों का स्रष्टा माना जाता था तो देवालय परंपरा मे चारो वर्णों के उत्पादन का श्रेय ब्रह्म के स्थान पर विष्णु को दिया गया। चतुर्थ परपरा मे वर्णव्यवस्था की अमान्यता के साथ घोर विरोध की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। सहजयानी सिद्ध सरोरुह पाद के कथनानुसार—'ब्राह्मण ब्रह्म के मुख से उत्पन्न हुए थे, जब हुए थे तब हुए थे। इस समय तो उनकी उत्पत्ति भी सामान्य लोगो की तरह होती है। ऐसी स्थिति मे ब्राह्मणत्व रहा कहाँ'[3]।

ब्राह्मणप्रतिष्ठा

१५. ब्राह्मणप्रतिष्ठा स्मार्त परंपरा की मान्य विशेषता है। इसकी झलक हमे वैदिक वाङ्मय मे ही मिलने लगती है। उस समय राजन्य और ब्राह्मण ये दो प्रतिष्ठित वर्ग थे। कतिपय आधुनिक विद्वान् प्रामुख्य के लिये इन दोनो वर्गों मे सामान्य संघर्ष की संभावना करते है। जो भी हो, पर ईसा की प्रारंभिक शताब्दियो से पूर्व मध्ययुग तक बराबर ब्राह्मणों के महत्व का साक्ष्य अभिलेखों से प्राप्त होता है। शक क्षत्रप रुद्रदामा[4], गुप्तकालीन परिव्राजक राजा[5], उड़ीसा के शुल्की वंश मे उत्पन्न राजा जयसिंह,[6] कल्चुरिराज यशःकर्णदेव[7], और चंदेल राजा यशोवर्मा[8] आदि के शिलालेखो मे गौ तथा देवों के साथ सादर ब्राह्मणों का वर्णन मिलता है। पाराशर स्मृति मे ब्राह्मणों को 'सर्व कामद, निर्मल एवं ऐसा जंगम तीर्थ बताया गया है जिनके वाक्योदय मात्र से मलिन जन शुद्ध हो जाते है। ब्राह्मण जो कुछ कहते हैं वस्तुतः

---

१. एपीग्रेफिया इंडिका, जिल्द, पृ० २९२, श्लोक संख्या १
२. परमसंहिता अध्याय २। श्लोक १०३–१०५
३. हिंदी साहित्य की भूमिका, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३२
४. सेलेक्टेड इंसक्रिप्पशन्स : दिनेशचंद्र सरकार, पृ० १७४
५. वही, पृ० ३७५
६. जरनल आफ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द २, पृ० ४०६
७. एपीग्रेफिया इंडिका, जि० २, पृ० १०७
८. वही, जि० १, पृ० १४३

वही देवताओं का कथन है। ये विप्र सर्वदेवमय होते हैं और उनका वचन सर्वदा सत्य होता है[1]। पद्मपुराण के ब्रह्मखंड मे लिखा है कि 'ब्राह्मण देवताओं के आधार और नारायणस्वरूप होते है, जो उनके पदरज को ग्रहण करता है वह सारे पापों से मुक्त हो जाता है[2]। परंतु देवालय परपरा मे ब्राह्मणों का यह महत्त्व मान्य नहीं है। जयाख्य सहिता प्रभृति आगमिक साहित्य मे ब्राह्मणो के, इस ढंग की प्रतिष्ठा के, उल्लेख नहीं मिलते। दान के प्रसंग मे वैष्णव यतियो का उल्लेख आया है[3]। इससे स्पष्ट है कि देवालय परंपरा मे ब्राह्मणो के स्थान पर वैष्णव भक्त सुप्रतिष्ठ हैं। पर निगमागम समन्वय के प्रयत्नो मे लिखी गई अवातरकालीन रचनाओ मे ब्राह्मणों और भक्तो को एक मे मिला दिया गया। उदाहरण के लिये वृद्धगौतम स्मृति में कहा गया है 'मद्भक्ताश्च द्विजाः सदा'[4]। इस प्रकार ब्राह्मण तथा भक्त के सामानाधिकरण्य की पीठिका पर सविस्तर ब्राह्मणप्रतिष्ठा का वर्णन इस स्मृति मे हुआ है। भगवान् श्रीकृष्ण युधिष्ठिर के प्रश्नो का उत्तर देते हुए कहते है कि 'विप्र की उत्पत्ति धर्म की शाश्वतिक मूर्ति है[5]। विप्र के समान न तो कोई देवता है न गुरु ही, उससे बढ़कर न कोई बधु है, न निधि ही, विप्र से श्रेष्ठ कोई तीर्थ या पुण्य भी नहीं है, उससे उत्कृष्ट धर्म अथवा परम गति की स्थिति भी नहीं है[6]। यदि ब्राह्मण संतुष्ट नहीं होते तो मै भी सतुष्ट नहीं होता, ब्राह्मणों के सत्कृत होने पर मै भी पूजित होता हूँ; उनकी तुष्टि मे सरलता से आकर्षण योग्य हो जाता हूँ[7], मै द्विजरूप से पृथ्वी पर निवास करता हूँ[8]। अतः प्राज्ञ पुरुषों को ब्राह्मणो की अवमानना नहीं करनी चाहिये[9]। भस्मावगुंठित अग्नि की भॉति उन ब्राह्मणो का अपमान कभी न करना चाहिये— भले ही वे दुर्वृत्त हो अथवा सुवृत्त हो, प्राकृत हों, या संस्कृत[10]। यज्ञ सदा वेदों

१. पराशर स्मृति अध्याय ६, श्लोक ६०-६१
२. पुरानिक रिकार्डस आन हिंदू राइट्स ऐंड कस्टम्स, हाजरा, पृ० ११५
३. वही, पृ० २२२
४. वृद्धगौतम स्मृति। अध्या० ३। श्लोक ७५
५. वही। ३। ७३
६. वही ३। ७७-७८
७. वही ४। ३५-३६
८. वही ४। ३७
९. वही ४। ३९
१०. वही ४। ६४

के अधीन होते हैं और यज्ञाधीन हैं देवता, यतः वे देवता भी ब्राह्मणों के आश्रित हैं, अतः विप्र ही देवता है, ऐसी स्थिति में मुख्य आश्रय ब्राह्मणों का अवलंब सर्वाधिक समीचीन है[1]। विप्रों के आशीर्वाद से मैं धरणीधर हूँ, इन्हीं के आशीर्वचनों से मैं असुरों को जीतता हूँ, इन्हीं के प्रसाद से मैं सदक्षिण एवं अजित हूँ[2]। इसी स्मृति के तीसरे अध्याय के बासठवें, तिरसठवें श्लोकों में तथा चौथे अध्याय के बयालीसवें से बावनवें श्लोकों में ब्राह्मणनिंदकों की घोर अधोगति का विशद वर्णन है। चतुर्थ वर्ग वाले नाथ-सिद्ध-परंपरानुयायियों की वाणी में ब्राह्मणप्रतिष्ठा का दृढ़ कंठ से तीव्र विरोध हुआ। इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। उत्तरवर्ती निर्गुनियों की परंपरा में भी ब्राह्मण रूप से ब्राह्मण की महत्ता पूर्ववत् अमान्य बनी रही, भक्त रूप में अलबत्ता चांडाल भी वरेण्य हो गया।

आश्रमव्यवस्था का महत्त्व

१६. आश्रमसमुच्चय का सिद्धांत श्रौतस्मार्त परंपरा की अपनी विशेषता है। यह सिद्धांत प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दोनों मार्गों का समन्वय करता है। प्रथम दो आश्रमों में पूर्णतः प्रवृत्ति की प्रतिष्ठा है। तृतीय वानप्रस्थाश्रम में प्रवृत्ति के आंशिक त्याग के साथ निवृत्ति का आंशिक ग्रहण है। चतुर्थ संन्यास आश्रम शुद्ध निवृत्तिपरक है। देवालयीय परंपरा में यद्यपि गृहस्थ तथा यति का भेद मान्य है तथापि यहाँ की प्रवृत्ति निवृत्ति पूर्वोक्त परंपरा से मूलतः भिन्न प्रतीत होती है। श्रौत परंपरा में धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग का संचयन ही प्रवृत्ति है जब कि परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति निवृत्ति है। किंतु भक्तिमूलक आगमों में न तो धर्म, अर्थ एवं काम के संचय पर ही जोर है और न मोक्ष पर ही। उनके लिये प्रेम ही परम पुरुषार्थ है—"प्रेमा पुमर्थो महान्।" इस प्रकार के देवालयीय परंपरा में पुरुषार्थचतुष्टय भक्ति भावना से सर्वथा आक्रांत है। चतुर्थ मार्गावलंबियों की पद्धति इस विषय में असामान्य है, पर साधारणतः वे निवृत्तिमार्गी माने जा सकते हैं।

सामाजिक व्यवस्थाओं के आधार

१७. सामाजिक जीवन की दृष्टि से भी उपर्युक्त[3] त्रिविध धार्मिक जीवन प्रकारों में

---

१. वही १२। २७-२८

२. वही ४।५७

३. मठवादी परंपरा आलोच्य सगुण काव्य में न तो प्रतिफलित हुई और न प्रभाव ही डाल सकी। इसके विषय में भूमिका रूप से ज्ञातव्य विषयों का कुछ विवेचन प्रारंभ में किया जा चुका है और शेष अगले अध्याय में किया जावेगा।

पर्याप्त पार्थक्य है। यदि श्रौतस्मार्त परंपरा में सामाजिक कर्मों का अपना महत्त्व है तो देवालयीय परंपरा में भक्ति और ईश्वर की दृष्टि से उन वर्गों का मूल्यांकन होता है। अंतिम वर्ग में योग ही समस्त सामाजिक कर्मों और संबंधों का प्रतिमान है। वस्तुतः आलोच्य युग के निर्गुणोपासक अपनी इस योग की साधना के कारण सगुणोपासकों से विभिन्न दिखाई पड़ते हैं।

१८. कहा जा चुका है कि सामीद्य काल में सगुण काव्य के अंतर्गत केवल भक्त परंपरा प्राप्त होती है। इस सारी परंपरा में सामान्य रूप से सामाजिक संबंध, मर्यादा, कर्म और स्थिति को प्रेरणा तथा स्फूर्ति देनेवाली भक्ति है। इस वर्ग के समस्त साहित्य में भक्ति के सामने सामाजिक संबंध आदि हेय अतएव उपेक्षणीय माने गए हैं।

१९. महात्मा तुलसीदास को 'राम के नाते' से ही 'पूजनीय' 'परमप्रिय' की मान्यता स्वीकृत है, अन्यथा नहीं[1]। वे उस संबंधी को भी 'कोटि बैरी' की तरह त्यागने का उपदेश देते हैं जिसे 'राम वैदेही' प्रिय नहीं[2]। वे उन संपूर्ण भौतिक सुखों और सांसारिक संबंधों की विगर्हणा करते हैं जो श्रीराम के शरणोन्मुख कराने में सहर्ष सहायक नहीं होते[3]। अविलंब देहगेह का ममत्व छोड़कर राम का भक्त बन जानेवाले व्यक्ति को ही वे अपने समस्त कुटुम्बियों का एक अधिष्ठान मानकर उसे प्राणोपम मानते हैं[4]। वे उन सब सामाजिक कर्मों तथा परिस्थितियों की भर्त्सना करते हैं जिनमें राम के पद पंकजों के प्रति प्रीतिभाव नहीं है[5]। यद्यपि तुलसीदास साधारणतः सामाजिक मर्यादाओं का ध्यान रखते हैं तथापि उनकी ग्रामवधूटियाँ प्रवासी रूप से पर्यटन करते हुए राम, लक्ष्मण और सीता को देखकर भावोद्रेक में सामाजिक मर्यादा के उल्लंघन से उत्पन्न लोकापवाद तक को सहने के लिये प्रस्तुत हो जाती हैं[6]।

---

१. मानस अयो०। दो० ७४। पं० ७
२. विनय०। पद १७४
३. मानस अयो०। दो० १८९
४. कविता० उत्त०। छंद ३९
५. मानस अयो०। दोहा २६१। पं० १–२
६. कविता० अयो०। छंद २३

२०. भक्त प्रवर सूरदास एवं उनके अष्टछापी सहयोगियो ने भक्ति के सामने सामाजिक संबंध इत्यादि की ओर भी अधिक अवहेलना की है। सूरदास की गोपी उस संबंधी को धिक्कारती है जिसके कारण उसकी चेतना को श्रीकृष्ण से विमुख होना पड़ा, वह संबंधी माता, पिता, पति या पुत्र कोई क्यों न हो[1]। साँप की केंचुली की तरह वह ऐसे संबंध का परित्याग करने के लिये नित्य उद्‌युक्त रहती है[2]। यही नहीं प्रत्युत वह उस संबंध को कच्चे सूत की भाँति तोड़ते हुए बिल्कुल नहीं डरती[3]। वह लोकलाज, कुलकानि और सामाजिक मर्यादाओं का पूर्णरीति से तिरस्कार करती हुई डरती नहीं तथा 'बनबन डोलती' फिरती है[4]। सूरदास का निश्चय है कि कोई धर्म-कर्म के मार्ग को कितने ही प्रयत्नों से क्यो न सज्जित करे पर यदि वह भक्तिशून्य है तो पंक्ति से बाहर ही गिना जायगा[5]। परमानददास की गोपिका 'लोक वेद की कानि' तज कर पहली ही पहचान मे श्रीकृष्ण को अपने घर न्यौत लाती है[6]। कुभनदास की ग्वालिन सास के क्रोध और माता की खीझ की परवाह न करते हुए पति से मानों घटस्फोट कर बैठी है[7]। नंददास की रुक्मिणी, ईश्वरविरोधी माता, पिता, भाई, बंधु सभी संबंधियो को भाड़ मे झोकने के लिये प्रस्तुत है[8]। उसने त्रिवर्ग, निगम निर्दिष्ट कर्म आदि सबका परित्याग कर हरि के भजन से सिद्धि प्राप्त की[9]। इसी प्रकार गोविंद स्वामी का सुनिश्चित मत है कि उत्तम कुल मे जन्म, शुभ कर्म, सुंदर सामुद्रिक लक्षण या वेद पुराणो के अध्ययन से चूँकि प्रियतम श्रीकृष्ण नहीं मिल सकते[10] इसी लिये उनकी गोपिका श्रीकृष्ण की आवाज सुनकर माता, पिता, पति,

---

१. सूरसागर। पद १६४२। पं० ६
२. वही। १६२१। पं० ७
३. वही। १६१४। ४
४. वही। २५०९। ३
५. वही। ९३।४–५
६. अष्टछाप : डा० धीरेंद्र वर्मा, पृ० ६५
७. कुंभन०। पद २४३। पं० ३
८. नंददास०, रुक्मिणी०। पद २०
९. वही, सिद्धांत०। पद ३१
१०. गोविंद०। पद ३४३। पं० ३

सुत के सामने ही अधीर हो जाती है[1]! उसने वेदशृंखला[2] और गुरुजनों के प्रति लज्जा और संकोच की बेड़ियाँ तोड़ दी है[3]। उसे यश अपयश का ध्यान नहीं है और न वह किसी सामाजिक व्यक्ति से अपना संबंध ही रखना चाहती है[4]।

२१. स्वामी हित हरिवंश श्रुतिबोधित कार्यों का करना आवश्यक नहीं समझते[5]। श्री दामोदरदास जी द्वारा लिखित 'सेवक वाणी' के अनुसार उन्होंने—

> जाति पाँति कुल कर्म धर्म व्रत संसृतिहेतु अविद्या नासी।
> सेवक रीति प्रतीति प्रीतिहित विधि निषेध शृंखला बिनासी[6] ॥

२२. नाभादास के अनुसार भी हरिवंश की रसोपासना में 'विधिनिषेध' की गुंजायश नहीं थी[7]। इस लिये इन्होंने शास्त्रभक्ति को अस्वीकृत कर रसभक्ति की प्रतिष्ठा की। रसभक्ति का परिचय पिछले अध्याय में दिया जा चुका है। संप्रति, यह ध्यातव्य है कि रसोपासना की गुह्य प्रवृत्ति के कारण इस वर्ग के भक्त कवि यदि समाज से पृथक् नहीं, तो असामाजिक अवश्य हो गए थे।

कर्म : भक्ति

२३. भारतीय धर्म साधना के तीन स्कंध है कर्म, उपासना एवं ज्ञान। प्राचीन भारतीय समाज शास्त्र में कर्मपरक मीमांसा शास्त्र का अत्यधिक प्रभाव था। यह दर्शन ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता[8]। इसमें इष्टप्रापक धर्मकर्म का

---

१. वही। पद ४१२। पं० ३
२. वही। पद १६६। पं० ५
३. वही। पद ४५६। पं० २
४. वही। पद १२८। पं० १–२
५. कर्माणि श्रुतिबोधितानि नितरां कुर्वन्तु कुर्वन्तु मा
गूढ़ाश्चर्यरसाः स्रगादिविषयान् गृह्णन्तु मुञ्चन्तु वा।
कैर्वा भावरहस्यपारगमतिः श्रीराधिकाप्रेयसः
किञ्चिज्ज्ञैरनुयुज्यतां बहिरहो भ्राम्यद्भिरन्यैरपि ॥
राधासुधानिधि। श्लोक ८२
६. सेवकवाणी, पृ० १०६
७. सर्बसु महाप्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी।
विधि निषेध नहि दास अनन्यउतकट व्रतधारी ॥
भक्तमाल, पृ० ४९८
८. ईश्वरासिद्धेः प्रमाणाभावात्,
पूर्वमीमांसासूत्र

ही सर्वातिशायी महत्त्व है। वर्णाश्रम धर्म के कारक हेतुओ मे ईश्वर की परिगणना नहीं की गई है। इनमे पात्र, शास्त्रीय विधि तथा साधन ही धर्म के निर्माता माने गए[1]।

४. श्रौतस्मार्त परंपरानुकूल वर्णाश्रमादिक सामाजिक व्यवस्थाओ के पालन मे द्विविध फल है। पहले तो इससे सामाजिक आकाक्षाओं एवं आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और दूसरे 'अपूर्व' का निर्माण। यदि विधिविहित कर्मो का शास्त्रोक्त पद्धति से पालन न होगा तो सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति भले हो जाय किंतु अदृष्ट कर्मो का फलदाता अनुकूल 'अपूर्व' नहीं उत्पन्न हो सकता, बल्कि विधि विरुद्ध कर्मों से उद्भूत पापो का प्रतिकूल फल भोगना पड़ेगा। इस प्रकार अदृष्ट फलों के संप्रदान मे 'अपूर्व' स्वय कारण है। यही सामाजिक व्यवस्था का नियामक सिद्धात है। मीमासको की पद्धति मे कर्म-फल-प्रदान मे इस 'अपूर्व' को छोड़कर ईश्वर का भी कोई हाथ नहीं माना जाता। अतः इस व्यवस्था मे कर्म एव उसके कर्ता का प्रामुख्य है।

२५. देवालयीय परंपरा में ईश्वर का प्राधान्य हुआ। इसके साथ ही कर्म और व्यक्ति का महत्त्व समाप्त हो गया। कर्म स्वभावतः भक्ति का विरोधी है। क्योंकि कर्म से कर्ता की महत्ता—उसकी अहकार वृत्ति उदग्र होती है जो प्रपत्ति मे बाधक है। कर्म द्विविध है—समाजसबद्ध आचार तथा व्यक्तिपरक आचार। भक्तो ने साधारणतः सामाजिक आचारो [वर्णाश्रमादि] को स्वीकृत नहीं किया क्योंकि भक्त अपने और भगवान् के बीच समाज का व्यवधान नहीं करना चाहता। कुछ भक्तो ने व्यक्तिपरक आचारो को तिलाजलि दे दी क्योंकि वे भी शुद्ध भक्ति भाव मे व्यवधान उपस्थित करते हैं।

२६. उक्त दार्शनिक मतभेद के अतिरिक्त इन दो धाराओ में संभवतः सास्कृतिक अतर भी था। कर्म का प्राधान्य निगम परंपरा की और उपासना का प्रामुख्य आगमों की अपनी विशेषता है। पहले दिखाया जा चुका है कि पूर्व मध्यकाल मे किस प्रकार आगम परंपरा जनसामान्य मे मान्य हो रही थी।

---

१. देशकाल उपायेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम्।
पात्रे प्रदीयते यत् तत् सकलं धर्मलक्षणम्॥ याज्ञवल्क्य । १।६
इसपर वीरमित्रोदय टीका में इन्हे कारक हेतु बताया गया है।

२७. उपर्युक्त दोनों धाराओं का समन्वय हुआ। फलस्वरूप स्मार्त भक्तों का वर्ग उत्थित हुआ जिसमे स्मार्त सामाजिक व्यवस्थाओं के साथ भक्ति परिगृहीत हुई। स्मार्त परपरा मे समाज की पूर्ण स्वीकृति थी। अतः वह लोकमंगलवादिनी थी। किंतु केवल भक्तिवादी धारा व्यक्तिविशिष्ट थी। इसमे समाज की स्वीकृति नहीं हुई। इसी से आगे बढ़ने पर इसमे गुह्य साधनाओं का भी प्रवेश हुआ।

२८. इस प्रकार सगुण काव्य धारा मे प्रवृत्ति, कृति एव संस्कृति का प्रमुख प्रेरक तत्त्व भक्ति ही है। सामाजिक संबंध, नियम एव कार्य प्रायः इसी से अनुशासित हैं। किंतु सूक्ष्मतापूर्वक विचार करने से सगुण भक्त कवियों की रचनाओं से व्यक्त होने वाले सामाजिक संबंध, मर्यादा, इत्यादि विषयो मे परस्पर विभिन्नता दृष्टिगत होती है। इसीसे प्रस्तुत प्रबध मे इनके तीन वर्ग कल्पित कर लिए गए है—[१] मर्यादावादी भक्त [२] शास्त्रवादी भक्त और [३] रसवादी भक्त।

मर्यादावादी भक्त

२९. इस वर्ग मे प्रधान रूप से महात्मा तुलसीदास आते हैं। इनमे भक्ति की अनन्यता के साथ ही सामाजिक संबंधों और धार्मिक विचारो की स्वीकृति मिलती है। पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि मध्यकाल के भी पूर्व भले ही चरण और देवालय परंपराओं मे विरोध रहा हो किंतु पूर्व मध्यकाल के उत्तरार्ध मे एक ऐसा रास्ता निकल आया जिसमे स्मार्त सामाजिक आचारों के साथ भक्ति का सामंजस्य हो गया। सात्वत पाचरात्र और वैखानस क्रमशः श्रौतस्मार्त परंपरा के अधिकाधिक निकट थे। नवम दशम शताब्दी से वैष्णव स्मृतियों की रचनाएँ होने लगीं—जिनमे दोनों तत्त्व वर्तमान थे पुराणों मे भी यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। अतः इस वर्ग की विशेषता है—स्मार्त सामाजिक आचार तथा लोकमर्यादा के साथ भक्ति का समन्वय।

३०. तुलसीदास की रचनाओं मे उपर्युक्त मर्यादावाद पूर्ण एवं व्यवस्थित रीति से मिलता है। इसमे राम के मर्यादित चरित्र ने भी पुष्कल योग दिया। वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति इत्यादि के द्वारा प्रवर्तित एवं विकसित रामचरित की परंपरा मे राम आदर्श मर्यादावाद के सुंदर प्रतीक हैं। इसलिए तुलसीदास में मर्यादित वर्ण्य विषय के साथ स्मार्त तत्त्वो का मणिकाचन योग हो सका।

समाजिक मर्यादा एवं लोकमंगल

३१. श्रौतस्मार्त परंपरा ही मूलतः लोक की भावना से भावित है। इसी दृष्टि से यह परंपरा निरंतर सामाजिक मर्यादाओं का संस्कार, परिष्कार या निर्माण

करती रही है[1]। इस परंपरा से संबद्ध होने के कारण तुलसीदास जी मे समाज की स्वीकृति तथा सामाजिक कल्याण की भावना दिखाई पड़ती है।

शास्त्रवादी भक्त

३२. मर्यादावादी भक्तो से भिन्न विचार रखनेवाले इन भक्तों मे श्रौतस्मार्त परपरा की सामाजिक व्यवस्थाओं का कोई महत्त्व नहीं था। किंतु भक्तिपरक या भक्ति संबंधी शास्त्रीय मर्यादाओ को ये पूर्ण रीति से निभाते थे। पुष्टिमार्गीय भक्त इस वर्ग मे रखे जा सकते है। आगे स्पष्ट किया जायगा कि तुलसी को भक्ति की सीमा के भीतर वर्ण, आश्रम और कुटुंब से संबद्ध श्रौतस्मार्त परंपरा की सारी व्यवस्थाएँ मान्य थीं। पर शास्त्रवादी भक्तो की रचनाओ से ज्ञात होता है कि भक्ति की सीमा के बाहर होने के कारण ये लोग इन विषयो से प्रायः निरपेक्ष रहते थे।

३३. इसका कारण यह है कि ईश्वर की लीला शक्ति अहैतुकी एव अनियमित होती है। इस शक्ति तत्त्व का विवेचन प्राचीन वैष्णवतंत्र पाचरात्र के तथा शैव तत्र—प्रत्यभिज्ञा दर्शन के ग्रंथो मे उपलब्ध होता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार परम शिव के प्रमातृत्व, ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व आदि का मूल आधार यह आनदरूपा शक्ति है और वह चिद्रूपात्मक शिव के अधीन है। तात्पर्य यह कि शक्ति और शक्तिमान् का अविनाभाव संबंध होता है। सृष्टि का मूल आनद केवल शिव और शक्ति के संमिलन की बाह्य प्रक्रिया का फल है। यथार्थतः यह आनंद शक्ति ही उच्छलित होकर सृष्टि की रचना करती है। इस लीला के विलास मे मर्यादा का कोई स्थान नहीं। यही तत्त्व आलोच्य काल के भक्ति सम्प्रदायों मे नित्यविहार के रूप से दिखाई पड़ता है। अतएव राधाकृष्ण की लीलाएं सामाजिक मानदंडो से प्रतिमेय नहीं है और यही कारण है कि लीला पुरुषोत्तम के शास्त्रवादी तथा रसवादी उपासकों के काव्य मे मर्यादा उपेक्षित रही है।

रसवादी भक्त

इस वर्ग के उपासकों को न तो श्रौतस्मार्त सामाजिक मर्यादा मान्य है और न भक्तिशास्त्रोक्त विधि और निषेध ही स्वीकृत हैं। वे अपनी प्रेम साधना मे कृष्णोपास्या राधा की पदवंदना, उनकी स्वच्छंद प्रेम लीलाओ का दर्शन एवं गान

1. द्रष्टव्य—सोर्सेज आफ धर्मः डा० अनंत सदाशिव आल्तेकर, शोलापुर सन् १९५२ ई०।

ही अपना एकमेव कर्तव्य समझते हैं। इसीलिए निकुंजेश्वरी की नित्यलीलास्थली वृंदावन का वास उन्हें प्रेष्ठ है। इस वर्ग में सर्वप्रमुख श्री हित हरिवंश जी हैं। उनके अनुयायियों में हरिराम व्यास, दामोदर दास और ध्रुवदास का भी विशेष स्थान है। निम्बार्क सम्प्रदायाचार्य श्री भट्टदेव की रचनाएं भी इसी कोटि में आती हैं। पं० भुवनेश्वरप्रसाद 'माधव' ने रामावत संप्रदाय के अंतर्गत इस भाव की उपासना अत्यंत प्राचीन काल से मानी है। उनके अनुसार स्वामी रामानंद के अनुयायी अग्रदास, नाभादास और तुलसीदास आदि मधुर भाव के उपासक थे। परंतु आगे स्पष्ट किया जायगा कि तुलसी के संबंध में यह कल्पना प्रमाणप्रतिपन्न नहीं मानी जा सकती।

३५. पुष्टिमार्गीय भक्तों के मर्यादा पुष्टि और पुष्ट पुष्टि भेदों में क्रमशः भक्ति विषयक कर्म एवं ज्ञान स्वीकृत हैं। इसलिये मर्यादावादी भक्तों के समान सामाजिक व्यवस्थाएँ अमान्य होने पर भी उन्हें भक्तिविषयक पंच संस्कार प्रभृति आचार स्वीकृत थे। पर रसवादी भक्त सीमावादी [एक्स्ट्रीमिस्ट] थे। ये नित्यलीला विहार के अतिरिक्त कुछ भी स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे। श्री हित हरिवंश ने राधासुधा निधि में उन महाबुद्धिशाली गुरु [राधा] भक्तों की प्रशंसा की है जो अपने भुजमूलों पर शंख चक्रादि संस्कार, भालस्थली पर विचित्र तिलक रचना, कंठ देश में सुहावनी तुलसी की माला आदि नहीं धारण करते[1]। इसी प्रकार हरिराम व्यास का उद्घोष है कि 'अब मुझे लोकवेद का दास मत समझना क्योंकि औरों से उदास होकर मैंने राधवल्लभ को उर में बसा लिया है'[2]। यही नहीं अपितु इन्होंने सभी वैष्णवों में समान रूप से मान्य एकादशी जैसे व्रत की भी निंदा की है[3]।

रहस्यवाद और मधुरोपासना

३६. युगल सरकार की लीलाओं, विशेषतः उपास्या के मधुर विलासरस में मत्त रहनेवाले ये भक्त गण समाज की परवाह नहीं करते। हरिराम व्यास ने

---

१. लिखन्ति भुजमूलतो न खलु शङ्खचक्रादिकं
विचित्रहरिमन्दिरं न रचयन्ति भालस्थले।
लसत् तुलसिमालिकां कण्ठपीठे न वा
गुरोर्भजनविक्रमात् क इह ते महाबुद्धयः॥ राधा०। श्लोक० ८१

२. व्यासवाणी। साखी सं० ४२

३. वही। साखी ६६

अनन्य रसिकों के समाज को ही अपना कुटुंब बताया है[1]। अनन्य धर्म मे दाग लगानेवाले लोकस्वीकृत कुटुबी, अपने छोटे भाई[2] और कन्या[3] के प्रति इन्होने बड़ा आक्रोश व्यक्त किया है। इससे स्पष्ट है इस वर्ग के भक्त संपूर्ण रीति से असामाजिक प्राणी थे। जगत् की विघ्न-बाधा, अत्याचार और हाहाकार के बीच जीवन के प्रयत्न सौंदर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति तथा भगवान् की मंगलमयी शक्ति का दर्शन[4] करने की उन्हे आवश्यकता ही नहीं थी। वे समाज से तटस्थ और व्यक्तिगत भक्ति की भूमिका मे अवस्थित होकर 'अपनी सारी हँसी, खेल, क्रीड़ा, कौतूहल युगल मूर्ति मे पर्यवसित'[5] करने का प्रयत्न करते थे।

३७. ऐकातिक भक्तिसाधना के कारण शास्त्रवादी भक्त तो वैयक्तिक भूमि पर आ ही गए थे पर रसवादी भक्तो की सखीभावोपासना के परिणामस्वरूप भक्ति काव्य मे अप्राकृत [एब्नार्मल] वैयक्तिकता का प्राधान्य हुआ। शास्त्रवादी भक्तों ने यदि कृष्ण का लोकरंजक रूप प्रतिष्ठापित किया तो रसवादियो ने उन्हे रसिकरंजन की सीमा मे ही आबद्ध कर दिया। शास्त्रवादी भक्तों ने कभी कभी जिस रसिकरजक रूप या 'गुप्त रस'[6] की चर्चा की है या मर्यादावादी तुलसीदास मे जो विरल शृंगारिक संकेत[7] मिलते हैं वे सबके सब रसोपासकों के प्रभाव रूप मे समझे जा सकते है। अतएव रसवादी भक्तो मे लोकमंगल की भावना कोई महत्ता नहीं रखती।

सामाजिक व्यवस्थाएँ : मर्यादावादी भक्त

३८. वर्ण और आश्रम भारत की प्राचीन व्यवस्थाएँ हैं। ये व्यवस्थाएँ हीं श्रौतस्मार्त परपरा की रीढ़ है। तुलसीदास की इनमे पूर्ण आस्था है। इसका प्रमाण यह है कि उन्होने अपने आदर्श राज्य के वर्णन मे वर्णाश्रम के शास्त्रसिद्ध रूप की स्थापना की है और निकृष्टतम समाज का वर्णन करते हुए वर्णाश्रम व्यवस्था का सर्वथा

---

१. व्यासवाणी। पद २१
२. वही। पद १७६
३. वही। पद २८६
४. सूरदास। पं० रामचंद्र शुक्ल। काव्य में लोकमंगल
५. सूरदास। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १८८
६. छीत०। पद १८७। पं० २ वही। पद ११६
७. गीत० बाल०। पद १०५। पं० ५–६

विपर्यय दिखाया है। रामराज्य मे 'बरनास्रम निज निज धरम निरत वेद पथ लोग'[1] वर्तमान थे। 'सब नर' 'श्रुतिरीतियों' मे 'निरत' तथा 'स्वधर्म' का आचरण करनेवाले थे[2]।

३९. तुलसीदास का कलिवर्णन चाहे परंपराभुक्त हो चाहे सामयिक अवस्थाओ का यथार्थ चित्र, उससे हीनतम समाज संबधी तुलसी के विचार व्यक्त होते हैं। उनके कलियुगी समाज मे 'बरन धरम नहिं आस्रम चारी' की स्थिति थी[3]। उसमे 'बरनास्रम धर्म अचार' समाप्त हो गए थे[4]। तुलसी ने अनुभव किया कि 'कलि से ग्रस्त होने की वजह से वर्णाश्रम विकल हो उठे हैं और इसीसे उन्होने मर्यादा की गठरियाँ फेंक दी हैं'[5]। इस प्रकार के भाव तुलसी ने अन्यत्र भी व्यक्त किए हैं[6]। इससे स्पष्ट होता है कि वे वर्णाश्रम को आदर्श सामाजिक व्यवस्था मानते थे और सामाजिक क्षेत्र मे इनकी उपयोगिता और महत्ता पर उनको पूर्ण आस्था थी।

शास्त्रवादी भक्त

४०. मर्यादावादी भक्तों के विपरीत शास्त्रवादी और रसवादी भक्तों में वर्णाश्रम के प्रति कोई आस्था व्यक्त नहीं होती। कारणों का विवेचन किया जा चुका है। यथार्थ मे ये दोनों वर्ग सामाजिक मर्यादाओ के प्रति उदासीन हैं पर पूर्व की अपेक्षा पर मे उदासीनता स्पष्ट विरोध की सीमा तक पहुँच जाती है।

४१. शास्त्रवादी भक्तों मे सूरदास की गोपिकाएँ 'वेद मार्ग' का परित्याग करते नहीं डरती[7]। यही नहीं बल्कि वे 'आर्यपंथ' से च्युत हो चुकी हैं[8]।

४२. कुंभनदास की आभीरी की यह दृढ़ भावना है कि त्रिभुवन मे ऐसी कोई

---

१. मानस उत्त०। दो० २०
२. वही। दो० २१। पं० २
३. वही। दो० ९८। पं० १
४. वही। दो० १०२। पं० ८
५. कविता उत्त०। छंद १८२
६. वही। छंद ८४, ८५
७. सूरसागर। पद २१६६। पं० ३
८. वही। पद २११२। पं० ७

स्त्री ही नहीं जो श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी को देखकर आर्यपथ पर टिक सके[1]। नंददास की ग्वालिनी 'लोक वेद' की सुदृढ़ शृंखला को तिनके के समान तोड़ डालती है[2]। छीत स्वामी कहते हैं कि इस बार व्रजनाथ श्री बिठ्ठलनाथ के रूप मे आविर्भूत हुए है। पहले कृष्णावतार के समय, वेदपथ का परित्याग कर रास के व्याज से उन्होने अनेक मार्ग प्रदर्शित किए थे और इस बार उन्होंने स्त्री शूद्रादिक सबको ब्रह्म-संबंध, दीक्षा संस्कार कराया[3]। छीत स्वामी कहते हैं कि सर्वसुखद श्री बिठ्ठलनाथ की भक्ति मे मैने लोकलाज और कुल की मर्यादाओ का भार फेंक दिया है[4]। गोविंद-स्वामी भी स्पष्टतः कहते है—

> प्रीतम प्रीत ही तें पैये।
> जदपि रूप गुन सील सुघरता इन बातनिन रिझैये॥
> सत कुल जनम करम सुभ लच्छन बेद पुरान पढ़ैये।
> गोविंद प्रभु बिना स्नेह लों रसना कहा नचैये[5]॥

४३. इन उद्धरणो से स्पष्ट है कि इस वर्ग मे वर्णाश्रम इत्यादिक सामाजिक मर्यादाएँ अमान्य थीं।

रसवादी भक्त

४४. इनमे सामाजिक मर्यादाएँ और भी अधिक तिरस्कृत हैं। वे श्रौतस्मार्त व्यवस्थाओ और भक्ति को परस्पर असमंजस मानते है। दामोदरदास सेवकवाणी मे लिखते है कि—

> श्री हरिबंस जनित जहं प्रेम। तहाँ कहाँ संजम व्रत नेम।
> छेम सकल सुख सम्पदा॥
> तहाँ जाति कुल नहीं बिचार। कौन सु उत्तम कौन गंवार।
> सार भजन हरिबंस के[6]॥ ८१

---

१. कुंभन०। पद० २८८। पं० ५–६ तुलनीय भागवत १०।२०।४०
२. नंददास० रास०। पद ३०
३. छीत०। पद २८। पं० १, ४–५
४. वही। पद ५६। पं० २
५. गोविंद०। पद ३४२
६. सेवकवाणी। पृ० ८२

४५. ध्रुवदास के मतानुसार वैष्णवों का नियमों एवं आचारों पर भी अधिक आग्रह ठीक नहीं है क्योंकि "अति आचार अनाचार समान है—बहुत आचार ते हियो कठोर होइ जाइ है। यह भजन अति कोमल है। कोमल और कठिन एक संग न बनै[1]। ऐसी स्थिति में स्मार्त सामाजिक व्यवस्थाओं के निर्वाह की गुंजाइश ही यहाँ नहीं है। हरिराम व्यास तो डंके की चोट पर कहते हैं—

'व्यास' जाति तजि भक्ति कर कहत भागवत टेरि।
जातिहिं भक्तिहिं ना बनै ज्यों केरा ढिग बेरि[2]॥

और भी—

जासों लोग अधर्म कहत हैं सोइ धर्म है मेरो।
लोग दाहिने मारग लागै हौं ब चलत हौं डेरो[3]॥

इसी से व्यास जी के संबंध में ध्रुवदास जी भक्तनामावली में लिखते हैं—

कहनी करनी करि गयौ एक व्यास इहिं काल।
लोक वेद तजि कै भजे राधावल्लभ लाल॥
प्रेम मगन नहि गन्यौ कछु बरनावरन बिचार।
सबनि मध्य पायौ प्रगट लै प्रसाद रस सार[4]॥

ब्राह्मण प्रतिष्ठा : मर्यादावादी भक्तों में

४६. श्रौतस्मार्त परंपरा में ब्राह्मणों की प्रमुखता का उल्लेख किया जा चुका है। ईस्वी सन् ६०० से १४०० तक के बीच में लिखे गए पौराणिक परिच्छेदों[5] एवं स्मृतियों में इनका महत्त्व उत्तरोत्तर बढ़ता गया। किंतु प्राचीन वैष्णवागमों में ब्राह्मण वर्ग की उपेक्षा है और अपाचरात्रिक ब्राह्मणों को दान देने का विधान नहीं है। धार्मिक कृत्यों में यदि किसी की आवश्यकता है तो वह आचार्य है उसके अतिरिक्त यति, आप्त, ऐकांती और वैखानस को दान देने का विधान है[6]। पर उपर्युक्त दोनों

---

१. सिद्धांत विचार : हस्तलेख ना० प्र० स० काशी।
२. व्यास वाणी। साखी २०
३. वही। पद २२०। पं० १-२
४. भक्तनामावली : हस्तलेख ना० प्र० स० काशी।
५. हाजरा : पुरानिक रिकार्ड्स ऑन हिंदू राइट्स एंड कस्टम्स, पृ० १८९
६. वही। पृ० २२२

परंपराओं के विरुद्ध वैष्णव स्मृतियों मे भक्तो एवं ब्राह्मणों के संतुलन की तथा कभी कभी तादात्म्य की चेष्टा दिखाई पड़ती है।

४७. तुलसीदास मे उपर्युक्त परंपरा का अनुवर्तन है। अवांतरकालीन स्मृतियों और पुराणो की ही भाँति वे ब्राह्मणों को दिव्य, मंगलमूल तथा अमंगलहारी मानते हैं। यह प्रवृत्ति उनमे अत्यंत उदग्र एवं स्फीत है।

दिव्यता

४८. ब्राह्मण देववत् पूज्य हैं। इसीसे तुलसीदास मानस के भाषा मंगल में देवताओं और गुरु के साथ ही 'महीसुर चरनों' की वंदना की है[1]। स्वयं शिव[2] और दशरथ[3] भी मांगलिक कृत्यो मे विप्रों का पदवंदन एवं पूजन करते हुए वर्णित हुए है। राम के लिये तो वे 'हरिहर' की भाँति परम श्रद्धास्पद हैं[4]। परात्पर रूप होते हुए भी राम सामाजिक मर्यादा के अनुसार ब्राह्मणों को केवल अपना स्वामी ही नहीं मानते[5] अपितु उससे भी आगे बढ़कर 'द्विज-पद-प्रेमी' को अपने 'प्रान-समान' बताकर[6] ब्राह्मणों की सर्वातिशायिनी प्रतिष्ठा स्थापित कर देते हैं। तुलसी के राम को ब्रह्म-कुल-द्रोही नहीं सुहाता। उनका यह मत है कि निश्छल होकर मन, वाणी और कर्म से जो भूसुरसेवा करता है, त्रिदेवों सहित समस्त देवता, उसके वशंवद हो जाते हैं[7]।

मंगलमूल अमंगलहारी

४९. ब्राह्मणो का प्रसाद मंगलों का सर्जन तथा अमंगलो का विध्वंस करता है। इसी कारण मानस मे भरत भावी विपत्तियों की शांति के लिये विप्रो का नित्य सत्कार करते हैं[8]। तुलसी के अनुसार विप्रपरितोष ही समस्त मंगलो का मूल है[9]।

---

१. मानस बाल०। दो० २। पं० ३
२. वही। दो० १००। पं० ४
३. मानस अयो०। दो० ७। पं० २
४. वही। दो० ३१९। पं० ४
५. मानस बाल०। दो० २८१ तुलनीय भागवत १। १८। ३३-३४
६. मानस सुंदर०। दो० ४८
७. मानस अर०। दो० ३३। पं० ८ से दो० ३४ तक
८. मानस अयो०। दो० १४७। पं० ७
९. वही। दो० १२६। पं० ४

प्रवासार्थी राम अयोध्या छोड़ते समय[1] और लंकाविजय के उपरांत अयोध्या लौटने के अवसर पर[2] विप्र-पद-वंदन नहीं भूलते।

ब्राह्मण का रोष

५०. स्मार्त परंपरानुकूल ही तुलसी के मत मे ब्राह्मण का क्रोध कोटि कुलो को बात की बात मे दग्ध कर डालता है[3]। इंद्र के कुलिश, शिव के त्रिशूल, काल के दंड और विष्णु के चक्र से भी जो बच निकलता है वह भी विप्रद्रोह की अग्नि मे भस्म हो जाता है[4]। ब्रह्मकुल पर किसी की जोर जबर्दस्ती नहीं चल सकती[5]। विप्र-शाप से प्रतापभानु का सवंश निश्शेष हो जाना ही इसका दृष्टांत है।

अवध्यत्व

५१. ब्रह्मण अवध्य होते हैं—यह सिद्धांत भी तुलसी को मान्य है[6]।

साधु-संत-भक्त

५१. तुलसी साहित्य की यह एक विशेषता है कि उसमे ब्राह्मणो के साथ साधु-सत-भक्त भी परम आदर और प्रतिष्ठा के साथ वर्णित हुए हैं। शुद्ध श्रौतस्मार्त परंपरा के ग्रंथों मे संतमहात्म्य के वर्णन का अभाव है। पर यह विषय आगमिक परंपरा की मूलभित्ति है। 'अत्रि सहिता' का कथन है कि वेदों से विहीन शास्त्राभ्यास करते हैं, शास्त्र मे गति न रखनेवाले पुराणवाचन करते हैं, यह कार्य भी न कर सकने वाले कृषि करते हैं और इससे भी गए गुजरे भागवत होते हैं[7]। किंतु 'जयाख्य सहिता' प्रभृति आगमिक ग्रंथों में आचार्य, यति, भक्त आदि का बड़ा महत्त्व है[8]। तुलसी में श्रौतस्मार्त परंपरा के ब्राह्मण और आगम परंपरा के साधु संत दोनो ही सत्कृत हुए हैं।

---

१. मानस अयो०। दो० ७९
२. मानस लंका०। दो० ११६। पं० २
३. मानस अयो०। दो० १२६। पं ४
४. मानस उत्तर०। दो० १०९। पं० १३-१४
५. मानस बाल०। दो० १६५। पं० ५
६. मानस अयो०। दो० १४७। पं० ३
७. अत्रिसंहिता। स्मृतिसमुच्चय। श्लोक ३८२
८. पुरानिक रिकार्ड्स ऑन हिंदू राइट्स ऐंड कस्टम्सः हाजरा, पृ० २२२

जंगम तीर्थ

५३. जहाँ स्मृतियो मे ब्राह्मणों को 'जंगम तीर्थ' कहा गया है वहाँ श्रीमद्भागवत[1] मे सत महात्माओं को यह प्रतिष्ठा दी गई है। तुलसी भी संतसमाज को 'जंगम तीरथराज' कहते हैं[2]। जैसे स्मृतियो मे ब्राह्मणो के साक्षात्कार से पापों के क्षालित हो जाने की चर्चा आई है वैसे ही तुलसी ने संतों के दर्शन को पातकापहारी माना है[3]। उनके मतानुसार संतसमागम पुण्योदय का फल, संसृति का अंत करनेवाला[4] और स्वर्ग एवं अपवर्ग से कहीं अधिक आनंदप्रद है[5]। इनकी महिमा अवर्णनीय[6] है। इसलिए साधु अवज्ञा नहीं करनी चाहिये क्योंकि यह अवज्ञा सकल कल्याणों की हानि कर देती है[7]। हनुमान जैसे साधु के साथ, त्रिलोकजयी रावण के दुर्व्यवहारों का परिणाम यह हुआ कि सबके देखते हुए भी अनाथ की तरह लका जल गई[8]।

संत और ब्राह्मण

५४. श्री राम ने मानस मे दो स्थलों पर बड़े विस्तार से संतों के लक्षण बताए हैं। नारद से वे कहते हैं कि संत 'सतत विप्र-पद-प्रेमी' होते हैं[9]। भरत से उनका कहना है कि सच्चे संतों मे—

सीतलता सुसरलता मइत्री।
द्विजपद प्रेम धर्म जनइत्री॥

होता है[10]। इस प्रकार एक ओर तो तुलसीदास ने संत भक्तों मे द्विज पद-प्रेम की स्थापना की है तो दूसरी ओर उन्होंने ब्राह्मणों मे भी भक्ति की प्रतिष्ठा दिखाई है।

---

१. भागवत, १।४।८, १।१३।६, १।१६।३२
२. मानस बाल०। दो० २। पं० ७ से लेकर दो० ३।पं० २ तक
३. मानस किष्किं०। दो० १७। पं० ६
४. मानस उत्त०। दो० ४५। पं० ५
५. मानस सुंदर०। दो० ४
६. मानस बाल०। दो० ३। पं० १०-११
७. मानस सुंदर०। दो० ४१। पं० २
८. वही। दो० २६। पं० ५
९. मानस अरण्य०। दो० ४६। पं० ३
१०. मानस उत्तर०। दो० ३८। पं० ६

वे कहते हैं कि वही द्विज धन्य है जिसमे अभंग भक्ति हो[1]। उनके लिए ब्राह्मण और संत समकक्ष ही नहीं, अपितु अभिन्न प्रतीत होते हैं। इस निष्कर्ष का समर्थन मानस की निम्नलिखित पंक्ति मे मिलता है—

अब जनि करेहि विप्र अपमाना। जानसि संत अनंत समाना।[2]

इसके अतिरिक्त पुरवासियों के प्रति राम के उपदेश में तुलसीदास ने सत्संगति और द्विज-पद-पूजा को बड़े कौशल से एक सूत्र में पिरो दिया है—

करत कष्ट बहु पावइ कोऊ। भक्ति हीन मोहि प्रिय सोऊ॥
भक्ति सुतंत्र सकल गुन खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥
पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥
पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम वचन विप्र पद पूजा॥[3]

पर यहाँ यह भी अवश्य ज्ञातव्य है कि उक्त विशेषता तुलसी की निजी उद्भावना नहीं है। वस्तुतः स्मार्त परंपरा मे इस एकीकरण की प्रवृत्ति पहले से चली आ रही थी। उसमें ब्राह्मण सहज भक्त बताए गए हैं—'मद्भक्ताश्च द्विजाः सदा[4]।

ब्राह्मण वर्ग का आर्थिक आधार

५५. ब्राह्मणो के आचार्य और पुरोहित इन दो वर्गों की चर्चा की जा चुकी है। पुरोहितों की जीविका प्रारंभ मे यज्ञों से और उनके पश्चात् दान, होम, शांति कर्म तथा कथावाचन से चलती थी। इसीलिए पौरोहित्य कार्य समाज मे विशेष समादृत नहीं था। इसकी अभिव्यक्ति तुलसीदास के वशिष्ठ की उस उक्ति में मिलती है—

उपरोहित्य कर्म अति मंदा। वेद पुरान स्मृति कर निंदा॥[5]

अगले प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा कि दान, होम, शांति कर्म आदि स्मार्त धार्मिक कृत्यों की परंपरा इस काल में भी अविच्छिन्न रीति से चल रही थी। यद्यपि मुसलमानी शासन की प्रतिष्ठा और हिंदू राज्यों के विनाश से इस वर्ग का कार्य क्षेत्र संकुचित

१. मानस उत्तर०। दो० १२७। पं० ८
२. वही। दो० १०९। पं० १२
३. वही। दो० ४५। पं० ४-७
४. वृद्धगौतम स्मृति। अध्याय १। श्लोक ७९
५. मानस उत्तर०। दो० ४८। पं० ६। देखिए भागवत. स्कन्ध ६। अ० १८। श्लोक २५

हो गया था तथापि उस सीमित क्षेत्र मे भी उनकी जीवनवृत्ति के साधन वे ही थे जो पूर्व मध्यकाल मे थे।

शूद्रों की स्थिति

५६. श्रौतस्मार्त परंपरावादी सामाजिक व्यवस्था मे शूद्र का स्थान सबसे नीचा है। उसको अनेक सामाजिक, धार्मिक, एवं आर्थिक अधिकारो से वंचित रखा गया। यद्यपि बौद्ध धर्म मे शूद्रो को श्रौतस्मार्त परंपरा से अधिक अधिकार मिले तथापि बौद्ध जातकों मे प्रतिफलित समाज, शूद्रों तथा अंत्यजों के प्रति बहुत उदार नहीं था[1]। 'पाशुपत सूत्रो' को शैव धर्म भी शूद्रो को धार्मिक अधिकारो से वंचित रखता है[2]। परतु वैष्णव और कापालिक, कालानन, कौल आदि शैव शाक्त आगमो मे शूद्रो के प्रति यथेष्ट औदार्य भाव मिलता है।

५७. तुलसीदास शूद्रों के सबंध मे स्मार्त एवं वैष्णवागम परंपराओं का युगपत् निर्वाह करते है। सामान्यतः वे श्रौतस्मार्त परंपरावादी है पर विशिष्ट प्रसंगों में उनके प्रति अत्यधिक उदार भी है। पूर्व परंपरा के अनुकूल वे 'ढोल गॅवार सूद्र पसु नारी' को 'ताड़ना का अधिकारी' तो समझते ही हैं[3] साथ ही 'विप्र अवमानी' शूद्र को परम शोचनीय मानते है[4]। पर भक्ति के क्षेत्र मे तुलसीदास उस निषादराज गुह को, राम की भक्ति के कारण भुवनभूषण[5] कहने मे तनिक भी संकोच नहीं करते, जो लोकवेद मे सब भॉति से नीच था और जिसकी छाया छू जाने मात्र से स्मार्त परंपरा मे स्नान करने का विधान था[6]। स्मार्त परंपरा की दृष्टि से जहॉ उन्होने भरत के प्रति निषादराज से—

> गाँउ जाति गुह नाम सुनाई।
> कीन्ह जोहारु माथ महि लाई ॥[7]

का वर्णन करते हुए व्यावहारिक आचार पर जोर दिया है वहीं उन्होंने भरत के द्वारा 'पुलक परिपूरित' गात से गुह को 'भरि अंक' भेंटने की व्यवस्था कर प्रेम की रीति भी

---

१. फिक : सोशल आर्गिनिजेशन्स आफ ईस्टर्न इंडिया ऐज रिवील्ड बाई दि जातक्ज
२. पाशुपत सूत्राणि, १।।१४-१७
३. मानस सुंदर०। दो० ५८। पं० ६
४. मानस अयो०। दो० १७२। पं० ६
५. वही। दो० १९६। पं० २
६. वही। दो० १९४। पं० ३
७. वही। दो० १९३। पं० ८

निभा दी है[1]। भरत ही नहीं अपितु जगत्पूज्य महर्षि वसिष्ठ भी दूर से ही नामनिर्देश पुरःसर दंड प्रणाम करने वाले उस रामसखा केवट को बरबस भेंट लेते हैं मानो पृथ्वी पर लुंठित होते हुए साक्षात् स्नेह को उन्होंने समेट लिया हो[2]।

५८. भक्त-माहात्म्य की दृष्टि से जहाँ कबीरदास गोपालप्रतिष्ठ चांडाल वैष्णव को अंकमाल देकर भेंटने के लिये प्रस्तुत होते हैं वहाँ तुलसीदास उस व्यक्ति के पग की 'पनही' के रूप मे अपने शरीर की खाल तक दे डालने मे गौरव का अनुभव करते हैं, जिसे सीताराम अपने और अपने संबधियो से अधिक प्रिय है[3]। इसके बावजूद तुलसी को श्रौतस्मार्त परंपरा की वर्णव्यवस्था मान्य है। अतएव 'सकल गुन हीन' विप्र की पूज्यता का मंडन करते हुए उन्होने गुन-गन-ग्यान-प्रवीन' शूद्र की पूजनीयता का दृढ़ स्वर से खडन किया है[4]।

५९. तुलसी के कलिवर्णनो मे उपर्युक्त तथ्य का बड़ा विशद विवरण मिलता है। वर्णमर्यादा के विरुद्ध आचरण करने वाले अनधिकारियो की चेष्टाओं पर वे संतप्त प्रतीत होते है। द्विजों को शूद्रो का उपदेश देना, जनेऊ पहनकर कुत्सित दान लेना,[5] नाना प्रकार के जप-तप-व्रत आदि मे सलग्न रहना, व्यासपीठ पर बैठकर पुराणवाचन करना[6] और ब्रह्मज्ञान की भूमिका पर वादविवाद करते हुए सदंभ, ब्राह्मणों की समकक्षता की स्थापना[7] आदि बातें उन्हे असह्य हो जाती है। अमर्ष मे भरकर वे ऐसे लोगों के विषय मे कह उठते हैं—

कल्प कल्प भरि एक एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका[8]॥

ब्राह्मणों और शूद्रों की स्थिति : शास्त्रवादी तथा रसवादी भक्तों में

६०. शास्त्रवादी भक्तों को मर्यादावादी भक्तों के ठीक विपरीत वर्णव्यवस्था सर्वथा अमान्य थी। अष्टछाप के अन्यतम सखा कृष्णदास अधिकारी वल्लभाचार्य के

---

१. मानस अयो०। दो० १९९। पं० ४
२. वही। दो० २४३। पं० ५—६
३. दोहावली। ५९
४. मानस अरण्य०। दो० ३४। पं० २
५. मानस उत्तर०। दो० ९९। पं० २
६. वही। दो० १००। पं० ९
७. वही। दो० ९९ ख
८. वही। दो० १००। पं० ४

समाज मे शूद्र होते हुए भी प्रमुख स्थान रखते थे। उनका इस समाज में विशेष आदर था। बंगाली ब्राह्मणों की झोपड़ी जलवा देने के पश्चात् जब रूपगोस्वामी [रूप सनातन] ने उन्हे फटकारा—'क्यों रे शूद्र, तू कौन जो इन ब्राह्मणन को मारै ? तब कृष्णदास ने कही जो हूँ सूद्र हौं परि तुमहू तो अग्निहोत्री नहीं, तुमहू तौकायस्थ हो... तुम कायस्थ होय के इन ब्राह्मणन सों दडौत करावत हो?'[1] स्मार्त परंपरा मे द्विजातियों से भिन्न शूद्रादि को मंत्र की दीक्षा का विधान नहीं है। पर छीत स्वामी ने विठ्ठलनाथ के रूप मे अवतीर्ण ब्रजनाथ का वैशिष्ट्य ही बताया है:—

तबके वेद पथ छाँड़ि रास मिस नाना भाँति बताए।
अबकें स्त्री-सूद्रादिक सबको ब्रह्म-संबंध कराए[2] ॥

इसके अतिरिक्त 'दो सौ बावन वैष्णवन' की वार्ता से विदित होता है कि गोसाईं विठलनाथजी ने मुसलमानो को भी अपने संप्रदाय मे दीक्षित किया था। उनके कृपापात्र रसखानि दिल्ली के कोई पठान सरदार थे।

६१. उपर्युक्त सिद्धात की पीठिका पर सूरदास द्वारा वर्णित ब्राह्मण की अपेक्षा भक्त श्वपच की वरिष्ठता[3] का रहस्य उद्भिन्न हो जाता है। सूरदास उसी को कुलीन एवं सर्वाधिक सुंदर मानते है जिस पर भगवत्कृपा हो[4]। यद्यपि कहीं कहीं उन्होने 'ब्राह्मन हरि हरिभक्तनि प्यारो'[5] जैसी उक्तियाॅ कही है पर ये लोक मे प्रतिष्ठित स्मार्त प्रभाव की व्यंजिका हैं। वर्णव्यवस्था के विरोध मे कुंभनदास भी अपनी ब्रजनागरी से कहलाते हैं—

जाति पाँति कुल रीति कछु हमतें नहिं छानौ।[6]

६२. इस प्रकार इस वर्ग मे सामाजिक उच्चावच स्थिति का नियमन पूर्णतः

---

१. अष्टछाप : धीरेंद्र वर्मा, पृ० २४

२. छीत०। पद २८। पं० ५—६

३. सूर०। पद २३२। पं० २

४. वही। पद ३५। पं० १—२

५. वही। पद ४४६। पं० ४२ अथवा

भोजन साथ सूद्र ब्राह्मन के तैसो उनको साथ।
सुनहु सूर हरि गाईं चरैया अब भए कुबिजा नाथ॥
वही। पद ३७७०। पं० ५—६

६. कुंभन०। पद २३। पं० ६६

भक्तिमूलक है। इसलिए इस समाज में भक्त-साधु-संतों के प्रति सर्वाधिक समादर की भावना पाई जाती है।

६३. सूरदासजी कहते हैं कि हरि के जनों की सर्वातिशायिनी महत्ता को देखकर महाराज, ऋषिराज और राजमुनि भी लज्जित होते हैं[1]। उनके दर्शन मात्र से कोटि तीर्थों के स्नान का फल सद्यः प्राप्त होता है[2]। उनकी सन्निधि सांसारिक मिथ्यात्व की चोधिका[3] और जन्म और मरण के चक्र से छुड़ाने वाली है[4]। स्मार्त परपरा में जहाँ भगवान् का अवतार ब्राह्मण के हितार्थ बताया गया है वहाँ इस परंपरा मे वे संत तथा भक्तों के लिए ही अवतीर्ण हुए हैं[5]। भगवान् से अभिन्न मानकर विट्ठलदास को छीत स्वामी भक्त-सुख-दानार्थ ही आविर्भूत मानते हैं[6]। उन्हे केवल दो ही स्थानो का बल है—या तो हरिभक्तों का अथवा नंदकिशोर का[7]। हरिदासो की स्तुति करते हुए वे अपना सबसे अधिक प्रेम उन्हीं के प्रति समर्पित करते हैं[8]।

६४. रसवादी भक्तों ने शास्त्रवादी भक्तों से आगे बढ़कर सामाजिक व्यवस्थाओं, विधि-निषेध-पालन आदि को स्पष्ट रीति से व्यर्थ उद्घोषित किया। दामोदरदास सेवकवाणी मे लिखते हैं कि हरिवंश ने गुप्त रीति के आचरणो को संसार मे प्रकट कर ज्ञान-धर्म-व्रत, यहाँ तक कि कर्म और भक्ति को भी उक्त उपासना का किंकर बना दिया[9]। वे उपासक को विधि और निषेध की शृंखलाओ से छुड़ाकर निज आलय वृंदावन मे बसा लेते हैं[10]। ध्रुवदास[11] ने भी स्पष्ट कहा है कि :—

---

१. सूर०। पद ४०। पं० १–२
२. वही। पद ३६०। पं० १–२
३. वही। पद ४०६। पं० ३३
४. वही। पद ३६४। पं० १०
५. कुंभन०। पद २३। पं० ५४
६. छीत०। पद ४२। पं० ४, वही। पद ४६। पं० ४
७. वही। पद १५६। पं० १–२
८. वही। पद १६६
९. सेवकवाणी। पृ० १२८
१०. वही। पृ० १२६
११. ध्रुवदास ग्रंथावली : ब्यालीस लीला, पृ० ७२। अथवा

सुख वारिधि में परत ही छूटि गए पट नेम।
मेड तहाँ कैसे रहे उभड़त है जहँ प्रेम॥ रतिमंजरी। दो० ३१

बिधि निषध के बंद हैं और धर्म मृग मानि।
केहरि पुनि निर्बंध है भगवत धर्महि जानि॥

६५. हरिराम व्यास रसभक्ति मे जातिव्यवस्था का समाव संभव नहीं मानते—'भक्ति में कहा जनेऊ जाति'[1]। बिना भक्ति द्विजातित्व सूचक जनेऊ को वे यम की फाँसी बताते हैं[2]। उनका निश्चित मत है कि:—

जो पै सबहिन भक्ति सुहाती।
तौ बिद्या, बिधि, बरन धर्म की जाति रसातल जाती॥[3]

६६. कलि विडबनाओ का विवरण प्रस्तुत करते हुए हरिराम व्यास ब्राह्मणों के संबंध मे कहते हैं:—

दान लैन कौ बड़े पातकी मचलनि कौ बंभनाई!
लख मरन कौ बड़े तामसी बारौं कोटि बसाई॥
उपदेसनि कौं गुरू गुसाँई आचरनै अधमाई।[4]

तथा—

ब्राह्मन करत सूद्र की सेवा तजि विद्या आचार।[5]

श्रौतस्मार्त कर्मकांड कराने वाले ब्राह्मणो मे वे भक्ति भावना असंभव मानते हैं तथा उन्हे ठग और यम का साक्षात् स्वरूप बताते है—

ब्राह्मन के मन भक्ति न आवै। भूलै आप सबनि समझावै॥
औरनि ठगि ठगि अपुनु ठगावै। आपुन सोवै सबनि जगावै॥
बेद पुरान बेचि धन ल्यावै। सत्या तजि हत्याहिं मिलावै॥
हरि हरिदास न देख्यौ भावै। भूत पितर देवता पुजावै॥
आपु नरक परि कुलहिं बुलावै। 'व्यास' भक्ति बिनु कोगति पावै॥[6]

---

१. व्यासवाणी। पद १०४। पं० १
२. वही। पद २१४। पं० १
३. वही। पद २७८। पं० १—२
४. वही। पद १२६। पं० ११—१२
५. वही। पद १७२। पं० ७
६. वही। पद २१२

एवं—

हरि बिनु जम की फाँसि जनेऊ
सुक सनकादिक मुकति भए, हरि भजन करत हैं तेऊ ॥
अग्नि कुंड रौरव कुंडनि सम, मूँज मेखला बंधनु ।
स्रुवा डंड स्वाहा रव हाहा, भूलि गए नंदनंदनु ॥
कुस त्रिसूल, कंटक रित्विज करि, द्विज पंडित जम रूप ॥
प्रोडासन जु मास खवावत, आचारज जम रूप ॥
इहि विधि कलजुग जज्ञ करत, कंचन कामिनि की आस ॥
केवल भक्ति भागवत बिनु छिन न जीवे सुख पावे व्यास ॥[1]

ब्राह्मण जिनकी जीविका का अन्यतम साधन 'ब्रह्मभोज' आदि था उनको इन्होंने नारकी[2] और महापतित[3] तक कहा है। इन ब्राह्मणों की अपेक्षा वे भक्त श्वपच को कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण एवं वरेण्य मानते हैं[4]।

६७. व्यासजी भक्तों को ही अपना देवी देवता मानते हैं[5]। इन्हीं को वे संशयोच्छेत्ता[6] माया के फंदे का विनाशक[7] और आवागमन के चक्र का उच्छेदक[8] कहते हैं। रसिक भक्तों को वे सच्चिदानंदमय उपास्य से अभिन्न देखते हैं[9]। इन रसिकों की मोहिनी वाणी उन्हे भक्ति तथा भागवत से भी ज्यादा प्यारी लगती है[10]। उनका सिद्धांत है कि साधुजनो की सेवा से हरि को संतोष मिलता है। पर जो लोग साधुविमुख होकर भजन करते हैं उनके प्रति भगवान् केवल असंतुष्ट ही नहीं अपितु उत्तरोत्तर रुष्ट

---

१. वही। पद २१४

२. वही। पद ३०। पं० १–४, और वही। पद १२४। पं० १–८

३. वही। साखी १४०

४. वही। पद २०१। पं० ६, वही। पद २२५। पं० ६, वही। साखी २५, २८

५. वही। पद २२। पं० १

६. वही। पद ९८। पं० ६

७. वही। साखी १८

८. वही। पद १६३। पं० १–२

९. व्यास जगत में रसिकजन जैसे द्रुम पर चंद।
सत्त चित्त आनंदमय भेद न जानत मंद॥
१४ वीं साखी। व्यासवाणी

१०. वही। पद ५०। पं० २

होते जाते हैं।[1] वंध्या को पुत्रप्रसव करने पर या लोभी को अत्यधिक द्रव्य प्राप्ति पर भी वह सुख नहीं मिल सकता जो सुख व्यास को घर पर पदार्पण करने वाले भक्त से उपलब्ध होता है। उनका अनुभव है कि वह सुख करोड़ों तीर्थस्नान करने के बाद स्वप्न मे भी अलभ्य है जो भक्तों के चरणोदक का पान करने और शरीर पर छिड़कने से मिलता है[2]। भक्तों के पावन उच्छिष्ट मे वे भगवान् को हृदयस्थ करा देने की शक्ति स्वीकार करते है[3]। भक्तों की जूठन से घृणा करने वालों पर वे नाराज होकर कहते हैं—

जूठन जे न भक्त की खात।
तिनके मुख सूकर कूकर के, अभखि भखि पोषत गात॥
तिनके बदन सदन नर्कनि के, जे हरि जननि घिनात।
काम बिबस कासिनि के पीवत, अधरन लार चुचात॥
भोजन पर माखी मूतति हैं, ताहू रुचि सौं खात।
भक्तन को चरणोदक अँचवत, अभिमानी जरि जात॥
स्वपच भक्त कौ भोग ग्रहत हरि, बाँभन ताहि डरात।
बाजदार की पाँति ब्याह में, जेंवत बिप्र बरात॥
भेंटत सुतहिं रेंट मुख लागत, सुख पावत जड़ तात।
अपरस ह्वै भक्तन छ्वै छुतिहा, तैल सचैलै न्हात॥
हरि भक्तनि पाछैं आछैं डोलत, हरि गंगा अकुलात।
साधु-चरन-रज माँझ 'व्यास' कोटिक पतित समात॥[4]

६८. इस प्रसंग मे यह भी स्मरण रखने योग्य है कि व्यास जी के मत में सच्चा साधु वही है 'जहाँ भक्ति रस भोग' हो[5]। पर जो लोग भक्ति को व्यवसाय का रूप दे रहे थे उनको उन्होने 'डोम, कलावंत भाट' की कोटि में रखकर निस्संकोच भाव से 'कायर कुटिल कूर अपराधी' तक कह डाला है[6]। लोभवश राजाओं का दरबार करने वाले भक्तों का उन्होने बड़ा बिंबग्राहक चित्र खींचा है—

---

१. वही। साखी ६
२. वही। पद १६३। पं० १–४
३. वही। पद ६८। पं० ५
४. वही। पद १५४
५. वही। पद २४८। पं० ३
६. वही। पद १२८। पं० २–३

भक्त ठाढ़े भूपनि के द्वार।
उभकत झुकत पौरियन डरपत, गाई बजाई सुनावत तार॥
कहियहु थाप थवाइत प्रोहित, हमहिं गुदरबी स्वार।
छिन छिन करत बिदा की बिनती उपजत कोटि बिकार॥
× × × ×
चंदन माला धौर स्याम बिंदुनी दै ऊलटै उपहार।
'व्यास' आस लगि नट बाँदर ज्यों, नांचत देख उतार॥[1]

६९. रामोपासक स्वामी अग्रदास भी जीवन मे सत्संग से बढ़कर और लाभ नहीं मानते[2] और सीतापति के दास पर अपना तन मन निछावर करते हैं[3]। वे सत्संग को आनंदरूप तथा भव-सागर से उत्तारक बताते हैं[4]। अग्रदास को दो ही सहारे हैं, या तो राम के पद का अथवा संतों का[5]।

ब्राह्मण : भक्त का आर्थिक आधार

७०. स्मार्तधारा मे ब्राह्मण की वृत्ति दान, व्रत, कथावाचन इत्यादि से चलती थी किंतु इन धार्मिक कृत्यो का आगमिक धारा मे कोई महत्त्व नहीं था। इसके विपरीत लीलागायन एवं इष्टपूजन ही प्रमुख कृत्य थे। ब्राह्मणों की जीविका पर इस प्रकार आघात पड़ा। दूसरी तरफ भक्त एवं संत लीलागान और पूजन से आजीविका प्राप्त करते थे। इस तरह स्मार्त तथा भक्त परंपरा के संघर्ष का आर्थिक रूप भी था। ब्राह्मण इस भक्ति परंपरा को इसी रूप में स्वीकार नहीं करते थे। नंददास के संबंध मे दो सौ बावन वैष्णन की वार्ता मे एक प्रसंग है कि 'एक दिन नंददास जी के मन मे ऐसी आई कि जो जैसे तुलसीदास जी ने रामायण भाषा करी है सो हमहूँ श्रीमद्भागवत भाषा करैं। ये बात ब्राह्मण लोगन ने सुनी तब सब ब्राह्मण मिल के श्री गुसाई जी के पास गए। सो ब्राह्मणन ने बिनती करी जो श्रीमद्भागवत भाषा होयगो तो हमारी आजीविका जाती रहेगी। तब श्री गुसाईं जी ने नंददास सुं आज्ञा करी जो तुम श्रीमद्भागवत भाषा मत करो और ब्राह्मणन के

१. वही। १२१
२. कुंडलिया। संख्या। पं०
३. वही। संख्या १२। पं० ६
४. वही। सं० १४। पं० ६
५. वही। सं० ७१। पं० ५–६

क्लेश में मत परौ, ब्रह्म क्लेश आछो नहीं है और कीर्तन करकें ब्रजलीला गाओ। जब नंददास जी ने श्री गुसाईं जी की आज्ञा मानी, श्रीमद्भागवत भाषा न कियौ[1]।

७१. ऐसी ही एक किंवदंती मथुरा के पंडा छीतू चौबे के विषय मे भी है। वे पहले संभवतः अपनी वृत्ति को नष्ट होते देख गोसाईं बिट्ठलनाथ जी की खिल्ली उड़ाने के लिये उनके पास गए थे और बाद मे उनके शिष्य हो गए[2]। शूद्र कृष्णदास अधिकारी और बंगाली ब्राह्मणों मे भी श्रीनाथ जी के चढ़ावे मे आनेवाले धन के संबंध मे संघर्ष हुआ था[3]। जिस प्रकार ब्राह्मण धर्मकृत्यों के लिये समाज से द्रव्य प्राप्त करते थे उसी प्रकार भक्तगण भी उद्योगशील होने लगे थे। इस पर कटाक्ष करते हुए हरिराम व्यास ने कहा है:—

भटकत फिरत गौर गुजरात।
सुख निधि मथुरा बृंदावन तजि, दामन को अकुलात ॥
× × × ×
जाकी तक्र सक्र कौं दुर्लभ ताहि न बूझत बात।
व्यास बिवेक बिना संसारहिं लूटत हू न अघात ॥[4]

ध्यान देने योग्य है कि वल्लभ और चैतन्य संप्रदाय के अनुयायी प्रायः गुजराज और गौड़ देश मे भ्रमण किया करते थे। इससे स्पष्ट है कि स्मार्त ब्राह्मणों और भक्तों के संघर्ष का आर्थिक पक्ष भी था।

आश्रम व्यवस्था

७२. मध्यकालीन विलासमय पारलौकिकता, गुह्य साधनाओं के प्रवेश एवं प्रसार तथा मुसलमानो के संपर्क से प्राचीन आश्रम व्यवस्था विश्रृंखलित हो गई। शैव-शाक्त-परंपरा के कापालिक, कालानन, कौल और नाथ-सिद्ध-पंथी योगियों का बहुत बड़ा समूह श्रौत-स्मार्त-परंपरा की व्यवस्थाओं का विरोध पहले से ही करता चला आ रहा था। इनके अतिरिक्त उस समय समाज के निचले स्तर के उन साधकों ने सामाजिक व्यवस्था की शृंखलाओं को तोड़ने में विशेष योग दिया जो केवल अपनी साधना के बल पर ब्राह्मणों से लेकर शूद्र तक सबके गुरु बन रहे थे।

१. अष्टछाप : धीरेंद्र वर्मा, पृ० ९९–१००
२. छीतस्वामी : एक चारित्रिक विश्लेषण, पृ० १४
३. अष्टछाप : कृष्णदास अधिकारी तिनकी वार्ता, प्रसंग २, पृ० २०–२९
४. व्यासवाणी। पद १३

उन्होंने पिंड मे ही ब्रह्मांड को बसा लिया था इसलिये वे ब्रह्मांड में सामाजिक उत्तरदायित्व को कोई महत्त्व नहीं देते थे। उधर वैदिकत्व प्रमाणित कर लेने के बाद भी देवालयीय परंपरा के अनुयायी आश्रम व्यवस्था का विधिवत् अनुगमन या पुरुषार्थ चतुष्टय का उपार्जन आवश्यक नहीं मानते थे। उनके लिये भक्ति ही सर्वस्व थी। ऐसी स्थिति में आलोच्य साहित्य के अंतर्गत यदि सभी आश्रमो के रूप प्रतिबिंबित न हों आश्चर्य की कोई बात नही है।

गुह्य साधना

७३. कापालिकों से संबद्ध सोमसिद्धात मे उमासहित शिव के पूजन का विधान है। कापालिनी के साथ कापालिक भी शिव और पार्वती का रूपाधान कर उन्हीं के समान चेष्टाएं करते थे[1]। पञ्चवज्रसंयोगवादी वज्रयान मे गुह्य साधना का अतिरेक था ही। पाशुपतो मे शृंगारण, मंदन इत्यादि शृंगार-चेष्टाएं और शाक्तों के पंचमकार की गुह्य साधनाएँ आलोच्य युग की पूर्व पीठिका हैं। वैष्णवों के माधुर्य भाव पर विभिन्न उपासनास्रोतों का प्रभाव बहुत स्पष्ट है[2]। इस रहस्यमयी साधना मे श्रौतस्मार्त-परंपरा के आश्रम, विशेषतः गृहस्थ और संन्यास दोनों ही अप्रतिष्ठ थे। देवालयीय परंपरा के इस विरक्त गृहस्थाश्रम की चर्चा विस्तारपूर्वक अगले अध्याय मे की जायगी।

मुसलमानी संपर्क : मध्यकाल

७४. सूफियों की मधुरोपासना के साथ मध्यकाल की विलासिता और परलोक-प्रवण प्रवृत्ति ने आश्रम व्यवस्था को अत्यधिक शिथिल कर दिया। समाज मे परिव्याप्त नैराश्यवाद की वृत्ति ने, जो उस काल की एक विशेषता थी, सामाजिक कर्तव्यों तथा दायित्वो के प्रति अनास्था उत्पन्न कर समाज को पारलौकिकता की ओर अग्रसर किया! पर यह ध्यान देने की वस्तु है कि इस पारलौकिकता में ऐहिकता पूर्ण रूप से प्रतिफलित हुई है[3]। ईश्वर बादशाह की तरह दिखाई पड़ा और शाही रंगीनियाँ उसकी मधुर लीलाएँ बनीं। रसिक भक्तों ने भी भगवान् के इसी रूप पर अपने को निछावर कर उनकी प्रणयिनी का पद प्राप्त करने की चेष्टाएँ कीं। इस ढंग के प्रयत्नों से भी आश्रम व्यवस्था पर गहरी ठेस लगी।

१. श्री कृष्णमिश्र : प्रबोध चंद्रोदय, अंक ३। श्लोक १६
२. द्रष्टव्य अ० प्र० अध्याय ४। अनुच्छेद ४६ से ५६ तक।
३. द्रष्टव्य, प्र० प्र० अध्याय १। अनुच्छेद २६ तथा अध्याय ३। अनुच्छेद १-१०

मर्यादावादी भक्त : आश्रम व्यवस्था

७५. तुलसीदास ने वर्ण व्यवस्था के समान ही आश्रम व्यवस्था के संबंध में पद पद पर अपनी आस्था व्यक्त की है। रामराज्य मे वे इनकी स्थिति और प्रतिष्ठा का[1] तथा कलियुग मे इनके ध्वंस और विपर्यय का[2] वर्णन अभिनिवेश के साथ करते हैं। यह उन्हीं के वश की बात थी कि उन्होंने उस आश्रमविहीन समाज मे प्राचीन आश्रम व्यवस्था के पुनः प्रवर्तन के निमित्त आदर्श प्रस्तुत किए। वे वटु, गृही, वैखानस और उदासी इन चारों आश्रमवासियों का उल्लेख अनेक स्थलों पर करते हैं[3]।

७६. उनके अनुसार ब्रह्मचारी को अपनी आश्रममर्यादा का पालन दृढ़ता पूर्वक करते हुए नित्य गुरु की आज्ञाओं का अनुसरण करने वाला होना चाहिए। ऐसा न करने पर वह शोनीय हो जाता है[4]। उसे सस्वर वेद मंत्रों का पाठ एकतानता और तत्परता से करना अनिवार्य है[5]। वे हनुमान् को दो बार वटुरूप धारण कराकर, ब्रह्मचारी की सामाजिक प्रतिष्ठा की व्यंजना बड़े कौशल से करते हैं[6]। गृहस्थाश्रम के आदर्श स्वरूप और प्रतिष्ठा के ज्वलंत उदाहरण के रूप मे उन्होंने समस्त रामचरित को ही खोलकर सामने रख दिया है। उस कर्मविमूढ़ एवं पथभ्रष्ट समाज के समक्ष ऐसे लोकोपयोगी आदर्श की सृष्टि कोई भी दूसरा भक्त कवि न कर सका। लोग आए दिन घरबार छोड़कर मुंडितमस्तक, निष्क्रिय संन्यासी बनने में अपनी प्रतिष्ठा मानते थे। उन्हें अत्यंत गर्हित और निंदित बताते हुए तुलसीदास कह रहे हैं :—

'सोचिय गृही जो मोह बस करइ करम पथ त्याग'[7]।

---

१. मानस उत्तर०। दो० २०; वही। दो० २१। पं० २
२. वही। दो० ९८। पं० १; वही। दो० १०२। पं० ८; कवित्त० उत्तर०। छंद ८४, ८५, १८३
३. मानस अयो०। दो० २०६। पं० १; वही। दो० २२४। पं० ४; वही। दो० १०८। पं० ५
४. वही। दो० १७२। पं० ८
५. मानस किष्किं०। दो० १५। पं० १
६, वही। दो० १। पं० ४; मानस उत्तर०। दो० १२१। पं० १
७. मानस अयो०। दो० १७२

कौटुंबिक व्यवस्था के विवरण मे इस आश्रम का वास्तविक स्वरूप उद्घाटित किया जायगा।

७७. तृतीयाश्रमी वानप्रस्थों के लिये तुलसीदास ने सर्वत्र वैखानस शब्द का व्यवहार किया है[१]। कालिदास और भवभूति आदि की परंपरा भी वानप्रस्थों के लिये वैखानस का प्रयोग करती है[२]। इससे यह ज्ञात होता है कि जिस समय भागवत वैखानसो की परंपरा जीवित थी उसी समय से उनकी तपोनिष्ठा आदि पर दृष्टि रखकर तृतीयाश्रमियों के लिये 'वैखानस' का व्यवहार रूढ़ हो गया था। तुलसीदास अप्रत्यक्ष रीति से इस आश्रम की भी उपयोगिता स्वीकार करते हुए प्रत्यक्ष रूप मे भोगासक्त वैखानस को शोचनीय ठहराते है[३]।

७८. चतुर्थाश्रमियो मे संन्यासी[४], उदासी[५] और यति[६] के साथ तुलसीदासजी ने अवधूत[७] और योगी[८] की चर्चा की है। उन्होने बिना विराग के संन्यासी को उपहासास्पद बताया है[९]। स्मार्त परंपरानुकूल तीन ऋणो की शुद्धि के बिना संन्यास का ग्रहण उन्हे अभीप्सित नहीं प्रतीत होता। स्त्री की मृत्यु या गृह संपत्ति के विनाश से उद्भूत वैराग्य मूलक संन्यास पर उन्हे विशेष आपत्ति[१०] है। मालूम पड़ता है कि उनके समय मे ऐसे संन्यासियों की भरमार हो गई थी। उस समय अलखिया संप्रदाय वालो का बड़ा जोर था। इस वर्ग के साधक अलख अलख चिल्लाते हुए घूमा करते थे। ऐसे ही किसी अलखिया को एक दिन उन्हे फटकारना पड़ा था[११]। यद्यपि

---

१. वही। दो० १७२।पं० १; वही। दो० २०६। पं० १; वही। दो० २२४ पं० ४
२. कालिदास : शाकुंतल। अंक १। श्लोक २४, भवभूति : उत्तरराम चरित। अंक १। श्लोक २५
३. मानस अयो०। दो० १७२ पं० १
४. मानस उत्तर०। दो० २६ पं० ५
५. वही ,, ,,
६. मानस अयो०। दो० २६
७. कवित्ता० उत्तर०। छंद संख्या १०६। पं० १
८. मानस अयो०। दो० २६। पं० २–३
९. मानस बाल०। दो० २५१। पं० ३
१०. मानस उत्तर०। दो० १००। पं० ६
११. दोहावली। १२

सिद्धांत और परंपरा की दृष्टि से उन्हे योग मार्ग अमान्य था, यह नहीं कहा जा सकता। पर उनका सबसे बड़ा विरोध गोरख के जगाए हुए योग के उस प्रभाव से था जिसमे पड़े हुए लोग ज्ञानियों के से बचन बोलकर और विरागियों का सा वेष विन्यास कर ससार भर को वेद की आज्ञाओ कर्म एवं भक्ति से विमुख करते हुए ठगते फिरते थे[1]। मुनियों के आदर्श रूप मे उन्होने वशिष्ठ, भरद्वाज, वाल्मीकि, और अत्रि आदि को रखा है जो जप तप, योग वैराग्य और त्याग आदि के उज्ज्वल प्रतीक थे। तुलसीदास शायद इनके स्वरूप को हृदयंगम कर सके थे। पर उनके समय मे ऐसे मुनियो की कमी नहीं थी जो अपने आप को ही ईश्वर और चतुर सिद्ध कहलवाते थे, वास्तव मे ये मुनि उनकी समझ में ठीक ठीक नहीं आ पाते थे[2]।

शास्त्रवादी एवं रसवादी भक्त : आश्रम व्यवस्था

७९. इस प्रकार इस युग मे आश्रमो की मर्यादा विच्छिन्न हो गई थी। मर्यादावादी भक्त तुलसीदास ने इस विशृखलता के निवारणार्थ मानस मे विविध आश्रमों के विशेष रूप से गृहस्थाश्रम के आदर्श चरित्रों की सृष्टि की। पर शास्त्रवादी तथा रसवादी भक्त इन उलझनो को सुलझाने के बजाय अपनी अपनी भावना के अनुसार भक्ति पथ पर अग्रसर होते रहे।

८०. आश्रम की व्यवस्था न तो देवालय परंपरा को और न मठ परंपरा को ही स्वीकार हो सकती थी क्योकि इससे देवालय और मठ की व्यवस्थाओं में वाधा पड़ती थी। मठ परपरा मे ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् सीधे ही सन्यासी बन सकने का मार्ग था जिसमे वे प्रथमतः शिष्य और बाद मे अवसर मिलने पर गुरु बनकर मठ की विविध व्यवस्थाओं यथा पाठशाला, सत्र, औषधालय[3] आदि का संचालन कर सकें। इसमे गुरु शिष्य रूप से संतति चला करती है। किंतु देवालय परंपरा मे न तो स्मार्तों के आश्रम समुच्चय से और न मठ परंपरा के आश्रम विकल्प सिद्धांत से ही काय चलता था। नगर मे प्रतिष्ठित देवालय मे केंद्रित यह समाज विरक्त वैष्णवाचार्यों और उनके अनुयायियों द्वारा परिचालित होता था। ये विरक्त कभी

१. कविता० उत्तर०। छंद ८४
२. वही। छंद १०९
३. इन व्यवस्थाओं के लिये दे० मलकापुर में रुद्रदेवी का अभिलेख : आंध्र, हिस्टारिकल रिसर्च सोसायटी, भाग ४ तथा जी० एस० घोरए कृत इंडियन साधूज पृ० १०६

कभी विवाह भी करते हैं और इनकी गद्दियाँ वंशानुक्रम से चलती हैं। ये लोग न तो स्मार्त परंपरा के गृहस्थ कहे जा सकते हैं और न संन्यासी ही।

८१. शास्त्रवादी परंपरा के भक्तों में केवल सूरदास के विनय संबंधी पदों के अंतर्गत कहीं कहीं तात्कालिक अनुरक्त वर्ग की स्थिति और वृत्तियों का संकेत मिलता है। लोगों की बाल्यावस्था खेल कूद में निकल जाती थी, युवावस्था द्रव्यसंग्रह में समाप्त हो जाती थी। वृद्धावस्था के अत्यंत समीप आने पर लोगों को परलोक विषयक चिंता उत्पन्न होती थी[1]। वास्तव में:—

> निसिदिन विषय बिलासनि बिलसत, फूटि गईं तब चारयौ।
> अब लाग्यो पछितान पाइ दुख, दीन दई को मारयौ॥[2]

की स्थिति थी। उस समय तीर्थ व्रत करने, दान देने[3] कथा भागवत सुनने, और गुरुमुख होने आदि की आवश्यकताएँ अनुभूत होती थीं[4]। इस अवस्था के पूर्व लोग प्रायः हिंसा-मद-ममता-रस में भूले हुए आशा से लिपटे रहते थे[5]। मानव जीवन की इस विफलता का चित्रण सूरदासजी ने निम्नांकित पद में बड़ी ही सफलता के साथ उपस्थित किया है।

> चौपरि जगत मड़े जुग बीते।
> गुन पांसे, क्रम अंक, चारि गति, सारि न कबहूँ जीते॥
> चारि पसार दिसानि, मनोरथ घर, फिरि फिरि गिनि आवे।
> काम क्रोध मद संग मूढ मन खेलत हार न मानै॥
>
> × × × ×
>
> षोडस जुवति, जुवति चित षोडस, षोडस बरस निहारै।
> षोडस अंगनि मिलि प्रजंक पै छदस अंक फिरि डारै॥
> बाल, किसोर, तरुना, जर, जुग सो सुपक सारि ढिग डारी।
> सूर एक पौ नाम बिना नर फिरि फिरि बाजी हारी॥
>
> सूर०। पद ६०।

---

१. सूरसागर। पद ४७। पंक्ति ४–५
२. वही। पद १०१। पं० ३–४
३. वही। पद ६५। पं० २ तथा पद १५५। पं० ७
४. वही। पद २२६। पं० ३
५. वही। पद ४७। पं० ३

८२. सूरदास ऊपर के अनुरक्त जीवन को मायाग्रस्त मानकर उसका रूपकात्मक वर्णन करते है—

> माधो जू मन माया बस कीन्हों ।
> लाभ हानि कछु समझत नाहीं ज्यों पतंग तन दीन्हो ॥
> गृह दीपक, धन तेल, तूल तिय, सुत ज्वाला अति जोर ।
> मैं मतिहीन मरम नहिं जान्यो, पर्‍यों अधिक करि दौर ॥
> सूर० । पद ४६ । पं० १–४ ।

८३. शास्त्रवादी भक्तों के समान रसवादी भी आश्रम व्यवस्था को नहीं मानते थे। हरिराम व्यास गृहस्थाश्रम की दामिनी की भाँति चमकती हुई कायावाली जाया, सुत आदि कुटुंबियो को माया का फल मानते थे[1] । ये देखते थे कि सारा संसार अपने ही अभिमान में जला जा रहा है :—

> एकनि विद्या धन कुल को मद एक गुनी गन-गान ।
> एक रहन जोबन मद माते एक जती तप दान ॥
> पद २७० । पं० ३–४ । व्यास०

गृहस्थाश्रम की भाँति ही शास्त्रवादी तथा रसवादी भक्तों के साहित्य मे कुछ विरक्त संप्रदायो का उल्लेख मिलता है—यथा संन्यासी, योगी, अवधूत, सेवरा, कापालिक आदि ।

कौटुंबिक या पारिवारिक व्यवस्था

८४. कौटुंबिक संबंध के आधार यदि श्रौत परंपरा मे सामाजिक अथवा वैयक्तिक 'संस्कार' थे तो देवालयीय परंपरा मे ईश्वर की भक्ति थी। पहली परंपरा में कौटुंबिक संबंधों का निर्वाह अपने आप मे महत्वपूर्ण था और सामाजिक जीवन, गृहस्थाश्रम में इनका पालन अनिवार्य था। ब्रह्मचर्य के अनंतर स्नातक के विवाह संस्कार का विधान है। इसके अनंतर वह गृहस्थ रूप मे गृह्य अग्नि प्रज्वलित करके गृह्य अर्थात् कौटुंबिक कृत्यों के संपादन का अधिकारी बनता है। किंतु देवालय परंपरा मे भक्ति की अनन्यता के कारण गार्हस्थिक संबंध भी ईश्वरीय भक्ति से नियंत्रित होते हैं। इसी लिये भक्ति से विरोध होने पर वे संबंध भी त्याज्य माने गए। श्रीमद्भागवत की गोपियाँ आत्मभूत

---

1. व्यासवाणी । पद ८४ । पं० २३

श्री कृष्ण से कहती हैं कि तुम निन्य प्रेम के आलंबन हो इसी से चतुर लोग तुमसे प्रेम करते हैं, आर्तिप्रद पतिपुत्रादिको से प्रयोजन ही क्या[1]।

८५. आलोच्यकाल मे भी उपर्युक्त प्रवृत्ति पारिवारिक जीवन को प्रेरित करती हुई दृष्टिगोचर होती है। आलोच्य साहित्य के मर्यादावादी, शास्त्रवादी और रसवादी इन तीनों प्रकार के भक्तों को देवालय समाज का यह सिद्धांत स्वीकृत था कि भक्ति पारिवारिक संबंधों की मर्यादा स्थिर करे। किंतु इनकी मान्यता मे आपेक्षिक महत्व तथा सामाजिक जीवन की न्यूनाधिक प्रतिष्ठा के कारण पारिवारिक जीवन के संबंध में कुछ अंतर अवश्य हो गया था।

मर्यादावादी भक्त

८६. तुलसीदास ने देवालय सिद्धांत के आभोग में स्मार्त कौटुंबिक व्यवस्था का अविरुद्ध रीति से अंकन किया है। अन्य अनन्य भक्तों की भाँति वे भी ईश्वर-भक्ति-विरोधी संबंधों एवं ऐहिक भोगों को परित्याज्य मानते हैं। मीरा और तुलसी के पत्राचार को ऐतिहासिक न मानने पर भी उससे इस सिद्धांत की पुष्टि होती है। वे उसी कुल को धन्य, जगत्पूज्य और सुपुनीत मानते हैं जिसमें रघुवीरपरायण, विनयशील नर की उत्पत्ति होती है[2]। वे राम से प्रार्थना करते हैं कि उनका जीवन जल जाय, विनष्ट हो जाय जो संसार में तुमसे विमुख होकर रहते हैं। उन्हे घोर दुःख है कि ऐसी संतति को उत्पन्न करने वाली माँ, गर्भ के भार को दस महीनों तक ढोने में व्यर्थ ही मर मिटी, इससे अच्छा था वह वध्या होती या उसका गर्भस्राव ही हो जाता[3]। रामविमुख व्यक्ति चाहे जितना भी ऐश्वर्यशाली हो, कुटुंब की पत्नी, पुत्र आदि की अनुकूलता से कितना भी भाग्यवान् हो पर वह तुलसी की दृष्टि मे जल जाने लायक ही है[4]।

---

१. कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पति-सुतादिभिरार्त्तिदैः किम्।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मास्म छिन्द्या
आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र॥

२. मानस उत्तर०। दो० १२७

३. कविता० उत्तर०। छंद ४०

४. वही। छंद ४१

८७. किंतु उपर्युक्त भक्ति की सीमारेखा के भीतर ही उन्होंने स्मार्त परंपरा की कौटुंबिक व्यवस्था को बड़े ही चित्ताकर्षक रूप में उरेहा है। यह तुलसीदासजी की बहुत बड़ी विशेषता है। 'संस्कार' जन्य संबंधों के प्रति पूर्ण निष्ठा एवं उत्तरदायित्व के निर्वाह का अटूट प्रयत्न जैसा मानस में मिलता है वैसा दूसरे भक्त कवियों के साहित्य में दुर्लभ है। स्मार्त मर्यादा के अनुसार गृहस्थाश्रम 'ज्येष्ठ आश्रम' माना जाता है क्योंकि अन्य आश्रमो का दायित्व इसी पर रहता है। इस आश्रम मे भी दापत्य संबंध के प्रति बड़ी उदात्त भावना मिलती है। तुलसीदासजी अपने सामने जिस संयुक्त परिवार को देखते थे उसमे कामासक्ति की प्रचुरता थी। फलतः—

> कुलवंति निकारहिं नारि सती। गृह आनहिं चेरि निबेरि गती॥
> सुत मानहिं मातु पिता तब लौं। अबलानन दीख नहीं जब लौं॥
>
> पं० ३–४। दो० १०१। मानस उत्तर०

की अधम स्थिति भी कहीं कहीं दिखाई पड़ती थी। ऐसी स्थिति मे, देश, जाति और धर्म की सुरक्षा की दृष्टि से पारिवारिक कर्तव्यों का तत्परतापूर्वक पालन करनेवाले उदार एवं महाप्राण व्यक्तियों, प्रतिप्राणा सती साध्वी स्त्रियो, पितृ भक्त पुत्रों, समप्राण सुहृदों तथा स्वामी के लिये प्राणो की बाजी लगा देने वाले सेवको की अनिवार्य आवश्यकता थी। गोस्वामीजी ने केवल राम-चरित वर्णन मे सभी उज्ज्वल आदर्शों को एक साथ उपस्थित कर उपर्युक्त आवश्यकता की पूर्ति मे बहुत बड़ा योग दिया।

दांपत्य संबंध

८८. इस आदर्श के रूप मे तुलसीदासजी ने सीताराम की उपस्थापना की। स्मार्तों की सर्वमान्य मर्यादा के अनुसार दापत्य संबंध अविच्छेद्य होता है। उन्होंने सीताजी की उक्तियों से इस तथ्य की अभिव्यक्ति की है। उनका कथन है कि जैसे शरीर को छोड़कर छाया, भानु के बिना प्रभा और चंद्रमा से भिन्न चाँदनी की स्थिति असंभव है वैसे ही पतिविहीन पत्नी की अवस्था भी संभव नहीं[1]। उन्हे अपने आर्यपुत्र के पद कमलों के अभाव मे समस्त सांसारिक संबंध व्यर्थ[2] एवं तरणि से भी अधिक तापदायक जान पड़ते हैं[3]। उनका निश्चित मत है कि पतिविहीन स्त्री

---

१. मानस अयो०। दो० ९७। पं० ५–६

२. वही। दो० ९७

३. वही। दो० ६५। पं० ३

की अवस्था प्राणशून्य शरीर या जलरहित नदी की भाँति है[1]। इन आदर्शों के अनुरूप ही सीता जी सभी अवस्थाओं मे रामचंद्र के अनुकूल बनी रहीं। चित्रकूट में माता पिता के राजकीय वैभव के बीच एक रात रुकने का प्रसंग आने पर वे मन ही मन बहुत सकुचित हुईं। करे क्या? गुरुजनों के समक्ष बात खोलकर कही भी नहीं जा सकती थी—

कहति न सीय सकुच मन माहीं।
इहाँ बसब रजनी भल नाहीं॥

प० ७। दो० २८७। मानस अयो०

इसके अनंतर रामवियोग, अग्नि परीक्षा जैसी कठिनाइयाँ [छाया रूप मे ही सही] पारकर राजमहिषी होने पर पति की आज्ञाओ का अनुसरण करती हुई वे घर मे अपने हाथों पति की परिचर्या करती है[2]। परम पतिव्रता सीता के सराहनीय शील के अनुगुण ही करुणानिधान रामचद्र का सीता के प्रति एकनिष्ठ और अतिशयित प्रेम भी है। यद्यपि मर्यादित वृत्ति के कारण तुलसीदास ने सीता के प्रति राम के दांपत्य प्रेम का उल्लेख बहुत कम स्थलों पर किया है पर उतने से भी आदर्श पति की भावप्रवणता का पूर्ण परिचय मिल जाता है। कवितावली मे वनपथ पर पहले पहल अग्रसर होती हुई परिश्रांत सीता के कष्टो को देखकर राम की व्यथा का संश्लिष्ट चित्रण परंपराश्रित होते हुए भी तुलसी के आदर्श को व्यक्त करता है[3]। वन मे सीता का विछोह होने पर श्रीराम का उन्मत्तवत् प्रलापवर्णन भी उक्त प्रेम का परिपोष करता है[4]। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि तुलसी के राम मे परात्पर परब्रह्म और अवतीर्ण मानवीय रूप युगपत् सश्लिष्ट रहते है। परात्पर राम के मानवीय रूप से प्राकृत आचरण भले ही लोकयात्रा के निर्वाहक हों, पर तुलसी ने उनका वर्णन करते हुए उन्हे लोकादर्श से अभिन्न करने की चेष्टा बराबर की है। इसलिये कतिपय समीक्षकों की दृष्टि से उनकी रस की व्यजना एवं चरित्र की उपस्थापना मे भले ही कुछ बाधा पडती हो किंतु मर्यादावादी तुलसीदास के सामाजिक पक्ष, लोकमगल का स्वरूप स्फुट हो जाता है।

---

1. मानस अयो०। दो० ६४। पं० ७
2. मानस उत्तर०। दो० २४। पं० ३–६
3. कविता० अयो०। छंद ११
4. मानस अरण्य०। दो० ३०। पं० ६–१६

कुटुंब : शास्त्रवाद और रसवादी भक्त

८९. इन भक्तो मे कुटुंब का नियमन भी भक्तिमूलक था। अष्टछाप के भक्त कुंभनदास के सात लड़के थे। किंतु वे अपने केवल डेढ़ लड़के ही बताते थे क्योकि 'जो श्री ठाकुर जी के सन्निधान तो सेवा करै और श्री ठाकुर जी वन मे पधारैं तब गुणगान करै। जो ये वस्तु होय तौ आखौ और इनमे एक होय तौ आधो। ताते चतुर्भुजदास में सेवा और गुणगान है ताते आखौ और कृष्णदास मे एक सेवा है ताते आधो'[1]। सूरदास जी का अपना कथन है—

> जो बनिता सुत जूथ सकेलै। हय गज विभव घनेरौ।
> सबै समर्पौ सूर स्याम कौं। यह सांचौ मत मेरौ॥
>
> पं० ५–६। पाद २६६।

पत्नी के संबंध मे हरिराम व्यास का स्पष्ट परामर्श है—

> जो त्रिय होय न हरि की दासी।
> कीजै कहा रूप गुन सुंदर, नाहिन स्याम उपासी॥
> तो दासी गनिका सम जानौ, दुष्ट राँड मसवासी॥
>
> प० १–३। पद २८३। व्यासवाणी

और यदि कहीं पत्नी शाक्त हो तो उनका निश्चित मत है कि पति को नरकवास करना पड़ेगा[2]। इस लिये वे ऐसी स्त्री का परित्याग करके हरिदासी वेश्या को पत्नी बना लेने का उपदेश देते है जिससे रसिकानन्य कुल मे कलंक न लगे[3]।

९०. स्मार्त परपरा मे पुत्र का अपना महत्त्व यो बताया जाता है कि वह पुत् नामक नरक से पितरो का त्राण करता है। पर व्यास जी इस परपरा का उग्र विरोध करते हैं। भक्त पुत्र को ही वे पुत्र मानते है और बहिर्मुख पुत्र को अत्यंत घृणास्पद ठहराते हैं[4]। उनकी दृष्टि मे ऐसे बहिर्मुख पुत्र से नामजप करने वाली कन्या भली है[5] पर यदि कन्या के संबंध से भी अनन्योपासना मे कहीं बाधा आती हो तो वे उसे सह

---

1. डा० धीरेंद्र वर्मा : अष्टछाप, पृ० ८९
2. व्यासवाणी पद। २८३। पं० ७
3. वही। साखी १४२
4. पूत मूत को एक मग भक्त भयो सो पूत।
   'व्यास' बहिर्मुख जो भयौ सो सुत मूत कमूत॥ व्यास०। साखी १४३
5. व्यास०। साखी १४४

नहीं सकते। कहा जाता है कि कन्या के विवाह के समय व्यास जी को इच्छाविरुद्ध गणपतिपूजन करना पडा था। इससे उद्भूत दुःख और क्षोभ के कारण उनको कहना पड़ा है—

सरैं वे जिन मेरे घर गनेस पुजायौ।
जे पदार्थ संतन के काजै ते सारे सकतन ने खायौ।
'व्यासदास' कन्या पेटहिं क्यों न मरी अनन्य धर्म में दाग लगायौ॥

[पद २८६। व्यास०]

६१. इसी से इन भक्तों का कुटुंब लोकप्रसिद्ध कुटुंब से भिन्न रूप वाला हो गया। उसका लौकिक आधार न रहकर भक्तिपरक स्वरूप हो गया। इसी से नामदेव संबंधी पद में भी वे कहते हैं—

जाकी जाति पाँति कुल बीठल संत जना सब भाई।
ताकी महिमा 'व्यास' कह कहैं, जाके सुबस कन्हाई॥

पं० ७–८। पद १७। व्यास०

अपने कुटुंब की चर्चा में भी वे केवल भक्त वर्ग का विवरण देते हैं [पद ३१]। अन्यत्र वे अपना पूर्ण परिचय देते हुए कहते हैं—

रसिक अनन्य हमारी जाति।
कुलदेवी राधा, बरसानौ खेरौ, ब्रजबासिन सों पाँति॥
गोत गोपाल, जनेऊ माला, सिखा सिखंडि हरि मंदिर माल।
हरि गुन नाम वेद धुनि सुनियत, मूँज पखावज कुस करनाल॥

पं० १–४। पद ६३। व्यास०

६२. रामोपासक अग्रदास ने निर्वेद को उभाड़ने की दृष्टि से लौकिक कुटुंबियों का परिचय निम्न ढंग से दिया है—

कोऊ काहू को नहीं, देखौ ठोंक बजाय।
देखौ ठोंक बजाय, नारि पट भूषन चाहै॥
सुत सोखत नित रुधिर, सुता परतछ अवगाहै।
तात मातु कर वैर बन्धु, नित चित्त बिगारै॥
स्वारथ ताके सजन, दास दासी तनु गारै।
अग्र काम हरिनाम सों, संकट होत सहाय॥
कोऊ काहू को नहीं देखो ठोंक बजाय।

१८ वीं कुंडलिया।

नारी—

९३. सामाजिक व्यवस्थाओं के अध्ययन में नारी की स्थिति का आलोचन प्रमुख स्थान रखता है। भारतीयसंस्कृति के दीर्घकालीन इतिहास में इनकी स्थिति में अनेक परिवर्तन हुए। साधारणतः इनके विषय में तीन परम्पराएँ उपलब्ध होती हैं:—

क. श्रौतस्मार्त परम्परा
ख. आगम परम्परा, और
ग. तंत्र परम्परा।

श्रौत परम्परा मे नारी के द्विविध रूपो की अभिव्यक्ति मिलती है। इनमें प्रथम अत्यंत प्रशसित है तथा द्वितीय परम निंदित। ये दोनों धाराएं वैदिक युग से लेकर आलोच्य काल तक कुछ परिवर्तनों के साथ बराबर प्रवाहित होती आई[1]। ऐतिहासिकों का मत है कि उनकी सामाजिक तथा धार्मिक प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर घटती गई। किंतु आर्थिक अधिकार उसी अनुपात से बढ़ते गए। इतना होते हुए भी उनके दोनों पूर्वकथित रूप मात्राभेद के साथ बने रहे और आलोच्य काल मे तुलसी की रचनाओं मे प्रतिफलित हुए।

तुलसी : नारी का प्रशंसित रूप

९४. सामान्य रूप से पुरुष की अपेक्षा नारी की स्थिति कनिष्ठ मानी गई है। पर पातिव्रत-धर्म-पालन से उपार्जित नारी की गौरवगरिमा का वर्णन पौराणिकों ने बड़े ही हृदयहारी एवं प्रभावोत्पादक ढंग से किया है। प्रतिव्रता की गौरव गाथाएं कहते उनकी जबान नहीं थकती। इसी ढंग से तुलसीदास ने नारी को 'सहज अपावन' मानकर भी पातिव्रत सेवन से शुभगति प्राप्त करने की बात विवरण और दृष्टांत के साथ, कही है[2]। उनके अनुसार स्त्री का केवल एक ही धर्म है, पतिदैवत होना और ऐसी नारी को वे धन्य मानते हैं[3]।

तुलसी : नारी का निंदित रूप

९५. स्मार्त परंपरा मे पतिव्रता के अपवाद को छोड़कर अन्यत्र नारी के विलासमय रूप की बड़ी जबर्दस्त निंदा और कुत्सा की अभिव्यक्ति हुई है। कहीं कहीं कहा गया

---

१. दे० पोजीशन आफ वीमेन : आल्तेकर
२. मानस अरण्य०। दो० ५ क
३. मानस बाल०। दो० १०२। पं० ३

है कि अगर वक्ता की सहस्र जिह्वाएं हो, जीवन सौ वर्षों का हो और केवल एक ही काम हो तो भी स्त्री के समस्त दोषों को पूर्ण रीति से बिना कहे ही उसे पंचत्व को प्राप्त करना पड़ेगा[1]। महाभारत के पंचचूड़ाख्यान मे स्त्री के इस दूषित पक्ष का चित्रण बड़ी व्यापकता से किया गया है। कहा जा चुका है कि यही परंपरा वैराग्य मार्ग मे भी मिलती है। तुलसीदास मे इसका प्रकृष्ट प्रभाव देखा जाता है। वे नारी को माया रूप[2] मानते है और उसके चरित्र को स्पष्ट करते हुए कहते है:—

भ्राता पिता पुत्र उर गारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी।
होइ विकल सक मनहिं न रोकी। जिमि रविमनि द्रव रविहिं बिलोकी ॥
पं० ५–६। दो० १७। मानस अरण्य०।

मनुस्मृति[3], महाभारत[4], पद्मपुराण[5] आदि मे यही परंपरा उपलब्ध होती है। तुलसी का यह कथन भी परंपरानुकूल ही है कि:—

नारि सुभाउ सत्य कवि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं ॥
पं० २। दो० १६। मानस लंका०।

'योगशास्त्र'[6] के समान ही तुलसी भी नारी को सर्वाधिक भयंकर मायाविनी बताते हैं—

अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि।
ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि ॥ दो० ४४। मानस अरण्य

६६. स्मार्त परंपरा मे स्त्री का स्वतंत्र व्यक्तित्व स्वीकृत नहीं हुआ। इसीलिये तुलसी की नारी स्वातंत्र्य इष्ट नहीं मालूम पड़ता। पर कहीं कहीं उनके प्रति संवेदनाभिव्यक्ति भी दिखाई पड़ती है[7]।

---

१. यदि जिह्वा सहस्रं स्याज्जीवेच्चं शरदां शतम्।
अनन्यकर्मा स्त्रीदोषाननुक्त्वा निधनं व्रजेत ॥
पोजीशन आफ वीमेन, पृ० ३८६ टि०

२. मानस अर०। दो० ४३

३. मनु०। अध्याय २। श्लोक २१५

४. महा०। १३। ७३। १७

५. पद्म० सृष्टि खंड। ४६। २०

६. द्वारं भवस्य नरक-मार्ग-द्वारस्य दीपिका।
शुचां कन्दः कलेर्मूलं दुःखानां खनिरंगना ॥ २।८७

७. मानस बाल०। दो० १०२। पं० ४

नारी : आगम परंपरा

९७. ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से श्रौत-स्मार्त-परंपरा मे नारियाँ धार्मिक अधिकारो से वंचित हो गई थीं। उपनयन संस्कार, वेदपाठ एवं याज्ञिक-कर्म-संपादन की वे अधिकारिणी नहीं रह गई थीं। किंतु आगमो मे स्त्री समाज के लिये ऐसा कोई बंधन नही था। वे पुरुषो के समकक्ष मानी जाती थीं।

नारी : शास्त्रवादी भक्त

९८. शास्त्रवादी भक्तों के भक्ति सिद्धात मे ऊपर की परंपरा के अनुसार स्त्री और पुरुष मे भेद भाव स्वीकृत नहीं था। भगवान् के समीप अपने आप को पहुँचाने का जितना अधिकार पुरुष का था उतना ही स्त्री का भी मान्य हुआ। इसी से छीत स्वामी ने बिठलनाथ जी के प्रमुख उद्देश्यो मे स्त्रियो के 'ब्रह्म सबंध' का उल्लेख किया है[1]। इन भक्त कवियो मे मर्यादावादी भक्तो की तरह नारी के प्रति विशेष जुगुप्सात्मक मनोवृत्ति की विवृति नहीं मिलती। पर सामान्य रीति से पुरुष की अपेक्षा स्त्री की लोकमान्य कनिष्ठता की अभिव्यक्ति कहीं कहीं मिलती है। सूरदास की गोपिकाएं अपने लिये कृच्छ्रसाध्य हठयोग की अपेक्षा सुलभ प्रेम योग की समीचीनता बताती हुई उद्धव से कहती हैः—

हम अहीरि अबला मति भोरी गुड़ चींटो ज्यों पागी।

नारी : तंत्रपरंपरा

९९. तंत्र मे स्त्री का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। महानिर्वाण तंत्र मे स्त्री भगवती का आच्छन्न विग्रह कही गई है[2]। प्रसिद्ध वज्रयानी राजा इन्द्रभूति की भगिनी लक्ष्मींकरा अपने ग्रंथ 'अद्वयसिद्धि' मे कहती है कि 'सामाजिक क्षेत्रो मे भी स्त्रियो को हीन नहीं मानना चाहिए। भगवती प्रज्ञा ने ही इस संसार मे ललना रूप धारण किया है'[3]। अद्वयसिद्धि ग्रंथ का तिब्बती रूपातर ही इस समय शेष है।

नारी : रसवादी भक्त

१००. वैष्णव सहजिया मत मे नारी को राधा का रूप माना गया है और इसलिए उनके यहाँ साधनापद्धति मे भी नारी का जबर्दस्त महत्त्व है। किंतु राधावल्लभ

---

१. छीत०। पद २८। पं० ६

२. महानिर्वाण तंत्र। पटल १०। श्लोक ७९-८०

३. एच० बी० गुंथर : युगनद्ध, पृ० ७२

संप्रदाय के अंतर्गत नारी भाव की महत्ता प्रतिष्ठापित हुई। इसमें राधा ही उपास्या हैं—कृष्ण नहीं। दूसरे यह उपासना स्त्री किशोरी रूप धारण करके ही होती है। पीछे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि दोनों विशेषताएँ वज्रसहजयान के प्रभाव से इसमें आई हैं। किंतु सहजिया वैष्णवों से इनका एक बात मे मतभेद है। सहजिया नारी को राधा का भौतिक रूप मानते हैं किंतु इनके मत मे यह स्वीकृत नहीं। वे तो साधना के क्षेत्र मे स्त्री को बाधारूप समझते हैं। पर 'सखी भाव' को 'जीव' का सहज स्वरूप मानकर उन्होंने नारी की महत्ता अभिव्यक्त की है। हरिवंश जी के 'हित चौरासी' तथा इस वर्ग के अन्य अनेक भक्तों मे इस भाव की पुष्कल व्यंजना स्थान स्थान पर मिलती है। हरिवंश जी ने तो 'राधा' के संबंध मे यह संदेह ही व्यक्त किया है कि वह अबला है या बल की राशि[1]। हरिराम व्यास ने भी हरिदासी स्त्री की महिमा गाई है। परंतु उससे भिन्न कामिनी को वे नागिन और बाघिन की तरह अविश्वसनीय एवं विनाशकारिणी बताते हैं[2]। अनन्य उपासना के मार्ग मे बाधक होने के कारण वे इसे छोड़कर दूर भाग जाने का उपदेश देते हैं[3]।

निष्कर्ष

१०१. इस प्रकार संपूर्ण भक्ति परंपरा मे सामाजिक व्यवस्था अथवा मर्यादा का मूल्यांकन भक्ति की दृष्टि से ही हुआ है। इनमे किसी को भी कर्ममीमांसा का वह मत स्वीकृत नहीं हुआ जिसमें सामाजिक आचारों और धार्मिक कर्मकांड का अपना स्वतंत्र महत्त्व माना जाता है। ये सारे भक्त प्रपत्तिवाद को स्वीकार करते थे और इसलिये भक्ति तथा भगवान् की तुलना मे संपूर्ण कर्म, समाज, कुटुंब एवं व्यक्ति महत्त्वहीन थे।

१०२. समाज का यह तिरस्कार निर्गुनियों मे भी दिखाई देता है। किंतु वहाँ इस अवहेलना का कारण ब्रह्माण्ड के स्थान पर 'पिंड' की प्रतिष्ठा थी। वस्तुतः ब्रह्माण्डगत वस्तुओं पर उनकी इतनी दृष्टि नहीं थी जितनी पिंड पर। परंतु सगुण भक्तों मे भगवान् और भक्ति की समकक्षता एवं विरोध मे ही सामाजिक व्यवस्थाएँ अन्तर्हित थीं।

---

१. हरिवंश : हित चौरासी। पद ५३। पं० १
२. व्यासवाणी। साखी १२६–१२७
३. वही। साखी १२४

१०३. इस समता के होते हुए भी आलोच्य युग के सगुणोपासक भक्तों मे दो धाराएँ बहुत स्पष्ट हैं। एक धारा में भक्ति के अंतर्गत वर्णाश्रम मर्यादा, ब्राह्मण-प्रतिष्ठा, सामाजिक संबंध और कौटुंबिक व्यवस्था का सुंदर संचय न हुआ किंतु दूसरी धारा मे भक्ति एवं भगवान् को केंद्र बनाकर उपर्युक्त सामाजिक तत्त्वो की उपेक्षा हुई। इस दूसरी धारा मे भी दो वर्ग दिखाई देते हैं—प्रथम वर्ग शास्त्रवादी भक्तों का है जो सामाजिक कर्तव्यो और उत्तरदायित्वो की हठात् अवहेलना नहीं करता और द्वितीय वर्ग रसवादियो का है जो सामाजिक संबंध आदि को भक्ति भावना में बाधक-मानकर उनको तिरस्करणीय समझता है।

१०४. इन दो प्रमुख भक्ति धाराओं के सामाजिक अध्ययन से एक समाज शास्त्रीय तथ्य स्पष्ट होता है। ब्राह्मणमाहातत्म्य के साथ ही सामाजिक मर्यादाओ की स्वीकृति, संत-भक्त-माहात्म्य की प्रमुखता के साथ इन मर्यादाओं की अवहेलना संबद्ध है। डा० रमेश चंद्र हाजरा ने कुछ प्राचीन पौराणिक कृत्यों के विश्लेषण से यह तथ्य निकाला है कि स्मार्त कर्मों का विकास ब्राह्मणमाहात्म्य तथा ब्राह्मण आजीविका के साथ अनिवार्य रूप से सबद्ध है जब कि स्मार्त व्यवस्था और कर्मों का विरोध भक्तमाहात्म्य और भक्तवृत्ति से प्रेरित है। इस प्रकार यह अध्ययन भी डा० हाजरा के सिद्धात की संपुष्टि करता है। भक्त और ब्राह्मण दोनो ही समाज के धार्मिक नेता थे। ब्राह्मणों की वृत्ति स्मार्त कर्म और भक्त की देवोपासना पर अवलंबित थी। इस प्रकार इनमे वृत्तिसंघर्ष तो था ही।

१०५. डा० हाजरा यह भी कहते है कि स्मार्त परंपरा का विकास ब्राह्मणों ने अपनी स्वार्थवृत्ति के कारण ही किया था जब कि भक्त-क्रिया कलाप अब्राह्मणो से संबद्ध था। परंतु प्रस्तुत अध्ययन इस स्थापना का पूर्ण रूप से समर्थन नहीं करता। क्योंकि शास्त्रवादी और रसवादी संप्रदायो के उन्नायक बल्लभाचार्य और उनके पुत्र गोसाईं बिट्ठलनाथ, सूरदास, हित हरिवंश, हरिराम व्यास, हरिदास, श्रीभट्टदेव आदि सब ब्रह्मकुलोत्पन्न थे। इतना नहीं इनमे से अनेक स्मार्त वातावरण मे पले थे तथा भक्त होने के पूर्व स्मार्त समाजव्यवस्था मे उच्चासन पर थे। हरिराम व्यास उस समय ओड़छा के बुंदेलवश मे राजपुरोहित थे, जिस समय मित्र मिश्र के समान अद्वितीय निबंधकार 'वीर मित्रोदय' की रचना कर रहे थे। अतः यह विभेद आर्थिक अथवा सामाजिक आधार पर ठहरा हुआ नहीं मालूम पड़ता यद्यपि यह भी एक साधारण कारण रहा होगा। उपर्युक्त अनुशीलन से इन भक्ति धाराओं के संबंध मे जो एक मूल विभेदक आधार स्फुट होता है, वह है—निगम, आगम और तंत्र की परंपराएँ। मर्यादावादी भक्त, स्मार्त परंपरा को किंचित् परिवर्तन के साथ स्वीकार करते हैं और

चूँकि स्मार्त परंपरा से ब्राह्मण महत्त्व और सामाजिक मर्यादाएँ संबद्ध हैं, अतः वे दोनों ही इनकी रचनाओं में एकत्र सन्निविष्ट दिखाई देती हैं। परंतु आगम परंपरा से अनुगत शास्त्रवादी भक्तों ने सामाजिक मर्यादा की अस्वीकृति के साथ संत भक्तों के महत्त्व को इसलिये प्रतिपादित किया क्योंकि वे दोनों आगम परंपरा के तत्त्व थे। शास्त्रवादी भक्त आगम मर्यादा को अधिकाश मे तथा निगम मर्यादा को स्वल्पांश मे स्वीकार करते है। किंतु तंत्र धारा मे आनेवाले रसवादी भक्त निगम परंपरा को कथमपि स्वीकार नहीं करते और आगम परंपरा को भी पूर्ण रूप से नहीं मानते। इसका स्पष्टीकरण भक्ति के अध्यायों मे किया जा चुका है और अग्रिम अध्याय मे भी किया जायगा।

१०६. सामाजिक सिद्धांतों मे यह विभेद संभवतः भक्ति और भगवान् के स्वरूप भेद से भी हुआ होगा। पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि मर्यादावादी भक्ति, विहिता या वैधी है जिसमे श्रौतस्मार्त मर्यादाएँ स्वीकृत हैं। शास्त्रवादी भक्ति, स्नेहजा अविहिता से विशेष रूप से सबद्ध है जिसमें मर्यादाओं का निभाना उस रूप मे आवश्यक नहीं है। कामजा अविहिता होने के कारण रसवादी भक्ति में सामाजिक मार्यादाएँ अवरोधक सिद्ध हुईं, अतएव तिरस्कृत भी हुईं।

१०७. इसके अतिरिक्त पहले यह भी दिखाया जा चुका है कि त्रिविध भक्तों के विभिन्न उपास्य थे। मर्यादावादी भक्त के लिये मर्यादाएँ अवश्य पालनीय थीं क्योंकि इनके मर्यादापुरुषोत्तम उन मर्यादाओं की सुरक्षा के लिए ही अवतीर्ण हुए थे पर लीला पुरुषोत्तम के उपासक शास्त्रवादी भक्तों को अपने उपास्य के समान ही मर्यादाओं की मान्यता अनिवार्य नहीं थी। लीला तत्व यद्यपि प्राचीन है तथापि आलोच्य युग मे इसका विशेष प्रसार हुआ। इसी लिये श्रीकृष्ण की बाल, किशोर पौगंड और युवक अवस्थाओं की सभी लीलाएँ शास्त्रवादी भक्तों की कृतियों का विषय बनीं। रसवादी भक्तों ने श्रीकृष्ण के जिस रूप को अपनी रागमयी भक्ति का विषय बनाया वह इससे विलक्षण एवं भिन्न था। उसके अनुसार वे रस रूप से श्री निकुंजेश्वरी के साथ नित्य-वृंदावन-विहार मे समासक्त रहते थे। उस रस का आनंदलाभ केवल स्वामिनी राधा की सखियों के सौभाग्य की वस्तु है। इसी लिये रसवादी भक्त जीव का सहज स्वरूप 'सखी रूप' मानते हैं। यह उनका गुह्यरूप है। इसी लिये रसवादी भक्तों में समाज पूर्णतः उपेक्षित हो गया था।

षष्ठ अध्याय

धार्मिक संप्रदायों का संगठन

६

धार्मिक संप्रदायों का संगठन

धार्मिक संप्रदायों की विविधता

१. तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी मे भारत का धार्मिक जीवन अत्यंत संकुल हो गया था तथा अनेक प्रणालियो मे प्रवाहित हो रहा था। प्राचीन संप्रदाय परिवर्तित होकर नवीन रूप धारण कर रहे थे। पाशुपत-कापालिक-कौल संप्रदायो की परंपरा ने नाथ अथवा सिद्ध मत में अपने को अवतीर्ण किया। इसी प्रकार प्राचीन पांचरात्र संप्रदाय रामानुज की पद्धति पर अपने को सगठित कर रहा था। अनेक प्रकार के भक्ति आंदोलनों ने विभिन्न मत मतातरों का सर्जन किया था। सूफी मत के प्रभाव की ओर बौद्ध मत के सहजिया संप्रदाय की तलछट के रूप मे विभिन्न प्रेमसाधनाओ की एक रूपरेखा दिखाई दे रही थी। इनके साथ ही पारंपरिक वैदिक परंपरा भी चली जा रही थी। इन सारे संप्रदायों को प्रवृत्ति के आधार पर चार मोटे भागो मे रखा जा सकता है—

१. स्मार्त-परंपरा,

२. भक्त परंपरा,

३. शैव तपस्वियों की परंपरा और

४. स्मार्त परंपरा विरोधी, जिसमे नाथ पंथियो और बाउलो से लेकर सूफी मत से प्रभावित पंथ आते है। इनकी एक विशेषता है कि ये सारे पंथ स्मार्त परंपरा का बराबर खंडन करते हैं।

२. भक्ति का व्यापक प्रभाव पडने पर देवालयीय परपरा में इतर तीनों का संकलन हुआ। स्मार्त, देवालयीय और स्मार्त विरोधी परंपराएँ इस काल मे मर्यादा-

वादी, शास्त्रवादी एवं निर्गुनिया भक्ति धाराओं मे प्रतिफलित हुईं। शैव तपस्वियों की मठ परंपरा की पद्धति भी भक्त समाज मे स्वीकृत हुई। भक्ति के आभोग मे आने पर भी स्मार्त और देवालयीय धाराओं का स्मार्त-आगम-विरोधी चतुर्थ परपरा से संघर्ष होता रहा। इस विरोध ने सगुण-निर्गुण-द्वंद्व का रूप धारण किया।

निर्गुण-सगुण-संघर्ष

३. आलोच्य युग के हिंदी सगुण काव्य मे यह संघर्ष बहुत स्पष्ट है। सगुणोपासक भक्तो ने निर्गुण मतवाद की मृदुतीक्ष्ण आलोचनाएँ करते हुए सर्वसामान्य के लिये सिद्धांततः सगुण उपासना की प्रतिष्ठा की है। इस काल मे निर्गुण मतवाद की दो परंपराएँ प्रचलित थीं। अभिनवगुप्त के अनुसार शैवागम की साढ़े तीन परंपराएँ थीं—द्वय, अद्वय, द्वयाद्वय और सिद्ध [आधी]। आलोच्य युग के निर्गुनियों पर नाथपंथी योगियों का विशेष प्रभाव था। शाकर अद्वैत मे और शैवागम के अद्वय मे इस विषय का साम्य है कि तत्व एक ही है और वह निर्गुण है। इस प्रकार शाकर अद्वैती तथा नाथपंथी योगियो के अनुयायी निर्गुनिया संत निर्गुण को मायारहित, सर्वोपरि तत्व मानते थे और सगुण को मायिक अतएव हेय ठहराते थे। इसके विपरीत सगुणवादी भक्तो ने निर्गुण को ज्ञान का विषय मानते हुए सगुणसाकार ब्रह्म को ही सर्वसाधारण की उपासना के लिये सुलभ एवं समीचीन बताया। भागवत में भगवद्भक्ति का महत्व इस दृष्टि से भी प्रदर्शित किया गया है कि बड़े बड़े आत्माराम और निर्ग्रंथ महात्मा भी इस उपासना की आनदमयता से आकृष्ट होते है[1]।

४. मर्यादावादी तुलसीदास ने निर्गुण सगुण ब्रह्म को अभिन्न रूप से मायाधीश मानकर भी सगुण की उपादेयता अनेक विधियों से प्रतिपादित की है। मानस के विभिन्न पात्रों के माध्यम से बार बार सगुण राम की महत्ता और श्रेष्ठता का प्रतिपादन इसका पक्का प्रमाण है। अगस्त्य जैसे महर्षि निर्गुण ब्रह्म को भलीभाँति जानते और बखानते थे, फिर भी उनकी रति सगुण ब्रह्म मे ही थी[2]। इसी प्रवृत्ति के कारण

---

१. आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
भाग०। स्क० १। अ० ७। श्लोक १०

२. जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥
अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ॥
मानस अरण्य०। दो० १३। पं० १२–१३

तुलसी ने वेदो के द्वारा भी राम के सगुण यश का नित्य गान वर्णित किया है[1]। लोमश और भुशुंडि के विवाद मे भी सगुण-निर्गुण-संघर्ष की झलक है[2]। ज्ञानदीपक और भक्तिमणि के रूपकों से निर्गुण की कष्टसाध्यता और सगुण की सुखोपलब्धि की अभिव्यक्तियों मे यह संघर्ष अंतर्निलीन है[3]। उन निर्गुनियो के प्रति तुलसी का स्वर बहुत तीखा हो गया है जो राम के सगुण रूप को निर्गुण रूप से अत्यंत भिन्न मानते थे—

ज्ञान कहै अज्ञान बिनु तम बिनु कहै प्रकास।
निर्गुन कहै सगुन बिनु सो गुरु तुलसीदास॥ दोहावली २५१

मानस मे भी पार्वती के इस प्रश्न 'राम कोउ आना' का उत्तर देते समय शकरजी की वाणी अत्यधिक उग्र और कठोर हो जाती है। वे कहते है—

कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाखंडी हरि-पद-बिमुख जानहिं झूठ न साँच।
दो० ११४। मानस बाल०

इस प्रकार तुलसीदासजी ने निर्गुणवादी दोनो परंपराओं का बड़े संरम्भ के साथ विरोध किया है।

५. अष्टछापी भक्तो मे से सूरदास और नंददास की रचनाओ मे विशेष रूप से निर्गुण-सगुण-संघर्ष की अभिव्यक्ति हुई है। इन लोगों को निर्गुण की समालोचना और उस पर व्यंग्य आक्षेप का बड़ा सुंदर माध्यम मिला। उन्होंने भ्रमर, उद्धव के बहाने से निर्गुण उपासना की हेयता बड़े कौशल से सिद्ध की। प्रज्ञाचक्षु सूर ने भावो के अतिरेक का और नंददास ने पाडित्यपूर्ण उक्तियो का आश्रय लिया है। अद्वैतवाद की स्थापना करते हुए सूरदास के उद्धव कहते है—

वे अविगति अविनासी पूरन सब घट रहे समाई।
तत्त्वज्ञान बिनु मुक्ति नहीं है बेद पुराननि गाई॥
सूर०। स० ४१२०

---

१. जे ब्रह्म अज अद्वैत अनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं।
ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥
मानस उत्तर०। दो० १३। पं० २१–२२

२. मानस उत्तर०। दो० ११० से दो० ११२ तक

३. वही। दो० ११६ से १२० तक

गोपी सुनहु हरि संदेस।
कह्यो पूरन ब्रह्म ध्यावहु त्रिगुन मिथ्या भेष॥
मैं कहौं सो सत्य मानहु सगुन डारहु नाखि।
पंच त्रय गुन सकल देही जगत ऐसो भाषि॥
ज्ञान बिनु नर मुक्ति नाहीं यह विषय संसार।
रूपरेख न नाम जल थल बरन अबरन सार॥
मातु पितु कोउ नाहिं नारी जगत मिथ्या लाइ।
सूर सुख दुख नहीं जाके भजो ताकों जाइ॥

सूर० । पद ४३०३

इसी प्रकार नंददास के उद्धव[1] भी कहते हैं—

सगुन सबै उपाधि रूप निर्गुन लै उनको।
निराकार निर्लेप लगत तीनौ गुन को॥
हाथ पायँ नहिं नासिका नैन बैन नहिं कान।
अच्युत जोति प्रकासिक सकल बिस्व के प्रान॥
सुनौ व्रजनारी॥

नंद० भ्रमर गीत । पद ९

इस पर सूर की गोपिकाएँ कहती हैं—

ऊधौ तुम हौ निकट के बासी।
यह निरगुन लै तिनहिं सुनावहु, जे मुडिया बसैं कासी॥

वही । पद ४४८६

नंददास की ग्वालिनों का तर्क है—

जो उनके गुन नाहिं और गुन भए कहाँ ते।
बीज बिना तरु जमै मोहिं तुम कहौ कहा ते॥
वा गुन की परिछाँह री माया-दर्पन बीच।
गुन तें गुन न्यारे नहीं अमल बारि मिलि कीच॥
सखा सुनि स्याम के॥

नंद० भ्रमर० । पद २०

---

1. नंद० भ्रमर० । पद १२ । पृ० १७७

कबीर आदि निर्गुनिया वर्ग के सिद्धांत का उपहास करती हुई गोपिकाएँ उद्धव से कहती हैं—

> मधुकर कौन देस तैं आए ।
>
> × × × ×
>
> आसन, ध्यान, वायु-आराधन, अलि मन चित तुम ताए ।
>
> अतिहिं विचित्र सुबुद्धि सुलच्छन, गुनो जोग मत गाए ॥
>
> मुद्रा, भस्म, विषान, त्वचा-मृग, ब्रज जुवतिन नहि भाए ।
>
> अतिसी कुसुम बरन मुख मुरली, सूरज-प्रभु किन ल्याए ॥
>
> —सूर० । पद ४१२३

६. रसवादी भक्तो की परंपरा मे मीराबाई पर नाथपंथी और हरिराम व्यास पर निर्गुनियो का प्रकृष्ट प्रभाव दिखाई देता है। मीरा की प्रामाणिक रचनाओ के संबंध मे अभी इदमित्थं रूप से कुछ निर्णय नहीं हो सका है। इस दिशा मे जो उद्योग किए गए हैं वे विद्वानो की सार्वजनिक मान्यता नहीं प्राप्त कर सके है। अतः नाथपंथी प्रभाव का आधार पडित परशुराम चतुर्वेदी द्वारा सपादित 'मीराबाई की पदावली' तथा श्रीमती पद्मावती शबनम का 'मीरा बृहद् पद संग्रह' है। हरिराम व्यास द्वारा वर्णित कुटुंब की परिधि मे कबीर आदि निर्गुनियो की रचना, श्रौतस्मार्त कर्मकांडों आदि का तीव्र विरोध—ये सब बाते इनमे निर्गुनिया प्रभाव सूचित करती हैं। हरिवंश आदि रसवादी भक्त किसी वाद मे न पड़कर हित तत्त्व की साधना मे सलग्न रहा करते थे। इसलिए इस वर्ग के रचनाकार सगुण, रस ब्रह्म की उपासना करते हुए भी निर्गुण सगुण के संघर्ष मे नहीं पड़े।

७. निर्गुण और सगुण परपराओ के नीचे निगमागमविषयक सिद्धात भी भूमिका रूप से अवस्थित थे। निर्गुनिया भक्त समान रूप से निगम और आगम तथा उनकी परंपराओ का प्रत्याख्यान करते थे[1]। सगुणोपासको मे रसवादियो की परंपरा आगमभावित सहजवज्रयानी परंपरा थी, शास्त्रवादी या पुष्टिमार्गी भक्तों की परपरा सर्वाधिक आगमनिष्ठ थी और मर्यादावादी तुलसी की परपरा श्रौतस्मार्त धारा को भी आत्मसात् करती थी।

सांप्रदायिक संगठन

८. शैवों की मठ परंपरा आश्रयदाता राजाओ के उच्छिन्न होने से उत्तरापथ मे श्रीहीन हो गई थी। फिर आलोच्य काल मे इस परंपरा के अनेकविध रूप

---

१. पाछैं लागा जाइथा लोक बेद के साथि ।
सतगुर है आगे मिल्या दीपक दीया हाथि ॥

दृष्टिगत होते है। युद्धशील शैव नागाओ का संगठन इस काल के धार्मिक जीवन मे अपना महत्त्व रखता है और इसलिए संक्षेप मे इनके इतिहास का परिचय दिया जाता है।

मठ परंपरा का इतिहास

९. ईसा के पश्चात् सप्तम शताब्दी से शैव तपस्वियों के आयतन के रूप से मठो का निर्माण होने लगा था। सूत्रग्रंथ और प्राचीन कोषों मे मठ का अर्थ था 'छात्रो का निलय'। स्मृति और पुराणों मे तपस्वियों के मठों की विशेष चर्चा नहीं है, किंतु निबंध ग्रथो मे इनका अनेकविध उल्लेख है।

मठ परंपरा की उत्पत्ति और विकास

१०. स्मार्त परंपरा के अनुसार भिक्षु को 'एकाकी' असहायवान् रहना चाहिये और एक ग्राम मे तीन रोज और नगर मे पॉच दिनो से अधिक निवास नहीं करना चाहिये। उनके लिये व्याख्यान और शिष्यसंग्रह भी वर्जित है। किंतु पाशुपत सूत्रो मे 'आयतन वासी' तपस्वियो का उल्लेख है। कौडिन्य अपने भाष्य में ग्राम अथवा नगर मे बने मदिर मे पाशुपत तपस्वियो के रहने की विधि का उल्लेख भी करते है। 'कामिकागम' मठ की परिभाषा ही यह देता है कि आगंतुक और नैष्ठिक तपस्वियों काअन्नपानीयसंयुक्त निवासस्थान मठ है। वहॉ अध्ययन और अध्यापन के लिये प्रबध रहता है। कालिकापुराण के अनुसार [जो बहुत बाद की रचना प्रतीत होती है] शैव यतियों के लिये मठ का निर्माण करना पुण्य कार्य है। पचतंत्र और राजतरंगिणी में इन शैव मठों की चर्चा है।

मठ परंपरा

११. इसी लिये प्राचीन शैव साहित्य मे मठ अथवा मठिका शब्द पारिभाषिक रूप मे मत अथवा सप्रदाय का द्योतन करता है और उससे मठाम्नाय और मठ परंपरा प्रवर्तित होती है। विभिन्न शैव सप्रदायों के प्रवर्तन के लिये महर्षि दुर्वासा द्वारा अद्वय, द्वय और द्वयाद्वय मठो मे त्र्यंबक, आमर्दक और श्रीनाथ की नियुक्ति का उल्लेख तत्रालोक मे मिलता है। पुरातत्त्व से ऐसे अनेक मठो का पता चलता है जो सारे भारतवर्ष मे पूर्वमध्यकाल मे फैले हुए थे। 'आमर्दक मठ' की परंपरा मे वह प्रसिद्ध गोलकी मठ है जो आंध्र, तामिल, मैसूर और डाहल मडल मे फैला। यह मठ परंपरा फिर अनेक गोत्रों मे अंतर्विभक्त रहती थी—'गोत्रं च गुरुसन्तानो मठिकाकुलशब्दितः।' 'आंतगोत्र' 'प्रणामगोत्र' आदि का उल्लेख अभिलेखों में हुआ है।

१२. एक बात ध्यान देने की है कि मठ शब्द का प्रयोग शैव तपस्वियों के निवास और संप्रदायो के लिये ही हुआ है।

१३. जनश्रुति है कि शंकराचार्य ने दशनामी मठो का प्रवर्तन किया। ये दश नाम हैं—अरण्य, आश्रम, भारती, गिरि, पर्वत, पुरी, सरस्वती, सागर, तीर्थ और वन। ये दशो चार मठो से संबद्ध हैं—गिरि, पर्वत, सागर—जोशी मठ [बदरीनाथ]; आश्रम, तीर्थ—शारदा मठ [द्वारिका]; भारती, पुरी और सरस्वती—शृंगेरी मठ; अरण्य तथा वन—गोबर्द्धन पीठ [जगन्नाथपुरी] के हैं।

१४. इन संन्यासियो के अतिरिक्त दशनामी नागा साधु भी इस काल मे थे। जनश्रुति इनको शकर द्वारा प्रवर्तित बतलाती है। फर्कुहर ने एक परंपरा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार काशी के प्रसिद्ध विद्वान् मधुसूदन सरस्वती ने सोलहवीं शती के उत्तरार्ध मे इन लड़ाकू साधुओ का संगठन किया था। मुसलमान फकीरो के उपद्रव से क्षुब्ध होकर वे बीरबल से मिले और बीरबल ने अकबर से शस्त्रधारी साधुओं के सगठन की अनुमति दिला दी थी।

१५. इनके दस अखाड़े है—जूना, आवाहन, निरंजनी, आनंद, महानिर्वाणी, अतल, अगन, अलखिया, सूखड़ और गूदड़। इनमे शूद्रो का प्रवेश हो सकता है। इनमे से अनेक हमारे विवेच्य काल मे स्थित थे। जदुनाथ सरकार के अनुसार आवाहन अखाड़ा १५४७ ई० मे प्रतिष्ठित हुआ। जूना अखाड़ा ११४६ के आस पास बना था। निरंजनी अखाड़े के विषय मे परपरा है कि यह ६०४ ई० मे कच्छ मे प्रतिष्ठित हुआ। महानिर्वाणी अखाड़े के विषय मे प्रसिद्ध है कि इसके संन्यासियों ने १६६४ ई० मे औरंगजेब की सेनाओं को हराया था।

१६. उदासी और निर्मला भी शैव यति है। उदासी अपने को श्रौत कहते हैं और शूद्रो का प्रवेश इस आश्रम मे विहित है। गुरुनानक के एक पुत्र श्री श्रीचंद्र इसके प्रतिष्ठापक है। इनका जन्म १४९४ ई० मे हुआ था। निर्मला साधुओ के संगठन की प्रतिष्ठा गुरुगोविंद सिंह ने की थी।

मठ की दूसरी परंपरा

१७. इनके अतिरिक्त आगमिक शैवों के सप्रदाय भी उत्तर मध्यमकाल तक वर्तमान थे। कापालिक संप्रदाय खीस्टीय सन् के पूर्व ही प्रवर्तित हो गया था। मैत्र्युपनिषद् मे इसके कुछ सिद्धातों का उल्लेख है। ग्यारहवी बारहवीं शती तक इस संप्रदाय के बहुत से विवरण मिलते हैं। ललित विस्तर, मालती माधव, मत्तविलास

प्रहसन, कर्पूर मंजरी, नलचंपू, चंडकौशिक, प्रबोधचंद्रोदय, आदि साहित्य ग्रंथों, विभिन्न पुराणों, रामानुज के श्रीभाष्य आदि ग्रंथों मे इनका उल्लेख है। सिद्धों मे परिगणित कृष्णपाद भी कापालिक थे। इन कापालिकों से मिलते जुलते जैन' शैवोपासक तान्त्रिक थे। इनकी गणना लक्ष्मीधर ने कापालिकों के साथ की है[1]।

१८. शैव-शाक्त-संप्रदाय के कौल नवम दशम शताब्दी से प्रभावशाली होने लगे थे। प्रबोधचंद्र बागची के अनुसार चौरासी सिद्धों मे गिने जाने वाले नाथ संप्रदायी मत्स्येंद्रनाथ योगिनी कौल सिद्धांत से संबद्ध थे।

१९. नाथसंप्रदायी योगी समाज का भी उत्तर मध्यकाल मे काफी प्रभाव था। इस संप्रदाय के प्रथम गुरु यद्यपि आदिनाथ हैं तथापि इसके प्रवर्तक मत्स्येंद्रनाथ बताए जाते हैं। इस संप्रदाय मे सबसे अधिक प्रभावशाली गुरु गोरक्षनाथ हुए। इन्होंने इसको सुगठित और व्यवस्थित किया। इसीसे इसके अनुयायी गोरखपंथी नाम से ख्यात होने लगे। गोरखनाथ के प्रभाव का अंदाज इससे भी लग सकता है कि संप्रदाय मे उनकी मूर्ति पूजी जाने लगी। शारंगधर शिलाप्रशस्ति से ज्ञात होता है कि पाशुपत पंचायतन मे गोरक्ष भी पूजित होते थे। इनके अतिरिक्त इस संप्रदाय मे हनुमान् और दत्तात्रेय का भी पूजन होता है।

२०. बारहवीं शताब्दी से वीर शैव, लिंगायत अथवा जंगम नामक शैव संप्रदाय का प्रचलन हुआ। इस संप्रदाय के मठ मैसूर, उज्जयिनी, केदारनाथ [ऊखिमठ] श्रीशैल तथा काशी मे स्थापित हुए।

२१. नाथ संप्रदाय के सिद्धांतों से मिलती जुलती और रामानंद से प्रभावित वैष्णव निर्गुनियों की परंपरा का प्रचलन भी उत्तर मध्ययुग मे ही हुआ। रैदास, कबीर आदि इसके पुरस्कर्ताओं मे थे।

२२. इन सारे मतों को दो भागों मे विभक्त किया जा सकता है। प्रथमतः वे जो वेदों को प्रमाण रूप से स्वीकार करते थे और दूसरे वे जो वेदों तथा उनकी परंपराओं की दृढ़ता के साथ निंदा किया करते थे। शांकर मतानुयायी एवं उनसे प्रभावित उदासी आदि सन्यासी प्रथम श्रेणी मे हैं तथा इतर द्वितीय श्रेणी मे।

वैरागियों का संगठन

२३ जिस प्रकार संन्यासी साधारणतः शैव होते हैं उसी प्रकार वैरागी वैष्णव ही होते हैं। भगवद्गीता मे दो प्रकारों की चर्चा है—संन्यास और त्याग। सन्यास

1. सौंदर्य लहरी, श्लोक ३१ टीका

मे सांसारिक कर्मों का त्याग होता है किंतु त्याग मे कर्म का फल छोड़ना पड़ता है। महाभारत मे अन्यत्र भी त्यागी जीवन की अत्यंत प्रतिष्ठा है उसको सन्यास से अधिक अच्छा बतलाया गया—

क्रोधहर्षवनादत्य पैशुन्यं च विशेषतः।
विप्रो वेदानधीते यः स त्यागी पार्थ उच्यते॥ ११॥

आश्रमांस्तुलया सर्वान् धृतानाहुर्मनीषिणः।
एकतश्च त्रयो राजन् गृहस्थाश्रम एकतः॥ १२॥

समीक्ष्य तुलया पार्थ कामं स्वर्गं च भारत।
अयं पन्था महर्षीणामियं लोकविदां गतिः॥ १३॥

इति यः कुरुते भावं स त्यागी भरतर्षभ।
न यः परित्यज्य गृहान्वनमेति विमूढवत्॥ १४॥

२४. इस प्रकार के त्यागियों की परंपरा भी दिखाई देती है। वैखानस संसार से विरक्त होकर भी ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि आश्रमों का परिवहन करते थे। इन वैखानसो की परंपरा क्षीण रूप से उत्तरापथ मे कम से कम बारहवीं तेरहवीं शताब्दी तक अवश्य थी। दक्षिणा पथ मे तो इसका विशेष प्राबल्य था और बारहवीं तेरहवीं शताब्दी मे चोलो के राज्य मे इनके विविध संगठन थे। गुप्तकालीन परिव्राजक राजा-संभवतः वैखानस ही थे।

२५. इस त्याग की परंपरा ने हमारे आलोच्य काल को निश्चित ही प्रभावित किया था। वल्लभाचार्य अपने 'संन्यास निर्णय' मे कहते हैं—

अतः कलौ स संन्यासः पश्चात्तापाय नान्यथा।
पाषण्डित्वं भवेच्चापि तस्माज् ज्ञाने न संन्यसेत्॥ १६॥

तस्मादुक्तप्रकारेण परित्यागो विधीयताम्।
अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थादिति मे निश्चिता मतिः॥ २॥

पुरुषोत्तम अपनी 'विवरण' व्याख्या में लिखते हैं कि भक्तो को परित्याग में वैसा ही जीवन व्यतीत करना चाहिये जिस प्रकार भक्त उद्धव ने किया था। वे आगे कहते हैं—

'यस्माद्विविदिषासंन्यासस्य कलौ द्वेषादिजनकत्वं विद्वत्संन्यासस्य चासम्भवस्तस्मात् ज्ञानमार्गे वैधं सन्यासं न कुर्यात्'॥

वैष्णव चतुस्संप्रदाय

२६. इन त्यागियों अथवा वैरागियों के चार प्रमुख संप्रदाय—श्री, सनक, ब्रह्म एवं रुद्र के प्रवर्तक क्रमशः रामानुज, निम्बार्क, विष्णु स्वामी तथा मध्व माने जाते हैं। ये वैरागी श्वेत वस्त्र, केश धारण और ऊर्ध्व पुण्ड्र अथवा त्रिफल के कारण पृथक् दिखाई पडते हैं।

२७. रामानुज ने वैष्णव वैरागियों का संप्रदाय संगठित किया जो त्रिदंडी के नाम से पुकारा जाता है। इसके रामानंदी नामक एक उपसंप्रदाय ने उत्तरापथ मे अपना विशेष प्रभाव विस्तार किया। रामानुज के संप्रदाय मे श्री, भू और लीला से सेवित शेषशायी विष्णु ही प्रमुख उपास्य है। परंतु रामानंद संप्रदाय मे सीता और लक्ष्मण के सहित राम की उपासना प्रधान है। कहा जाता है कि रामानंद श्री मठ, बनारस के त्रिदंडी सन्यासी राघवानंद के शिष्य थे। रामानुज की परंपरा मे दो प्रकार के तिलक है—प्रथम मे ऊर्ध्व पुण्ड्र के बीच मे लाल श्री रेखा ही रहती है। किंतु द्वितीय मे पुण्ड्र की श्वेत रेखाओं को जोड़नेवालीनीचे की समानान्तर रेखा से नासिका तक लटक जाने वाली एक रेखा और जुडी रहती है। द्वितीय तिलक ही रामानन्दियों का पारंपरिक तिलक है। परतु कालातर मे प्रथम प्रकार के तिलक के स्वीकार के साथ अन्य अनेक प्रकारो के तिलको की उद्भावना भी इस सप्रदाय मे हुई। इस सप्रदाय म संगठन का व्यापक स्वरूप दिखाई पडता है जिसका अन्य सप्रदायों पर भी प्रभाव पडा। रामानंद के तेरह[1] शिष्य थे जिनमे एक शिष्या पद्मावती थीं। शेष बारह शिष्यों ने बारह गद्दियो की स्थापना की। इन वैरागियो की तीन श्रेणियाँ होती है—स्थानधारी, खालसा और मल्ल। स्थानधारी मठ मे रहा करते है। खालसा प्रायः भ्रमा करते है और अखाडा मल्ल युद्धशील वैरागी हैं। सनक के नीमावत वैरागी दो श्वेत ऊर्ध्व रेखाओ के बीच मे एक श्याम बिंदु युक्त तिलक लगाते और तुलसी की दुलड़ी माला धारण करते है। उनके नाम दासात या शरणात होते हैं। इनका प्रमुख केंद्र 'श्री जी बड़ी कुंज' वृन्दावन है।

२८. राधावल्लभी संप्रदाय मे भी निम्बार्की तिलक और कंठी स्वीकृत हैं। किंतु ऊर्ध्व पुण्ड्र या तो पाटोत्सव, जन्माष्टमी आदि उत्सवो मे श्री राधा जी के लिये प्रयुक्त रोली से अथवा राधाकुंड की किंवा ब्रज की रज से लगाया जाता है।

२९. रुद्र संप्रदाय के प्रथम आचार्य विष्णु स्वामी थे। इस संप्रदाय के द्वार-[illegible] थे। जिनमे से एक उनके शिष्य नामदेव के कारण नामदेवद्वारा और दूसरा

1. इंडियन थाथूज, पृ० १८८

बिट्ठलद्वारा कहलाता है। आगे चलकर दिखाया जायगा कि संप्रदाय का एक विशिष्ट अखाड़ा भी है। उत्तरापथ मे विष्णु स्वामी के केवल दो केंद्र हैं—उत्तर प्रदेश में वृंदावन और राजस्थान मे पाली। वल्लभाचार्य ने पुष्टि मार्ग का प्रवर्तन कर इस संप्रदाय का संवर्धन और विकास किया। वल्लभ संप्रदाय की निम्नोक्त सात गद्दियाँ प्रसिद्ध है—श्री मथुरेश जी की कोंता में, श्री बिठलनाथ जी की नाथद्वारा मे, श्री द्वारिकाधीश जी की कांकरोली मे, श्री गोकुल जी की गोकुल मे, श्री गोकुल चंद्रमा जी और श्री मदनमोहन जी की कामवन मे तथा श्री बालकृष्ण जी की सूरत मे।

३०. मध्व का ब्रह्म संप्रदाय उत्तरापथ मे विशेष प्रभावशाली नहीं रहा। इसमें पंचायतन के मध्य लक्ष्मीनारायण की पूजा होती है। उत्तरापथ मे चैतन्य मत के गौडीयों ने इस संप्रदाय से संबंध जोड कर अपने को माध्व गौडीय नाम से अभिहित किया है। ये माध्वगौडीय त्रिदंडी संन्यासी है और इनके नाम दासात होते है। इनके तिलक मे दो श्वेत ऊर्ध्व रेखाएं नीचे की एक छोटी सामानातर रेखा से जुड़ी रहती इसके मध्य से फिर एक रेखा नासाग्र तक आती है। इस संप्रदाय के चौसठ केंद्र 'परिवार' कहे जाते है।

३१. शैव नागा संन्यासियो के अनुकरण पर वैरागी नागाओं की सृष्टि हुई। रामानंद संप्रदाय मे नौ अखाड़े हैं—दिगंबर, निर्वाणी, निरालंबी, संतोषी, महा-निर्वाणी, निर्मोही, धूरिया, खाकी और टाटम्बरी। इनमे से प्रथम छह के साथ झाड़िया और मालाधारी—ये आठ अखाड़े निम्बार्की संप्रदाय के है। ब्रह्म संप्रदाय का अखाड़ा, विष्णु स्वामी अखाड़ा एवं माध्वगौड़ीयो का अखाड़ा बलभद्रियो के नाम से ख्यात है। राधावल्लभियो का अपना एक अलग अखाड़ा है।

श्रौतस्मार्त परंपरा

३२. इस परंपरा के अंतर्गत पंचमहायज्ञ, दान, व्रत, उपवास, तीर्थ, संस्कार, होम, शातिकर्म, कथावाचन आदि कृत्य उच्चवर्गीय शिक्षित समुदाय में विशेष रूप से प्रचलित थे। इसमें इष्ट और पूर्त के दो विभाग है। इष्ट के अंतर्गत—अग्निहोत्र, वैश्वदेव, तप, सत्य और स्वाध्याय की गणना है[1]। पूर्त मे वापी-कूप तड़ाग का

१. अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव धारणम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते॥ लघुशंख०। श्लोक ५
तथा— एकाग्नि-कर्म-हवनं त्रेतायां यच्च हूयते।
अन्तर्वेद्यां च यद् दानमिष्टमित्यभिधीयते॥
अपरार्क द्वारा पृ० २९० पर महाभारत का उद्धरण।

उत्खनन, देवमंदिर का निर्माण, अन्नसत्र का स्थापन तथा उद्यान-आराम की प्रतिष्ठा आती है[1]। धीरे धीरे पूर्त के अर्थ का विकास हुआ। उसमे विविध प्रकार के दान, व्रत, तीर्थ, द्विजस्थापन, मठनिर्माण, कथावाचन आदि का भी समावेश हो गया। इष्ट परपरा मे संध्यावदन, पचमहायज्ञ, होम, शांति कर्म, तर्पण आदि संमिलित थे। यहाँ यह स्मरणीय है कि इष्ट का अधिकार केवल द्विजातियों के लिये था जब कि पूर्त सबके लिये विहित था। ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी से पूर्त कर्म ही समाज के प्रातिनिधिक धार्मिक कृत्य थे[2]। इष्ट कृत्य धीरे धीरे समाप्त हो रहे थे। श्रौतयज्ञ तो प्रायः समाज से उठ गए थे। पंचमहायज्ञो का स्वरूप भी परिवर्तित हो गया था। ब्रह्म यज्ञ जो पहले वैदिक स्वाध्याय से संबद्ध था बाद में जप मे संक्रांत हो गया। इसी प्रकार देव यज्ञ जो पहले अग्नि मे आहुति देने से संपन्न होता था कालांतर मे पञ्चदेवपूजन मे परिवर्तित हो गया। इसके विपरीत पूर्त कृत्य उत्तरोत्तर जनप्रिय होते गए। इन कृत्यो का कुछ प्रतिफलन सगुण काव्य मे हुआ है।

श्रौत यज्ञ : मर्यादावादी

३३. तुलसी ने राम के वाजिमेध, दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ तथा दक्ष और प्रतापभानु के श्रौत यज्ञों का वर्णन किया है। दशानन और मेघनाद के आभिचारिक यज्ञों का भी मानस मे उल्लेख है। किंतु ये उल्लेख औपचारिक हैं। उनमे याज्ञिक कर्मकांड का कोई विस्तार वर्णित नहीं है। अश्वमेध यज्ञ के संबंध मे तुलसी का यह कथन—

कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हे। दान अनेक द्विजन्ह कहँ दीन्हें॥

पं० १। दो० २४। मानस उत्तर०

---

१. वापी-कूप-तडागानि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते॥

२. सर्वाशापरिपूरयन्नुपचितश्रीदानवारां धनै-
रासारैरभिषिक्तनिर्मलयशः शालेयभूमण्डलः।
दैन्योत्तापभृतामकालजलदः सर्वोत्तर क्ष्माभृतां
श्रीवल्लालनृपस्ततोऽजनिगुणाविर्भावगर्भेश्वरः॥

कृत्यकल्पतरु, जि० ४, परिशिष्ट बी, पृ० २२७ पर दानसागर का उद्धरण।

से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इन यज्ञों की कोई महत्ता नहीं रह गई थी। आभिचारिक पशुयज्ञों के प्रति तुलसी की जुगुप्सा व्यक्त होती है[1]।

शास्त्रवादी

३४. इनमे आगम के दोनों सिद्धात मिलते है। प्रथम सिद्धांत के अनुसार यज्ञ और विष्णु का समीकरण हो गया था तथा विष्णु ही यज्ञ के नाम से पूजित होते थे। इन यज्ञपुरुष का वर्णन सूर मे मिलता है। उनका कथन है कि—

> कुंड ते प्रगटि जग पुरुष दरसन दियो स्यामसुंदर
> चतुरभुज मुरारी— सूर०। पद ४००। पं ७

साधारण यज्ञ की कुत्सा भी उनमे मिलती है। यज्ञ करना बिना कण के तुष कूटने के बराबर है[2]। देवयज्ञ के सबंध मे वे कहते हैं—

> जबलगि सरबर दीजै उनकों, तबहीं लगि यह प्रीति।
> फल मॉगत फिरि जात मुकर ह्वै, यह देवनि की रीति॥ पं० ४
> एकनि कों जिय बलि दै पूजे, पूजत नैंकु न तूठे।
> तब पहिचानि सबनि कों छांडे, नख सिख लौं सब झूठे॥
> पं० ६। पद १७७। सूरसागर

३५. गोविंद स्वामी भी गोवर्धनपूजन के अवसर पर सुरपति यज्ञ-महोत्सव की आलोचना करते है[3]।

रसवादी

३६. इन भक्तों में हरिराम व्यास को यज्ञ के संबंध मे विशेष जानकारी मालूम होती है। इनके पदो में अग्निकुंड, स्रुवा, स्वाहा, ऋत्विक, प्रोडाशन आदि की चर्चा है। इनसे पशु यज्ञों के प्रति उनमे घोर आक्रोश का पता चलता है—

> अगिन-कुंड रौरव-कुंडनि सम, मूँज-मेखला बंधनु।
> स्रुवा डंड स्वाहा-रव हाहा, भूलि गये नंदनंदनु॥ पं० ४
> कुस त्रिसूल, कंटक रित्विज करि, द्विज पंडित जम जूप।
> प्रोडासन जु मास खवावत, आचारज जम रूप॥
> पं० ६। पद २१४। व्यास वाणी

---

१. मेघनाद मख करइ अपावन। खल मायावी देव सतावन॥
पं० ४। दो० ७५। लंका०
कपिन्ह जाइ सो देखा बैसा। आहुति देत रुधिर अरु भैंसा॥
पं० १। दो० ७६। वही

२. सूर०। पद ३६२। पं० २

१. गोविंद०। पद ६७। पं० २

३७. इस प्रकार इस काल मे श्रौत यज्ञ की प्रतिष्ठा साधारणतः नहीं थी। सभवतः वैदिक ब्राह्मणों के बीच छोटे छोटे श्रौत यज्ञ चल रहे हों, पर जयचंद्र के पश्चात् उत्तरापथ मे आमेराधिपति जयसिंह के केवल एक राजकीय श्रौत यज्ञ करने के कुछ प्रमाण मिलते है। इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इन श्रौत यज्ञों के प्रति रसवादी भक्तों की विगर्हणा और शास्त्रवादी भक्तो की उपेक्षा या मृदु आलोचना प्राप्त होती है। परतु मर्यादावादी भक्तो के काव्य मे इनकी गौण स्वीकृति मिलती है।

पंचमहायज्ञ

३८. तुलसी ने सध्यावंदन और वैदिक स्वाध्याय का वर्णन किया है। राम के संध्यावंदन[1] का और ब्राह्मणो के वेदाध्ययन[2] का मानस मे उल्लेख है। अष्टछापी कवियों मे संध्यावदन तथा वैदिक स्वाध्याय के प्रति उपेक्षा सी ज्ञात होती है[3]। रसवादी कवियो मे ब्रह्म यज्ञ की स्पष्ट निंदा मिलती है। हरिराम व्यास कहते हैं कि—

वेद पुरान औ भारत भाषैं सो मोहि कछू न सुहावे हो।

पं० ३। पद १२१ व्यास०

उपज्यो भाव कबीर धीर को वेद पुरान पढ़ै वा।

पं० ३। पद २१२। व्यास०

वैदिक भट्टो की उन्होंने निंदा की है[4]।

३९. इस काल मे देव यज्ञ का अर्थ पंचदेवोपासना था। मर्यादावादी भक्त तुलसी ने पंचदेवोपासना को अपनी उपासनाविधि मे स्वीकृत कर लिया था। किंतु

---

१. निसि प्रवेस मुनि आयसु दीन्हा। सबहीं संध्या बंदनु कीन्हा॥

मानस बाल०। दो० २२६। पं० १

बिगत दिवस गुरु आयसु पाई। संध्या करन चले दोउ भाई॥

वही। दो० २२७। पं० ६

२. सोचिय बिप्र जो वेद बिहीना। तजि निजु धरम विषय लय लीना॥

मानस अयो०। दो० १७२। पं० २

दादुर धुनि चहुं दिसा सुहाई। बेद पढहिं जनु बटु समुदाई॥

मानस किष्कि०। दो० १४। पं० १

३. क्योंकि इनके साहित्य में कहीं भी इनका उल्लेख नहीं हुआ है।

४. व्यास वाणी। पद १४२, १४६

अष्टछापी कवियो मे कहीं कहीं इन देवो के उल्लेख यद्यपि मिलते हैं तथापि उनके प्रति इनकी विशेष आस्था नही दिखाई देती। यह बताया जा चुका है कि शिव शक्ति और सूर्य का गोपियो के द्वारा पूजन सूरसागर मे वर्णित है[1]। यह वर्णन तत्कालीन समाज की छाया मात्र प्रतीत होता है। तुलसी के समान सूर ने कहीं भी इन देवताओं की वंदना नहीं की है प्रत्युत कहीं कहीं देवसामान्य की निंदा की है। रसवादी हरिवंश, हरिराम व्यास आदि उपास्य से भिन्न किसी देव की अर्चना को तिरस्करणीय समझते थे[2]।

४०. तुलसी ने पितृतर्पण को अवश्य करणीय माना है। इसी लिये उन्होंने रामभक्त की विशेषताओं मे पितृतर्पण को भी गिनाया है[3]। शास्त्रवादी भक्त इस तर्पण के प्रति उदासीन है। रसवादी भक्तों मे निश्चित रूप से पितृतर्पण आदि कृत्य गर्हित माने जाते थे—

सुरसरि परिहरि कौन पातकी पावन छोड़ सुरा जल न्हैहै।
व्यास उपासक हरि को ह्वै को देव पितर भूतन कर गैहै॥

पं० ९–१०। पद १८५। व्यास०

× × ×

संध्या-तर्पन-गायत्री तजि माला मंत्र सजाति।

पं० ६, पद १०४। व्यास०

४१. आतिथ्य का चित्रण मानस मे अनेक स्थलो पर हुआ है। सामान्य शिष्टाचार के रूप से यह अतिथि सत्कार सभी भक्तो की रचनाओं मे प्राप्त होता है।

४२. इस प्रकार सामान्य रूप से पंच महायज्ञ समाज मे प्रचलित थे। तुलसीदास की कृतियो मे इनकी पूर्ण स्वीकृति दिखाई पड़ती है। परन्तु शास्त्रवादी और रसवादी भक्तों की दृष्टि मे ये उपेक्षा के ही विषय थे।

४३. पहले बताया जा चुका है कि गौरी, गणेश, नवग्रह तथा गणपति के पूजन की स्मार्त परंपरा तुलसी के मानस मे प्रतिफलित हुई है। सूरदास ने भी कृष्ण-जन्मोत्सव मे गाए जाने वाले सोहर मे गौरीगणेश का स्मरण किया है। पर रसवादियों ने भूलकर भी इष्ट के अतिरिक्त किसी देवी देवता की चर्चा नहीं की है।

---

१. द्रष्टव्य, प्र० प्र० पृ० १६१, अनु० १६१

२. व्यास वाणी०—पद १४६, १६२, १७८, २०७, २१३ इत्यादि

३. तरपन होम करहिं बिधि नाना। मानस अयोध्या, दो० १२९, पं० ७

शांतिकर्म

४४. शांतिकर्म मूलतः वैदिक है और सूत्र ग्रंथो मे इसका विस्तृत विधान है। पर पूर्व मध्यकाल की अंतिम शताब्दियो मे इसका बहुत अधिक प्रचलन हो गया था। यहा तक कि चद्रवशी बौद्ध राजाओ के यहा 'शातिवारिक' नामक राज्याधिकारी होते थे। इसी समय शाति सबधी अनेक पद्धतियो की रचनाएँ हुईं।

४५. आभिचारिक कृत्यो का स्रोत अथर्व वेद माना जाता है। आगमों मे भी अभिचारो का वर्णन है। मेधातिथि के अनुसार अभिचार द्विविध हैं—वैदिक यथा श्येन याग और अवैदिक जैसे पदधूलि मे सूचिका भेदन[1]। इनसे ही संबद्ध कृत्याओं का उल्लेख भी मेधातिथि ने किया है।

४६. शातिकर्म से संबद्ध शकुन, अपशकुन और मुहूर्त के विचार हैं। गुप्त काल से ही इन मुहूर्तों का और शकुन अपशकुनो का विचार होने लगा। शाकुतल, बृहत्संहिता, हर्षचरित, दशकुमार चरित, उपमितिभाव-प्रपच-कथा, कर्पूरमंजरी, विद्धशालभजिका आदि मे इन शकुनो और अपशकुनों की चर्चा है। मत्स्य पुराण में इनकी लबी तालिका है। ग्यारहवीं शताब्दी मे शाकुनिको और मौहूर्त्तिकों का बोलबाला हो गया था। सेन राजाओ के दर्बार मे मौहूर्त्तिक नाम के अधिकारी होते थे। वे राजाओं के लिये विभिन्न कार्यों का समय निश्चित किया करते थे। अनुश्रुति है कि लक्ष्मण सेन ने बख्तियार खिजली का प्रतिरोध इसीलिये नहीं किया कि उस समय युद्ध के लिये प्रस्थान की सायत नहीं थी।

४७. सगुण साहित्य मे यह परंपरा परिलक्षित होती है। शातिकर्म का आथर्वण[2] आचार तथा पौराणिक ग्रहशाति[3] दोनों का उल्लेख गीतावली मे है। मानस में भी भरत दुःस्वप्नो के निवारणार्थ शातिकर्म करते हुए उल्लिखित हैं[4]। मांगलिक अवसरों मे ब्राह्मणों द्वारा शातिकर्म किए जाने का भी वर्णन है[5]। शकुन अपशकुन

---

१. मनु०। अध्याय ६। श्लोक २६० की टीका
२. द्रष्टव्य, गीतावली। पद ६। पं० १६–२०
३. द्रष्टव्य, वही। पद १२। पं० ३
४. रामचरितमानस। दो० १५७। पं० ५–७ तक
५. समयं समयं सुर बरषहिं फूला। सांति पढ़हिं महिसुर अनुकूला।
दो० ३१६। पं० २। मानस बाल०

की लंबी तालिकाएँ भी मानस मे मिलती हैं[1]। मेघनाद और रावण के आभिचारिक यज्ञो का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। शकुनो के साधारणतः तीन भेद किए जा सकते हैं—

क. अंगस्फुरण,

ख. स्वप्न दर्शन और

ग. यात्रा के समय मांगलिक अमागलिक वस्तु-पशु-पक्षियो का साक्षात्कार।

४८. साधारणतः स्त्री के वाम और पुरुष के दक्षिण अंग का स्फुरण शुभ माना गया है। अभिज्ञान शाकुंतल मे दुष्यंत के बाहुस्पंदन से शुभ भवितव्यता की पूर्वसूचना का उल्लेख है[2]। परवर्ती काल के साहित्यिक ग्रथो मे भी इस ढग के बहुत से शुभ शकुनों की चर्चा है।

४९. मानस मे श्रीराम, भरत, सीता और मदोदरी आदि के अगस्फुरणों को भावी मंगल अथवा अमगल का सूचक माना गया है। भरत, राम तथा त्रिजटा आदि के स्वप्नों मे शुभ सूचनाएँ थीं। दाहिने भाग मे काक रुत, नकुल, लोमड़ी और सामने दूध पिलाती हुई सुरभि के दर्शन, क्षेमकरी और वाम भाग मे श्यामा पक्षी की आवाज तथा सामने दही, मछली, पुस्तक लिए हुए विप्रयुगल के साक्षात्कार शुभ माने जाते हैं। बाँए छींक भी शुभद मानी जाती है। अशुभ सूचनाओं के शमन के लिये तथा दुर्जन-चक्षु-दोष के निवारणार्थ अनेक लौकिक कृत्य अनुष्ठेय थे। गीतावली मे दुष्ट तिय की नजर लग जाने पर माता कौशल्या ने राम की झाड़फूँक कराई थी।

५०. प्रस्थान, विवाह तथा अन्य मांगलिक कृत्यों के लिये मुहूर्त विचार होता था। यदि शुभ मुहूर्त नहीं मिलता था तो दुघड़िया सायत निकाल ली जाती थी[3]।

५१. अष्टछापी कवियो मे शातिक-अभिचारिक-कर्मों का विशेष उल्लेख नहीं है किंतु इस विषय के लौकिक आचारो की अनेकविध अभिव्यक्तियाँ हुई हैं।

---

१. द्रष्टव्य, मानस बाल०। पं० २। दो० ३०३ से दो० ३०३ तक; वही अयो०। पं० ४। दो १५८ से पं० ८। दो० १५८ तक तथा वही लंका०। पं० ७। दो० १०२ से पं० १४। दो० १०२ तक।

२. अभिज्ञान०। अंक १। श्लोक १५

३. दुघरी साधि चले ततकाला। किय बिश्रामु न मग महिपाला॥
मानस अयो०। दो० २७२। पं० ५

गोविंद स्वामी की यशोदा, शिशु श्रीकृष्ण पर राई लोन इसलिये उतारती हैं कि दुर्जन-चक्षु-दोष निवृत्त हो जाय। सूरदास की यशोदा इसी दोष से बचाने के लिये श्रीकृष्ण के माथे पर दिठौना लगाती हैं[1] और जंत्रहार केहरिनख आदि पहनाती हैं[2]। टोना टोटका के संकेत सूरदास और नंददास दोनों मे मिलते हैं। सूरसागर मे राधा की माता कीर्ति और यशोदा का बड़ा आकर्षक संवाद है। कृष्ण के पास से जब राधा लौट कर गई तो उसकी विचित्र अवस्था देख कर कीर्ति ने यह समझा कि इसको 'टटकी नजर' लग गई है और इसलिये 'गारुडी' कृष्ण को बुलाने के लिये वे यशोदा के पास आई। इस प्रसंग मे झाड़ फूँक करनेवाले 'गुनियो' और साँप का विप उतारनेवाले गारुडी के उल्लेख मिलते हैं[3]। इसी प्रकार कृष्ण मे तन्मय गोपिका की सास और ननद विह्वल हो टोना टटका, जंत्र मंत्र, देवताओं की मनौतियों मे व्यस्त वर्णित हुई हैं[4]। नददास की गोपिका को भी प्रभु की बाँकी चितवन ने टोना कर दिया था[5]। उस समय का समाज भूतप्रेत आदि मे विश्वास करता था। 'अनेकार्थ-ध्वनि-मजरी' मे नंददास कहते हैं 'भूत प्रेत तें हरि बिना कौन करै प्रतिपाल'[6]। इन कवियो की रचनाओं में अगस्फुरण और मागलिक वस्तुओ के दर्शन से भावी शुभ की सूचनाओं का उल्लेख हुआ है[7]। इसी प्रकार अपशकुनों का भी कहीं कहीं सकेत मिलता है। छींक होना, बिल्ली का रास्ता काटना, आदि अपशकुन माने गए हैं[8]। सूरसागर मे नद का स्वप्न श्रीकृष्ण वियोग का पूर्वसूचक था[9]। यशोदा का स्वप्न भी अमंगलद्योतक था[11]। कौवा उड़ाना अपभ्रंश काव्य का एक अतिप्रिय अभिप्राय

---

१. गोविन्द० । पद १६ । पं० ५ और पद ८२ । पं० ६
२. सूर० । पद ७१०
३. वही । पद ७५१ । पं० ४
४. सूर० । पद १३७०, १३७१ आदि
५. सूर० । पद ७५३ । पं० १३
६. नंद० । पदावली ६८
७. नंद० । अनेकार्थ ध्वनि मंजरी दो० ३६
८. सूरसागर । पद ४०७१ से ४०७४ तक
९. सूर० । पद ११५८
१०. सूर । पद ३५५३
११. सूर० । पद ११२५, ११२७

[मोटिफ] है। इसकी अभिव्यक्ति सूरदास मे खूब मिलती है[1]। मुहूर्तों के पुष्कल प्रभाव की भी व्यंजना इन कवियों की रचनाओ में है।

५२. रसवादी भक्त भी राधाकृष्ण के शृंगार वर्णन मे दृष्टि दोष दूर करने के लिये राई लोन उतारने, तिनका तोड़ने और पानी वार कर पीने आदि लौकिक आचारो का वर्णन करते है[2]। ये अनन्य रसिक मुहूर्त आदि मे विश्वास नहीं करते थे। हरिराम व्यास का कहना है—

सोई घरी, सोई दिन, सोई पल, सोई छिन
जबहिं मिलत मेरे प्यारे के प्यारे
पं० १। पद २३१। व्यास वाणी

वे अनेक संप्रदायों मे मान्य मंत्र जंत्र और ऐंद्रजालिक कृत्यो पर विश्वास नहीं करते थे—

मंत्र जंत्र पढ़ि मेलि ठगौरी बस कीन्हों संसार।
स्वामी बहुत गोसाईं अगनित भट्टनि पै नैबार॥
पं० ४। पद १४४। वही

संस्कार

५३. हिंदू समाज व्यवस्था की रीढ़ सस्कार है। अनेक संस्कार वैदिक युग से चले आ रहे हैं। किंतु इस परंपरा मे निरंतर विकास होता रहा। इसके कारण सामाजिक व्यवस्था मे थोड़े बहुत परिवर्तन भी होते रहे। आलोच्य काल के सगुण वाङ्मय विशेषतः तुलसी के साहित्य में इनका पर्याप्त उल्लेख है। सोलहवीं शताब्दी के मित्र मिश्र द्वारा लिखित वीरमित्रोदय् मे संस्कार प्रकाश और काव्य मे वर्णित संस्कारों में विलक्षण साम्य है।

५४. तुलसी ने जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, कर्णवेध, चौल, उपनयन, विवाह और अंत्येष्टि सस्कारो का वर्णन किया है। इनके अतिरिक्त छठी और बरही के भी विवरण है। विवाह का वर्णन तुलसी ने अनेक स्थलों पर बडे विस्तार से किया है। वर प्रेषण, वाग्दान, मंडपाच्छादन, हर-गौरी-पूजन, तैल हरिद्रारोपण, कलशस्थापन, बधूगृहागमन, सीमांत पूजन, वधू-वर-निष्क्रमण, गौरी-गणपति-पूजन, मधुपर्क, अग्नि-स्थापन, परिधापन, कन्यादान संकल्प, पादप्रक्षालन, सप्तपदी और लाजाहोम आदि का विस्तार से वर्णन मिलता है।

---

१. सूर०। पद ४०७१, ४६४७
२. व्यास वाणी। पद २७८। पं० ८, पद ३०५। पं० ८, पद ४२१। पं० १२

५५. किंतु शास्त्रवादी भक्तो मे इन संस्कारों का उल्लेख केवल गौण रूप से ही है। रसवादी भक्त विशेषतः हरिराम व्यास ने इनका खुलकर विरोध किया है।

तीर्थ और दान

५६. स्मार्त परपरा मे तीर्थों का बहुत बड़ा महत्व हो गया था। अनंत तीर्थों की तालिकाएँ पुराणो मे उपलब्ध होती है। बारहवीं तेरहवीं शताब्दी से 'त्रिस्थली' का सिद्धात विकसित होने लगा था। वाचस्पति के 'तीर्थ-चिंता मणि' मे नारायण भट्ट (सन् १५६०) के 'त्रिस्थली सेतु' मे तथा मित्र मिश्र (सन् १६२०) के 'तीर्थ प्रकाश' मे त्रिस्थली अर्थात् प्रयाग, काशी और गया का माहात्म्य वर्णित है।

तुलसी ने इन तीनो तीर्थों के महत्त्व का उल्लेख मानस मे किया है—

१. सकल काम प्रद तीरथ राऊ। बेद बिदित जग प्रगट प्रभाऊ ॥

पं० ६। दो० २०४। मानस अयो०

२. मुक्ति जन्म महि जानि ग्यान खानि अघ हानिकर।
जहँ बस संभु भवानि सो कासी सेइय न कस ॥

भाषामंगल। मानस किष्कि०

३. लागहिं कुमुख वचन सुभ कैसे। मगहं गयादिक तीरथ जैसे ॥

पं० ७। दो० ४३। मानस अयो०

५७. शास्त्रवादी भक्त इन तीर्थों का कोई महत्त्व सूचित नहीं करते। सूरदास ने स्पष्ट शब्दो मे काशी की महत्ता का प्रत्याख्यान करते हुए गोपियो के द्वारा उद्धव को मुंडितमस्तक, निर्गुण उपासक सन्यासियो से सकुल काशी मे अपने ज्ञान के व्यापार को फैलाने का अनुरोध किया है[1]। रसवादी कवि वृन्दावन को छोड़कर अन्य किसी तीर्थ का महत्व किसी प्रकार स्वीकार नहीं करते थे। हरिराम व्यास ने तो वृन्दावन के अतिरिक्त अन्य तीर्थों मे भटकनेवालो को बड़ी गालियाँ दी है—

ते नर राकस, कूकर, सूकर, गदहा, ऊँट,वृषभ,गज, बोक।
'व्यास' जु वृंदावन तजि भटकत ता सिर पनहीं ठोक ॥

५८. दान की परंपरा सप्तम शताब्दी से ही बलवती हो गई थी। उस समय से ही षोडश महादानों का भी उल्लेख मिलने लगता है। आनंद वश के अट्टि वर्मा, दामोदर वर्मा, चालुक्य वंश का मगलेश, विष्णु कुंडीय शाखा के माधव वर्मा और

१. सूर०। पद ४४८६, ४४८७

राष्ट्रकूट दंतिदुर्ग ने हिरण्यगर्भ महादान दिए थे। बंगाल के विजयसेन की साम्राज्ञी विलास देवी, चेदिराज यशःकर्ण तथा जयचंद गहडवाल ने तुलापुरुष और लक्ष्मण सेन ने हेमाश्वरत्न महादान दिया था। आलोच्य युग की श्रौत-स्मार्त-परंपरा मे इन महादानों का भी विशेप महत्व था। उदयपुर के महाराणा जगतसिंह ने सत्रहवीं शताब्दी मे कल्पलता-गोसहस्र-हिरण्याश्व महादान अनेक बार किया था[1]।

५६. मर्यादावादी तुलसी मे दान का महत्व प्रतिष्ठित है। वे स्मार्त सिद्धांत 'दानमेकं कलौ युगे' का रूपातर सा प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

प्रगट चारि पद धर्म के कलि महुँ एक प्रधान।
जेन केन बिधि दीन्हें दान करै कल्यान॥
दो० १०३। मानस उत्तर०

राम के विवाह के अनतर उन्होंने दशरथ से चार लाख अलंकृत गौओं का दान कराया है—

चारि लच्छ बर धेनु मगाई। काम सुरभि सम सील सुहाई॥
सब बिधि सकल अलंकृत कीन्हीं। मुदित महिप महिदेवन्ह दीन्हीं॥
पं० २-३। दो० ३३१। मानस बाल०

६० शास्त्रवादी भक्त भी इन महादानो को स्वीकार करते थे। मत्स्य पुराण में अध्याय ८३ के श्लोक १२ से २६ तक धान्याचल दान का तो वर्णन हुआ है किंतु सूर ने उससे भी आगे बढ़कर कृष्ण के जन्मोत्सव पर नंद के द्वारा दिए गए सप्त रत्नाचल महादानों का वर्णन किया है[2]। उन्होने इसी अवसर पर गोदान का भी उल्लेख किया है[3]। गोविंद स्वामी भी 'कपिला धेनु कनक सिंगी नाना विधि के दान' की चर्चा करते हैं[4]। श्रीकृष्ण वृषभानु दुलारी से 'अवलोकनि दान' रूपी 'महादान' की याचना करते है[5]।

६१. इस प्रकार श्रौत-स्मार्त-परपरा का प्रभाव साधारणतः मर्यादावादी भक्त

---

१. एपीग्रेफिया इंडिका, जिल्द २४, पृ० ६५

२. सूर०। पद ६५०

३. वही। पद ६४३

४. गोविंद०। पद १२

५. वही। पद ४७

तुलसी पर और स्वल्प मात्रा मे शास्त्रवादी भक्तो पर दिखाई देता है किंतु रसवादी भक्त इस परंपरा से पूरी तरह विरोध करते दिखाई देते है।

देवालयीय परंपरा

६२. आगम भक्ति की धारा देवालयीय है। आगमो मे 'समूर्तार्चन' दो प्रकार का बताया गया है आलयार्चा और गृहार्चा। आलयार्चा का अर्थ है—देवालय मे पूजन। इसी प्रकार गृह मे प्रतिष्ठित विग्रह की आराधना गृहार्चा है। बलि उत्सव आदि से रहित होने के कारण गृहार्चा न्यून और इनके सहित होने के कारण आलयार्चा उत्कृष्ट मानी जाती है। आलयार्चा मे गर्भगृह में प्रतिष्ठित भगवान् की नित्य एव नैमित्तिक उपासनाएँ होती है। नित्योपासना मे पंचकाल का विधान है जिनमें भक्त प्रातःकाल से रात्रि के मध्य भाग तक आराधना मे अभिरत रहता है। नैमित्तिक उपासना का स्वरूप उत्सवो मे व्यक्त होता है। पहले यह बताया जा चुका है कि देवालय भगवान् का निवास होने से त्रिविध स्थानों का प्रतीक है—देव मंदिर, संपूर्ण विश्व और दिव्य लोक। जिस प्रकार सम्राट् अपने राज्य मे, उसी प्रकार भगवान् सपूर्ण विश्व के प्रतीक मंदिर मे शासन करते है। अतः नित्य उत्सवों और विशेष पर्वों पर राजकीय पद्धति मे आयोजित होनेवाली आगमिक अर्चा देवालयीय परंपरा के रूप मे परिकल्पित की गई है।

६३. आलोच्य काल की उत्तरापथ की वैष्णव साधना मे यह आलयार्चा राम और कृष्ण के माध्यमों से अभिव्यक्त हुई। किंतु रामभक्ति की धारा मे प्रथमतः स्मार्त तत्व की प्रमुखता से और उसके पश्चात् माधुर्य भक्ति के रसनिवेश से देवालयीय तत्त्व दबा रह गया। स्वामी रामानंद की रामार्चन पद्धति से तत्कालीन राममदिरों की सेवापद्धति परिज्ञात होती है। इसके अनुसार प्रातःकाल अपने गृह मे ही संध्यावंदन और रामचद्र तथा उनके परिवार का षोडशोपचार मानस पूजन का विधान है। मध्याह्न काल मे आलयार्चा बिल्कुल आगमिक पूजन पद्धति पर वर्णित है। इसमें न्यासों और मुद्राओं के सहित देहालय एवं देवालय के द्वारपाल आदि की पूजा से प्रारम्भ होकर क्रमशः अगो, आयुधों, परिवारो और गणों के साथ सीताराम की अनेक विधि विधानो मे अर्चा का स्वरूप उल्लिखित है। इसके पश्चात् राजभोग, जलपान, दन्तशोधन, गडूष, आचमन, पादप्रक्षालन एवं शयननिवेदन की विधि है। यह द्रष्टव्य है कि इस पद्धति मे वैदिक तथा आगमिक परंपराओं का समन्वय है पर इष्ट के अष्टयाम का निरूपण नहीं मिलता जो इस काल मे अन्यत्र, तथा परवर्ती युग में सर्वसाधारण रीति से विशेष महत्त्वपूर्ण हो गया था। स्वेष्ट राजाराम की दैनिकचर्या की

झलक मात्र तुलसी के मानस मे मिलती है[1]। इसमें राम की राजकीय मर्यादा है। किंतु दूसरी परंपरा, रसिक राम के अष्टयाम मे शृंगार विलास की ओर विवृति है। यदि अग्रस्वामी, अग्रदास और नाभादास की रचनाएँ पा० टि० [?], ध्यान मंजरी, अष्टयाम आदि ग्रंथ प्रामाणिक मान लिए जायँ तो इस कथन की पुष्टि होगी[2]। इनमे राम की राजकीय दिनचर्या, राजसभा, उपवनगमन, आखेट आदि के स्थान पर अधिकाधिक कुज लीलाओ का प्रवेश होता गया। अष्टयामो की परंपरा अत्यत विशाल है और अग्रदास आदि से लेकर परवर्ती युग के रामचरणदास इत्यादि तक निरतर वर्धमान होती गई[3]। इनमे स्नान कुंज, शृंगार कुंज, कलेऊ कुंज, भोजन कुंज, शयन कुंज, झूलन कुंज और रास कुंज का विस्तृत विवरण मिलता है।

६४. देवालयीय परंपरा का समुचित विकास वल्लभ संप्रदाय के अंतर्गत गोपी-कृष्ण के प्रसंग मे हुआ। इनकी नित्य लीला मे अष्ट-प्रहर-पूजन की व्यवस्था आठ झाँकियों के माध्यम से की गई—मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, साँझ आरती और शयन।

६५. दो घडी रात रहते ही मगला झाँकी का आयोजन प्रारभ होता है। इस समय शयनोत्थापन, मुखमार्जन, प्रातराश [कलेऊ] आदि कृत्य कराए जाते हैं। अनुराग, खडिता भाव और जगाने आदि के पदो का गान होता है। परमानंददास इस समय के प्रमुख कीर्तनिया कहे जाते है। किंतु अन्य अष्टछापी भक्तों ने भी इस विषय के उत्तम पद लिखे है। यथा—

---

१. प्रातकाल सरऊ करि मज्जन। बैठहिं सभा संग द्विज सज्जन॥
बेद पुरान बसिष्ठ बखानहिं। सुनहिं राम जद्यपि सब जानहि॥
पं० १-२। दो० २६। मानस उत्तर०
अनुजन्ह संजुत भोजन करहीं। देखि सकल जननी सुख भरहीं॥ पं० ३
× × × ×
भ्रातन्ह सहित रामु एक बारा। संग परम प्रिय पवन कुमारा॥ पं० १
सुंदर उपवन देखन गए। सब तरु कुसुमित पल्लव नए॥
पं० २। दो० ३१। वही

२. द्रष्टव्य, रामभक्ति साहित्य मे मधुर उपासना, पृष्ठ १८७ से १९९ तक।
पा० टि० ? ग्रंथ अग्रस्वामी का बताया गया है।

३. रामभक्ति मे रसिक संप्रदाय, पृ० २४०

आजु गिरिधरलाल नीकी बानक बने।
लटपटी पाग सिर लटकि रही भ्रकुटी तर—
अर्ध मीलित नैन जुग निस उनींदे घने॥
तिलक खंडित अधर गंड अंजन रेख—
मरगजी माल उर विविध सौंधे सने।
बसन पलटत सुरति बेंन अंग अंग प्रति—
निरखि 'गोबिंद' रसिक राधिका मन मने॥
पद २३५। गोविंद०

६६. दो घड़ी दिन चढ़े शृंगार झाँकी का प्रदर्शन होता है। उसमे स्नान, शृंगार, प्रसाधन आदि कृत्यो के साथ बालरूप अथवा किशोररूप कृष्ण के सौंदर्य विषयक, स्वामी स्वरूप, युगल स्वरूप, परस्पर हास वाक्य आदि के पद गाए जाते है। इसके प्रमुख कीर्तनकार नंददास माने गए हैं। इनके अतिरिक्त इस विषय का कुंभनदास कृत पद भी दर्शनीय हैं—

देखो री सोभा स्याम तन की।
मानहुँ लई कुँवर नंदनंदन गति सब नव घन की॥
तडिदिव पीत बसन जु पुरंदरधनु जनु माला बन की।
मुक्ताहार कंठ उर पर रखि! पंगति बकगन की॥
रूपवारि बरसत निसि बासर सींचत वृत मन की।
'कुंभनदास' प्रभु गोवर्धनधर जीवनि व्रजजन की॥
पद १४६। पृ० ५६। कुंभनदास०

६७. पाँच घड़ी दिन चढने पर ग्वाल कृष्ण की झाँकी मे पालना, धैया आरोगन, गोचारण आदि क्रीडाओ के साथ इन्हीं विषयों से सबद्ध गीतों की योजना होती है। इसके प्रधान लीलागायक गोविंदस्वामी माने जाते है—

अहो दधि मथति घोप की रानी।
दिव्य चीर पहिरे दच्छिन कों कटि किंकिनि रुनझुन बानी॥
सुत के गुन गावति आनंद भरि बाल चरित्र ब जानी।
श्रम जल बिंदु राजें बदनकमल पर मानों सरद बरखानी॥
पुत्र सनेह चुचात पयोधर पुलकित अति हरखानी।
'गोबिंद' प्रभु घुटुरुनु चलि आए पकरी रई मथानी॥
पद २८१। पृ० १२५। गोविंद०

६८. बारह घडी दिन बीतने पर व्रजकृष्ण के राजभोग की झाँकी मे छाक के पद गाए जाते है जिनमे अगणित प्रकार के व्यंजनो की तालिका मिलती हैं[1]।

६९. छह घड़ी दिन शेष रहने पर उत्थापन की बेला मे गोटेरन, वन्य लीला के कृत्यों एवं उनके वर्णन करनेवाले पदों के गान की आयोजना की जाती है। सूरदास इसके प्रमुख कीर्तनिया बताए गए हैं:—

वन तें आवत धेनु चराए।
संध्या समय साँवरे मुख पर, गो-पद-रज लपटाए।
बरह मुकुट के निकट लसति लट, मधुप मनौ-रुचि पाए॥
बिलसत सुधा जलज आनन पर, उड़त न जात उड़ाए।
बिधि-बाहन-भच्छन की माला, राजत उर पहिराए॥
एक बरन बपु नहिं बड़ छोटे, ग्वाल बने इक घाए।
सूरदास बलि लीला प्रभु की, जीवत जन जस गाए॥

पृ० ४०१। पद १०३५। सूर०

७०. सायंकाल भोग की झाँकी है। इसमे स्वल्पाहार निवेदन के समय कृष्ण के सौदर्य, गोपियो की दशा, गो-गोप-वंशी आदि के पद गाए जाते हैं। इस कीर्तन सेवा के अधिकारी चतुर्भुज दास है।

७१. सूर्यास्त की बेला मे साँझ की झाँकी प्रदर्शित होती है। इसमे आरती के पद, गो-ग्वाल-सहित वन से लौटने वाले गीत, गो दोहन आदि के गान होते हैं। छीत स्वामी इसके मुख्य गीतकार है[2]।

७२. ढाई घड़ी रात चढ़ने पर शयन की झाँकी लगती है। इसमे नैश भोजन और शयन की व्यवस्था के साथ गोपीभाव तथा निकुंजलीला के पद गाए जाते हैं। कृष्णदास अधिकारी इसके प्रधान गायक हैं।

७३. इस विवरण से यह तथ्य अत्यत स्पष्ट है कि कृष्ण के गोपाल जीवन की पूरी लीला देवालयीय समय के अनुक्रम से गाई जाती थी। नित्य सेवा के अतिरिक्त नैमित्तिक उत्सवों का आयोजन है जिनमे कुछ तो लोक परंपरा मे प्रचलित ऋतूत्सवों से और कुछ कृष्ण की लीलाओं से संबद्ध है। ऋतूत्सवो मे वसत, धमार, फाग, मल्हार, हिंडोरा आदि आते हैं।

---

१. सूर०। पद १०१४, छीत०। पद ६८, कुंभन०। पद १७३ से १८२ तक
२. छीत०। पद १३३, १३४

७४. वसंत, धमार और फाग के उत्सव प्राचीन चैत्र पर्व से संबद्ध हैं। ये उत्सव शैव, शाक्त और वैष्णव, तीनों परंपराओं मे स्वीकृत है। यह चैत्र पर्व संस्कृत साहित्य मे मधूत्सव, वसंतोत्सव, मदनोत्सव आदि नामो से ख्यात है। पारिजात मंजरी नामक नाटक मे इस उत्सव का बड़ा सुंदर वर्णन हुआ है। हिंडोल की गीति, मधुपान, नृत्य, सिंदूरोद्धूलन, रंगों के छिड़काव आदि के बिंबग्राहक चित्र इसमे मिलते हैं। अष्टछापी भक्त कवियो की रचनाओ मे इस विषय के संश्लिष्ट और उल्लासक चित्र मिलते हैं। वर्षाकालीन मल्हार उत्सव का भी इनमें आकर्षक चित्रण हुआ है।

७५. आगमिक संस्कारो से संबद्ध पवित्रा नामक उत्सव है जो ईश्वर संहिता[1] और पद्म तंत्र[2] आदि ग्रथो मे वर्णित है। इसमे कर्पास, सौवर्ण, राजत अथवा ताम्र सूत्र को मूर्ति के ऊपर चढाया जाता है। कुंभनदास, छीतस्वामी और गोविंद स्वामी[3]

---

१. तत्र मास चतुष्कस्य मध्ये कुर्याच्छुभे दिने।
आषाढपक्षदश्यास्तु यावद्वै कार्त्तिकस्य च॥
चातुर्मास्ये त्वन्यतमे मासे वै शुक्लपक्षके।
द्वादश्यां देवदेवस्य पवित्रारोपमाचरेत्॥
संवत्सरकृताकृत्यदोषस्समयपूर्वकः ।
नाशमायाति वै क्षिप्रं पवित्रारोहणान्मुने॥
पाति यस्मात्स दोषं हि पतनात्परिरक्षति।
विशेषेण द्विजं त्राति पूर्णकर्म करोति च॥
साधके च क्रियाहीने तस्माद्भक्तो मया महान्।
यागेष पवित्राख्य उक्तलक्षणलक्षितः॥
ईश्वर संहिता। अध्या० १४

२. प्रतिसम्वत्सर मासि श्रावणे तन्तुनिर्मितम्।
पवित्र भूषणं विष्णोरारोप्यं बहुमाल्यवत्॥
आरम्भे विधिवद् भाद्रपदे वाश्वयुजेऽपि वा।
मन्त्रलोपादिना कर्म पतितं विहितम्पुनः॥
तत्पवित्रम्फलैर्भूयो रोहत्येव समाहितः।
इति निर्वचनात् तज्ज्ञैः पवित्रारोहणम्मतम्॥
पद्मतंत्र। अध्याय १४

३. गोविंद०। पद २१६ से पद २१६ तक

आदि ने इस उत्सव का वर्णन किया है। आषाढ़, श्रावण अथवा भाद्रपद की चतुर्दशी को यह वर्षोत्सव मनाया जाता था। किंतु इन भक्तों ने श्रावण शुक्ल एकादशी को इस उत्सव का वर्णन किया है—

पवित्रा पहिरें श्री गिरिधर लाल।
श्रावन सुदि एकादसी मंदिर बैठे नंद के लाल॥
जुबति जूथ मिलि आई बधावन भरि भरि मोतिन थार।
मेवा पकवान गोद भरि लाई अरोगत सखा सब ग्वाल॥
निरखत देव मुनिजन हरखत बरखत मेघ रसाल।
'गोविंद' प्रभु सदा सुख दीजे पचरंग पवित्रा बनमाल॥

पद २१६। गोविन्द०

इसके अतिरिक्त रथयात्रा भी प्राचीन आगमिक उत्सव है। इसका वर्णन कुंभनदास और गोविंद स्वामी आदि ने किया है।

७६. इनके अतिरिक्त जन्मोत्सव, छठी, राधाष्टमी, पलना, गोक्रीड़ा, गोवर्द्धन पूजा आदि उत्सवों का वर्णन अष्टछापी कवियों ने बड़े विस्तार से किया है क्योंकि ये वल्लभ संप्रदाय में मनाये जानेवाले वर्षोत्सवों के अंतर्गत आते है। सूरदास जी के अतिरिक्त अन्य अष्टछापी भक्तों ने प्रायः महाप्रभु वल्लभाचार्य और गोसाईं विट्ठलनाथ जी से संबद्ध उत्सवों का गान किया है।

रसवादी परंपरा

७७. देवालयीय परंपरा मे भक्ति के माध्यम से कुछ विजातीय तत्वों का भी संग्रह हुआ। इससे रसवादी संप्रदाय का जन्म हुआ जो किशोर भाव से श्री किशोरी प्रमुख उपासना के कारण कभी कभी 'वैष्णवाइट शाक्त' भी कहा गया है। इसके कुछ तत्व यथा श्री राधा की 'महासुख तनु' रूप मे कल्पना आदि[1] के कारण यह महायानी प्रभाव युक्त वैष्णव संप्रदायों के समीप दिखाई देता है। इसमे राधा वल्लभ की प्रेमलीलाओं का सिद्धदेह से निरंतर दर्शन एकमात्र साध्य है। इस लीला का रास रचाना तथा लीलागान मे नित्य निरत रहना ही इनकी प्रमुख साधना है। अतएव इस सप्रदाय मे रासलीला का विशेष और व्यापक प्रचार हुआ। रास के उद्भव और विकास का स्वरूप साहित्य और कला के अध्याय मे दिखाया जायगा।

---

१. द्रष्टव्य अध्याय ४। अनुच्छेद ४१ से ५६ तक।

और यद्यपि रासलीलानुकरण के प्रवर्तन का संबंध कुछ विद्वान् निंबार्कानुयायी श्री घमंडदेव और कुछ गौडीय संप्रदायी श्री नारायण भट्ट से जोड़ते हैं तथापि राधा-वल्लभ संप्रदाय के आचार्य हित हरिवंश को ही यह श्रेय दिया जाना चाहिए। डा० विजयेंद्र स्नातक ने इस विषय पर विस्तार से विचार किया है[1]। साधारणतः अष्टयाम के अंतर्गत साँझ आरती की वेला में इस रास लीला का संपन्न होना आवश्यक माना गया है।

निस्कर्ष

७८. इस प्रकार पूर्व मध्यकालीन चतुर्विध धार्मिक जीवन भक्ति की व्याप्ति में संगठित हुए। सिद्ध संतों की परपरा ने निर्गुन भक्ति संप्रदाय के भीतर अपने प्रभाव का विस्तार किया। श्रौतस्मार्तवादी धारा एक ओर स्वतंत्र रीति से तथा दूसरी ओर मर्यादावादी भक्तो की परपरा मे दृष्टिगोचर होती है। आगमिक भक्ति की परंपरा शास्त्रवादी धारा मे विकसित हो रही थी। रसवादी भक्तों की परंपरा मे देवालयीय धारा ने अन्य विजातीय तत्त्वों का भी समावेश किया। मठ परंपरा का प्रभाव इनके संगठनो पर साक्षात् और परंपरया दृष्टिगत होता है।

---

1. द्रष्टव्य, राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य, पृष्ठ २६०

सप्तम अध्याय

साहित्य और कला : १

७

साहित्य और कला : १

१. अन्य कलात्मक कृतियों के समान ही साहित्य की सर्जना भी एक सामाजिक कृति है। इस पर समाज की धार्मिक, दार्शनिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि विभिन्न सांस्कृतिक परंपराओं का प्रभाव देखा जाता है। प्राचीन भारत मे धर्म एवं दर्शन से संबद्ध सृष्टि तथा आनंद तत्त्व के विवेचन के साथ लौकिक अनुभूति का समन्वय कर रस सिद्धात की प्रतिष्ठा हुई। काव्य के अनुशीलन अथवा नाट्य के दर्शन से उपलब्ध होनेवाली रसानुभूति के संबंध मे अधिकांशतः ऐकमत्य है किंतु इस अनुभूति की भिन्न भिन्न दार्शनिक व्याख्याओ के कारण अलंकार शास्त्र मे रस संबंधी विभिन्न मतों का आविर्भाव हुआ। इन व्याख्याओ को द्विधा विभक्त किया जा सकता है—वेदमूल और इतर। वेदमूल दर्शनो मे मीमासा और वेदात को वेद—[वैदिक शब्दों] पर अत्यधिक श्रद्धा है। वैदिक 'कल्प' से अन्वित मीमासा शास्त्र को श्रौत कर्मों का तथा वेदो के 'रहस्य' भाग से सबद्ध वेदात को वेद [ब्रह्म] ज्ञान का सर्वातिशायी महत्त्व मान्य है। इनके लिए लौकिक प्रतीतियाँ गौण हैं। मीमासा शास्त्र का जगत नित्य होते हुए भी स्वतः महत्त्वपूर्ण नहीं है। वह केवल स्वर्गप्राप्ति के निमित्त वेदविहित कर्मों के संपादन का रंगमंच है। अद्वैत वेदात जगत् को परमार्थतः मिथ्या मानते हुए भी व्यावहारिक दशा मे वेदोक्त कर्मों को अवश्यमेव विधेय मानता है। इस प्रकार इन वेदमूल दर्शनों की जगत् के प्रति कर्मप्रधान दृष्टि है और उन कर्मों का मानदंड वैदिक मर्यादा है। इसके विपरीत न्याय वैशेषिक, सांख्य आदि इतर दर्शनों में लौकिक प्रतीतियाँ निश्चय ही अपेक्षणीय थीं। इन दर्शनों में आगमों का प्रभाव बहुत अधिक है। ये जगत् के उपादान कारण किंवा प्रकृति को नित्य और सत्य मानते हैं। न्याय वैशेषिक तथा सेश्वर साख्य ने जगत् का निमित्त कारण ईश्वर को बताया है। आगमों मे जगत् ईश्वर की लीला रूप मे कल्पित हुआ है। यह लीला ईश्वर की

विलासेच्छा है जो अद्वैत वेदांतियों की मायिक लीला से तत्त्वतः भिन्न है। इस तरह वेदमूल एवं इतर दर्शनों मे जगतसंबंधी दो प्रमुख भिन्नताएँ हैं।

(क) वेदमूल दर्शनों मे मीमांसा तथा अद्वैत वेदात की जगत् के प्रति क्रमशः कर्मपरक और मिथ्यात्व दृष्टि है। अतः वह अपने आप मे महत्त्वहीन है। परंतु आगमिक दर्शनो मे जगत् ईश्वर का विलास होने की वजह से मूलतः आनंदप्रद एवं महत्त्वपूर्ण है।

(ख) वेदमूल दर्शनों मे कर्मों के मूल्याकन का प्रतिमान वैदिक मर्यादा है। किंतु आगममूल दर्शनो मे लीलाधर ईश्वर की प्रीति ही सबकी नियामिका है।

२. काव्यरस अनुभवसिद्ध पदार्थ है। सामान्य रूप से इस रस की आनंदमयी कल्पना की गई है। लेकिन इस काव्यानंद को विशेष रूप प्रदान करने मे विभिन्न दर्शनो ने बहुत दूर तक हाथ बटाया है। इनमे आनंद या सुख की जो मौलिक कल्पनाएँ थीं वे विभिन्न रससिद्धातों मे प्रतिच्छायित हुई है।

रस : मीमांसा

३. मीमासा शास्त्र मे आत्मा कर्ता भी है और भोक्ता भी। वह व्यापक तथा प्रतिशरीर मे भिन्न है। उसमे चित् तथा अचित् दो अंश होते हैं। चिदंश से वह प्रत्येक ज्ञान का अनुभविता तथा अचिदंश से परिणामी है। सुख, दुःख, इच्छा आदि आत्मा के अचिदश से ही संबद्ध होने के कारण परिणाम को प्राप्त होते रहते हैं। इष्ट स्वर्गादि के सुख का भोग ही आत्मा का चरम लक्ष्य है। यह सुखोपभोग प्रतिषिद्ध कर्मों के परित्याग तथा काम्य कर्मों के अनुष्ठान से लब्ध होता है। कुमारिल भट्ट के मतानुसार संध्यावंदनादि नित्य कर्मों के विधान से दुरितक्षय तथा परित्याग से प्रत्यवाय होता है। इन विधिनिषेधों का मूल आधार श्रुति है। इस शास्त्र मे भोग की प्रमुखता का संकेत भोगायतन, भोगसाधन तथा भोगविषय—इन त्रिविध ज्ञानो के नाम से भी मिलता है। अतः मीमासा शास्त्र मे 'भोग' का सर्वातिशायी महत्व है।

४. भट्ट नायक के रससिद्धात 'भुक्तिवाद' को विद्वानो ने सांख्य दर्शन पर अवलंबित माना है[1]। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि सत्व गुण के परिणाम रूप सुख की कल्पना सांख्य शास्त्र मे प्रतिष्ठित है और अभिनवगुप्त तथा मम्मट आदि ने भट्टनायक के रससिद्धात का उपस्थापन करते हुए भोग व्यापार के मूल मे 'सत्वोद्रेक'

---

१. काव्यप्रकाश पर वामनी टीका, पृष्ठ ८७

का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त भट्टनायक को सांख्यमतवादी बताने का कोई दूसरा कारण नहीं ज्ञात होता। किंतु केवल इस एक आधार पर भट्टनायक की रसव्याख्या को साख्य पर आश्रित कहना ठीक नहीं है। अभिनवगुप्त के 'लोचन'[1] एव 'अभिनव भारती'[2] के कतिपय उल्लेखो से भट्टनायक मीमासक जान पड़ते हैं। इसके साथ ही अभिनव गुप्त और मम्मट ने जिन शब्दो मे इनके मत की उपस्थापनाएँ की है उनके पर्यालोचन से भुक्तिवाद का आधार मीमासा शास्त्र ही ठहरता है।

५. भट्टनायक ने भट्टलोल्लट आदि के द्वारा उपस्थापित अनुकार्य में रस के उत्पत्तिवाद और शंकुक द्वारा प्रस्तावित अनुकर्ता मे रस के अनुमितिवाद का खंडन कर सामाजिक मे रस के भोग की प्रक्रिया सिद्ध की। इस कार्य के लिये उन्होंने काव्य के शब्दो मे त्रिविध व्यापारो की योजना की है। इनमे से प्रथम अभिधा व्यापार से काव्य के विभावादि अर्थों की उन उन विशिष्ट रूपों मे प्रतीति होती है। इसके अनंतर काव्य के द्वितीय भावकत्व व्यापार से पूर्वानुभूत विशिष्ट विभावादिको का साधारणीकरण होता है। इस द्वितीय व्यापार से 'भाव्यमान' स्थायी भाव, तृतीय भोग व्यापार से भुक्त होता है। यह तीसरा व्यापार सत्वगुण से उद्भूत प्रकाश स्वरूप आनंदमय संविद् [चिद्, ज्ञान] बताया गया है।[3]

---

१. आनन्दवर्धन के द्वारा उद्धृत श्लोक—

रविसङ्क्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः ।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥

इसकी व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं :—

भट्टनायकेन तु यदुक्तम्—'इवशब्दयोगाद्गौणताप्यत्र न काचित्' इति, तच्छ्लोकार्थमपरामृश्य। आदर्शचन्द्रमसोर्हि सादृश्यमिवशब्दो द्योतयति। निःश्वासान्ध इति चादर्शविशेषणम्। इवशब्दस्यान्धार्थेन योजने आदर्शश्चन्द्रमा इत्युदाहरणं भवेत्। योजनं चैतदिवशब्दस्य क्लिष्टम्। न च निःश्वासेनान्ध इवादर्शः स इव चन्द्र इति कल्पना युक्ता। जैमिनीयसूत्रे ह्येवं योज्यते न काव्येऽपीत्यलम् :

ध्वन्यालोक : लोचन, पृ० १७२–१७३, काशी-संस्कृत-सीरीज, सं० १९९७

२. द्रष्टव्य—अभिनवभारती, पृ० २७८–२७९, गायकवाड ओरियंटल सीरीज, सन् १९२६

३. उद्धरण—न ताटस्थ्येन नाऽऽत्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यतेऽपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्या-

६. इस भुक्तिवाद के संघटनात्मक तत्त्व मीमांसा शास्त्र के 'भावना' और 'भोग' तत्त्व ही है। भावना का अर्थ होता है—उत्पद्यमान फल के अनुकूल प्रयोजक-निष्ठ प्रेरणा या व्यापार। इसकी भी द्विविध कल्पनाएँ की गई है—शाब्दी भावना तथा आर्थी भावना। शाब्दी भावना धातुओं के लिडादि प्रत्ययानिष्ठ प्रेरणा को कहते है। इसके तीन रूप माने गए हैं—भाव्य [कार्य मे प्रवृत्ति], करण [ज्ञात शब्द] और इतिकर्तव्यता [अर्थवाद]। शाब्दी भावना से आर्थी भावना उत्पन्न होती है। इसका अर्थ है—शाब्दी भावना से प्रेरित प्रवृत्ति। शाब्दी भावना यदि मानसिक व्यापार है तो आर्थी भावना उसका व्यावहारिक क्रियात्मक स्वरूप। इसके भी तीन अंश होते हैं—भाव्य [स्वर्गादि फल = सुख], करण [फलप्राप्ति के साधन-ज्योतिष्टोम यज्ञ] तथा इतिकर्तव्यता [विधिः प्रोसीजर = अनुयाज, प्रयाज आदि[1]]। काव्य पक्ष मे अभिधा व्यापार शाब्दी भावना के अंतिम दोनो रूपों से संबद्ध है। आर्थी भावना के करण विभावादि हैं और भाव्य है स्थायी भाव। सामाजिक में रहनेवाले भाव्यमान स्थायी भाव का संबंध करण—[साधन] रूप दुष्यत शकुतलादि विभावों से उसी समय जुड सकता है जब कि वे अपनी विशेषताओं को छोड़कर सर्वसामान्य रूप से सामाजिकों द्वारा गृहीत हो सकें। इसलिये भट्टनायक ने विभावादि करणों को साधारणीकृत रूप में स्वीकार किया है। यह साधारणीकरण व्यापार ही काव्य पक्ष की इतिकर्तव्यता है। जिस प्रकार यज्ञ भावना के भाव्य स्वर्ग से सुखोपलब्धि होती है उसी प्रकार विभावादि के द्वारा 'भाव्यमान' स्थायीभाव से रस की भुक्ति निष्पन्न होती है। 'भोग' तत्त्व के संबंध मे भी यह अवश्य स्मरणीय है कि मीमांसा शास्त्र आत्मा के अचिदंश से संबद्ध परिणामशील सुखादिको का आत्मा के ही चिदंश द्वारा ज्ञातृत्व या भोक्तृत्व प्रतिपादित करता है। यही नहीं बल्कि आत्मा की चिद्विशिष्टता का आविर्भाव भी वह भोगायतन और भोग विषय के संसर्ग मे ही मानता है। इस स्थिति में भट्टनायक के सत्वोद्रेक-जनित प्रकाशानंदमय संविद् रूप भोग का अर्थ जैसा मीमांसा शास्त्र के आलोक मे परिस्फुट होता है वैसा अन्य, सांख्य दर्शन आदि के परिवेश मे नहीं हो सकता।

७. साहित्य शास्त्र में औचित्य की विचार परंपरा नाट्यशास्त्र के समय से ही

पाश्चेन भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यत इति भट्टनायकः। काव्यप्रकाश। उल्लास ४। पृ० ६५—६६

१. द्रष्टव्य—कृष्णयज्व कोविद विरचित मीमांसा परिभाषा, पृ० २६—३३, शारदा भवन काशी, संवत् १९९२

चली आ रही थी। किंतु भट्टनायक ही प्रथम आचार्य थे जिन्होने भुक्तिवाद की प्रक्रिया मे वैदिक-आचार-मर्यादा की प्रतिष्ठा की। मीमासक होने के नाते उनकी यह उपस्थापना और भी अधिक महत्व की है। मीमासा शास्त्र वैदिक आचारो का कट्टर हिमायती है। उसकी मूल उपस्थापना है कि विहित कार्यों के संपादन से स्वर्गसुख की उपलब्धि होगी। लेकिन इस भाव्य इष्ट के लिये विहित साधनों एवं विधियों की प्रक्रिया अनिवार्य है। यदि अविहित साधन विधियों का अवलबन किया जायगा तो इष्ट की प्राप्ति नहीं हो सकती, बदले मे अनिष्ट भोगना पड़ सकता है। इसी सिद्धात-के अनुरूप भट्टनायक ने बताया है कि विहित विभावादि करणो के स्थान पर यदि निषिद्ध का प्रयोग किया जायगा तो रस का भोग संभव नहीं हो सकता। सीतानिष्ठ रामविषयक रति की अविभाव्यता के उल्लेख का यही रहस्य है[1]।

८. इस प्रकार मीमांसा के रस सिद्धांत मे तीन प्रमुख तत्व है—[१] स्वर्गसुख के समान काव्य रस का भोग, [२] भावना द्वारा रस के उपकरण विभाव आदि का साधारणीकरण और [३] स्वर्ग सुख की उपलब्धि मे विहित श्रौत विधानों की भॉति रस के भोग मे वैदिक-आचार-मर्यादा का नियोजन। इस तृतीय तत्व के साथ कर्मक्षेत्र जगत् की नित्यता के सिद्धात ने अन्वित होकर काव्य मे लोकमंगल की दृष्टि उन्मीलित की।

रस : अद्वैत वेदांत

अद्वैत वेदात मे आनंद परब्रह्म परमेश्वर का स्वरूपभूत लक्षण माना गया है। वह सच्चिदानंद रूप एवं जीव से अभिन्न रूप मे कल्पित हुआ है। केवल अविद्या निर्मित अंतःकरण से अवच्छिन्न होने के कारण जीवात्मा को अपने परमात्मस्वरूप की अनुभूति नहीं होती। इसीलिये जीव अनेकविध मायाजाल मे कष्ट भोगता रहता है। महावाक्यों के श्रवण, मनन आदि से 'अहं ब्रह्माऽस्मि' की अपरोक्षानुभूति होने पर

---

१. उद्धरण—

ननूक्तं भट्टनायकेन—'रसो' यदा परगततया प्रतीयते तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात्। न च स्वगतत्वेन रामादिचरितमयात्काव्यादसौ प्रतीयते। स्वात्मगतत्वेन च प्रतीतौ स्वात्मनि रसस्योत्पत्तिरेवाभ्युपगता स्यात्। सा चायुक्ता सीतायाः। सामाजिकं प्रत्यविभावत्वात्। कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतुविभावतायां प्रयोजकमिति चेत्—देवतावर्णनादौ तदपि कथम्।

ध्वन्यालोक-लोचन, पृ० १८०–१८१

जीव अपने स्वाभाविक ब्रह्मभाव, सच्चिदानंद रूप मे आ जाता है। इसलिये इस दर्शन मे आनंद आत्मा का मौलिक स्वरूप है जिसकी उपलब्धि जीव को अज्ञान की निवृत्ति पर होती है।

१०. इस शास्त्र की दृष्टि से काव्यानुभव की वेला मे विभावादि की प्रतीति के साथ साथ आनंदरूप आत्मा पर से अविद्याकल्पित आवरण तिरोहित होने लगता है। आवरणभग होते ही रत्यादि स्थायी से विशिष्ट होकर आत्मानंद ही रस रूप से अनुभूत होने लगता है। इसका कारण यह है कि वेदात शास्त्र व्यवहारदशा में भी आत्मातिरिक्त अन्यत्र कहीं आनद की स्थिति स्वीकार नहीं करता। इसी से पंडितराज जगन्नाथ ने प्राचीन आलकारिको के 'चिद्विशिष्ट रति' के रस-कथन का वेदांतनय से परिष्कार कर 'रतिविशिष्ट चिद्' को ही रस कहना अधिक समीचीन माना है[1]। पुराने विद्वानों के कथनानुसार आनंदमय चित्तत्व, स्थायी भाव रति का विशेषण बन जाता है। विशेषण होने की वजह से उसकी अप्रधानता भी स्वयंसिद्ध है। परतु वेदांत मे आत्मा ही सर्वोपरि अद्वैत तत्त्व है। इसलिये काव्यानद के स्वरूप में भी पडितराज ने गुणभाव को हटाकर उसकी प्रधानता निरूपित की।

११. अद्वैत वेदात के भी व्यवहारपक्ष मे भाट्टनय की स्वीकृति होने के कारण वैदिक आचारमर्यादा की कठोर अभिव्यक्ति रसगंगाधर के रसाभास प्रसंग मे दिखाई देती है। बहुनायकविषया रति सामान्य रूप से रसाभास मानी जाती है। द्रौपदी की रति पाॅच पतियो से सबद्ध होने के कारण बहुनायकविषया ही मानी जानी चाहिए। इस प्रसंग मे पंडितराज ने दो मतों की उपस्थापना की है। एक मत के अनुसार अविवाहित अनेक नायको से सबध रखनेवाली नायिका की रति रत्याभास है। इस दृष्टि से विवाहित पंचपति विषयक द्रौपदी की रति निर्दुष्ट मानी जायगी। किंतु इसे उन्होंने प्राचीन आलकारिको का मत बताया है। दूसरे मत के अनुसार पांचाली की भी बहुनायकविषया रति की अभिव्यक्ति होने पर रसाभास होगा। इस मत को उन्होंने नवीनों का बताया है[2]। ये नए लोग मीमासक ही हो सकते है।

---

1. रसगंगाधर। आनन १। पृ० २७, काव्यमाला १२, सन् १९२७।
2. अथात्र किं व्यङ्ग्यम्—'व्यानम्राश्चलिताश्चैव स्फारिताः परमाकुलाः।
पाण्डुपुत्रेपु पाञ्चाल्याः पतन्ति प्रथमादृशः ॥
अत्र व्यानम्रतया धर्मात्मताप्रयोज्यं युधिष्ठिरे सभक्तित्वम्, चलिततया स्थूलान्धताप्रयोज्यं भीमसेने सत्रासत्वम्, स्फारिततया अलौकिकशौर्यश्रवणप्रयोज्यमर्जुने सहर्षत्वम्, परमाकुलतया परमसौन्दर्यप्रयोज्यं नकुलसहदेव-

भगवद् अवतारो के वेदविरुद्ध आचरणों को भी सोत्साह तिरस्कृत करनेवाले मीमांसक भला द्रौपदी के पंचपति-परिणय को किस प्रकार बर्दाश्त करते[1] ?

१२. इस प्रकार अद्वैत वेदांतदृष्टिक रस की व्याख्या मे वैदिक समाजमर्यादा स्वीकृत हुई है। परंतु अद्वैत दार्शनिकों को 'लोकमंगल' का सिद्धांत व्यावहारिक स्थिति तक ही मान्य है—पारमार्थिक अवस्था मे इसका कोई मूल्य नहीं।

१३. अतः वेदमूल धारा मीमांसा तथा अद्वैत वेदांत के रसदर्शन में श्रौत आचार मर्यादा पूरी तरह से प्रतिष्ठित है।

रस : सांख्य

१४. सांख्य दर्शन मे आनंद प्रकृति के सत्त्व गुण का परिणाम माना जाता है। वस्तुतः इस दर्शन मे प्रकृति और पुरुष दो मूलभूत अनादि तत्त्व माने जाते हैं। इनमे से प्रकृति त्रिगुणात्मिका एवं नित्य परिणामी है तथा पुरुष शुद्ध-बुद्ध-रूप माना जाता है। प्रकृति जड़ और गुणो की विषम स्थिति मे चलनस्वभावा एवं पुरुष चेतन तथा कूटस्थ तत्त्व है। प्रकृति से समाश्लिष्ट होने पर पुरुष की संज्ञा 'जीव' होती है। पुरुष के सन्निधान में प्रकृति का प्रथम विकास समष्टि मे महत्तत्त्व और व्यष्टि मे बुद्धितत्व कहलाता है। ये दोनों तत्व त्रिगुणात्मक तथा प्राकृत होने के कारण स्वभाव से ही सुख-दुःख-मोहात्मक एवं जड माने जाते हैं। चेतन पुरुष निःसंग होने के कारण सुख आदि से सर्वथा तटस्थ होते हुए भी बुद्धिच्छायापत्ति के कारण अपने को सुख इत्यादि से संयुक्त समझने लगता है। इसी तरह चिच्छायापत्ति से अचेतन बुद्धि भी अपने को चेतन समझने लगती है। फलतः प्रकृति की भोग्यता और पुरुष का भोक्तृत्व सिद्ध हो जाता है। विवेकख्याति द्वारा प्रकृति एवं पुरुष

योरौत्सुक्यं च व्यञ्जयन्तीभिर्दिग्भिः पाञ्चाल्या बहुविषयाया रतेरभिव्यञ्जनाद्रसाभास एवेति नव्याः। प्राञ्चस्त्वपरिणेतृबहुनायकविषयत्वे रतेराभासतेत्याहुः। वही। आनन १। पृ० १२२।

१. कुमारिल भट्ट ने तंत्रवार्तिक मे द्रौपदी की पंचपति विषयक उलझन को तीन प्रकार से सुलझाया है। उनमे से प्रमुख यह है कि पाँचों पांडवों की सदृश रूपोंवाली पाँच द्रौपदी नामक पत्नियाँ थीं, उपचारतः उन सबका एक द्रौपदी नाम से व्यवहार होता था—अथवा बह्व्य एव ताः सदृशरूपा द्रौपद्य एकत्वेनोपचरिता इति व्यवहारापत्त्या गम्यते। द्रष्टव्य पी० वी० काणे : हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, भाग १ जिल्द २ पृ० ९९९।

का परस्पर उदासीन हो जाना ही मुक्ति है। अतएव इस दर्शन मे आनंद आत्मा का स्वरूप न होकर प्रकृति का परिणाम है।

१५. प्रकृति के सत्त्व, रज तथा तम गुणों के परिणाम क्रमशः सुख, दुःख एवं मोह माने जाते हैं। चित् तत्त्व से भिन्न समस्त प्राकृतिक कार्यों मे इन गुणो और उनके परिणामों की स्थिति रहती है। इसी लिये प्रत्येक त्रिगुणात्मक वस्तु अनुभविताओं के संकल्प भेद से तीन रूपो मे अनुभूत होती है। एक ही कामिनी भर्ता के लिये सुखमय, सपत्नी के लिये दुःखद तथा निराश प्रेमी के लिये मोहप्रद देखी जाने का यही भेद है। वास्तव मे जब ज्ञानेंद्रियाँ बाह्यजगत् के पदार्थों को बुद्धि के समक्ष उपस्थित करती है तब बुद्धि उस पदार्थ के आकार को ग्रहण कर लेती है। इस बुद्धि-परिणाम को वृत्ति नाम से अभिहित किया जाता है जिसमे चैतन्यात्मक पुरुष भी प्रतिच्छायित होता रहता है। इसी वृत्ति मे सत्त्व की प्रधानता होने पर सुख, रज की प्रमुखता होने पर दुःख एवं तम की प्रकृष्टता होने पर मोह की अनुभूतियाँ होती हैं। इस प्रकार जब सुखाकारा वस्तु मन मे प्रविष्ट होती है तब वही स्थायी भाव रूप होकर रसरूपता को प्राप्त होती है[1]।

१६. काव्य के अनुशीलन से सहृदयों के अंतःकरण मे रज और तम गुणों को दबाकर सुखमय सत्त्व गुण उद्रिक्त होता है। पर इस सत्त्व मे भी आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने तारतम्य बताया है। क्रोध मे रजोगुण और शोक मे तमोगुण के उन्मेष मे भी सत्त्व गुण की इतनी मात्रा अवश्य विद्यमान रहती है जिससे वे स्थायी भाव की कोटि तक पहुँचकर रसरूप मे सक्रात हो जाते है। फिर भी इनकी अभिव्यक्ति से आविर्भूत सुख, शुद्ध सत्त्व बहुल वृत्ति रति इत्यादि की व्यक्ति से उद्भूत सुख की अपेक्षा, निम्नकोटिक होता है[2]।

---

१. उद्धरण—तमोरजः सत्त्वगुणा मोहदुःखसुखात्मकाः।
तन्मयी प्रकृतिर्हेतुः, सर्वं कार्यं च तन्मयम् ॥
त्रिगुणात्मकमेकैकं वस्तु त्र्याकारमीर्यते।
निजमानससङ्कल्पभेदेन पुरुषैस्त्रिभिः ॥
कामिन्याः सुखता भर्त्रा सपत्न्या दुःखरूपता।
तदलाभात्तथाऽन्येन मोहत्वमनुभूयते ॥
एवं सति सुखाकारः प्रविष्टो मानसे यदा।
तदा स स्थायिभावत्वं प्रतिपद्य रसो भवेत् ॥
भगवद्भक्ति रसायन। उल्लास १। श्लोक १४-१८, पुरुषोत्तम ग्रंथमाला

२. पं० बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्य शास्त्र, प्रथम भाग, पृ० ६१६

१७. संभवतः सांख्यवादी दृष्टि से प्रभावित होने के कारण ही नाट्यदर्पण के रचनाकार गुणचद्र[1] ने और रसकलिका के रचयिता रुद्रभट्ट[2] ने काव्य रस को सुख-दुःखात्मक उभय रूप माना है।

रस : शैव-वैशेषिक

१८. शैव वैशेषिको ने तीन तत्त्व पति-पशु-पाश स्वीकार किए है। पति की दो अवस्थाएँ होती है—लयावस्था और भोगावस्था। जिस समय शक्ति, व्यापारो से विरत होकर शिव मे लीन रहती है उसको लयावस्था कहते है। भोग की अवस्था शिव तथा शक्ति का विलास है। यह विलास नटराज के नृत्य मे मूर्तिमान् है। इसके द्वारा कृत्य पंचक—सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रहकरण संपन्न होते हैं। पशु परिच्छिन्न और अणुरूप है। वह पाश से आबद्ध है। ये पाश तीन, चार या पॉच बताए गए है। शभुदेव—आणव, कार्म, मायीय, वैदव और रोध को तथा भोजदेव—मल, कर्म, माया और तिरोधान को एवं अन्य सामान्यतः मायीय, कार्म और आणव को पाश मानते हैं। ज्ञान, योग, क्रिया, चर्या से पशु जीव शिवरूप हो जाता है। मोक्ष यहा सारूप्य है, सायुज्य नहीं। वैशेषिको मे तार्किक यह मानते है कि दुःख, अज्ञान का विनाश ही मोक्ष है किंतु सैद्धातिको का मत यह है कि आत्मा की चैतन्य स्वभाव मे स्थिति ही मोक्ष है। तार्किको मे मुक्ति पाषाणकल्प[3] है किंतु सैद्धातिको मे वह आनद रूपिणी है[4]।

---

१. कवयस्तु सुखदुःखात्मकसंसारानुरूपेण रामादिचरितं निबध्नन्तः सुखदुःखात्मकरसानुविद्धमेव ग्रथनन्ति। पानरसमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन सुखास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते।
भारतीय साहित्य शास्त्र भाग १, पृ० ६१६ की टिप्पणी मे नाट्यदर्पण का उद्धरण

२. करुणाभयानामपि उपादेयत्वं सामाजिकानाम्, रसस्य सुखदुःखात्मकतया तदुभयलक्षणेन उपपद्यते। अतएव तदुभयजनकत्वम्।
वही। रसकलिका का उद्धरण।

३. दग्धेन्धनानलवन्मोक्षः, प्रशस्तपाद, न्यायभाष्य, पृ० १४४
पाशुपत वैशेषिक-नैयायिक-कापालिकानां अविशिष्टा मुक्त्यवस्थायां पाषाणकल्पा आत्मानो भवन्तीति। सांख्यशैवयोश्च विशिष्टाः आत्मानश्चैतन्यस्वभावास्तिष्ठन्ति।
भास्करभाष्य २।२।३७

४. नित्यानन्दानुभूतिः स्यान्मोक्षो तु विषयादृते। सर्वदर्शन० ६।४१

१९. पशु के पाशविनिर्मुक्त शिवरूप होने पर क्रिया और इच्छा शक्तियो के समन्वय में यह आनंद उपलब्ध होता है। प्रसिद्ध शैव नीलकंठ दीक्षित इस आनंद को काव्य मे रूपक के द्वारा बड़े सुंदर ढग से व्यक्त करते हैं:—

सव्यं वपुः शब्दमयं पुरारेरर्थात्मकं दक्षिणमामनन्ति।
अङ्गं जगन्मंगलमैश्वरं तद् अर्हन्ति काव्यं कथमल्पपुण्याः॥
श्लोक १५।१। शिव लीलार्णव

अल्पपुण्यवान् भला अर्धनारीश्वररूप उस काव्य [रस] को कैसे प्राप्त कर सकते हैं जो संसार भर के मगलो का विधायक है तथा जिसका वामवपु शब्दमय एवं दक्षिण शरीर अर्थात्मक माना जाता है।

२०. शैव वैशेषिको के नाम से कोई रससिद्धात साहित्य मे प्रतिष्ठित नहीं ज्ञात होता। परतु इन्हीं से मिलते जुलते पाशुपत नैयायिक होते हैं। श्री शंकुक का अनुमितिवाद काव्य जगत् म सुख्यात है। ये नैयायिक थे। इन्होने चित्रतुरगन्याय से सामाजिकनिष्ठ रस की चमत्कृति का विवेचन किया है। जैसे चित्रस्थ घोड़ा क्रियाशून्य और जड़ होने पर भी चित्रकार के कौशल से वह दर्शक को सक्रिय दिखाई पड़ता है और दर्शक प्रसन्न हो उठता है उसी प्रकार नायक-नायिका-निष्ठ रति का ऐसा नाट्य, नटनटी प्रस्तुत करते है जिससे सामाजिक चमत्कृत हो जाते हैं। संक्षेप मे यही शंकुक की रसबोध की प्रक्रिया है। इस दृष्टि से शिव पार्वती के आनदमय विलास का काव्य के शब्दार्थ युग्म मे अनुमान कर सहृदय अनुरजित होते है—ऐसा ही कुछ शैव वैशेषिकों का रसदर्शन होना चाहिए।

२१. इस प्रकार शैव सिद्धाती—वैशेषिकों के अनुसार [१] जगत् शिवशक्ति की लीला का विलास है। इसलिये जगत् मे कर्म और ज्ञान की अपेक्षा भक्ति ही[1] अधिक महत्वपूर्ण है। यही भक्ति पीयूषवर्षिणी और अनुभवैकगम्य है। वह समस्त विशिष्ट सुखों से भी अतिशयित है। [२] काव्य में जो आनंद लब्ध होता है उसका आधार शिवशक्तिनिष्ठ आनद का अनुमान है। वस्तुतः अर्धनारीश्वर का जागतिक प्रतीक

---

१. प्रसिद्ध वैशेषिक लेखक व्योमशिव द्वारा रचित प्रशस्ति मे इन शैवसिद्धांती तपस्वियो के शिष्य चेदिराज पीयूषवर्ष की शिव संबंधी स्तुति है:—
किमिह बहुभिरुक्तैर्नाथ सर्वस्यहेतुर्भवतु भवति नित्यं भक्तियोगो ममैकः।
सकलसुखविशेषाद् यत्र पीयूषवर्षः स्वयमनुभवगम्यो जायते त्वत्प्रसादात्॥
एपीग्रेफिया इंडिका, जिल्द १, पृ० २६१

काव्य है, जिसमे शिव शक्ति के समान शब्द अर्थ समन्वित रहते है। सारांश में भक्ति और काव्य आनंद के साधन हैं।

२२. यह शैव लीलावाद और रसदर्शन, गौडीय वैष्णव लीलावाद तथा रसदर्शन से बहुत अधिक मिलता जुलता है।

२३. रसदर्शन की उपर्युक्त द्विविध धाराओ के अतर्गत निगम धारा मे कर्म और ज्ञान के प्रसंगो मे रस की व्याख्या हुई, किंतु आगम धरा मे भक्ति के आभोग मे रस के स्वरूप की विवेचना की गई। प्रथम धारा के अनुसार वैदिक मर्यादा तथा सामाजिक आचार काव्य मे प्रतिष्ठित थे। द्वितीय धारा मे श्रौत सामाजिक आचारों का स्वतंत्र महत्व स्वीकृत नहीं था।

समन्वय

२४. निगम और आगम धारा की रसपरपराओं का एक समन्वित रूप भी अभिनवगुप्त के समय से ही उपलब्ध होने लगता है। उनकी त्रिकदर्शनमूल रस-प्रक्रिया मे यह समन्वय अत्यंत स्पष्ट है।

रस : त्रिकदर्शन

२५. दर्शन की दृष्टि से अभिनवगुप्त की रसप्रक्रिया का स्वरूप ऐसा प्रतीत होता है कि नाट्यदर्शन अथवा काव्यानुशीलन के समय सामाजिक के त्रिविध मलों एवं पंच कंचुको का अपनयन हो जाने से आत्मशक्ति विस्फूर्जित होती है। इस शक्तिविस्फार से परिपुष्ट रति आदि स्थायी भाव रस कहे जाते है।

२६. वास्तव मे यह दर्शन चित्, आनंद आदि पंचशक्तियों से युक्त परमशिव को ही परतत्त्व स्वीकार करता है[1]। इस परमशिव और जीव मे तात्त्विक दृष्टि से

---

१. ....स्वतंत्र एकः प्रकाशः, स्वातंत्र्यादेव च देशकालाकारावच्छेदविरहात् व्यापको नित्यः सर्वाकारनिराकारस्वभावः, तस्य च स्वातंत्र्यं आनन्दशक्तिः, तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः, प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः, आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः, सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः इत्येवं मुख्याभिः शक्तिभिर्युक्तः......।

अभिनवगुप्त : तंत्रसार [पृ० ६] काश्मीर ग्रंथावली १७

कोई अंतर नहीं[1]। महेश्वर से अभिन्न होने के कारण वह आनंद आदि शक्तियों के उच्छलन का आश्रय है। किंतु आणव, मायिक और कार्म नामक मलों[2] से तथा कला, विद्या, राग, काल एवं नियति नाम के कंचुकों[3] से आच्छादित हो जाने के कारण वह अपने प्रकृत शिवस्वरूप को विस्मृत कर बैठता है। 'महेश्वरोऽहं' की प्रत्यभिज्ञा, पुनः पहचान करने के लिये शाम्भव, शाक्त, आणव इत्यादि अनेक उपाय इस शास्त्र में बताए गए हैं[4]। इन सब उपायों का एक ही लक्ष्य है—जीव में संकुचित शक्ति का विस्फार क्योंकि यह विस्फार ही आह्लादमय है। काव्य के अलौकिक व्यंजना व्यापार से भी सहृदय की परिच्छिन्न शक्ति का विस्तार होता है। इसके अवश्यभावी परिणामरूप में सामाजिकों के मलों और कंचुकों का काव्यानुभव काल तक के लिये हट जाना स्वाभाविक है। इसके साथ ही शक्ति के विस्फार से लब्ध होनेवाले शिवस्वरूप से परिपुष्ट होकर स्थायीभाव रसपदवी को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार आनंद स्वरूप शिव ही रस है।

२७. जहाँ तक दार्शनिक प्रश्न है त्रिक एवं शैव सिद्धांत में पशु, पति और पाश की दृष्टि से असाधारण साम्य है! किंतु शैवसिद्धांत जहाँ द्वैतवादी है वहाँ त्रिक

---

१. तत्रान्तर्विश्वमिदं विचित्रतनुकरणभुवनसन्तानम्।
भोक्ता च तत्र देही शिव एव गृहीतपशुभावः॥

अभिनवगुप्त, परमार्थसार। श्लोक ५। वही ७

२. आणव मायीय कार्ममलावृतत्वात् त्रिविधः।

क्षेमराज, प्रत्यभिज्ञाहृदयम्। पृ० ५१। वही ३

द्रष्टव्य—शिव सूत्र २ और ३ [उन्मेष १] पर 'विमर्शिनी'। पृ० ११ से १६। वही १

३. कला-विद्या-राग-काल-नियति कञ्चुकवलितत्वात् पञ्चकस्वरूपः।

प्रत्याभिज्ञाहृदयम्, पृ० १६

अस्य सर्वकर्तृत्वं, सर्वज्ञत्वं, पूर्णत्वं, नित्यत्वं, व्यापकत्वं
च शक्तयोऽसंकुचिता अपि संकोचकग्रहणेन
कला-विद्या-राग-काल-नियतिरूपतया भवन्ति।

क्षेमराज, पराप्रवेशिका, पृ० ८-९, वही १५

४. स च एष विसर्गस्त्रिधा, आणवः चित्तविश्रान्तिरूपः,
शाक्तः चित्तसम्बोधलक्षणः, शाम्भवः चित्तप्रलयरूप इति। तंत्रसार। पृ० १६-१७
अनुपाय की भी उपायरूपता के लिए द्रष्टव्य, तंत्रसार। पृ० ८-९

सिद्धांत अद्वैतवादी। इसी लिये शैव वैशेषिकों मे मुक्ति की कल्पना जहाँ सारूप्य पर समाप्त हो जाती है वहीं त्रिक दर्शन मे वह शक्ति और शक्तिमान् के परिपूर्ण सामरस्य में पर्यवसित होती है। त्रिकदर्शन का यह सिद्धांत इसे अद्वैतवेदांत के सन्निकट ला देता है। अभिनवगुप्त की रसप्रक्रिया मे भी वैशेषिक और अद्वैतवेदात के युगल तत्व संयुक्त दिखाई देते हैं। वैशेषिकों के अनुसार पशु के पाश विमोक्षण से ही आनंदोपलब्धि इसमे मान्य है। किंतु काव्य मे शिवस्वरूप आनंद की प्राप्ति वैशेषिकों के मतानुकूल नहीं है। वैशेषिको के अनुसार सामाजिक मे रस की प्रतीति उस आनंद की अनुमिति से उद्भूत चमत्कृति रूप मे ही कल्पित की जा सकती है। अद्वैत वेदात की रसानुभूति मे अविद्यारूपी आवरण के भंग होने से आत्मानंद की प्रतीति मानी जाती है। इसके अनुकूल त्रिक दर्शन मे भी मल आदि के अपनयन से शिवस्वरूप आनंद की अनुभूति स्वीकृत है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस रस प्रक्रिया मे आनंदोपलब्धि और पाशापनयन अद्वैतदर्शन से प्रभावित है। इस प्रकार अभिनवगुप्त के रस-सिद्धात-विवेचन मे वैशेषिक और अद्वैत वेदात दोनो का समन्वय हुआ।

२८. त्रिक दर्शन मे यह विश्व शिव और शक्ति का लीला विलास तथा आनंद तत्व शिवनिष्ठ माना जाता है। यद्यपि इस सिद्धात मे सामान्यरूप से मीमासको के श्रुतिविहित कर्मो एवं आचारमर्यादाओ का विशेष महत्व स्वीकृत नहीं है तथापि इसके काव्यपक्ष मे अभिनवगुप्त ने भट्टनायक द्वारा उत्थापित वैदिक समाज मर्यादा का ग्रहण कर लिया है। अभिनव भारती मे प्रतिपादित रस प्रक्रिया के अतर्गत वे विभाव आदि के अनौचित्य के विषय मे लिखते है 'विभावाभासादनुभावाभासाद् व्यभिचार्याभासाद्रत्याभासे प्रतीते चर्वणाभाससारः शृगाराभासः'[1] अर्थात् विभाव अनुभाव-व्यभिचारी के आभास से प्रतीत होनेवाले रत्याभास मे रसास्वाद का आभास शृगाराभास है। सीताविषयक रावण की उक्तियो की विवेचना कर उन्होने उसे रत्याभास ही माना है[2]।

२९. वैदिक समाज मर्यादा की स्वीकृति का इससे भी स्पष्ट प्रमाण अभिनव गुप्त के इस कथन मे मिलता है कि प्रमदा भोग्य होने के कारण अप्रधान और पुरुष भोक्ता होने से प्रधान है। भोग्य भोक्ता को अपने अधीन नहीं कर सकता। इसलिये

१. नाट्यशास्त्र पर अभिनव भारती, जिल्द १, पृ० २९६, गायकवाड ओरियंटल सीरीज, सन् १९२६

२. वही पृ० २९६-२९७

पुरुष का दूसरी नायिका से संबंध होने पर भी शृंगार की हानि नहीं होती। किंतु भोक्ता के प्रति भोग्य की पराधीनता के कारण भोग्य का किसी अन्य के साथ संसर्ग होने पर रसभंग हो जाता है[1]। इन विवेचनों से स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त की रस प्रक्रिया मे मीमांसकों का प्रभाव भी अंतर्भुक्त है।

रस परंपराएँ

३०. इस प्रकार मीमांसा वेदांत और त्रिकदर्शन मे सामाजिकनिष्ठ रस की स्थिति आत्मानंद रूप से कल्पित हुई है किंतु वैशेषिक दर्शन मे काव्यरस मे आनंद की स्थिति नहीं स्वीकार की गई अपितु शिवशक्तिनिष्ठ आनंद का उसमें अनुमान मात्र कल्पित हुआ। क्योंकि वैशेषिक लोग आनंद की स्थिति केवल भक्तियोग में स्वीकार करते थे।

३१. उत्तर मध्यकाल में इन दोनो विचारसरणियों का प्रचलन था। प्रथम धारा विश्वनाथ महापात्र और पंडितराज जगन्नाथ आदि मे थी और द्वितीयधारा गौडीय वैष्णवो मे दिखाई देती है जिसके संबंधसूत्र बोपदेव और श्रीधर स्वामी की कृतियों मे भी उपलब्ध होते हैं। इनके साथ ही अद्वैतवादी कृष्णभक्त आचार्य मधुसूदन ने भगवद्भक्ति रसायन मे इन दोनो प्रवृत्तियों का विलक्षण सामंजस्य किया।

काव्यरस : सगुण भक्ति काव्य

३२. आलोच्य युग मे भक्ति की तीनो मर्यादावादी, शास्त्रवादी और रसवादी धाराओं मे समाज या तो गौण रूप से ग्राह्य है अथवा अत्यंत तिरस्कृत। मर्यादावादी तुलसी के वाङ्मय मे समाज भक्ति के आभोग और श्रीराम के परिपार्श्व में नियोजित हुआ है। शास्त्रवादी कवियों मे वैष्णव सामाजिक मर्यादा स्वीकृत हुई है। किंतु रसवादी भक्तो मे समाज बिल्कुल तिरस्कृत है। इसीलिये इस भक्ति काव्य से व्यक्त होनेवाले रस मे सामाजिक—प्राकृत तत्वों का सर्वथा अभाव है। तुलसी तो स्पष्ट स्वर मे कहते हैं—

---

1. तत्र भोक्तृत्वे पुरुषस्य प्राधान्यम्। प्रमदायास्तु भोग्यत्वं, प्राधान्यादेव च तस्य भोग्येनापरतन्त्रीकरणम् इति नायिकान्तरयोगेऽपि न शृङ्गारहानिः। भोग्यस्य तु पारतंत्र्यादेव अन्यसम्मीलने शृङ्गारभङ्ग इति दर्शितम्।

वही, पृ० २१२

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना॥
प० ७। दो० ११। मानस बाल०

इसीसे उन्होंने मानसरूपक मे अपने काव्य के विषय मे भी कहा है:—

संबुक भेक सेवार समाना। इहाँ न बिषय कथा रस नाना॥
पं० ४। दो० ३८। वही

३३. हरिराम व्यास ने भी केवल भगवान् की लीला का गान करनेवालों को उत्तम कवियो मे परिगणित किया है:—

प्रबोधानंद से कवि थोरे।
जिन राधावल्लभ की लीला रस में सब रस घोरे
पं० १-२। पद १८। व्यासवाणी

बिहारीदास के काव्य मे उन्होंने जगत् से उदासीनता तथा राधाकृष्ण के महामाधुरी तत्त्व की प्रशंसा की है—

महामाधुरी मत्त मुदित ह्वै गावत रस जस जगत उदासै॥
पं० ४। पद २०। वही

३४. वार्ताओ से विदित होता है कि बादशाह अकबर ने एक बार सूरदासजी के मिलने पर कहा था कि—'मोकों परमेश्वर ने राज्य दीयो है सो सब गुनी जन मेरो जस गावत हैं ताते तुमहू कछू गावौ'[1]। इस पर सूरदास ने आत्म चेतावनी विषयक यह पद—'मना रे तू करि माधौ सो प्रीति' गाकर सुनाया। इसे सुनकर प्रसन्न होते हुए भी अकबर ने पहले कही हुई इच्छा को फिर दुहराया। तब सूरदास ने निम्नलिखित पद गाया—

नाहिन रह्यौ मन में ठौर।
नंद नंदन अछत कैसे आनिये उर और॥

वार्ताकार के अनुसार इसे 'सुनि कैं देशाधिपति अकबर बादशाह अपने मनमें विचार्‍यो जो ये मेरो जस काहे को गावैंगे जो इनको कछू मेरी बात को लालच होय तौ गावैं ये तो परमेश्वर के जन हैं'[2]।

३५. उक्त ढंग की ही अनुश्रुति कुंभन दास के संबंध मे भी उल्लिखित है। इसके अनुसार किसी समय अकबर ने इन्हे फतहपुर सीकरी में बुलवाकर कहा कि—

१. डा० धीरेंद्र वर्मा : अष्टछाप, पृ० ८।

२. वही, पृ० ६

'कुंभनदासजी तुमने बिसनपद बहुत कीये हैं सो मैने तुमको बुलायो है ताते तुम कछू बिसनपद गावो। तब कुंभनदासजी तौ मनमे कुढ़े हुते जो विचारें जो कहा गाऊँ मेरी वाणी के भक्ता [भोक्ता ?] तो श्री गोवर्द्धनधर हैं और कछू गाए बिना मेरो काम चलैगो नाहीं ताते ऐसो गाऊँ जो कबहूँ मेरो नाम न लेय''[1]। यह सोचकर उन्होंने निम्नपद गाकर सुनाया :—

भक्तन को कहा सीकरी काम।
आवत जात पन्हैया टूटी बिसरि गयो हरि नाम॥
जाको मुख देखे दुख लागै ताको करन परी परनाम।
कुंभनदास लाल गिरधर बिन यह सब झूठौ धाम॥

वार्ता लेखक के अनुसार इसको सुनकर बादशाह 'अपने मनमे बहुत कुढ्यो और कह्यौ। जो इनको काहू बात को लालच होय तो मेरो जस गावैं इनको तौ अपने परमेश्वर सों साँचो सनेह है'[2]।

३६. इस प्रकार उपर्युक्त दोनों वार्ताओं से स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्रवादी भक्तों को भी अपनी रचनाओं मे वर्ण्य रूप से केवल भगवान् इष्ट थे। नंददास रूपमंजरी मे स्पष्टतः कहते हैं कि—

तुव रस जस जिहि कबित न होई। भीति चित्र सम चित्र है सोई॥ पं० ९२

हरि जस रस जिहि कबित नहिं, सुने कवन फल ताहि।
सठ कठपूतरि संग घुरि, सोए कौ सुख आहि॥
दो० ३५। नंददास०

३७. ऐतिहासिक परिपार्श्व मे इस सिद्धात का विशेष महत्त्व है। अपभ्रंश और हिंदी साहित्य मे पहले से ही प्रमुखतया दो धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं—नाथपंथी-बौद्ध-जैन संतो की साधनापरक रचनाएँ तथा नवसाहसाक चरित, विक्रमाकदेव चरित, नैषधीय चरित, पृथ्वीराजविजय आदि से निस्सृत ऐतिहासिक काव्यो के अंतर्गत चरित, विलास, चंद्रिका, विजय की परंपरा। यदि प्रथम प्रकार की रचनाओं मे साधनाजन्य अनुभूतियो को नीरस और प्रखर ढग से व्यक्त किया गया तो दूसरे प्रकार के काव्य मे लौकिक युद्धलिप्सा और शृगारिक विलास का बाहुल्य था।

---

१. वही, पृ० ७४
२. वही, पृ० ७६

सगुणोपासक भक्तों ने न तो नीरस निर्गुनिया काव्यपद्धति का अनुगमन किया और न लौकिक आलबनयुक्त चरितो की काव्यशैली का ही ।

भक्तिरस की परंपरा

३८. सस्कृत साहित्य शास्त्र मे भरतमुनि के समय से ही नौ रसो और भावों आदि की संख्याएँ नियत हो गई थीं। पर उनके स्वरूप, प्रक्रिया आदि का विमर्श बहुत बाद तक बराबर होता रहा। अभिनवभारती के शात-रस-विचार के प्रसंग मे अभिनवगुप्त ने भरतमुनि के वचनो की युक्तिपूर्वक सिद्धि की है। यहीं उन्होने भक्ति और श्रद्धा नाम के भावो को शातस्वरूप देवदेव के प्रणिधान मे गतार्थ कर उन्हे पृथक् रस नहीं माना है[1]। आर्द्रतास्थायिक स्नेह एवं गंध [गर्ध] स्थायिक लौल्य रसो का रति, उत्साह और हास आदि स्थायी मे अंतर्भाव बताकर उनके विशिष्ट रस रूपों का प्रत्याख्यान किया है। भक्तिरस के खंडन की इसी सरणि का उन्होंने फिर से उल्लेख किया है[2]। इनके भक्ति-रस खंडन से इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि उस समय भक्ति को रस माननेवाले कुछ लोग अवश्य रहे होगे।

३९. भक्तिरस का अनुपबृंहित उल्लेख मात्र शांडिल्य-भक्ति-सूत्र[3] और

---

१. अत एवेश्वरप्रणिधानविषय भक्तिश्रद्धे—इति न तयोः प्रथग्रसत्वेन गणनम् ॥
अभिनव० । पृ० ३४०

२. आर्द्रतास्थायिकः स्नेहो रस इति त्वसत्। स्नेहो ह्यभिषङ्गः। स च सर्वो रत्युत्साहादावेव पर्यवस्यति। ...एषैव गन्धस्थायिकस्य लौल्यरसस्य प्रत्याख्याने सरणिर्मन्तव्या। हासं वा रतौ वान्यत्र पर्यवसानात्। एवं भक्तावपि वाच्यमिति।
वही । पृ० ३४१–३४२

३. द्वेषप्रतिपक्षभावाद् रसशब्दाच्च रागः ॥ अध्याय १। आह्निक १। सूत्र ६
इसकी व्याख्या करते हुए स्वप्नेश्वर सूरि लिखते है—
भक्तिः खलु राग एव भवितुमर्हतीति कुतः द्वेषविरोधित्वात्—किंच [तैत्ति० । पृ० १००] रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवतीति ब्रह्मानन्दाविर्भावमुक्ते ब्रह्मगोचरस्य रसस्य हेतुतावगम्यते। रसश्च रागः [गीता। अध्याय २। श्लोक ५९] 'रसवर्ज्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' इत्यादौ प्रसिद्धः। द्रष्टव्य पृ० ८–९ इस प्रकार स्वप्नेश्वर के अनुसार रस का अर्थ यहाँ भगवद्विषयक राग है। किंतु नारायण तीर्थ ने अपनी भक्तिचंद्रिका [सरस्वती-भवन-माला संख्या ९ मे प्रकाशित] मे भक्तिरस का व्यापक विवेचन किया है। यह

उत्पलाचार्य की शैव-स्तोत्र-रत्नावली[1] मे मिलता है। यदि निंबार्काचार्य अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती हो तो उनकी दशश्लोकी का भी प्रमाण दिया जा सकता है जिसमे भक्तिरस बताया गया है। परंतु भक्तिरस का विशद विवेचन बोपदेव [१३वीं शताब्दी] के पूर्व शायद ही किसी ने किया हो। केवल श्रीधर स्वामी [११वीं शती] की भागवत-भावार्थ-दीपिका[2] मे भक्तिरस का संक्षिप्त परिचय मिलता है। संभवतः इसीलिये मम्मट ने किसी विशेष अड़चन के बिना ही काव्यप्रकाश मे भरत और अभिनवगुप्त की परंपरा के अनुकूल भक्ति, देवादिविषयक रति को संचारी भावो के खाते मे डालकर चलता कर दिया[3]।

भक्तिरसः बोपदेव

४०. अलकार शास्त्र के पारंपरिक नव रसो को भक्ति रस में अंतर्भुक्त करने का श्रेय बोपदेव को है। मुक्ताफल मे उन्होने अभिनवगुप्त आदि उन रसशास्त्रियों की अच्छी खबर ली है जो भक्ति को भावमात्र मे पर्यवसन्न करते हैं। उनका कथन है कि रसतत्व का प्रमाण है—उपयोगी विभाव आदि सामग्रियो का सद्भाव। इस दृष्टि से विचार करने पर भक्ति रस की पोषक समस्त सामग्री देखी जाती है। भगवान् मे मनोनिवेश ही इस भक्ति मे स्थायीभाव है। भगवान् अथवा भगवद्भक्त इसके आलंबन है। उनके चरित्रों का श्रवण आदि उद्दीपन विभाव है। भक्ति रस के आश्रय भक्त मे स्वाभाविक अनुभाव है। धृति वगैरह व्यभिचारी है। रति आदि से उपरंजित स्थायी 'मनोनिवेश' परिपुष्ट होकर भक्ति रस कहलाता है। अतः रसात्मक सामग्रियों की विद्यमानता मे भी भक्ति को रस न मानना, केवल रुचिवैचित्र्य कहा जायगा। बोपदेव की सभावना है कि यदि कोई यह आपत्ति उपस्थित करे कि काव्य के प्रसिद्ध रस

विवेचन बहुत बाद का होने के कारण अपने पूर्ववर्ती मधुसूदन सरस्वती आदि के भक्तिशास्त्र विवेचन से बहुत प्रभावित है।

१. शैव-स्तोत्र-रत्नावली १। ५, ६; ५। १८, २२; १४।१० आदि

२. स्कंध १०। अध्याय ४३। श्लोक १७ की टीका—

मल्लादिष्वभिव्यक्ता रसाः क्रमेण श्लोकेन निबध्यन्ते :—
रौद्रोऽद्भुतश्च शृंगारो हास्यं वीरो दया तथा।
भयानकश्च बीभत्सः शान्तः सप्रेमभक्तिकः॥

३. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्चितः।
भावः प्रोक्तः.................................॥

काव्य प्रकाश। उल्लास ४। श्लोक ३५—३६

सर्व-जन-संवेद्य होने के कारण रस कहे जाते है किंतु भक्ति रस विशेष वर्ग को ही आस्वाद्य होता है अतएव सबको आस्वाद्य न होने से रस नहीं माना जा सकता। इस स्थिति मे उन्होंने सभी सुप्रसिद्ध रसो के समुच्छेद की शंका उपस्थित की है। श्रोत्रिय वृद्ध मीमासको को नाट्यशाला मे रसानुभूति होती ही नहीं। प्रशातचित्त ब्रह्मचारियो के लिये शृगार की रसनीयता भी व्यर्थ है। प्रगाढ़ रागयुक्त मनुष्यो के लिये शात रस की चर्वणा भी असभव है। शोक-स्पर्श शून्य व्यक्ति करुण रस की अभिव्यक्ति के स्थानो पर पाषाण की तरह कठोर ही बना रहेगा। अतः यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि वासनायुक्त मानव को ही उन उन वासनाओं के अनुरूप रसास्वाद होता है। सार्वजनीन होने के कारण काव्य के नव रसो की स्वीकृति बताना समीचीन नहीं है। इस दृष्टि से भक्ति रस की प्रतिष्ठा अबाधित है। बोपदेव ने यह भी बताया है कि स्थायीभाव मौलिक होना चाहिए। यदि उसकी कल्पना मौलिक नहीं है तो वह रसरूप नहीं हो सकता। जैसे भोजराज ने स्नेह, मति और गर्व नामक स्थायी भावो से प्रेयान्, उदात्त तथा उद्धत रसो की सिद्धि तो की परतु भ्रमवश इन स्थायी भावो की गणना व्यभिचारियो की सूची मे भी कर दी। फलतः 'वदतो व्याघात' की दशा हुई—जो सचारी है—उसका स्थायित्व कैसा[1]? जहाँ तक भगवान् मे मनोनिवेश रूप भक्ति रस के स्थायी भाव का प्रश्न है वह साहित्य शास्त्र मे प्रतिष्ठित किसी भाव के भीतर नहीं आता, बल्कि वे सारे भाव भक्ति के आभोग मे सिमट कर आ जाते है। अतएव प्रसिद्ध नव रसो के स्थायी भावो को भक्ति रस के स्थायीभाव रूप भगवन्मनोनिवेश का उपरंजक मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

भक्तिरस : आचार्य मधुसूदन सरस्वती

आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने आलकारिको की देवादिविषया रति की भावरूपता का एक ओर मंडन किया है और दूसरी ओर खडन। परतु उनका खडन मंडन विभिन्न आलंबनो पर आश्रित होने के कारण परस्पर समजस है। उन्होने बताया कि सामान्य देवताओ मे निरवच्छिन्न आत्मानंद का प्रकाश नहीं रहता। इस दृष्टि मे वे भी जीवकल्प होते है। इसलिये इन देवताओं को विषय करनेवाली चित्तवृत्तियो को भाव मानना ठीक है। किंतु परमानंद स्वरूप परमेश्वर मे तन्मय होनेवाली चित्तवृत्ति को भावकोटि मे रखना, शुद्ध आग्रह माना जायगा[2]।

---

१. मुक्ताफल, पृ० १६७-१६८, कलकत्ता ओरियंटल सीरीज संख्या ५

२. उद्धरण—रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः॥
भावः प्रोक्तो रसो नेति यदुक्तं रसकोविदैः॥

४३. वास्तव मे आचार्य मधुसूदन ने दो प्रकार के रस स्वीकार किए हैं—भक्तिशास्त्रीय रस और साहित्यशास्त्रीय रस। प्रथम प्रकार वैशेषिक भक्तियोग के समान है जिसकी धारा श्रीधर स्वामी, बोपदेव आदि वैष्णवों के माध्यम से होती हुई चली आ रही थी। दूसरा प्रकार मीमांसा, वेदांत तथा त्रिक दर्शनों के रससिद्धांत के सदृश है जिसमे भरतमुनि के समय से ही नवरसो की प्रतिष्ठा थी उन्होंने बताया कि भक्ति रस मे भगवान् के स्वयं विभाव होने से भक्त की चित्तवृत्ति भी उन्हीं के आकार को ग्रहण करती है। इसलिये उस वृत्ति से अभिव्यक्त होनेवाले रस मे परिपूर्ण आनंदमयता रहती है। परंतु अन्यत्र कांता आदि विषयक चित्तवृत्ति के परिपोष से व्यक्त होनेवाले शृंगार प्रभृति नव रसों मे जड तत्त्वों का भी थोड़ा बहुत योग अवश्य रहता है। इसी से नव रसो का आनंदानुभव भक्तिरस की अपेक्षा कुछ न कुछ क्षीण अवश्य होता है[1]। उभयत्र अनुभूत होनेवाला रस—आनंद आत्मरूप होने पर भी भक्ति रस, जडांश से सर्वथा शून्य होने के कारण उत्कृष्ट और नवरस, जड़ांशयुक्त होने से अपकृष्ट होता है।

४३. इस प्रकार भक्तिरस का सर्वातिशायी महत्व अनुभव सिद्ध और बुद्धिसंगत होने पर भी जो लोग उसे अमान्य ठहराते है, उनके प्रति मधुसूदन सरस्वती अमर्षसहित कहते हैं कि जैसे जुगनू की चमक और आदित्य की प्रभा मे जमीन आसमान का अंतर है वैसे ही क्षुद्र रसों की अपेक्षा पूर्णसुखरूप भगवद्रति मे कोई समता ही नहीं। जब काव्यरसिकों ने अपने अनुभव की दुहाई देकर प्रत्यक्ष सुखविरोधी क्रोध-शोक-भय आदि भावों को रसरूप मान लिया तब काव्यरस से करोड़ों गुना अधिक

देवान्तरेषु जीवत्वात् परानन्दाप्रकाशनात् ॥
तद्योज्यं, परमानन्दरूपे न परमात्मनि ॥
भगवद्भक्ति रसायन। उल्लास २। पं० ७५-७६

१. उद्धरण—भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि ॥
मनोगतस्तदाकाररसतामेति पुष्कलम् ॥
कान्तादिविषयेऽप्यस्ति कारणं सुखचिद्घनम् ॥
कार्य्याकारतया भेदेऽप्यावृतं मायया स्वतः ॥
सदज्ञातञ्च तद् ब्रह्म मेयं कान्तादिमानतः ॥
मायावृत्तितिरोधाने वृत्त्या सत्त्वस्थया क्षणम् ॥
अतस्तदाविर्भावित्वं मनसि प्रतिपद्यते ॥
किंचिन्न्यूनञ्च रसतां याति जाड्यविमिश्रणात् ॥
भगवद्भक्ति रसायन। उल्लास १। पं० १०-१३

अनंद प्रदान करनेवाले अनुभवसिद्ध भक्ति रस को रस न मानना शुद्ध जड़ता की निशानी है[1]।

तुलसीदास : रस-मीमांसा

४४. तुलसीदास मे मधुसूदन सरस्वती की समन्वित रसधारा ही अभिव्यक्त हुई है जिसमे [१] मीमांसा-वेदात-त्रिक-रस-दर्शन के नवरस [२] भक्तों का भक्ति रस और [३] मीमांसा का मर्यादावाद तीनों संमिलित है।

४५. भक्ति के प्रसंग मे यह बताया जा चुका है कि तुलसीदास की दार्शनिक दृष्टि अद्वैतपरक थी। इस दार्शनिक भूमिका मे भी सगुणोपासना का नियोजन इनकी ऐसी विशेषता है, जो इन्हे प्रबोधचंद्रोदय के लेखक कृष्णमिश्र और आचार्य मधुसूदन सरस्वती का समीपवर्ती बना देती है। सामाजिक क्षेत्र मे सारी व्यवस्थाएँ और मान्यताएँ भक्ति से अनुशासित मानते हुए भी वैदिक समाजमर्यादा का पूर्णरूप से पालन उनको अभीष्ट है। इस प्रकार भक्ति और समाज दोनों क्षेत्रो में वैदिक और आगमिक धाराओ का समन्वय तुलसीदास के साहित्य मे परिस्फुट है। इसलिये उनका रसदर्शन इन दोनों सिद्धातों से प्रभावित है।

४६. तुलसीदासजी दार्शनिक दृष्टि से अद्वैत मत के मानने वाले थे। परंतु इस सिद्धांत के परतत्व निर्गुण ब्रह्म के साथ वे भक्ति मार्ग के सगुण ब्रह्म श्रीराम की अभिन्नता स्वीकार करते थे। इस दृष्टि से तुलसी के भक्ति रस का स्वरूप मधुसूदन सरस्वती के भक्ति रस के स्वरूप से मिलता जुलता प्रतीत होता है। परमानंदमय रामचंद्र के रूप मे भक्त की चित्तवृत्ति का ढल जाना इस रस का स्थायी भाव है। बोपदेव ने नव रस के स्थायी भावों से उपरजित और उन उन विभाव आदि सामग्रियों के योग से इसकी रसनीयता का प्रतिपादन किया है। किंतु मधुसूदन सरस्वती ने भगवान् के रूप मे निविष्ट चित्तवृत्ति को रति रूप मानकर उसके अनेक भेद प्रभेदों

---

१. उद्धरण—परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्गतिः ॥
खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा ॥
क्रोधशोकभयादीनां साक्षात्सुखविरोधिनाम् ॥
रसत्वमभ्युपगतं तथानुभवमात्रतः ॥
इहानुभवसिद्धेऽपि सहस्रगुणितो रसः ॥
जडेनेव त्वया कस्मादकस्मादपलप्यते ॥
भगवद्भक्ति रसायन। उल्लास २। पं० ७८-८०

की चर्चा की है, जिनसे निष्पन्न होने वाले भक्ति रसो मे विशुद्ध रस, वात्सल्य रस, प्रेयान् रस और शृंगार रस—ये चार प्रमुख है। इनमे से प्रथम तीन स्वतंत्र—अमिश्रित रस है। परतु मिश्रित रस होने पर भी शृंगार को सर्वाधिक प्रभावशाली माना गया है[1]।

४७. तुलसीदास ने राम की 'पदरति' को वेदो मे व्याख्यात 'रस' बताकर भगवद्रति के दूसरे रूपो के प्रति प्रकारातर से अपनी अरुचि व्यक्त की है। भक्ति के अध्याय मे दास्य भाव की भक्ति से सबंध रखनेवाली स्मार्त परंपरा का विस्तारपूर्वक उपन्यास किया जा चुका है[2]। इसी से सबद्ध होने के कारण तुलसी ने मानस रूपक मे कहा है—

सम जम नियम फूल फल नाना। हरि पद रति रस बेद बखाना॥

प० १३। दोहा ३७। मानस बाल०

इस प्रेयान् भक्ति रस के आश्रय मे दीनता के अनुरूप ही आलंबन राम मे उत्तरोत्तर बढ़ती हुई निःसीम महत्ता की भावना जिस निखार के साथ व्यक्त होती है वैसी अभिव्यक्ति अन्य भक्ति रस के आश्रयो मे नहीं दिखाई देती। तुलसी के वाङ्मय मे कविनिबद्ध और कविपात्रनिबद्ध प्रौढ़ोक्तियों मे दैन्यभाव की अत्यधिक विवृति का मूल कारण प्रेयो-भक्ति-रति ही है। विनयपत्रिका मे कवि की उक्ति है—

तू दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसों।
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर हौ चेरो।
तात मात गुरु सखा तू सब बिधि हितु मेरो॥
तोहि मोहि नाते अनेक, मानिये जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु, चरन-सरन पावै॥ पद संख्या ७९

1. विशुद्धो वत्सलः प्रेयानिति भक्तिरसास्त्रयः।
रसान्तरामिश्रितास्ते भवन्ति परिपुष्कलाः॥
शृङ्गारोऽमिश्रितत्वेऽपि सर्वेभ्यो बलवत्तरः।
तीव्रतीव्रतरत्वं हि रतेस्तत्रैव वीक्ष्यते॥
भक्ति रसायन। उल्लास २। श्लोक ३५–३६

२. द्रष्टव्य, पृष्ठ संख्या १०७, अनुच्छेद २७।

४८. यद्यपि वल्लभ संप्रदाय मे भी भक्तो के लिये सिद्धात रूप से हरितोषण के साधन रूप मे एकमात्र दैन्यभाव ही स्वीकृत था,[1] तथापि सूरदास के विनय के पदों को छोड़कर अन्य शास्त्रवादी भक्तो की कृतियो मे इसका विस्तार नहीं मिलता। सूरदास की गोपियो मे भी इस तत्व की कहीं कहीं व्यंजना हुई है पर वह प्रायः उपालंभपर्यवसायी है।

४९. इसी प्रकार रसवादी भक्तो मे हरिराम व्यास ने भगवान् को द्रवित करने के लिये दीनता और दास्यभाव आदि का उल्लेख तो बार बार किया है,[2] लेकिन उनकी रचनाओ मे इनकी प्रतिष्ठा नहीं दिखाई देती।

५०. प्रेयान्-भक्ति-रस के परिपाक की दृष्टि से उपास्य के चरित्र में ऐश्वर्य, वीर्य, माधुर्य, यश, ज्ञान और वैराग्य अथवा ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य तथा तेज नामक समग्र भगवदीय[3] गुणो के प्रकाश की स्थिरता एव दृढ़ता ही उद्दीपक है। भगवान् राम के लीलामय जीवन के अतर्गत यह सामग्री प्रचुर मात्रा मे मिलती है। राम के आविर्भाव के साथ ही माता कौसल्या ने सहर्ष उस नयनाभिराम घनश्याम के अद्भुत रूप को देखा, जिसके चारो हाथो मे शख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित हो रहे थे। उन्होंने संभ्रमसहित स्तुति प्रारभ की—

> कह दुहु कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करौं अनंता।
> माया गुन ग्यानातीत अमाना बेद पुरान भनंता॥
> करुना सुख सागर सब गुन आगर जेहि गावहिं श्रुति संता।
> सो मम हित लागी जन अनुरागी भयउ प्रगट श्रीकंता॥
> ब्रह्मांडनिकाया निर्मितमाया रोम रोम प्रति बेद कहै।
> मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै॥
>
> पं० ५–१० । दो० १९२

माता कौशल्या की इस बोधवृत्ति को अपने मधुर स्मित से अंतरित करते हुए भगवान् राम ने प्राचीन कथा के प्रसग मे उन्हे वात्सल्य रस के आस्वादन का मर्म समझाया। प्राचीन कथा का संकेत मनुशतरूपा के आख्यान से है, जिसमे मनु ने राम से 'चाहउँ तुम्हहि

---

१. भागवत पर सुबोधिनी, फल प्रकरण। अध्याय ४। श्लोक २।

२ व्यास-वाणी, पद १२६। पं० ४; पद १७०। पं० १०; पद १९९। पं० ८; पद २०८। पं० ८

३. द्रष्टव्य, विष्णुपुराण। अंश ६। अध्याय ५। श्लोक ७४ और ७९

समान सुत' की आकांक्षा व्यक्त की थी। शतरूपा को भी यही वरदान 'अति प्रिय' लगा था। इसी[1] आख्यान का स्मरण भगवान् ने कराया। फलस्वरूप उन्होने भगवान् से अतिशय प्रिय लगने वाली शिशुलीला करने की अभ्यर्थना की और उधर राम ने—

सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा।
पं० १८। वही

इस प्रसंग मे तुलसी ने राम के ऐश्वर्य, ज्ञान और माधुर्य नामक भगवद्गुणो की अभिव्यक्ति की है। वैराग्य, ज्ञान, बल और तेज नामक भगवद्गुणो के प्रकर्ष का परिचय विश्वामित्र को इस रूप मे हुआ—

प्रभु ब्रह्मन्यदेव मैं जाना। मोहि निति पिता तजेउ भगवाना॥
चले जात मुनि दीन्ह दिखाई। सुनि ताड़का क्रोध करि धाई॥
एकहि बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा॥
तब रिषि निज नाथहि जियं चीन्ही। बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्ही॥
जाते लाग न छुधा पिपासा। अतुलित बल तनु तेज प्रकासा॥
पं० ४-८। दो० २०९। वही

५१. उक्त प्रकार से ही राम के संपूर्ण लीलाचरित मे तुलसी ने स्थान स्थान पर भगवद्गुणों का व्यंजन और वर्णन किया है। भगवान् का स्वरूप जहाँ भक्ति रस का आलंबन विभाव है वहीं उनके भगवदीय गुणकर्म उसके उद्दीपक है। इस तथ्य पर दृष्टि न जाने से सहृदय समीक्षको ने भी राम की भगवत्ता का ख्यापन करनेवाले बहुत से गुण कर्मो को काव्य की रसानुभूति मे बाधक बताया है। वास्तव मे भक्ति काव्य की मीमांसा भक्ति रस की दृष्टि से ही की जानी चाहिए, क्योंकि लौकिक काव्य की दृष्टि से उनका विधान नहीं हुआ है।

५२. प्रेयान्-भक्ति-रस की परिपूर्ण अभिव्यक्ति के लिये अनुभावों और सचारी भावों का समुचित विधान भी अपेक्षित है। तुलसी के साहित्य मे भरत के प्रतीक से इसका विवरण दिया जायगा क्योंकि वे केवल 'भायप भगति' के ही आदर्श नहीं है, प्रत्युत रामभक्ति की 'रससिद्धि' के भी निमित्त माने गए है, जो दास्यभाव के उपासकों का जीवितसर्वस्व है। भरद्वाज का कथन है—

तुम्ह कहं भरत कलंक यह, हम सब कहुं उपदेसु।
रामभगति रस सिद्धि हित, भा यह समउ गनेसु॥ दोहा २०८

---

१. द्रष्टव्य—मानसपीयूष, बालकांड, भाग २ का 'नोट', पृ० १४८२

नव बिधु बिमल तात जसु तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥
उदित सदा अथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥
कोक तिलोक प्रीति अति करिही। प्रभु प्रताप रबि छबिहि न हरिही॥
निसि दिन सुखद सदा सब काहू। ग्रसिहि न कैकइ करतब राहू॥
पूरन राम सुपेम पियूषा। गुर अवमान दोष नहिं दूषा॥
राम भगत अब अमिअँ अघाहूँ। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहूँ॥
पं० १–६। दो० २०९। मानस अयो०

इस प्रकार भरत राम की पदरति के सर्वोत्कृष्ट आश्रय है। जिन समय अयोध्या मे राम के यौवराज्याभिषेक की तैयारियाँ दशरथ ने कीं, उस समय वे ननिहाल मे थे। अयोध्या मे अनर्थों का श्री गणेश होते ही उनको रात मे दुःस्वप्न दिखाई देने लगे। फलतः उन्हे अनिष्ट की 'शंका' हुई और उसके प्रतिविधान के लिये वे नित्यप्रति ब्राह्मण भोजन कराने, दान देने और अनेक विधियो से रुद्राभिषेक आदि मे प्रवृत्त हुए[1]। अयोध्या आने तथा कैकेई से पितृमरण का वृत्तात सुनने पर वे संतप्त थे ही, कि उन्हे अपने ही कारण राम के वनगमन का इतिवृत्त ज्ञात हुआ। इसे सुनते ही वे 'जड़ता' से आक्रात होकर 'स्तब्ध' रह गए[2]। होश मे आने और कैकेई की सात्वना भरी वाणी सुनने पर उनमे 'स्तभ' और 'वैवर्ण्य' का आविर्भाव होता है। 'निर्वेद' के कारण कैकेयी के प्रति उनकी मातृत्वबुद्धि विगलित हो जाती है। उसासें लेते हुए वे उसे धिक्कारते हैं—

जौं पै कुरुचि रही अति तोही। जनमत काहे न मारेसि मोही॥पं०७
पेड़ काटि तैं पालउ सींचा। मीन जिअन हित बारि उलीचा॥पं०८
हंस बंस दसरथ जनकु राम लषन से भाइ।
जननी तूं जननी भई बिधि सन कछु न बसाइ॥
दो० १६१। वही

× × ×

रामबिरोधी हृदय तें प्रगट कीन्ह बिधि मोहि।
मो समान को पातकी बादि कहउँ कछु तोहि॥
दो० १६२। वही

---

१. मानस अयो०। पं० ४–८। दो० १५७
२. वही। दो० १६०

५३. भरत के हृदय की यह 'ग्लानि' माता कौशल्या और विवेकसागर गुरु के समझाने पर भी नहीं गई कि 'मोहि लगि मे सिय राम दुखारी'[1]। उन्होने अयोध्या की सभा मे सबके समक्ष अपनी दारुण 'दीनता' व्यक्त करते हुए बिना रघुनाथ-पद-दर्शन के जी की जलन को किसी प्रकार भी शात न होने की बात कही है[2]। इसके बाद वे सबको लिए दिए चित्रकूट के लिए प्रस्थान करते है। उनकी चित्तवृत्ति राममय थी। इसीलिए रामसखा होने के कारण गुह निषाद को भी समालिंगित कर वे 'पुलक-परिपूरित-गात' हो जाते है[3]। केवल यही नहीं, अपितु शृंगवेरपुर मे राम के नाम से सबद्ध घाट को भी प्रणाम करने मे ऐसे तन्मय हो जाते है, मानो साक्षात् राम ही मिल गए हो[4]। राम के विषय मे नित्य 'उत्सुक' होने की वजह से आवश्यक कार्यों को निपटाते ही वे गुह से कहते है—

पूंछत सखहिं सो ठाउं देखाऊ। नेकु नयन मन जरनि जुड़ाऊ॥
जहँ सिय राम लषनु निसि सोये। कहत भरे जल लोचन कोये॥

पं० ६–७। दो० १९८। वही

उस स्थल को देखने पर वे सादर सप्रेम दडप्रणाम करते है। राम के वियोग का 'आवेग' तो उनमे भरा ही था। इसलिये राम के चरणचिह्नो और जानकी के वस्त्राभूषणों से त्रुटित दो चार कनकबिंदुओ को देखते ही 'पश्चात्ताप' सहित वह आवेग फूट पड़ा—

सजल बिलोचन हृदय गलानी। कहत सखा सन बचन सुबानी॥

पं० ४। दो० १९०। वही

× × ×

मै धिग धिग अघ उदधि अभागी। सबु उतपात भयउ जेहि लागी॥

प० ५। दो० २०१। वही

५४. कठोर सेवकधर्म का पालन एवं उल्लसित चित्त से सीताराम का स्मरण करते हुए वे सब लोगों के साथ प्रयोग पहुँचते है, और उपास्य के वर्णों के अनुरूप

---

१. वही। दो० १८९। पं० ६
२. वही। दो० १८२
३. वही। दो० १९२। पं० ४
४. वही। दो० १९४। पं० ४

गंगा और यमुना के सितासित जल मे अवगाहन कर उनकी तरंगो को देखते हुए पुलकित हो जाते है[1]। शृंगवेरपुर मे गंगाजी से जिस प्रकार उन्होने सीताराम के चरणो मे सहज स्नेह की याचना की थी,[2] उसी प्रकार तीर्थराज से भी वे सीताराम के चरणो मे अपनी रति के निरंतर वृद्धिगत होने की प्रार्थना करते हैं[3]। इसके अनंतर भरद्वाज के आश्रम पर मुनीश्वर द्वारा भलीभाँति प्रबोधित किए जाने पर वे अपने आतरिक क्लेश का उद्घाटन करते है, जिसके मूल मे उनकी पूर्वोक्त 'ग्लानि' और 'दीनता' सन्निहित है—

राम लषन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं॥
प० ८

अजिन बसन फल असन महि सयन डारि कुस पात।
बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरषा बात॥
दो० २११

एहि दुख दाह दहइ दिन छाती। भूख न बासर नींद न राती॥
एहि कुरोग कर औषधु नाहीं। सोधेउँ सकल बिस्व मन माहीं॥
मातु कुमत बढ़ई अघमूला। तेहिं हमार हित कीन्ह बँसूला॥
प० १–३। दो० २१२। वही

५५. भरद्वाज मुनि के आश्रम से विदा होकर भरत आगे बढ़े। राम, लक्ष्मण और सीता के वनपथ की कहानी गुह से पूछते सुनते रास्ता तै कर रहे है। बीच बीच मे राम के वासस्थलस्वरूप वृक्षो को देखते ही उनके हृदय मे बँधा हुआ अनुराग का प्रवाह उमड़ पड़ता था[4]। इसी क्रम से मदाकिनी के तट पर वे पहुँचे। वहाँ सब लोगो को ठहरा कर वे शत्रुघ्न और निषादराज को साथ ले राम के निवासाश्रम की ओर अग्रसर हुए। उस समय अनेक प्रकार के 'वितर्क' उनके मनमे उठने लगे, जिसमे संकोच, चिता, शका, धृति, स्मृति, अलसता, चपलता आदि अनेक भावो का लगाव दिखाई देता है। तुलसी ने इस अवस्था का बड़ा सुदर चित्रण किया है—

---

१. वही। दो० २०३। पं० ७ और दो० २०४। पं० ४–५
२. वही। दो० १६७। पं० ८
३. वही। दो० २०५। पं० २
४. वही। दो० २१६। पं० ६–७

असं मन गुनत चले मग जाता । सकुच सनेह सिथिल सब गाता ॥
फेरति मनहुँ मातु कृत खोरी । चलत भगति बल धीरज धोरी ॥
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ । तब पथ परत उताइल पाऊ ॥
भरत दसा तेहि अवसर कैसी । जल प्रवाह जल अलि गति जैसी ॥
प० ४–७ । दो० २३४ । वही

पर चित्रकूट के वन-शैल दर्शन से उन्हें हर्ष हुआ, फिर भी हृदय का दाह बना हुआ था। आश्रम मे प्रवेश करते ही वह भी शात हो गया। फिर राम के दर्शनो से भरत कृतार्थ हुए। किंतु दो एक दिनो के बाद ही वे चिंताकुल होने लगे कि राम का अभिषेक कैसे सपन्न हो? गुरु वशिष्ठ की आज्ञा पर वे अवश्य अयोध्या लौट सकते हैं, परतु मुनि राम की रुचि के अनुकूल ही कहेगे। माता कौशल्या के कहने से भी राम प्रत्यावृत्त हो सकते हैं लेकिन कौशल्या इसके लिये आग्रह करेंगी या नहीं, कौन जाने? भरत अपने लिये सोचते हैं कि मै ठहरा अनुचर, मेरी बिसात ही क्या? फिर इस समय विधाता भी प्रतिकूल है। ऐसी स्थिति मे मेरा हठ करना और भी अनुचित है—'हरगिरि तें गुरु सेवक धरमू'।

५६. अंत मे चित्रकूट की दोनो सभाओं मे भरत की जिस शालीनता, प्रभुपरायणता, कर्तव्यनिष्ठता का परिपाक मिलता है वही भक्तों की वृत्ति का परम उज्ज्वल उदाहरण है। तुलसीदास को भरत का यह स्वरूप अत्यत प्रिय था। गीतावली मे इसका चित्रण करते हुए वे कहते हैं—

भरत भए ठाढ़े कर जोरि।
ह्वै न सकत सामुहें सकुचवस समुझि मातुकृत खोरि ॥
फिरिहैं किधौं फिरन कहिहैं प्रभु कलपि कुटिलता मोरि।
हृदय सोच जल भरे बिलोचन, नेह देह भइ भोरि ॥
बनबासी पुरलोग महामुनि किए हैं काठ के से कोरि।
दै दै स्रवन सुनिबे को जहँ तहँ रहे प्रेम मन बोरि ॥
तुलसी राम सुभाव सुमिरि उर धरि धीरजहिं बहोरि।
बोले बचन बिनीत उचित हित करुना रसहि निचोरि ॥
पद ७० । गीता०

५७. कहा जाता है कि तुलसीदास जी के रामू द्विवेदी नामक कोई शिष्य थे, जिन्होंने हिंदी न जाननेवाले अन्यप्रातीय विद्वानों के रसास्वादन के लिये रामचरितमानस का संस्कृत रूपांतर प्रस्तुत किया था। इस संस्कृत रूपातर के कुछ

हस्तलेख विदेशो में भी मिले हैं। काशिराज के राजकीय पुस्तकालय मे इसके कुछ कांडो की प्रतियाँ सुरक्षित हैं, जिनमे से अयोध्याकांडवाली प्रति के मंगलश्लोको मे रामू द्विवेदी ने तुलसीदास जी का सश्लिष्ट चित्रण और वंदन किया है। इस बिंबग्राहक वर्णन से भी रामू द्विवेदी का तुलसी के समकालीन होना अनुमित होता है—

गौरं 'रा'-पद-मात्र-संश्रवणतोऽप्युद्भूतरोमाङ्कुरं
वक्षः श्रीतुलसीप्ररूढगुटिकामालस्पटीशालिनम्।
बारंबारमिदं पदं 'भरतु मे ठाढे'ऽति गाढं स्वरं
गायन्तं नररूपिणं कमपि तं वन्देऽनवद्ये हितम्॥
वन्दे श्रीतुलसीदासं निवासं जानकीपतेः।
यत्प्रसादेन रामूको मूकोऽपि कवितां गतः॥

यदि इस प्रमाण को स्वीकार कर लिया जाय तो और भी स्पष्ट हो जाता है कि तुलसीदास की भगवद्रति भरत की भक्ति थी तथा उपर्युक्त गीतावली के पद से व्यक्त होनेवाले दैन्य, व्रीडा, वितर्क, चिंता, स्मृति, धृति आदि संचारी एवं स्तम्भ, अश्रु आदि सात्विक भावो का समुचित योग उन्हे उस रति के परिपोष के लिये अवश्य स्वीकृत था। तुलसी की आत्मनिवेदनपरक रचनाओ मे इन संचारियों की पुष्कल अभिव्यक्ति हुई है। सात्विक भावो की दृष्टि से सज्जन भक्तों मे सर्वमान्य भावना यही थी, जिसे स्वयं राम ने लक्ष्मण से कहा है—

मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
प० ११। दो० १६। मानस अरण्य०

५८. तुलसी की राम-पद-रति से आविर्भूत भक्ति रस मे श्रौत-स्मार्त-मर्यादाओं का पुष्कल योग है। इसीलिये इस रस मे भक्त आलंकारिको द्वारा स्थापित भगवद्विषया अन्य रतियो से परिपुष्ट होनेवाले स्वतत्र रसो मे से कुछ का अंतर्भाव और कुछ का बहिष्कार दिखाई पडता है। उदाहरणार्थ भगवान् के प्रति स्वतंत्र वत्सल रति से व्यक्त होनेवाले वात्सल्य रस की स्वीकृति मधुसूदन सरस्वती[1] और रूप गोस्वामी दोनों मे है। किंतु तुलसीदास ने इस वत्सल रति को भी पदरति की पोषिका बनाया है। स्वायंभुव मनु 'चाहउं तुम्हहि समान सुत' की प्रार्थना पर श्रीराम से 'आपु सरिस कहं खोजउं जाई। नृप तुम्ह तनय होब मै आई' का वरदान पा जाने के अनंतर पुनः प्रार्थना करते है—

---

१. स्नेहः पुत्रादिविषयः पाल्यपालकलक्षणः। श्लोक ६। उल्लास २। भगवद्भक्ति०

सुतविषयक तव पदरति होऊ। बरु मोहि मूढ़ कहइ जग कोऊ॥

इस अर्धाली का पूर्वार्ध ध्यातव्य है। इसमे पदरति ही विशेष्य अतएव प्रधान है। सुतविषयक रति या वत्सल रति उसका विशेषण होने से गुणीभूत है। इतने से स्पष्ट हो जाता है कि वत्सल रति तुलसी को पदरति के उपरंजक रूप मे ही ग्राह्य है, फिर भी यह खटका लगा हुआ है कि संसार इसको मूढ़ता मानेगा। मानस मे राम के बालरूप के उपासको मे शंकर और भुशुंडि का भी उल्लेख हुआ है। परंतु इससे यह भ्राति न होनी चाहिए कि उनमे स्वतत्र वात्सल्य की उपासना तुलसी ने दिखाई है। 'बालक रूप राम' का ध्यान उन्हे अत्यंत प्रिय है पर वह भी राम की पदरति के पोषण के लिये। कागभुशुंडि का स्पष्ट उद्घोष है—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धान्त[1] बिचारि॥
दो० ११९ क। मानस उत्तर०

इसी प्रकार काम आदि इच्छाओ से मिश्रित होने पर भी मधुसूदन सरस्वती ने बोपदेव की अविहिता कामजा रति से परिपुष्ट होने वाले सभी भक्ति रसो से बलवान बताया है[2]। रूप गोस्वामी ने भी मधुर रस के नाम से इसे सर्वोत्कृष्ट माना है। लेकिन तुलसीदास की रचनाओ मे स्मार्त परंपरा के 'हरि-पद-रति

---

१. भुशुंडि के इस सिद्धान्त से यह भी स्फुट हो जाता है कि तुलसी ने जिस स्रोत से लेकर भुशुंडि-गरुड-संवाद की कथा का नियोजन मानस में किया है, वह मूल ग्रंथ 'राम भक्ति साहित्य मे मधुर उपासना' के अन्तर्गत चर्चित भुशुंडि रामायण से सर्वथा भिन्न होना चाहिए क्योंकि इस महाग्रंथ मे कृष्ण की रासलीला को भी मात कर देनेवाले 'करुणानिधान' राम के विविध विलक्षण रासों मे उत्तान शृंगार का अभूतपूर्व वर्णन है।

२. काम. शरीरसम्बन्धविशेषः स्पृहयालुता।
सन्निधानासन्निधानभेदेन स भवेद् द्विधा॥ श्लोक ३
तत्सम्बन्धाया द्रुतौ चित्ते या स्याच्छ्रीकृष्णनिष्ठता।
सम्भोगविप्रयोगाख्या रतिः सा सा क्रमाद् भवेत्॥ श्लोक ४
× × ×
शृंगारे मिश्रितत्वेऽपि सर्वेभ्यो बलवत्तरः।
शोकस्तम्भनरत्वं हि रसेस्तत्रैव वीक्ष्यते॥
श्लोक २६। उल्लास २। भगवद् भक्ति०

रस' की ही मूलतः प्रतिष्ठा होने के कारण इसका बहिष्कार किया गया है। मानस मे उमामहेश्वर के शृंगार वर्णन का अवसर आने पर वे—

जगत मातु पितु संभु भवानी। तेहिं सिंगार न कहउँ बखानी॥
प० ४। दो० १०३। मानस बाल०

कह कर टाल जाते है। जानकीजी के सौंदर्य वर्णन के प्रसंगो मे उन्होने पार्थिव पदार्थो के संयोग को भी कहीं कहीं ऐसा बहिष्कृत कर दिया है कि उससे हृदय को अभिभूत करने वाले एक अलौकिक, अद्वितीय और उदात्त सौंदर्य का प्रभाव तो अवश्य पड़ता है लेकिन उसका मूर्तरूप अलक्ष्य रहता है। धनुषयज्ञ की रंगभूमि मे अवतीर्ण, तीनो लोको की रूपमाधुरी को तिरस्कृत करने वाली सीता का वर्णन इस कथन का प्रमापक है। गीतकाव्य की परपरा के अनुकूल गीतावली के तीन चार पदो मे अलबत्ता लौकिकता की कुछ छाया सी छू गई है। पर वह भी राम-पद-रति नामक स्थायी भाव का पोषक है।

५९. तुलसी के समग्र वाङ्मय को स्पदित करने वाली इस प्रेयो रति के निश्चित हो जाने पर इस विषय मे दूसरे सदेहों का अवकाश नहीं रह जाता। वस्तुतः कृष्णोपासना से प्रभावित परवर्ती मधुरोपासक रामभक्तो के प्रमाण मात्र पर गीतावली के कतिपय पदो से सामंजस्य कर तुलसी को ऊपर ऊपर से दास्य भाव का भक्त और भीतर भीतर से मधुरभाव का उपासक मानना प्रमाणसिद्ध नहीं है। तुलसीदास ने रामप्रेम को सब प्रकार की सरलता का जनक बताया है—

सूधो मन सूधे बचन सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल बिधि रघुबर-प्रेम-प्रसूति॥ दो० १५२॥ दोहावली

महात्मा तुलसीदास को मधुरोपासक सिद्ध करने की चेष्टा में[1] भक्त तुलसी की यह ऋजुता किस किस्म की वक्रता मे परिणत होगी, यह केवल समझ कर रह जाने की चीज है।

६०. वास्तविकता यह है कि स्मार्त परपरा मे बहुत पहले से ही दास्य भाव की भक्ति स्वीकृत हो गई थी। रामानुज, मध्व और रामानद नामक भक्त आचार्यो

१. 'गीतावली में कई पद ऐसे है जो सिद्ध करते है कि गोस्वामीजी का वाह्य [साधक] रूप मर्यादावादी दास्य भाव का था, परंतु आंतरिक गुह्य [सिद्ध] रूप लीलाविलासी सखी भाव था'। देखिए—
श्री भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र 'माधव': रामभक्ति साहित्य मे मधुर उपासना, पृ० ११७

द्वारा पुरस्कृत भक्ति के स्वरूपों में भी उपासना का यही भाव परिगृहीत है। स्वामी रामानंद के वैष्णव-मताब्ज-भास्कर से कतिपय मौलिक सिद्धांत संबंधी पार्थक्यों[1] तथा

---

1. वैष्णव-मताब्ज-भास्कर के साक्ष्य पर रामानंद स्वामी 'तिंगल' मत के मानने वाले माने जाते हैं। इस मत के अनुसार भगवान् जीव में अंतर्यामी रूप से स्थित होने के लिये अणु रूप ग्रहण करते हैं—

   अणुव्याप्तौ च भगवानणुषु स्वणुरुच्यते।
   पराकाष्ठापरै - विज्ञै - र्मतविद्भि - र्महात्मभिः ॥
   श्लोक १०८। पृ० १८९

   परंतु तुलसीदासजी के—
   व्यापकु एक ब्रह्म अविनासी। सत चेतन घन आनंद रासी॥ पं० ६
   अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥ पं० ७
   दो० २३। मानस बाल०

   इस कथन से जान पड़ता है कि उन्हें अंतर्यामी रूप में भी भगवान् की अणु-रूपता स्वीकृत नहीं थी। भगवान् जीव के साथ भी विभुरूप से अवस्थित होते हैं—यह भी उन्होंने स्फुट शब्दों में कहा है—

   सुंदरी सुंदर बरन्ह सह सब एक मंडप राजहीं।
   जनु जीव उर चारिउ अवस्था विभुन्ह सहित विराजहीं॥
   पं० १५–१६। दो० ३२५। वही

   यह उत्प्रेक्षा तुलसी की अपनी ऊहा होने के कारण उनके दार्शनिक पक्ष के अनु-रूप ही होनी चाहिए। अतः तुलसी का सिद्धांत रामानंद के मत से ठीक प्रति-कूल है।

   इसी प्रकार वैष्णव-मताब्ज-भास्कर के अनुसार भगवान् अपने वात्सल्य गुण के कारण अपने भक्तों के दोषों को स्वयं भोगकर क्षीण कर देते हैं—

   विभोश्च वात्सल्यमहार्णवस्य वात्सल्यमिष्टं खलु दुःखभोगिता।
   समुच्यते नृभिरस्वतन्त्रैः सदा सदाचारपरायणैर्वरैः॥ श्लोक ६७

   उस संप्रदाय में भक्तनिष्ठ दोषों के भगवत्कर्तृक भोग का बड़ा सुंदर दृष्टांत है। जैसे गौ अपने बछड़े के शरीर पर लगे हुए मल को स्वयं चाट कर साफ कर देती है वैसे ही भगवान् भी भक्तों का दोषापनयन किया करते हैं। इस दृष्टि से भी तुलसी का सिद्धांत रामानंदी मत के विरुद्ध पड़ता है—

   रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥ पं० ५
   जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥ पं० ६

सांप्रदायिक अनुश्रुतियो की विभिन्नताओं[1] के कारण तुलसीदासजी स्पष्टतः स्मार्त वैष्णव परंपरा से संबद्ध है। इसी लिये इनकी भक्ति का मूलरूप सेवक-सेव्य-भावात्मक प्रेयो रति है। मीमासा शास्त्र के श्रौत मर्यादावाद से अनुगृहीत तुलसी के भक्ति काव्य मे वात्सल्य रति की थोड़ी बहुत अभिव्यक्ति तो पदरति की उपस्कारिका के रूप मे मिल जाती है किंतु अविहिता कामजा, मधुरा, प्रियता या सखीरति की अभिव्यक्ति कथमपि नहीं मिलती। गीतावली के केवल एक स्थल लक्ष्मण के केलि-गृह गमन से संबद्ध पद मे सखीभाव की झलक मिलती है जो गीत काव्य की परंपरा के साथ सखी भावोपासकों के प्रभाव रूप मे स्पष्ट हो जाती है—

सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहु सो न राम हिय हेरी॥ पं० ७
ते भरतहिं भेंटत सनमाने। राज सभाँ रघुबीर बखाने॥ पं० ८
दो० २९ मानस बाल०

अतएव वात्सल्यसिद्धांत की दृष्टि से भी तुलसीदास के विचार रामानंदी संप्रदाय के ठीक विपरीत है। संयोग से तुलसीदास के ये सिद्धांत 'बडगल' मत में मान्य हैं। पर यह स्मरणीय है कि इन सिद्धांतों का स्मार्त सिद्धांत से भी कोई विरोध नहीं।

१. वैष्णव-मताब्ज-भास्कर की अर्थप्रकाशिका टीका मे रामानंद के बारह शिष्यों की नामावली वैश्वानर संहिता के आधार पर यों दी गई है—

गुरुपादाब्जसन्निष्ठोऽनन्तानन्दो महामतिः।
विद्यः सुरसुरानन्दः सुखानन्दोऽपि तादृशः॥
स महान्नरहरियानन्दोऽनन्तगुणः सुधीः।
भावानन्दोऽपि गुणवान् गालवानन्द एव च॥
योगानन्दः कबीरश्च रमादासोऽपि सन्नतिः।
सेना-पीपा-धनाः शिष्याः द्वादशैते महात्मनः॥ पृष्ठ संख्या ५

भक्तमाल पृष्ठ २८२ पर बारह शिष्य ये हैः—

अनन्तानंद, कबीर, सुखा, सुरसरा, पद्मावति, नरहरि।
पीपा, भावानंद, रैदास, धना, सेन, सुरसर की घरघरि॥

पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी साहित्य की भूमिका पृष्ठ ४८ पर रामानंदी द्वादश शिष्यों की परिगणना इस प्रकार की है—रैदास [चमार], कबीर [जुलाहा], धन्ना [जाट], सेना [नाई], पीपा [राजपूत], भवानंद, सुखानंद, आशानंद, सुरसुरानंद, परमानंद, महानंद, श्री आनंद।

जैसे ललित लषन लाल लोने ।
तैसिये ललित उरमिला, परस्पर लखत सुलोचन कोने ॥
सुखमा सागर सिंगार सार करि कनक रचे हैं तिहि सोने ।
रूप प्रेम परिमिति न परत कहि, बिथकि रही मति मौने ॥
सोभा सील सनेह सोहावनै समउ केलिगृह गौने ।
देखि तियनि के नयन सफल भए तुलसीदास हू के होने ॥
पद १०५ । गीता० बाल०

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि सखीभाव की अभिव्यक्ति लक्ष्मण और उर्मिला के संसर्ग में है, सीताराम के सबंध मे नहीं। दूसरी बात यह कि सखीभावोपासक रसवादियो की तुलना म इस रचना की अभिव्यक्ति अत्यत मर्यादित है जिसका मूल कारण श्रौतस्मार्त मर्यादावाद ही है ।

६१. हाल में ही रामभक्ति के अतर्गत मधुरभाव की गवेषणा से संबद्ध, 'रामभक्ति साहित्य मे मधुर उपासना' और 'रामभक्ति मे रसिक सप्रदाय' नामक दो ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। इन ग्रथो मे आचार्य प० चद्रबली पाडेय द्वारा लिखित लेख 'तुलसी की गुह्य साधना'[1] के आधार पर तुलसी की भक्ति की एकागी मीमासा माधुर्य भाव की भूमिका मे की गई है। अतएव इस प्रसंग मे इस विषय के प्रमुख हेतुओं पर विचार कर लेना उचित होगा ।

६२. पूर्वोद्धृत गीतावली का पद तुलसी के मधुरभाव की उपासना का संकेतक माना गया है। किंतु विचारपूर्वक देखा जाय तो यह पद लोकप्रकृति और 'शील' से भी समन्वित जान पड़ता है। इसलिये वह तुलसी की 'मधुर उपासना' की ओर सकेत करने के स्थान पर इस उपासना के परिव्याप्त प्रभाव की ओर संकेत करता है जो गीत परपरा मे घनीभूत होता जा रहा था। तुलसी के विशाल वाङ्मय मे यह एक ही स्थल है जहाँ सखीभाव की छाया छू गई है। यद्यपि विद्वानो ने अन्य स्थल भी ढूँढ निकाले हैं, पर वे व्याख्यानकौशल अधिक प्रतीत होते हैं, वास्तविकता के द्योतक कम।

६३. गीतावली की वनयात्रा के प्रसंग मे सहसा किसी प्रेमविह्वल ग्रामवधूटी की उपस्थिति[2] और पुरुषकारस्वरूपा सीता जी की उस पर दयादृष्टि[3] देखकर उस स्त्री को तुलसी का सखी रूप मान लिया गया है। इस ढग की संभावनाएँ दूसरे प्रमाणो के

१. द्रष्टव्य, नया समाज, सितंबर सन् १९५२
२. द्रष्टव्य, गीतावली, पद ३२२
३. वही, पद ३२४

सद्भाव मे ही निर्णायक होती हैं। अन्य पुष्ट-प्रमाणों के बिना उनकी सिद्धि नहीं होती। जहाँ तक इस ऊहा का प्रश्न है उसके संबंध मे कई शंकाएँ उपस्थित होती हैं। पहली तो यह कि गीतावली मे तुलसी ने इस प्रकार से एकाधिक बार स्वयं को प्रभु के पास पहुँचाया है। शिव के रूप मे भी वे बालक राम के दर्शनो को पहुँचे थे—इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। मानस के 'तापस', गीतावली के 'शिवशिष्य' तथा स्नेह शिथिल 'सखी' वाले प्रच्छन्न प्रतीको मे सामंजस्य नहीं है। डा० भगवतीसिंह का यह कथन कि मानस का 'तापस' ही गीतावली मे 'सखी' हो गया है, इसलिये उचित प्रतीत नही होता कि उसी गीतावली मे 'शिवशिष्य' तुलसीदास अपने प्रभु बाल राम के दर्शनो को उपस्थित हैं। दूसरे यह भी विचारणीय है कि प्रच्छन्न प्रतीकों के आधार पर की गई ऐसी ऊहाएँ क्या निश्चित प्रमाणों के अभाव मे विभिन्न प्रकार के अनुमानो का आधार बन सकती है?

६४. तुलसी के माधुर्य भाव का द्योतक दूसरा उदाहरण विनयपत्रिका के सुप्रसिद्ध छंद 'कबहुँक अंब अवसर पाइ'[1] से दिया गया है। उसमे आए हुए 'प्रभु-दासी-दास' पद का एक नया अर्थ प्रभु की दासी और दास, द्विविध रूपो मे सुप्रसिद्ध तुलसीदास किया गया है। किंतु इस धारणा का पोषण न तो अंतरंग प्रमाणों से होता है और न बहिरग प्रमाणो से ही। अतरंग हेतुओं की जो मीमांसा की गई है उससे जान पड़ता है कि इसका एक भी कारण पुष्ट नहीं है। बहिरंग प्रमाणो मे परवर्ती काल के रामरसिकों की साक्षी[2] तो मानी नहीं जा सकती क्योंकि उनका कथन अपने रंग मे रँगा होना स्वाभाविक है। सामयिक संतों मे नाभादास और हित ध्रुवदास ने तुलसी की इस आन्तरंगिक उपासनापद्धति का कहीं भी संकेत नहीं किया। यदि कहा जाय कि नाभादास ने रामानंद की परपरा में होने के कारण अपने वर्ग की गुह्य साधना का प्रकाश नहीं किया तो फिर ध्रुवदास जी ने उसका उद्घाटन क्यो नहीं किया, वे तो हित हरिवंश के अनुयायी थे। यदि यह कहा जाय कि उस समय तक कृष्णावलंबी मधुरोपासको की पद्धति पर व्यापक समाज की प्रतिक्रिया देखकर अपने वर्ग मात्र मे इस उपासना को सीमित करने का प्रयत्न किया गया तो फिर डा० भगवती प्रसाद सिंह ने अकबर के जिन सिक्कों मे राम की मधुरोपासना का प्रभाव देखा है वह

---

१. विनय पत्रिका, पद ४१

२. द्रष्टव्य, राम भक्ति साहित्य मे मधुर उपासना, पृ० ११९, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १९५७

असिद्ध हो जायगा। इस झमेले का स्पष्टीकरण अनन्य माधव गोस्वामी के इस उल्लेख से हो जाता है—

> सकल सखियनि में सिरोमनि दास तुलसी तुम रहौ।
> करौ सेवन रुचिर रुचि सो सुजस की बानी कहौ॥
> × × × ×
> तुलसी सु वृंदा सखी को निज नाम ते वृंदासखी।
> 'दास तुलसी' नाम की यह रहसि मैं मन मैं लखी॥

इस उद्धरण से साफ झलकता है कि अनन्य माधव जी अपनी रुचि के अनुसार सखी समाज मे तुलसी की प्रतिष्ठा की कामना कर रहे है। डा० सिंह ने इन्हे तुलसी समकालीन माना है[1]।

६५. इस तथ्य के बहुत से प्रमाण दिए जा चुके है कि तुलसीदास जी स्मार्त दास्य भाव के उपासक थे। यह माना जा सकता है कि सखीभाव के उपासकों का प्रभाव भी उन पर अज्ञात रूप से कुछ कुछ पड़ा जिसकी थोड़ी अभिव्यक्ति उनकी रचनाओं मे कहीं कहीं मिलती है। साथ ही यह भी सिद्ध है कि उसी समय से राम रसिकों ने उनको अपने वृत्त मे लाने की चेष्टा की[2]। पर यह प्रयत्न तुलसी के देहावसान के सैकड़ो वर्ष बाद रामरसिकों के आंतरंगिक मंडल मे तो चरितार्थ हो गया पर लोक मे इसकी प्रतिष्ठा आज भी संशयित है।

६६. प्रेयान् भक्ति रस ही तुलसी साहित्य का अंगी रस है। इसके आलंबन सत् चित् आनंदघन दाशरथी रामचद्र है। उनके अद्भुत गुण और कर्म उद्दीपन

---

१. द्रष्टव्य डा० भगवती प्रसाद सिंह: रामभक्ति मे रसिक संप्रदाय पृष्ठ १०९—११० अवध साहित्य मंदिर, बलरामपुर [गोंडा], वि० संवत् २०१४

२. डा० सिंह के 'अनन्य माधव गोस्वामी' श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र के 'व्रजनिधि' से अभिन्न है क्योंकि दोनो के उद्धृत अंश समान हैं। यदि ये सचमुच तुलसी के ही समय के हों तभी ऊपर का कथन प्रामाणिक माना जा सकेगा। उज्वल नील मणि मे श्री रूप गोस्वामी के निम्न उद्धरण से स्पष्ट है कि माधुर्य भाव के ठीक प्रतिकूल राम का एक पत्नीव्रतधर रूप ही उनके समय तक सुख्यात एवं प्रतिष्ठित था—

> अतिरक्ततया नार्यां त्यक्त्वान्यललनास्पृहः।
> सीतायां रामवत्सोऽयमनुकूलः प्रकीर्तितः॥

श्लोक २२। पृ० २१

हैं। आश्रय हैं भक्त। अनुकूल अनुभावों और संचारी भावों से उपचित होकर उनकी राम पद रतिमयी चित्तवृत्ति भक्तिरस रूप मे अभिव्यक्त होने लगती है। चित्तवृत्तियाँ भी जड़ का परिणाम मानी जाती हैं। अतः लौकिक काव्य के आलंबनो के संसर्ग से उद्बुद्ध होकर आत्मानंद से सवलित होने पर भी उनकी रसात्मकता मे वह चरम आनद नहीं अनुभूत होता जो भक्तिकाव्य की परमात्मनिष्ठ चित्तवृत्ति की पुष्टि मे मिलता है।

६७. जैसे बोपदेव ने भक्तिरस के आभोग मे काव्य के नव रसो को उपरंजक रूप से सन्निविष्ट किया था वैसे ही तुलसी ने भी प्रेयान् भक्ति रस के रजनार्थ अपने साहित्य मे नवो काव्यरसों का विधान किया है। इनका विवेचन आधुनिक हिंदी साहित्य के सहृदय समीक्षकों ने बड़ी मार्मिकता के साथ किया है[1]। इसलिये इन रसो का विशेष विवरण उपस्थित न कर केवल उनकी अंगरूपता की प्रक्रिया दिखाई जायगी।

दूलह श्रीरघुनाथ बने दुलही सिय सुंदर मंदिर माहीं।
गावति गीत सबै मिलि सुंदरि बिप्र जुबा जुरि बेद पढ़ाहीं॥
राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परिछाहीं।
यातें सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारति नाहीं॥

छंद १७। कवित्त० बाल०

इस सवैये मे राम आलबन विभाव हैं। जानकी के कंकण मे प्रतिबिम्बित होनेवाली राम की अलौकिक सौंदर्यमाधुरी उद्दीपन है। आश्रय सीता हैं। उनका सुध बुध भूलना, निर्निमेष देखना आदि अनुभाव है। हाथ के हिलने तथा पलक के गिरने से सुखास्वाद के क्षणिक वियोग मे भी त्रास आदि सचारी व्यक्त होते हैं। इन सबसे परिपुष्ट दापत्य रति शृंगार रस रूप मे व्यक्त होकर आस्वाद्य बनता है। किंतु यह शृंगार रस भी भक्ति रस का अंग है। यहाँ यह अवश्य स्मरणीय है कि तुलसी के अनुसार जनकनंदिनी जानकी साक्षात्परब्रह्म राम की विद्या माया स्वरूप हैं जो अविद्याग्रस्त जीव को बधनमुक्त किया करती है। वे ही भक्तिरूपहैं। भगवान् राम के सदा 'सानुकूल' रहने पर भी वे उनकी परिचर्या करती रहती है—

पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभा खानि सुसील बिनीता॥

पं० ३

---

१. द्रष्टव्य—शुक्ल : गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ६६ से ११४

जानति कृपासिंधु प्रभुताई। सेवति चरन कमल मन लाई॥
जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी॥
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई॥
जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ॥

पं० ७

× × × ×

जासु कृपा कटाच्छु सुर चाहत चितव न सोइ।
राम पदारबिंद रति करति सुभावहि खोइ॥

दो० २४। मानस उत्तर०

यही रति परिपुष्ट अवस्था मे प्रेयान् भक्ति रस कही जाती है। इस स्थल पर सीता में आदर्श पत्नी रूप की भी अभिव्यक्ति तुलसी की स्मार्त परपरा की विशेषता है जिसका सविस्तार परिचय सामाजिक व्यवस्था के उद्घाटन मे दिया जा चुका है।

६८. प्रेयान् भक्ति रस के अंगभूत रौद्र रस का उदाहरण लीजिए—

माषे लखन कुटिल भई भौंहैं। रद पट फरकत नयन रिसौंहैं॥ पं० ८

कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बान।
नाइ राम पद कमल सिरु बोले गिरा प्रमान॥

दो० २५२। मानस बाल०

रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई। तेहिं समाज अस कहइ न कोई॥ पं० १

इस प्रसंग में जनक आलंबन है। उनका यह अधिक्षेप वचन कि—

अब जनि कोउ माखै भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी॥

पं० २। दो० २५२। वही

इत्यादि उद्दीपन विभाव है। लक्ष्मण आश्रय हैं। अमर्ष संचारी है। भ्रुकुटि भंग, ओष्ठ स्फुरण और नेत्रों की रक्तिमा आदि अनुभाव हैं। इनसे परिपुष्ट क्रोध नामक स्थायी भाव रौद्र रस रूप मे व्यक्त हो रहा है। पर यह भी अंगी भक्ति रस का अंग है। इसका स्पष्टीकरण असली चौपाई से ही हो जाता है—

कही जनक जस अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुलमनि जानी॥

पं० २। दो० २५२। वही

जनक के निंदात्मक वचनों की लपेट में लक्ष्मण के आराध्य राम भी आ रहे थे। इसलिये लक्ष्मण मे आविर्भूत क्रोध उनकी भगवद्रति का उपरंजक मात्र है। इसी प्रकार तुलसी की अन्य रसाभिव्यक्तियाँ भी भक्ति रस के केवल अग वर्ग में आती हैं।

६९. तुलसीदास जी ने अपने वाङ्मय मे बड़े कौशल से भक्ति रस की भूमिका मे अन्य रसो की अवतारणा की है। साहित्यिक भावना से भावित समालोचक की दृष्टि सहसा रसो के उक्त अगांगिभाव पर नहीं जाती फिर भी उसको तुलसी के साहित्य से आनद मिलता है। इस संबध मे मानस के प्रस्तावना भाग की वे उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं जिनमे उन्होंने अपने काव्य के लिये आदर्श समालोचक मे काव्य की रसिकता के साथ भगवद्भक्ति का मणिकाचन योग ध्वनित किया है। उन्होंने यह भी बताया है कि इन दोनो गुणो मे से केवल भक्ति के रहने पर भी यह रामकथा मधुर मालूम पड़ेगी परतु दोनों गुणों के अभाव में नीरस सिद्ध होगी—

कबित रसिक न राम पद नेहू। तिन्ह कहं सुखद हास रस एहू॥ पं० ३
भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी॥ पं० ४
प्रभु पद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहि कथा सुनि लागिहि फीकी॥ पं० ५
हरि हर पद रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुबर की॥ पं० ६
दो० ९। मानस बाल०

प्रेयान् रस : लोकमंगल

७०. इस प्रेयान्-भक्ति-रस मे आलंबन के रूप से तो प्राकृत व्यक्ति का सर्वथा बहिष्कार किया गया। किंतु जिस प्रकार भक्ति के आभोग मे समाज की स्वीकृति है उसी प्रकार प्रेयान् रस के आलबन भगवान् के लीलाचरित में श्रौतस्मार्त-सामाजिक-मर्यादा गृहीत हुई। काव्य-रस-दर्शन की धारा मे मीमांसक भट्टनायक ने बहुत पहले ही वैदिक समाजमर्यादा की अनिवार्य मान्यता का प्रश्न उठाया था। इसकी स्वीकृति अभिनवभारती मे है। उनके बाद क्षेमेंद्र ने औचित्य-विचार-चर्चा मे इस सामाजिक तत्व को विविध रीतियो से उभारा। इसी लिये रसगंगाधर मे उल्लिखित नव्यों ने स्पष्ट रीति से पचपांडव विषयक द्रौपदी की रति से व्यक्त रस को आभास ही माना। यही परंपरा तुलसी के प्रेयान्-भक्ति-रस के साथ गौण रूप से समन्वित हुई। अतएव श्रीराम सामयिक श्रौत-स्मार्त-मर्यादा की भूमिका मे चित्रित हुए। इतना ही नहीं प्रत्युत भक्ति के आभोग मे स्वीकृत समाज का मानस मे जो विस्तृत विवेचन हुआ उसमे श्रौत मर्यादा की मान्यता और उसके विरुद्ध आचारों की आलोचना बड़ी

स्पष्ट और निर्भीक रीति से हुई है। तुलसी के रामचरित की मर्यादा अत्यंत स्फुट होगी यदि भुशुंडि रामायण आदि मधुरा-रतिप्रधान ग्रंथों के रामचरित से उसकी तुलना की जाय। इन ग्रंथो मे राम के अनेकविधि रासों का अत्यधिक विस्तार और घोर शृंगार के साथ वर्णन हुआ है जिनमे श्रौतस्मार्त मर्यादा की बिल्कुल उपेक्षा है। कृष्णकाव्य की शास्त्रवादी और रसवादी दोनों धाराओं मे भी यही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। शास्त्रवादी कवियो की गोपिकाएँ इस बात को मानने मे असमर्थ हैं कि कृष्ण को देखकर कोई स्त्री आर्यधर्म मे स्थिर रह सकती है और रसवादी सखीभाव की भक्ति मे तो विधि-निषेध-शून्य शृंगारिकता ओतप्रोत है ही।

मर्यादा : लोकमंगल

७१. तुलसी ने केवल अपने इष्ट को ही मर्यादित भूमिका मे उपस्थित नहीं किया है, अपितु समाज मे श्रौतस्मार्त मर्यादा को स्वीकार करने वालों की प्रशंसा और अस्वीकार करनेवालो की निंदा भी की है। सामाजिक मर्यादाओ का तिरस्कार करनेवाले योगी पिंडरहस्यवाद को मानने वाले थे। इन विषयो का उपस्थापन पहले किया जा चुका है। इस रहस्यवाद का खंडन और सामाजिकता की ओर आकर्षण तुलसी की लोकमगलपरक दृष्टि का साध्य माना जाता है। व्यक्ति स्वातंत्र्यवाद पर स्थित व्यक्तिवैचित्र्यवाद तथा उसके विपरीत समाजवाद के लौकिक धरातल पर स्वीकृत भौतिक मानवतावाद की नवीन विचारधाराओ के प्रसंग मे तुलसी की इस प्रवृत्ति की व्याख्या हुई है। किंतु यह व्याख्या अनैतिहासिक है। 'समाज' मे बताया जा चुका है कि सामाजिक व्यवस्था के क्षेत्र मे तुलसी की यह प्रवृत्ति उनके स्मार्त वैष्णव तत्त्वों से उद्‌भूत हुई है और रसदर्शन मे इस सामाजिक मर्यादा का सूत्र मीमासक भट्टनायक के रससिद्धात मे निहित है। तुलसी का लोकमगल केवल श्रौतस्मार्त मर्यादा का परिरक्षण है। यह तत्त्व उन्होंने भक्ति और काव्य के उभय क्षेत्रों मे परंपरा से प्राप्त किया था।

रस : शास्त्रवादी भक्त

७२. पहले बताया जा चुका है कि शैव वैशेषिकों की भक्त परंपरा आनंद को परमात्मनिष्ठ मानती थी, आत्मनिष्ठ नहीं। इसलिये वहाँ ईश्वर की भक्ति ही रसमयी मानी जाती थी। अन्य जागतिक आनंदों की सत्ता उन्हे स्वीकृत नहीं थी। इसी दृष्टि से प्राकृत आलम्बनों से निष्पन्न होनेवाले काव्यरस की आनंदमयता उन्हे अमान्य रही होगी। परंतु आलोच्य युग के अंतिम अश मे होने वाले शैवसिद्धाती नीलकंठ ने अर्धनारीश्वर के जागतिक प्रतीक शब्दार्थयुग्म स्वरूप काव्य की रसनीयता अल्पपुण्य वालों को अलभ्य बताकर शिवलीलामय काव्य में रस की स्थिति स्वीकार की है।

यहाँ भी काव्यानंद भक्तिमूलक है, स्वतंत्र नहीं। शास्त्रवादी भक्तों की काव्यधारा में भक्ति ही रसरूप मानी गई है।

७३. शास्त्रवादी भक्तों के रसदर्शन का प्रारंभिक रूप क्या था, यह निश्चित रूप से बता सकना कठिन है। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के शिष्य नंददास की 'रूप मंजरी' और 'रस मंजरी' से इस विषय की कुछ जानकारी होती है, जिस पर गौड़ीय भक्ति रस की छाप बहुत स्पष्ट है। इसलिये इस प्रसंग मे गौड़ीय रसप्रक्रिया की प्रस्तावना अनुचित न होगी।

रस : गौडीय दर्शन

७४. गौडीय दर्शन मे परात्पर तत्त्व की संज्ञा भगवान् है। वे भगवान् अवतारावलीबीज अवतारी माने जाते है। उनकी त्रिविध 'अंतरंगा' शक्तियो मे 'ह्लादिनी' शक्ति आनंदमयी है। इसी शक्ति का व्यक्त रूप महाभावस्वरूपा श्री राधिका जी हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की 'तटस्था' शक्ति ने परिच्छिन्न स्वभाव वाले अणुत्वविशिष्ट जीवों की और उनकी 'माया' शक्ति ने इस विश्व का प्रसार किया है। सत्यसंकल्प भगवान् की शक्तियो से संबद्ध तथा उनकी लीला मे उपयोगी होने के कारण जीव और जगत् सर्वथा सत्य है। परंतु जगत् मे आकर जीव विविध प्रकार के कष्टो के चक्कर मे पड़ जाता है। इन दुःखों की निवृत्ति और चरम आनद की प्राप्ति के लिये एकमात्र साधन भक्ति है, जो भगवान् की स्वरूपभूता अंतरंगा शक्ति से संबद्ध होने के कारण परम आह्लादमयी है। वस्तुतः इस प्रेमाभक्ति को प्राप्त करना ही महान् पुमर्थ है। इसका बीज है भगवद्रति। इसे छोड़कर जिस सुख या आनद की चर्चा की जाती है, वह वास्तविक नहीं मिथ्या है। अतएव व्यर्थ एवं उपेक्षणीय है[1]।

७५. मधुसूदन सरस्वती की भाति रूप गोस्वामी ने भी शुद्ध काव्य के आलंकारिको के द्वारा मान्य भगवद्रति के संचारी रूप का खडन कर उसके स्थायित्व का विधान किया है। इस प्रसग मे उन्होने बताया है कि भक्ति रस के आस्वाद से बहिर्मुख रहने के कारण ही इन लोगो ने भगवद्रति की रसरूपता का विधान नहीं किया है[2]।

---

१. रतिरात्यन्तिकस्थायी भावो भक्तजनेऽखिले।
स्युरेतस्या विनाभावाद् भावाः सर्वे निरर्थकाः॥
हरिभक्ति०, दक्षिण०। लहरी ५। श्लोक ३७

२. केचिदस्याः रतेः कृष्णभक्त्यास्वादबहिर्मुखाः॥
भावत्वमेव निश्चित्य न रसावस्थतां जगुः।
वही, पश्चिम०। लहरी २। श्लोक ६१-६२

भक्ति रस के आस्वादन के लिये दो प्रकार की वासनाएँ अपेक्षित हैं—पूर्वजन्म की और इस जन्म की। जिसके अंतःकरण में भक्ति की ये द्विविध वासनाएँ रहती हैं, केवल उसी को इसका आस्वाद होता है[1]।

७६. भक्तों के हृदय में सुशोभित होती हुई उपर्युक्त दोनों प्रकार के संस्कारों से उज्ज्वल आनंदरूपा रति कृष्ण आदि अप्राकृत विभावों से रसनीयता को प्राप्त होने पर परम आनंदमय होती है[2]। यह स्थायी कृष्णविषया रति भगवान् की महाशक्ति के विलास से अनुगत होने के कारण अचिंत्य है[3]। महाशक्ति का तात्पर्य उस ह्लादिनी शक्ति से है, जो मोक्ष के भी आनंद को तिरस्कृत कर भगवान् को आनंदित करती है[4]। मधुरा भक्ति रति का तो ह्लादिनी शक्ति से तादात्म्य हो जाने के कारण मधुर रस की स्वय-प्रकाशता और अखंडता सिद्ध हो जाती है[5]।

---

१. प्राक्तन्याधुनिकी चास्ति यस्य सद्भक्तिवासना।
एष भक्तिरसास्वादस्तस्यैव हृदि जायते॥
वही, दक्षिण०। लहरी १। श्लोक ७

विश्वनाथ महापात्र ने लौकिक काव्य के रसास्वाद के लिये भी इन दोनो प्रकार की वासनाओं को आवश्यक माना है—

वासना चेदानीन्तनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतुः।
साहित्यदर्पण, विमला टीकासहित, द्वितीय संस्करण पृ० ७६

२. भक्तानां हृदि राजन्ती संस्कारयुगलोज्ज्वला।
रतिरानन्दरूपैव नीयमाना तु रस्यताम्॥ श्लोक १०
कृष्णादिभिर्विभावाद्यैर्गतैरनुभवाध्वनि।
प्रौढानन्दचमत्कारकाष्ठामापद्यते पराम्॥
हरिभक्ति०, दक्षिण० लहरी १। श्लोक ११।

३. महाशक्तिविलासात्मा भावोऽचिन्त्यस्वरूपभाक्।
रत्याख्य इत्ययं युक्तो नहि तर्केण बाधितुम्॥
वही, लहरी ५। श्लोक ७४।

४. महाशक्तीति ह्लादिनीविलासरूपः अत एवाचिन्त्यस्वरूपभाग् या खलु मोक्षानन्दमपि तिरस्करोति श्रीभगवन्तमप्यानन्दयतीति भावः।
दुर्गमसंगमनी, पृ० ३०२

५. परमानन्दतादात्म्याद्रत्यादेरस्य वस्तुतः॥
रसस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिद्ध्यति।
हरिभक्ति०। दक्षिण०। लहरी ५।
श्लोक ६३-६४। तथा इन पर दुर्गमसंगमनी, पृ० २०८-२०९

७७. रूप गोस्वामी ने श्रीकृष्णविषया रति के दो भेद किए हैं—मुख्या और गौणी। इन दोनों प्रकार की रति का संबंध अंतःकरण की सात्विक मनोवृत्तियों से है। यदि ये कृष्ण के साक्षात् संबंध से आविर्भूत हों, तो 'मुख्य' और कुछ व्यवधान से उद्भूत हो तो 'गौण' कही जाती है। इन द्विविध सत्वो से सबद्ध होने के कारण ही रति की मुख्या और गौणी नामक कल्पनाएँ हुई हैं। मुख्या रति भी स्वार्था और परार्था भेद से दो प्रकार की बताई गई है। स्वार्था रति अनुकूल भावों से ही परिपुष्ट होती है, पर परार्था अनुकूल और प्रतिकूल उभयविध भावों को संकुचित करती हुई अपने आप मे उपचित होती रहती है। स्वार्था तथा परार्था दोनों प्रकार की मुख्या रति के पॉच भेद किए गए है—शुद्धा, प्रीति [आचार्य मधुसूदन की प्रेयो रति], सख्य, वात्सल्य और प्रियता या मधुरा। इनमे से शुद्धा रति के भी सामान्या, स्वच्छा और शाता नामक तीन प्रकारो का निरूपण हुआ है। सामान्या शुद्धा रति का आश्रय साधारण छोटी बालिकायें है, जो 'स्वच्छा' आदि किसी भी विशिष्ट रति का स्वरूप नहीं ग्रहण कर पातीं। शुद्धा स्वच्छा रतिवाला अंतःकरण 'शम', 'प्रीति' आदि भक्तिभावो की विविधता के अनुकूल अनेक ढगों की आसक्तियो को उसी प्रकार ग्रहण कर लेता है, जिस प्रकार स्फटिक मणि सामने आनेवाली वस्तुओं के रूप रंग को धारण करता रहता है। भक्त के मन की यह वह निर्मल अवस्था है, जिसमे किसी विशेष प्रकार का भाव बद्धमूल नहीं होता। मन के विकल्पों की शाति का नाम 'शम है। इसमे विषयो की ओर से प्रवृत्ति हट जाती है और जीव अपने स्वरूपानंद मे अवस्थित होता है। ममता के लेश से भी रहित जीव की कृष्ण में जो परमात्मबुद्धि होती है उसको शाता रति कहते हैं। इस शाता रति मे प्रीतिरति प्रभृति का सपर्क नहीं होता, इसीसे इसे शुद्धा कहा जाता है।

७८. प्रीति या दास्य रति की सविस्तर चर्चा पीछे की जा चुकी है। सख्य और वात्सल्य रति के आश्रय क्रमशः सखा और गुरुजन होते है। प्रीतिरति मे न्यूनता का, सख्य रति मे तुल्यता का और वात्सल्य रति मे अनुग्राह्यता का अपना अभिमान भक्त मे निरतर बना रहता है। कृष्णविषयक रति के ये तीनो रूप स्वतत्र होने पर 'केवल' और एक दूसरे से मिश्रित होने पर 'संकुल' कहे जाते हैं।

७९. श्रीकृष्ण की प्रेयसियो मे रहनेवाली कृष्णविषयक सम्भोगात्मक रति ही प्रियता कही जाती है। रूप गोस्वामी ने मुख्या रति के पॉचो भेदो मे क्रमिक रीति से पूर्व की अपेक्षा पर का उत्कर्ष दिखाते हुए सर्वोत्कृष्ट प्रियता रति की अनिर्वचनीय आनंदमयता एवं दुर्लभता की स्थापना की है[1]।

८०. आलंबन विभाव श्रीकृष्ण के उत्कर्ष से उत्पन्न होनेवाले वे विशिष्ट भाव 'गौणी रति' में परिगणित किए गए हैं, जो रति को दबाकर प्रकट होते हैं[२]। रति को आच्छादित कर व्यक्त होने पर भी इन्हें रति कहने में केवल एक निमित्त है, वह यह कि ये रतिमूलक होते हैं; अतः उपचार से इन्हें रति कहा जाता है[३]। ये हैं—हास, विस्मय, उत्साह, शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा[४]। इन सात प्रकार की गौणी रतियों में आरंभिक छह के आलंबन तो भगवान् हो सकते हैं, पर जुगुप्सा रति का विषयालंबन क्षणभंगुर शरीर और संसरणशील संसार आदि होते हैं[५]। हास रति प्रभृति गौणभाव कभी कभी थोड़ी देर के लिये स्थायीभाव की भूमिका में पहुँचकर भगवान् की लीलाओं के अनुसार भगवद्रति से अनुप्राणित होते हुए रसनीयता को प्राप्त होते हैं[६]।

---

१. यथोत्तरसौ स्वादविशेषोल्लासमय्यपि।
रतिर्वासनया स्वाद्वी भासते कापि कस्यचित् ॥
हरिभक्ति० दक्षिण० लहरी ५। श्लोक २६

२. विभावोत्कर्षजो भावविशेषो योऽनुगृह्यते।
संकुचन्त्या स्वयं रत्या स गौणी रतिरुच्यते ॥
हरिभक्ति०। वही। श्लोक ३०

३. पूर्वं हासोत्तरेत्यादिना हासाद्यावृताया रतेर्हासरत्यादीतिसंज्ञत्वमुक्तम्। सम्प्रति तु रत्यारोपितत्वेन स्वीयधर्मेणानुगृह्यमाणत्वाद् हासादयोऽपि रत्यादित्वेन व्यवह्रियन्ते······ हरिभक्ति० दुर्गम संगमनी। पृ० २६४—२६५

४. हरिभक्ति०। दक्षिण०। लहरी ५। श्लोक ३१

५. अपि कृष्णविभावत्वमाद्यषट्कस्य सम्भवेत्।
स्याद्देहादि विभावत्वं सप्तम्यास्तु रतेर्वशात् ॥ श्लोक ३२। वही

रूप गोस्वामी की गौणीभक्ति वोपदेव की नव रसों के स्थायी भावों से उपरंजित होनेवाली भक्ति की प्रक्रिया से बहुत कुछ मिलती जुलती है।

६. कञ्चित्कालं क्वचिद् भक्ते हासाद्याः स्थायितामभी।
रत्या चाक्रान्ता यान्ति तल्लीलाद्यनुसारतः ॥
श्लोक ३५। वही

८१. उज्ज्वलनीलमणि में रूप गोस्वामी ने दो प्रकार के आलम्बनों की चर्चा की है—पाणिग्राहक पति श्रीकृष्ण, और उपपति श्रीकृष्ण। इन विषयालंबनो के अनुकूल स्वकीया तथा परकीया स्त्रियो को आश्रयालंबन बनाते हुए उन्होने उपपति विषया परकीया की प्रियता रति से निष्पन्न होनेवाले शृंगार या माधुर्य रस मे ही आह्लाद का परमोत्कर्ष प्रतिपादित किया है[1]। भरत मुनि का प्रमाण देकर उन्होने सिद्ध किया है कि लोकमर्यादा और धर्म के नियंत्रण से युग्म समिलन के दुर्घट होने पर भी जिस रति मे प्रच्छन्न कामुकता नित्य वर्तमान रहती है, वही रति मन्मथ का सर्वस्व है[2]। किंतु अधर्ममूलक और पापमय होने के कारण लोक तथा काव्यशास्त्र मे यह अप्रतिष्ठ एवं तिरस्कृत है[3]। श्री रूप गोस्वामी ने बताया है कि यह हेयता और क्षुद्रता की वृत्ति लौकिक नायको को लेकर ही समीचीन है, अलौकिक नायक तथा नायिका कृष्ण और गोपिकाओ के प्रसंग मे वह ठीक नहीं कही जा सकती। क्योंकि अवतारी श्रीकृष्ण का आविर्भाव तो अपने भक्तजनो को आनंदद्रव का पान कराने के लिये ही होता है[4]। अपने मत के समर्थन मे उन्होने प्राचीन भक्त श्री लीलाशुक का उद्धरण भी दिया है। उनके व्याख्याकार श्री जीव गोस्वामी तथा विश्वनाथ

---

१. रागेणोल्लङ्घयन् धर्मं परकीयाबलार्थिना।
तदीयप्रेमवसतिर्बुधैरुपपतिः स्मृतः॥
अत्रैव परमोत्कर्षः शृंगारस्य प्रतिष्ठितः।
उज्ज्वल०। श्लोक १५–१६

२. बहुवार्यते यतः खलु यत्र प्रच्छन्नकामुकत्वं च।
या च मिथो दुर्लभता सा परमा मन्मथस्य रतिः॥
उज्ज्वल०। पृ० १४। काव्यमाला ९५, सन् १९३२

३. उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्॥
प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते।
शृंगारेऽनौचित्यम् ... ...॥
साहित्यदर्पण। परिच्छेद ३। श्लोक २६३–२६४

४. लघुत्वमत्र यत्प्रोक्तं तत्तु प्राकृतनायके।
न कृष्णे रसनिर्यासस्वादार्थमवतारिणि॥
उज्ज्वल०। श्लोक १८। पृ० १४–१५

चक्रवर्ती ने बड़े ही आटोप के साथ राधा आदि गोपिकाओं एवं श्रीकृष्ण के उपपतित्व संबंध को विभिन्न रीतियों से समझाया है[1]।

८२. श्रीकृष्ण विषयक उपपति रस की सर्वोपरि महत्ता नंददास ने स्वीकार की है। इसे वे 'परम प्रेम पद्धति' कहते हैं[2]। 'प्रेमपद्धति' का स्पष्टीकरण रूपमंजरी की सहचरी इंदुमती के इस स्वगत कथन से होता है:—

रसन से जो उपपतिरस आही। रस की अवधि कहत कबि ताही ॥
पं० १५३

सो रस जो या कुंवरिहि होई। तौ हौं निरखि जिऊं सुख सोई ॥
पं० १५४। पृ० १२४ नंददास०

नंददास ने इस रस मे गरल और अमृत की एकाधिकरणता बताकर इसकी विरलता, रहस्यमयता और दुरूहता प्रतिपादित की है—

गरल अमृत इकंग करि राखे। भिन्न भिन्न करि बिररै चाखे ॥
पं० १६। पृ० ११८। वही

लौकिक शृंगारिकता की अनुरूपता इसमे विष है तथा भगवद्रति ही अमृत है। केवल विरल भक्त इसका विवेचन कर रस ग्रहण करते हैं। इस रसग्रहण का स्वरूप 'सखी भाव' है। इसकी पुष्टि इंदुमती के ऊपरवाले उद्धरण से होती है, जिसका अर्थ है कि यदि रूपमंजरी, जिसे कवि ने अन्यत्र सुमद्र की दूसरी कन्या कहा है, श्रीकृष्ण विषयक उपपति रस को प्राप्त करती, तो उसको देखते हुए जीवित रहने में ही परम सुख है। नददास के इस सिद्धात मे गौडीयों की परकीया भाव की साधना और रसवादियों की सखी भाव की उपासना एक साथ समन्वित हुई है। सिद्धांत-

---

१. उक्त कारिका की व्याख्या करते हुए श्री जीव गोस्वामी ने 'लोचन रोचिनी' में ह्लादिनीशक्ति स्वरूपा राधा और संपूर्ण परिकर को अप्राकृत सिद्ध कर राधाप्रमुख गोपिकाओं और श्रीकृष्ण के उपपतिगत संबंध को रसात्मक लीला की सिद्धि का निमित्त माना है। पर विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपनी 'आनंदचंद्रिका' टीका में उपर्युक्त मत का सतर्क खंडन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण की प्रकट एवं अप्रकट दोनों लीलाओं में औपपत्य भाव को ही नितांत सत्य प्रमाणित किया है।
वही। पृ० १४ से ३० तक

२. नंददास० रूपमंजरी। प० २। पृ० ११७

पंचाध्यायी में नंददास का रासरस को 'रसनिर्यास' कहना[1]-शब्दशः रूप गोस्वामी के कथन से मिलता है[2]।

८३. डा० दीनदयालु गुप्त के अनुसार "भक्ति का जो स्वरूप हमें अष्टछाप में मिलता है, वह किसी अन्य संप्रदाय का इन पर सीधा व्यक्तिगत प्रभाव नहीं है। मधुर भक्ति का समावेश आचार्य जी के उत्तर जीवन तथा श्री विट्ठलनाथ जी के आचार्यत्व-काल में ही वल्लभ संप्रदाय में हो गया था। इसलिये मधुर भक्ति अथवा शृंगार रस संबंधी इन कवियों के पदों में निम्बार्क, चैतन्य अथवा राधावल्लभीय आदि किसी अन्य संप्रदाय की छाप नहीं है"[3]। यह कथन नंददास जी के प्रसंग में विचारणीय है। ज्ञात रूप से किस भक्ति संप्रदाय ने किससे क्या लिया, यदि इस विश्लेषण में न भी पड़ा जाय तो भी इतना मानना पड़ेगा कि एक ही समय की बहुत सी साधनाओं का कभी कभी एक दूसरे पर प्रभाव अनजाने ही पड़ जाता है। जैसे माधुर्य भाव को लीजिए। आलोच्य युग की कृष्णोपासक शाखा में इस भाव की उपासना का विशेष जोर था। पर गौड़ीय परंपरा में जहाँ परकीयाभाव की भक्ति प्रतिष्ठित थी, वहीं हरिदासी, हरिवंशी परंपरा में कृष्ण की स्वकीया राधा के प्रति भक्त का सखीभाव सुस्थिर था और वल्लभ संप्रदाय में सभी भावों की प्रमुखता थी। वल्लभ संप्रदाय में इस विशेषता को स्वीकार करने का कारण यही है कि अष्टछापी कवियों में बहुधा स्वकीया भाव की विवृति मिलती है। सूरदास ने तो कृष्ण के साथ गोपिकाओं का गांधर्व विवाह कराया है[4]। कुंभन दास ने श्यामसगाई का वर्णन किया है[5]। इसी प्रकार अन्यभक्त कवियों में भी स्वकीया भाव की प्रधानता परिलक्षित होती है। इसमें सामान्य रूप से जो परकीया के प्रसंग आए हैं, वे श्रीमद्भागवत के प्रभावरूप में प्रकल्पित किए जा सकते हैं।

---

१ अवधिभूत गुन रूप नाद तरजन जहँ होई।
सब रस को निर्यास रास रस कहिए सोई॥

नंददास० : सिद्धांत। छंद १२। पं० २६

२. लघुत्वमत्र यत्प्रोक्तं तत्तु प्राकृतनायके।
न कृष्णे रसनिर्यासस्वादार्थमवतारिणि॥

उज्ज्वल०। श्लोक १८। पृ० १४-१५

३. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, भाग २, पृ० ६२३

४. सूर सागर। पद संख्या १६८६

५. कुंभन०। पद संख्या १०। पृ० ४-७

किंतु नंददास जी में ऊपर बतलाए गए उपपति रस और सखीभाव संबंधी सिद्धांत यदि क्रमशः गौड़ीय तथा हरिवंशी दर्शनों की छाया नहीं हैं तो क्या कहे जा सकते हैं? वे जानबूझकर परिगृहीत हुए हों अथवा अनजाने ही—यह दूसरी बात है। स्वयं डाक्टर गुप्त ने विट्ठलनाथ जी के संबंध में एक प्रसिद्ध अनुश्रुति का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार गोस्वामी विट्ठलनाथ ने एक बार 'छप्पन भोग' का आयोजन किया था। उसमें सभी संप्रदायों के आमंत्रित भक्तों का कीर्तन हुआ था। उनका कथन है कि "तभी से वल्लभ संप्रदायी मंदिरों में चारों संप्रदाय के [पुष्टि, राधावल्लभीय, हरिदासी तथा गौडीय] भक्तों द्वारा रचित पदों के गाने की प्रथा चली थी, जिसमें युगल सरकार की लीला के पदों का विशेष समावेश है। इस प्रकार अष्टभक्त कवियों में भक्ति का जो सर्वभावमय रूप हमें मिलता है, वह उनके ऊपर व्यक्तिगत किसी संप्रदाय का प्रभाव नहीं है। वरन् उनका वल्लभसंप्रदाय ही अन्य अन्य संप्रदायों के भक्तिभावों को समेटकर उनके सामने उस रूप में आया था"[1]। इससे स्पष्ट है कि अन्यान्य संप्रदायों के भाव विट्ठलनाथ जी के समय में वल्लभीय मत के अंतर्गत समाविष्ट अवश्य हुए थे। किसी आचार्य के द्वारा ही उनका समावेश हुआ हो, इससे कुछ बनता बिगड़ता नहीं। वक्तव्य केवल इतना ही है कि दूसरे भक्तिसंप्रदायों की छाया भी शास्त्रवादीभक्तों की रचनाओं पर पड़ी है और नंददास कृतियों में यह प्रभाव अत्यंत स्फुट है।

२८. वास्तव में जैसा 'भक्ति' नामक अध्याय में पहले लिखा जा चुका है, वल्लभाचार्य जी ने भगवान् में सबसे अधिक सुदृढ़ स्नेह को भक्ति बताकर भगवान् के साथ किसी भी प्रकार के संबंधस्थापन की व्यवस्था की थी। रागानुगा भक्ति के प्रमुख पाँच संबंधों में से उन्हें भगवान् के साथ अपना अनुग्राह्य अनुग्राहक-संबंध ही मान्य था। इसका साक्ष्य वार्ताओं में मिलता है[2]। यही नहीं बल्कि उनके द्वारा प्रचारित

---

१. अष्टछाप और वल्लभसंप्रदाय, भाग २, पृ० ५२८। इसी ग्रंथ के पृष्ठ ६४४-६४५ पर उन्होंने अष्टछापी काव्य पर हरिवंशी और हरिदासी संप्रदाय के सखी-भाव की छाया स्पष्ट रूप से स्वीकार की है।

२. परमानंद दास आदि की वार्ताओं में वल्लभाचार्य जी की बाल-लीला-गान की आज्ञाएँ इस तथ्य की प्रमापिका हैं। इससे भी महत्त्वपूर्ण संकेत गोविंदस्वामी की वार्ता के १४वें प्रसंग में मिलता है। उक्त प्रसंग में विट्ठलनाथ जी की भी वात्सल्य वृत्ति का द्योतक हुआ है। आगे बताया जायगा कि किस प्रकार इन्होंने वात्सल्य की परिधि में भी माधुर्य का समावेश किया।

द्रष्टव्य—अष्टछाप : डा० धीरेंद्र वर्मा

बालभाव की स्वरूप सेवाएँ आज दिन भी उनके मंदिरों मे नित्य अनुष्ठित होती है। यह माना जाता है कि श्रीनाथ जी के मंदिर मे कीर्तन की व्यवस्था तो बहुत पहले ही आचार्य जी ने कर दी थी पर अष्टप्रहर-सेवा कीर्तन आदि का मंडान बिट्ठलनाथ जी के समय मे बड़े वैभव के साथ हुआ। इन्हीं के समय मे अष्टछापी भक्तों की साधनाप्रणाली भी सुव्यवस्थित हुई।

८५. यद्यपि वल्लभाचार्य जी ने 'रससमूह'—रास का एकाधिकार स्त्रियो मे केंद्रित मानते हुए इस आनद की स्पृहा रखनेवाले पुरुषो के लिये स्त्रीभाव या गोपीभाव को अनिवार्य बतलाया था[1] और कुभनदास जैसे व्यक्ति आरंभ से ही जीवन पर्यंत मधुरभाव की ही भक्ति करते ही रहे थे[2], तथापि प्रतीत यह होता है कि बिट्ठलनाथ जी के समय मे राधा तत्त्व के सुप्रतिष्ठित हो जाने पर इस भाव का विशेष विस्तार हुआ होगा। यदि आर्य-भाषा-पुस्तकालय के याज्ञिक सग्रह मे सुरक्षित 'गुप्तरस टीका' नामक हस्तलेख को प्रामाणिक माना जाय तो इस कथन की पुष्टि होती है। टीकालेखक घनश्याम जी ने 'गुप्तरस ग्रंथ' का रचयिता गोस्वामी बिट्ठलनाथ को बताया है। वस्तुतः हरिभक्ति-रसामृत-सिंधु मे श्री रूप गोस्वामी ने श्रीकृष्ण की बाल्यावस्था मे भी नवतारुण्य के आविर्भाव की लीला को अतिशय रसवाही बताकर उसका उदाहरण नहीं दिया था[3]। उसी अनिर्वचनीय रसात्मक लीला का निर्वचन इस ग्रंथ मे हुआ है[4]।

---

१. स्त्रिय एव हि तं पातुं शक्तास्तासु ततः पुमान्।
अतो हि भगवान् कृष्णः स्त्रीषु रेमेऽहर्निशम्॥
श्लोक ४। सुबोधिनी। तामस फल प्रकरण

२. कृष्णदास अधिकारी की भी उपासनापद्धति प्रधानरूप से मधुरभाव की रही होगी, क्योंकि अष्टप्रहर की सेवा मे शयन समय के मुख्य कीर्तनिया ये ही माने गये हैं। अनुराग, गोपीभाव से निकुंजलीला और संयोगशृंगार के पदों का गान ही उस समय का मुख्य विषय माना गया है। दे० अष्टछाप : डा० गुप्त, पृ० ५६६।

३. बाल्येऽपि नवतारुण्यप्राकट्यं श्रूयते क्वचित्।
तत्रातिरसवाहित्वान्न रसज्ञैरुदाहृतम्॥
हरिभक्ति०, दक्षिण। लहरी १। श्लोक १२२

इस पर टीका करते हुए जीव गोस्वामी ने व्रत [वृत्त १] रत्नाकर मे उद्धृत भविष्य पुराण का हवाला दिया है—
'बाल्येऽपि भगवान् कृष्णस्तरुणं रूपमाश्रितः।
रेमे विहारैर्विविधैः प्रियया सह राधया॥
दुर्गमसंगमनी। पृ० १६४–१६५

४. द्रष्टव्य—परिशिष्ट : गुप्त रस टीका

८६. 'गुतरस टीका' की महत्ता इस दृष्टि से और भी अधिक बढ़ जाती है कि उसके आधार पर वल्लभाचार्य जी की सुप्रसिद्ध बालभाव-प्रमुख उपासना और श्री विट्ठलनाथ जी की मधुरोपासना का संबंधसूत्र जुड़ जाता है। प्रसिद्ध है कि वल्लभाचार्य जी ने पुष्टिमार्ग का प्रचार किया था। यह मार्ग प्रधानरूप से वात्सल्य भावपरक था। किंतु संप्रदाय में जहाँ उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ जी बलदेव के अवतार तथा मर्यादामार्गीय माने गए हैं, वहीं विट्ठलनाथ जी कृष्ण के अवताररूप में पूजित हुए हैं। इसी से वार्ताओं में विट्ठलनाथ जी का प्रभाव गोपीनाथ जी से कहीं अधिक आकर्षक रूप में चित्रित हुआ है[1]। गोपीनाथ जी के अनंतर संभवतः आचार्यपीठ ग्रहण करने के बाद विट्ठलनाथ जी ने परंपराप्राप्त वात्सल्यभाव के ही आभोग में माधुर्य भाव की प्रतिष्ठा के भी प्रयत्न किए। इसी लिये गुप्तरस ग्रंथ में पंचवर्षीय कृष्ण की तरुणकेलि का चित्रण हुआ है। संपूर्ण वातावरण में व्याप्त माधुर्य का यह समाहार निश्चय ही आंतरंगिक गोष्ठी में सीमित रहा होगा।

८७. विट्ठलनाथ जी की उपर्युक्त भक्तिभावना के ही परिणामस्वरूप कालांतर में शास्त्रवादी अष्टभक्तों की आठ सखाओं और उसके अनुकूल आठ सखी रूपों की कल्पनाएँ हुई होंगी। डा० दीनदयालु जी ने इनका ब्योरा इस रूप में दिया है[2] :—

	भक्तकवि	सखारूप	सखीरूप
१.	सूरदास	कृष्णसखा [उद्धव]	चम्पकलता
२.	परमानंददास	तोक सखा	चंद्रभागा
३.	कुंभनदास	अर्जुन सखा	विशाखा
४.	कृष्णदास अधिकारी	ऋषभ सखा	ललिता
५.	छीत स्वामी	सुबल सखा	पद्मा
६.	गोविंद स्वामी	श्रीदामा सखा	भामा
७.	चतुर्भुजदास	विशाल सखा	विमला
८.	नंददास	भोज सखा	चंद्ररेखा

८८. इस प्रकार शास्त्रवादी अष्टछाप के भक्तों का भगवान् के प्रति अपने अनेकविध संबंधों की अभिव्यक्ति का रहस्य यह है कि इनके संप्रदाय में वल्लभाचार्य

१. श्री प्रभुदयाल मीत्तल : अष्टछाप-परिचय, पृ० १७। अग्रवाल प्रेस, मथुरा, संवत २००६

२. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय। भाग २। पृ० ५०६

जी के समय से ही वात्सल्य की प्रधानता के साथ विविध भावात्मक संबंधों की स्वीकृति थी। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के आचार्यत्व काल मे इस वात्सल्य मे भी माधुर्य की स्थापना हुई। गौडीयो का उपपतिभाव और सखी संप्रदायवालो के सखी भाव का पर्याप्त ग्रहण हुआ। इसी से इनके काव्यो मे अगी स्थायीभाव और रसनिर्णय कठिन है। आचार्य पं० रामचद्र शुक्ल[1] तथा आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र[2] जैसे शास्त्रज्ञ विद्वानो ने भी सूरदास की सख्यभाव की उपासना का प्रश्न उठाकर अनिर्णीत छोड़ दिया है।

८९. वस्तुतः वल्लभ सप्रदाय की उपर्युक्त भक्ति भावना को देखते हुए शास्त्रवादी भक्तों की भगवद् रति, रूप गोस्वामी द्वारा विवेचित 'शुद्धा स्वच्छा' के आकार की मानी जा सकती है। सासारिक विषयो से पराङ्मुख और श्रीकृष्ण की ओर लगी हुई उनके मन की एक ऐसी विशुद्ध निर्मल वृत्ति थी, जो परिस्थितियो के भेद से आलंबन के दिव्य रूप-गुण-जन्म कर्मों को अनायास ही बड़ी तत्परता के साथ ग्रहण कर लेती थी। कृष्ण का स्वरूप भी मथुरा या द्वारिका का नहीं, प्रत्युत ब्रजमडल या गोकुल का है। ब्रजविहारी कृष्ण ही इस संप्रदाय मे पूर्ण पुरुषोत्तम आलंबन विभाव है। उनकी बाल, किशोर और पौगण्ड अवस्था की लीलाएँ ही उद्दीपन है। गुरुजन, सखा और गोपियाँ आदि आश्रय हैं। उनकी चेष्टाएँ अनुभाव हैं। विभिन्न आश्रयों के साथ तादात्म्य स्थापित करनेवाली भक्तो के हृदय की शुद्धा स्वच्छा रति ही स्थायी भाव है। यही भगवद्विषया स्वच्छा रति परिपुष्ट होकर रसरूप हो जाती है। यह रस मानसिक वृत्ति का परिपुष्ट रूप नहीं माना जाता क्योकि मानसिक वृत्ति ठहरी जड़, वह रसरूप श्रीकृष्ण मे विनिविष्ट होने पर अपनी जडता खोकर चिन्मयी, आनंदमयी हो जाती है। अष्टछापी भक्तो की रचनाओं का विषय यही भक्ति रस है, जो विभिन्न प्रसंगो के अनुकूल शात, प्रीति [दास्य], प्रेयान् [सख्य], वात्सल्य और मधुर शब्दो से अभिहित होता है। मधुर भक्ति रस के भी स्वकीया, परकीया, सखी और 'अतिरसवाही' पद्धति विषयक अनेक रूप उपलब्ध होते है। इसी प्रकार रूप गोस्वामी की गौड़ी रति के कदाचित्क स्थायी भाव से निष्पन्न रसो की स्थितियाँ भी मिलती है। सूरसागर मे इन भक्ति रसो के बहुविध रूपो की अत्यधिक व्यंजनाएँ हुई हैं। पर अष्टछाप मे कुंभनदास आदि कुछ ऐसे भक्त भी

---

१. भ्रमरगीतसार, पृ० ४४, षष्ठ संस्करण, साहित्य सेवासदन, काशी सं० २००६

२. वाङ्मय विमर्श, पृ० २७६, प्रथम संस्करण, संवत् १९९९

हैं, जिनकी रचनाओं में प्रायः एक ही माधुर्य भाव की अभिव्यक्ति हुई है। ऐसी स्थिति में उन भक्तों का भगवद् विषयक स्थायीभाव स्वेच्छा रति को न मानकर मधुरा आदि भाव विशेष को ही स्वीकार करना होगा। इसी प्रकार जिनमें एकाधिक प्रकार की भगवद् रतियों का समावेश होगा वे 'सकुल' कही जायँगी[१]।

९०. आचार्य शुक्ल ने काव्यरस की दृष्टि से सूरदास की रचनाओं में वात्सल्य, संभोग और विप्रलभ शृंगार आदि की बड़ी सुंदर मीमांसा की है। किंतु काव्य की दृष्टि ही उस समीक्षा में मौलिक त्रुटि है। वास्तव में भजनानंदी सूरदास आदि की रचनाएँ भक्तिप्रसूत हैं। अतः इनकी विवेचना भक्तिरस की ही दृष्टि से सगत होगी। उस स्थिति में लौकिक काव्य की दृष्टि से इनमें जिन त्रुटियों का आरोप किया गया है, उनका स्वतः परिहार हो जायगा। तुलसी की कृतियों से जिस प्रकार उनकी प्रेयोभक्ति [दास्य] रति का पोषण होता है, उसी प्रकार सूरदास की रचनाओं से उनकी शुद्धा सहजा रति दास्य, वात्सल्य, सख्य आदि भावों से भावित होकर पुष्ट होती है।

९१. डा० दीनदयालु गुप्त ने भी प्रमुख भक्ति रसों की दृष्टि से अपने प्रबंध में अष्टछाप के विभिन्न भक्त कवियों की रचनाओं का संग्रह किया है। अतः यहाँ कुछ ऐसे उदाहरण दिये जा रहे हैं, जिनसे ऊपर कहे गए सिद्धांतों की समन्वयपद्धति का दिग्दर्शन हो जाय।

९२. मुख्य शांत भक्ति रस का उदाहरणः—

नमो नमो हे कृपानिधान।
चितवत कृपा कटाच्छ तुम्हारैं, मिटि गयौ तम अज्ञान।
मोह निसा को लेस रह्यौ नहिं, भयौ बिवेक, बिहान।

---

१. श्री रूप गोस्वामी ने तो केवल दास्य, सख्य और वात्सल्य की संकुलता की संभावना प्रकट की है :—

एषां द्वयोस्त्रयाणां वा सन्निपातस्तु संकुला।

हरिभक्ति०, दक्षिण०। लहरी ५। श्लोक २१

किंतु आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने सभी प्रमुख रतियों की मिलित अभिव्यक्ति को पानक की भाँति 'परम रस' माना है :—

एकदा यद्यपि व्यक्तमिदं रतिचतुष्टयम्।
तदा तु पानकरसन्यायेन परमो रसः॥

भगवद्भक्ति०। उल्लास २। श्लोक ७०

आतम रूप सकल घट दरस्यौ, उदय कियौ रवि ज्ञान।
मैं मेरी अब रही न मेरैं, छुट्यौ देह अभिमान।
भावै परौ आजु ही यह तन, भावै रहौ अमान।
मेरैं जिय अब यहै लालसा, लीला श्री भगवान।
स्रवन करौं निसि बासर हित सौं, सूर तुम्हारी आन।

सूरसागर । पद ३७६

इस पद मे अद्वितीय कृष्णभक्त शुकदेव आलबन विभाव हैं। तत्वज्ञानात्मक प्रबोधोदय की मन मे विशेष स्फूर्ति असाधारण उद्दीपन है। परीक्षित आश्रय हैं। श्री भगवान् की लीलाओ मे बलवती स्पृहा, निरपेक्षता, निर्भयता और निरहकारिता आदि अनुभाव है। निर्वेद, मति आदि संचारी है। भगन्निष्ठाबुद्धि स्थायी भाव शमस्वरूप है। सूरदास का विशुद्ध निर्मल अतःकरण परीक्षित से सात्म्य स्थापित करता हुआ शात भक्ति रस का आस्वाद ले रहा है।

९३. अतिरसवाही पद्धति के मुख्य माधुर्य भक्ति रस का दृष्टात :—

हँसत स्याम ब्रज घर कौं भागे।
लोगनि कहति सुनावति, मोहन करत लँगरई लागे॥
हम असनान करति जल भीतर, मींडत पीठ कन्हाई।
कहा भयौ जो नंदमहर सुत, हमसौं करत ढिठाई॥
लरिकाई तबहीं लौं नींकी चारि बरष कै पाँच।
सूर जाइ कहिहौं जसुमति सौं, स्याम करत ये नाच॥

सूरसागर । पद १३८८ । पृ० ५२५

इस पद मे चार पाँच वर्ष से कुछ ही बड़ी अवस्था के लीलापुरुषोत्तम कृष्ण आलंबन है। उनके पृष्ठमर्दन आदि कर्म उद्दीपन है। कृष्णासक्त परकीया गोपियाँ आश्रय हैं। औपचारिक खीझ और उपालंभ आदि अनुभाव हैं। आरोपित ग्लानि, शंका आदि सचारी है। मधुरा रति स्थायी भाव है। सूरदास की शुद्धा स्वच्छा रति मधुरा रति से रंगीन होती हुई अतिरसवाही माधुर्य रस मे पर्यवसित हो रही है। इस स्थल पर यह संदेह उठाया जा सकता है कि यहाँ कृष्ण की बाल्यावस्था का चित्रण न होकर पौगंड या कम से कम किशोर अवस्था की लीला का वर्णन होगा। परंतु सूरसागर के पूर्वापर पदो से एक तो इसकी पुष्टि नहीं होती और दूसरे छीत स्वामी भी बिट्ठलनाथ द्वारा गुप्तरस के प्रगट किए जाने का कई बार उल्लेख करते

हैं[1]। अतः सूरदास की रचनाओं में उस रसवादी प्रसंग की कहीं कहीं अभिव्यक्ति असंभव नहीं है।

९४. शांत रस के अंगभूत गौण बीभत्स का निदर्शन

बिषया जात हरष्यौ गात।
ऐसे अंध जाति निधि लूटत, परतिय संग लपटात॥
बरजि रहे सब, कह्यौ न मानत, करि करि जतन उड़ात।
परे अचानक त्यौं रस लंपट, तनु तजि जमपुर जात॥
यह तौ सुनी व्यास के मुख तैं, परदारा दुखदात।
रुधिर मेद, मल मूत्र, कठिन कुच, उदर गंध गंधात॥
तन-धन-जोबन ता हित खोवत, नरक की पाछैं बात।
जो नर भलौ चहत तौ सो तजि, सूर स्याम गुन गात॥

सूरसागर० । पद ३६७ । पृ० १२२

पहले लिखा जा चुका है कि जुगुप्सा रति के आलंबन भगवान् नहीं हो सकते। इसका आलंबन विभाव प्रायः घृणास्पद शरीर आदि हुआ करता है। उक्त पद में विषयों का भोक्ता शरीर आलंबन है। भोक्ता और भोग्य के उद्वेजक रूप उद्दीपन विभाव है। भक्त का हृदय ही आश्रय है। मुखविकृति, धिक्कार आदि अनुभाव हैं। निर्वेद, ग्लानि, दैन्य आदि संचारी हैं। सद्-असद्-विवेक से उद्भूत होने के कारण यहाँ विवेकजा जुगुप्सा स्थायीभाव है। वह भी 'स्याम गुन गात' अर्थात् श्यामसुंदर के गुणगान करने में उपरंजक होने के कारण शांता रति का अंग है। यही परिपुष्ट होकर गौण शांत रस कहा जाता है जो शांत भक्ति रस का अंग है।

९५. इसी पद्धति पर अन्य भक्ति रसों के स्वरूप को भी समझना चाहिए।

रस : रसवादी भक्त

९६. पहले बतलाया जा चुका है कि रसवादी भक्त कवि सीमावादी [एक्स्ट्रीमिस्ट] थे। इनके साहित्य में न तो तुलसी की नवरस-मिलित-भक्ति मिलती है और न सूर आदि की प्रमुख पंचरूपात्मक भक्ति की परंपरा ही। राधावल्लभ का नित्य

---

१. भगवद्भाव गुप्तरस प्रगट कियो सब अपने जननि में॥

छीतस्वामी । पद १८७ । पं० २

इस प्रसंग में और भी द्रष्टव्य पद संख्या ११६, १४ और ११

विहारगत रस ही इनका एकमात्र लक्ष्य था जिनका आश्रय केवल सखी मानी गई है। उसका स्थायी भाव है—नित्य शृंगार आदि परिचर्यापूर्वक स्वामिनी राधा का कृष्ण से सयोगविधान, मानापनोदन, निकुजरध्रो से विविध केलि-दर्शनादि की प्रयोजिका मधुरा रति, जो राधावल्लभके सुखानुभव मे पर्यवसित होती है। पारिभाषिक पदावली मे इसे तत्सुखसुखित्व भाव कहा जाता है। इस भाव के आलबन नित्य विहारशील युगल सरकार है। उनकी विविध क्रीड़ाएँ उद्दीपन विभाव हैं। हर्ष आदि संचारी हैं। लीला-दर्शन-गायन आदि मे तल्लीनता, आनदातिरेक मे नाच उठना आदि अनुभाव है जिनसे परिपुष्ट होकर हिततत्व का साक्षात्कार होता है। यही महामाधुर्य रस है। इस हित-रस-दर्शन के मूल मे कुछ विशिष्ट सिद्धात है। विषय के स्पष्टीकरण के लिए उनका सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

९७. हित संप्रदाय की मान्य धारणा के अनुसार राधावल्लभ का नित्य विहार निर्विराम गति से चला करता है। इस नित्य विहारपरिकर के चार मुख्य अंग है—श्री राधा, श्रीकृष्ण, श्री वृंदावन एवं सखीमंडल। वस्तुतः एक ही हित तत्व के परस्पर ओतप्रोत ये चार आकार हैं। नित्य वृंदावन मे युगल किशोर की नित्य विहार लीला को निकुज लीला कहा जाता है। किशोरी राधा और किशोर कृष्ण की यह प्रेमक्रीड़ा चिरंतन होते हुए भी नित्य नवीन है। इस अद्‌भुत् दिव्य लीला मे प्रवेश का अधिकार केवल रूप-यौवन-सपन्ना किशोरी मे केंद्रित माना गया है। इसलिये इस सप्रदाय की साधना मे एकमात्र स्वीकृतभाव है—सखीभाव। इन्हीं विशेषताओं के कारण यह उपासनापद्धति गौड़ीयो के परकीयाभाव या उपपति रस की भावना तथा वल्लभमतानुयायियो की वात्सल्यप्रमुख सर्वभावमयी उपासना और विरहानुभूति से भी पृथक् हो जाती है।

हित तत्व : रस

९८. सामान्य रूप से हित शब्द का अर्थ प्रेम होता है। किंतु इस सप्रदाय मे हित पारिभाषिक शब्द है। राधा कृष्ण की नित्य लीला के विलास मे निष्पन्न होनेवाला परम आस्वादनीय आनदपरिपुष्ट तत्सुखसुखित्व ही हित तत्व या रस है।

विषयालंबन—

९९. नित्य सयोगक्रीड़ा मे संसक्त युगल सरकार तत्सुखसुखित्व स्थायी भाव के विषयालंबन है। इनमे भी रसेश्वरी राधा की सर्वोपरि महत्ता है। क्योंकि वे ही प्रियतम श्री कृष्ण पर करुणारसामृत की वृष्टि करनेवाली हैं—

आजु सम्हारत नाहिंन गोरी।

× × × ×

पिय पर करुन अमी रस बरसत अधर अरुनता थोरी

पं० १, ४। पद ७०। हित चौरासी

इन्हीं 'परा-स्वतंत्रा-शक्ति' की अनुकंपा से जीव अपनी दिव्य देह—सखी भाव को प्राप्त करता है। इन राधाकृष्ण के सौंदर्य-माधुर्य लावण्य आदि की कोई सीमा ही नहीं।

उद्दीपन

१००. राधाकृष्ण की दिव्य केलि चेष्टाएँ तत्सुखसुखित्व भाव का साक्षात् उद्दीपन करती हैं। नित्य वृंदावन की सहज माधुरी भी उद्दीपक है—क्रीड़ाभूमि होने के कारण बाह्य रूप से और कहीं कहीं राधा का स्वरूप होने के कारण आंतर रूप से भी[1]।

आश्रयालंबन—

१०१. तत्सुखसुखित्व भाव का आश्रयालंबन सखीभावापन्न भक्त हैं। वस्तुतः इस संप्रदाय में जीव का सहज स्वरूप प्रेममयी किशोरी सखी का है। इस रूप की विस्मृति से ही जीव अनेक प्रकार के दुःखों का आश्रय बना हुआ है। यदि उसे अपने सखी रूप की स्मृति हो जाय तो वह फिर हित आनंद को प्राप्त कर लेगा। परंतु इस स्वरूप का अनुसंधान बड़ा ही क्लेशल बताया गया है। मन के तनिक विचलित होते ही साधनामार्ग में फिसल जाने की दुरूहता पग पग पर विद्यमान रहती है। कृष्णोपास्या राधा की अनुकंपा ही इस दुर्गम मार्ग की सहायिका है। जिस प्रकार युगल सरकार का स्वरूप अनिर्वचनीय है उसी प्रकार उनकी सखी का रूप भी अनाकलनीय है। श्री राधा जी की कृपा से ही भक्त अपनी साधनादेह से ऊपर उठकर सिद्ध देह की प्राप्ति करता है। साधना काल में अपने शरीर-इंद्रिय-मन

१. राधा रूप में वृंदावन की कल्पना भी इस सिद्धांत के मूल में सहजियों का प्रभाव सूचित करती है। डा० विजयेंद्र स्नातक ने राधासुधानिधि के अनेक श्लोकों में इस ढंग की भावना का उल्लेख किया है।

द्रष्टव्य—राधावल्लभ : सिद्धांत और साहित्य, पृ० २४१

आदि अंगो को हित तत्व की ओर प्रवृत्त करते हुए भक्त की यह उत्कट भावना निरंतर बनी रहनी चाहिए कि 'वह दिन कब आवेगा जब मै स्वामिनी राधिका की अनेकविध परिचर्या के अनुरूप दिव्य एव कोमलागी किशोरी का वपु प्राप्त करूँगी'। इस भावना की गाढ़ अवस्था मे भक्त के 'सिद्ध देह' की स्फूर्ति होने लगती है[1]। उदाहरण के लिये हित हरिवंश जी के इस पद को लीजिए—

आजु निकुंज मंजु में खेलत नवल किसोर नवीन किसोरी।
अति अनुपम अनुराग परस्पर सुनि अभूत भूतल पर जोरी॥
विद्रुम फटिक विविध निर्मित घर नव कर्पूर पराग न थोरी।
कोमल किसलय सैन सुपेसल तापर स्याम निसेवित गोरी॥
मिथुन हास परिहास परायन पीक कपोल कमल पर झोरी।
गौर स्याम भुज कलह मनोहर नीवी बंधन मोचत डोरी॥
हरि उर मुकुर विलोकि अपनपौ संभ्रम[2] विकल मानजुत भोरी।
चिबुक सुचारु प्रलोइ प्रबोधित पिय प्रतिबिंब जनाइ निहोरी॥
नेति नेति बचनामृत सुनि सुनि ललितादिक देखत दुरि चोरी।
[जै श्री] हित हरिवंस करत कर धूनत प्रनय कोप मालावलि तोरी॥

पद ७, आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी : यज्ञिक संग्रह २८६ । ५५

इसमे वृंदावननाथ पट्टमहिषी श्री राधा का आरभिक छह पंक्तियो मे वर्णित सभोग अतिम चार पक्तियो के प्रणयकोप का अग है। रसिक शिरोमणि श्रीकृष्ण राधिका को आलिगनबद्ध करना ही चाहते थे कि स्वामिनी की दृष्टि उनके हृदयरूपी दर्पण पर पड़ी, जिसमे अपने प्रतिबिंब को वे चकपकाहट के साथ परस्त्री समझ बैठीं। फिर क्या था? मान मे भरकर उन्होंने जो सिर नीचा किया तो फिर श्रीकृष्ण के समझाने बुझाने की सारी चेष्टाएँ व्यर्थ गईं। उन्होने सप्रेम श्रीमती राधिका के चिबुक को उन्नीत कर प्रतिबिंब के रहस्य को उद्भिन्न करना चाहा, पर राधा के सामर्ष निषेधवचनो ने, जो श्रीकृष्ण के लिये अमृत कल्प ही थे, वैसा न होने दिया। राधाकृष्ण के सुख मे ही सुख का अनुभव करनेवाली हरिवश की सखीदेह भी ललिता आदि सखियो के साथ छिप कर इस प्रणय व्यापार का साक्षात्कार कर रही थी।

---

१. पं० बलदेव उपाध्यायः भागवत संप्रदाय, पृ० ४४२–४४७, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, संवत् २०१०

२. पाठांतर विभ्रम, आर्य भाषा पुस्त०, याज्ञिक संग्रह, सं० ४०२ । ५५

उसने देखा कि स्वामिनी प्रणय कोप के आवेश मे प्रियतम का हाथ झिटकती हुई अपनी एकावली तोड़े दे रही है। इस दर्शन से ही वह कृतकृत्य हो गई। यहाँ सखी मे 'तत्सुखसुखित्व' स्थायीभाव ही स्वामिनी राधिका के सूक्ष्म प्रणयमान से अनुरंजित होता हुआ हिततत्व—रसास्वाद मे विश्रांत होता है।

उपसंहार

१०२. इस प्रकार आलोच्य युग के सारे भक्त कवियो ने भक्ति रस की दृष्टि से अपनी कृतियाँ प्रस्तुत की है। स्पष्ट शब्दो मे उन्होने 'प्राकृत' रसपूर्ण रचनाओं के प्रति अपनी उपेक्षा व्यक्त की है। जिस प्रकार सपूर्ण भक्त परपरा मे सामाजिक व्यवस्था अथवा मर्यादा का मूल्याकन भक्ति के प्रतिमान पर हुआ उसी प्रकार भाव एव रस का नियोजन और आकलन भी भक्ति की भूमिका मे ही गृहीत हुआ।

१०३. इस भक्ति रस ने प्राकृत तत्वो—बाह्य पदार्थ और आंतर भाव दोनों को अपने संस्पर्श से दिव्य बनाकर ही गृहीत किया। काव्य [प्राकृत या लौकिक काव्य] के अनुशीलन से निष्पन्न होनेवाले रस की अलौकिकता को प्रमाणित करने मे यद्यपि रसशास्त्र के आचार्यों ने बड़ा आयास किया, तथापि उनके विभाव, स्थायी भाव आदि मे लौकिकता की छाया बनी ही रही। भक्त कवियों और आलकारिको ने इन्हें भी अलौकिकता प्रदान की। उपास्य के ही आलंबन हो जाने से 'विषय' की दिव्यता तो सभी भक्तो मे समान रूप से स्वीकृत हुई किंतु रसवादी भक्तो की सिद्धदेह मे भावाश्रय भी अप्राकृत और दिव्य माना गया। विषय आश्रय की अलौकिकता मे स्थायी भाव आदि का कहना ही क्या ? एक ही भगवद्विषया रति के विभिन्न रूपो की कल्पना भी इस दिव्यता का पोषक है। लौकिक काव्य रस की अनुभूति केवल सामाजिक को होती थी, पर भक्ति रस की स्थिति अनुकार्यों, भगवान् और भक्त, मे भी सिद्ध हुई। इस प्रकार भक्ति रस आमूलचूल दिव्य है।

१०४. दिव्यता की ओर दृष्टि और लौकिकता का तिरस्कार एक मध्ययुगीन प्रवृत्ति थी। घोर नैराश्यवाद की भावना के साथ ही साथ कर्मों मे अनास्था एवं ईश्वर मे दृढ विश्वास इस काल का जीवनदर्शन था, जिसका प्रतिफलन सामाजिक व्यवस्थाओं तथा रस दर्शन की मान्यताओं पर युगपत् हुआ। रसदर्शन मे लौकिक तत्वों का अलौकिकीकरण इसी वृत्ति का परिणाम है।

१०५. बताया जा चुका है कि हिंदी सगुण काव्य मे परिलक्षित भक्ति की तीन आधार है। इसलिये उनके अनुकूल रसदर्शन के तीन सिद्धात भी दृष्टिगोचर

होते हैं। मर्यादावादी परंपरा मे जिस प्रकार भक्ति के आभोग मे सामाजिक संबंधों और मर्यादाओ का सचयन हुआ उसी प्रकार रसदर्शन मे भक्ति रस के परिवेश मे पारंपरिक नवरसो का सन्निवेश हुआ। साथ ही इसमे आलबन राम अपने संपूर्ण सामाजिक सबधो की भूमिका मे चित्रित हुए। इसमे मीमासक भट्टनायक आदि की धारा मे स्वीकृत वैदिक मर्यादा के रक्षण की अनिवार्यता परिगृहीत है। इसी से संपूर्ण भक्त कविमडल की अपेक्षा इनमे व्यक्ति वैचित्र्यवाद का अभाव और सामाजिकता का प्रभाव सर्वाधिक है। यही कारण है कि उन सब समीक्षको ने जिन्होने रस की पारंपरिक व्याख्या स्वीकार की तथा जिन्होने सामाजिक आधार पर काव्य का मूल्यांकन किया, तुलसी के काव्य को सर्वश्रेष्ठ उद्घोषित किया है। उनके अनुसार लोक के भीतर विश्वमगल की शक्तिमयी, शीलमयी और सौंदर्यमयी कला का प्रकाश करनेवाला यह मर्यादावादी काव्य सर्वोत्कृष्ट है। सर्वोत्कृष्टता के निष्कर्ष पर तो आपत्ति नहीं, पर यह अवश्य ज्ञापनीय है कि लोकमंगल का सिद्धात तथा सामाजिकता का निर्वाह दोनो तत्व तुलसी की स्मार्त परंपरा से स्वय आगत है और इनका आधार पूर्ण रीति से वह धर्म है। यह सत्य है कि इस भौतिक मानवतावाद के युग मे ये सिद्धात अधिक ग्राह्य है किंतु इन्हीं को मूलाधार मानकर शास्त्रवादी और रसवादी भक्त कवियो की रचनाओ को हेय ठहराना सामाजिक इतिहास विज्ञान के विरुद्ध है।

१०६. भक्ति की दूसरी धारा शास्त्रवाद की है। शास्त्रवादी रचनाओं मे आगमवादियों का रसदर्शन अपने शुद्ध रूप मे अभिव्यक्त हुआ। जिस प्रकार इन्होने सामाजिक क्षेत्र मे श्रौतस्मार्त मर्यादाओं की अपेक्षा न रखकर आगमिक आचारों को महत्व प्रदान किया और भक्ति के क्षेत्र मे व्रजकृष्ण की बाल-किशोर-पौगंड अवस्था की लीलाओ को अपनी भावना का विषय बनाया उसी प्रकार भक्ति-रस-दर्शन के क्षेत्र में भी इन्होने पारस्परिक नव रसो की उपेक्षा कर भक्तिशास्त्रीय वात्सल्य प्रमुख पचरसों की महत्ता स्वीकृत की। लीलावादी होने के कारण इनके काव्य मे समाज तथा उसकी मर्यादाएँ नगण्य एव तुच्छ है। इसीलिये कहा जाता है कि इसमे 'वर्ण्य विषय की परिमिति और वस्तुविन्यास का सकोच दिखाई देता है' तथा 'प्रस्तुत रूप मे लिए हुए पदार्थों और व्यापारो की सख्या परिमित' है। यह भी कहा जाता है कि "जीवन की गभीर समस्याओ से तटस्थ रहने के कारण उसमे वह वस्तुगाभीर्य नहीं है जो गोस्वामी जी की रचनाओ मे है। परिस्थिति की गंभीरता के अभाव से गोपियों के वियोग में भी वह गभीरता नहीं दिखाई पड़ती जो सीता के वियोग मे है। उनका वियोग खाली बैठे का काम सा दिखाई पडता है। सीता अपने प्रिय से वियुक्त होकर कई सौ कोस दूर, दूसरे द्वीप मे राक्षसो के बीच पड़ी हुई थीं। गोपियों के गोपाल

केवल दो चार कोस दूर के एक नगर मे राजसुख भोग रहे थे। सूर का वियोगवर्णन, वियोगवर्णन के लिये ही है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं" और "तुलसी के समान लोकव्यापी प्रभाव वाले कर्म और लोकव्यापिनी दशाएँ सूर ने वर्णन के लिये नहीं लीं"।

१०७. उपर्युक्त आलोचना सूर साहित्य के साथ न्याय नहीं करती। इसका प्रतिमान आधुनिक सामाजिक मनोविज्ञान [सोशल साइकालाजी] है। सामाजिकता का जैसा विवेचन और विनियोग इस युग मे हो रहा है वैसा मध्ययुग में नहीं था। मध्ययुग के ये लीलावादी कवि समाज की चिंता से विनिर्मुक्त होकर अपने इष्ट की आराधना में तल्लीन रहा करते थे। उनके लिये 'संसार' मिथ्या था और उसके प्रपंच भक्ति की साधना मे अवरोध उपस्थित करते थे। इसलिये वह उपेक्ष्य था। उनकी काव्यसाधना भक्ति के लिये थी। अतः उचित यही है कि इस काव्य का अध्ययन तत्कालीन भक्तसमाज के मानसिक परिपार्श्व मे किया जाय, न कि आधुनिक सामाजिक मनोविज्ञान के आधार पर। इसी भूमिका मे इन भक्त कवियो के अध्ययन से उस युग की और इन कवियों की भी विशेषताएँ उद्घाटित हो सकेगी।

१०८. उदाहरणार्थ सूर की रचनाओं मे दिखाए गए ऊपर के दोष—[१] वस्तु व्यापार का संकोच, [२] गांभीर्य का तथाकथित अभाव एवं [३] लोकव्यापी कर्म और दशाओ की उपेक्षा—मध्ययुगीन तथा साप्रदायिक प्रवृत्ति के कारण है। मध्ययुग की प्रवृत्तियाँ—[१] भावतरल व्यापार और जीवन के सरस पक्ष की ओर आकर्षण [आइडिलिक विजन आफ लाइफ], [२] औपचारिक प्रेम की परपराभुक्त पद्धति [कन्वेशंस आफ फार्मोलाइज्ड लव] तथा [३] नैराश्य की प्रवृत्ति से ससार का तिरस्कार और इससे अलौकिकता की ओर झुकाव [पेसीमिज्म एंड दि आइडियल आफ सब्लाइम लाइफ]—युरोप के ही नहीं, बल्कि भारतीय साहित्य मे भी ओतप्रोत थीं। जे० हुइजगा ने अपनी अत्यन्त मनोरजक पुस्तक 'दि वेनिंग आफ दि मिडिल एजेज' के अतर्गत सपूर्ण यूरोपीय साहित्य, विशेषतः फ्रेंच और [illegible] काव्य मे इन प्रवृत्तियो का व्यापक प्रभाव बताया है। आलोच्य युग के हिंदी साहित्य मे भी ये प्रवृत्तियाँ सुस्पष्ट रीति से परिलक्षित होती हैं। गौड़ीय भक्ति साहित्य मे, [illegible], हरिवंश के सप्रदायिक साहित्य मे तथा वल्लभमतानुयायी काव्य मे भी उक्त तीनों प्रवृत्तियाँ वर्तमान है। इसलिये इन प्रवृत्तियों को साधारणतः मध्ययुग की और विशेषतः भक्तसमाज की विशेषताएँ ही मानना पड़ेगा। इन प्रवृत्तियों ने [illegible] लीलावाद का रूप धारण किया।

१०९. दूसरे ये तीनों दोष शास्त्रवादी भक्तों के रसदर्शन की विशेषताएँ हैं। [illegible] का प्रयत्न किया गया है कि शास्त्रवादी रस की मीमांसा मे वात्सल्य-

प्रमुख पंचविध भक्तिरस की प्रतिष्ठा है तथा पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रजकिशोर ही इसके आलंबन हैं। गोपिकाओ की विरहव्यंजना माधुर्य रस के परिपाक की चरम अवधि है। अतः इन लीलावादी कवियों के अध्ययन मे शुष्क मर्यादावादी सामाजिक आलोचना सफल नहीं हो सकती।

११०. जिस प्रकार समाज और भक्ति के क्षेत्र मे, उसी प्रकार रसदर्शन मे भी रसवादी भक्त सीमावादी हैं। वे मधुर विहाररस के एकात दर्शक और गायक हैं। इनमे समाज तो क्या राधावल्लभलाल के अतिरिक्त सभी कुछ अतरित हो गया है।

परिशिष्ट : गुप्त रस टीका

श्रीकृष्णाय नमः। श्री गोपीजनवल्लभायनमः। अथ श्री गुसाईं। विठ्ठलनाथ। जी कृत 'गुप्तरसग्रथ' सो ताकी टीका श्री घनस्याम जी कृत भाषा मे लिख्यते॥

यह जो श्री गुसाई जी कृत गुप्तरसात्मक—भावात्मक ग्रथ है, सो ताको श्लोकार्थ श्री घनश्याम जी भाषा मे कहते है। काहे ते जो अज्ञान है तिनके ज्ञापनार्थ [अपनोदार्थ ?] भाषा मे कहे हैं—जो एक समय श्री ठाकुर जी पाँच बरस के हते। सो अपने वय के सखा सब बराबरि के तिनके सग खेलत हते। सो खेलत खेलत कोई ब्रज भक्त के आँगन मे पधारे। सो वा समय वह ब्रजभक्त गूढ़ भावित हती। तिन श्री ठाकुर जी को उन बालकन ते दूरि करिके, न्यारे करिकें अपनी गोद मे पधराय के एकात स्थल मे ले गई। सो गोद मे बैठाय कें समस्या सों बालक अवस्था मे प्रौढ़ लीला कों रस, ताके भोग करिवे की ठाकुर जी को सिक्षा करत है। श्लोक—

पयोदध्यामिक्षाभिनवघृतगोधूमचणकै,—
क्षवैरत्युत्कृष्टै [र्] विविध रसभोज्यं प्रियहृदा।
विधायाधार्थोचितरुचिरपात्रेपु रहसि,
प्रियपर्यङ्कस्थं किमपि समवोचत् प्रियतमम्॥ १॥

याको अर्थ :

दूध दही तथा मनोहर के लडुवा तथा सद्य को ताया घृत तथा गेंहू और चना बूरा—यह पदार्थ अति उत्तम प्रकार सो, जो हमने अत्यत श्रम सों बहुत प्रीत करि सिद्ध किए है और विविध रस जो खटरस और सकल सामग्री सोहू सब अतःकरणपूर्वक सो सिद्धि करिके, एकात विषें जा रस के उचित जैसो पात्र, जामे सामग्री शोभित आछी भाँति सो रहे। सो ता रीत सो संपादन करिके धरे हैं। ताको हे प्रिय। हमारे

प्राण के आधार ! इन पदार्थन को निश्चय तुमही भोजन करो। सो या प्रकार सों प्रथम श्लोक को अर्थ भयो ॥ १ ॥ अब आगे और हू कहत है । श्लोक :

अस्मदीयपदार्थानां भोगः कार्यस्त्वयैव हि ।
अन्यथा मार्गमर्यादा नंक्ष[दय]त्योरोजलोचन ॥ २ ॥

याको अर्थ :

यह जो, श्री ठाकुर जी सो व्रज भक्त कहत है, [जो !] हमारे दोय प्रकार के जो पदार्थ है—एक देह संबंधी, सकल श्री मुखारविंद आदि अवयव हैं, और दूसरे अ [न्न] सबधी नवनीत आदि सामग्री, तिनको तुमही भोग करने के योग्य हो। सो ताते हम प्रार्थना करते है—जो दोऊ भाँति के पदार्थ, तिनकों तुमही भोग करो। जो और की सामर्थ नहीं है। ताते यह पुष्टि मारग मे तुम्हारी यह प्रतिज्ञा है—जो पुष्टि मार्गीय भक्तन की वस्तु होय, सो ताको तुमही अंगीकार करिबे कों योग्य हो। तुम हमको रसदान करि सीतल करो। सो या प्रकार सो दोय श्लोकन को निरूपण भयो ॥ २ ॥ अब और हू कहत है। श्लोक—

इतरोपभोगशङ्कादवदहनसुतप्तमन्तरस्माकम् ।
स्वाङ्गीकुरु नवजलदैः शिशिरय गोपीजनप्राण ॥ ३ ॥

याको अर्थ :

तुम्हारे भोग वस्तु को इतर जो कोई भोग करे, ऐसी जो संकारूप दावानल ता करिके हमारें अंतःकरण तप्त भए हैं, ताते तुमही ऐसे तप्त हृदय को सीतल करो। ताते हे प्राणप्रीतम यह सामग्री के अंगीकार करिबे मे तुमही योग्य हो ॥ ३ ॥ या प्रकार तीन श्लोकन को निरूपण भयो। अब और हू कहत हैं। श्लोक—

लोकविगीतं नाथ स्फु [ट] मस्माभिस्तथा कृतं तस्मात् ।
बालक - लीला - प्रौढ्या त्वयैव सम्पादनीया सा ॥

याको अर्थ :

हे नाथ लोकन के विषे कोई के आगें अपनो अभिप्राय जतायो नहीं। एक तुमही हमारें प्राणप्रीतम हो। सो तुमहीं सो सब कहे है। ताते तुमहूँ बाललीला में किसोरलीला करिके हमकों एकान्त विषे रस सपादन करो, हमको रसदान देउ। हम ऐसो दिन मा विरह ताप सों तप्त हैं। सो अधरामृत दान करि हमको सीतल करो ॥ ४ ॥ सो या प्रकारसों चारि श्लोकन को निरूपण भयो। अब और हू कहत हैं। श्लोक—

कार्यव्यापृतिरन्येषां यदास्माभिस्तदा तथा।
यतनीयं त्वमुद्वेलबाललीलामिवाचर ॥ ५ ॥

याको अर्थ :

अन्य जो कोई है, सो तिनको यह कार्यरूप जो उद्यम हैं—कोई खेती करें, कोई गोचारण करें, इत्यादिक कार्य में सब गोपजात है, तब हम तुम्हारे बुलायबे को यत्न करेंगे। तुमहूँ ता समयनि मर्यादा बाललीला को आचरण करोगे, सो या प्रकार सों प्रार्थना करिके अब सामग्री हैं, सो सब सूचन करत है ॥ ५ ॥ या प्रकार पाँच श्लोक को निरूपण भयो। अब और हू कहत है—

रजतमयेऽनतिसूक्ष्मे पात्रे नवोनमति-नव-निहितम्।
शोणे शिक्ये मुक्तागुच्छ [`] विततव [त्य]गृहाणेदम्' ॥ ६ ॥

याको अर्थ :

रूपे को पात्र बोहोत बढ़ो हू नहीं, बोहोत छोटो हू नहीं, तामे सद्य को उत्पन्न भयो जो नवनीत सो ता पात्र मे धरिके जै [जो] लाल पाट को छीका, मुक्ता के गुच्छान सो संयुक्त एसे छीका मे राखे है। सो तुम्हारे ग्रहण करिबे योग [ग्य] है। ताते तुम अंगीकार करो। सो या करि यह जताए—मध्यभक्त जो कसूँभी साड़ी मुक्ता के आभूषणसयुक्त तिनको तुमहीं अगीकार करो। सो या प्रकार सो यह श्लोक को निरूपण भयो ॥ ६ ॥ अब और हू कहत है—

तन्निकटेऽस्ति सिता हैमे पात्रे तदग्रिमे शिक्ये।
सु[शृ]त पयः सितैलाकर्पूरयुतं च पेयं तत् ॥ ७ ॥

याको अर्थ :

वह रूपे के पात्र निकट सोने के कटोरा मे सिता कहे मिश्री सहित जो नवनीत ताको आरोगोगे। और ताही के निकट यो [जो] छीका वा पर बोहोत ओट्यो दूध मिश्री इलायची बरास इत्यादिक संयुक्त धरयो हे। सो तुम पान करो। यह कहिके प्रगल्भा जो ज्ञातजोबना व्रजभक्त तिनके रस ग्रहण की समस्या कहत है ॥ ७ ॥

श्लोक—

दुग्ध ['] मध्ये हेमपात्रं सूक्ष्मं निहितमस्ति मे।
सुखेन तेन तत्पानं कुरु मत्प्राणवल्लभ ॥ ८ ॥

याको अर्थ :

ऊपर के श्लोक मे कह्यो है—जो ओट्यो दूध सुवर्ण की कटोरी मे धरयो है। सो बिना श्रम दुग्ध निसक होय के पान करो। सो काहे ते, जो प्राणवल्लभ हमारे प्राण

के सुखकारी तुमही हो। सो या करिके व्रज भक्तन के अधरामृतपान करिबे को सूचन किये ॥ ८ ॥ अब और हू कहत है—

> सुसृ [शृ] त-दुग्ध-मोदकानि प्रिये, तदुपरिस्थकनकमयपात्रे।
> निहितानि सन्तु सुहितान्यस्माकं त्वत्करस्पर्शात् ॥ ९ ॥

याको अर्थ :

ऊपर कह्यो है—जो रूपे के पात्र के पास सुवर्ण के पात्र मे ओट्यो दूध को खोवा ताके लडुवा धरे है। वाके हे प्रिय तुम्हारे करको स्पर्स होयगो तब हमारे हितकारी नुकूल करि मानेंगे। यो यह कहिके व्रजभक्तन के कुचस्पर्स की समस्या किए। या प्रकार सो नौ श्लोक कों निरूपण भयो ॥ ९ ॥ अब और हू कहत हैं—

> 'सुसृ [शृ] तमहिपीदुग्धं शरावस्तन्निकट-मेचक-सि [शि] क्यगतः।
> प्रियरुचिर मृन्मङ्गाय – पात्रपिधानयुक्तस्तवास्य – सोमिच्छति ॥१०॥

याको अर्थ :

आछी भाति सो ओट्यो दूध महिषी जो भैंस को, मृन्मय कटोरा तामे आछी भाँति सो राख्यो है। सो प्रथम के छींका के निकट ही यह स्याम पाटकों छीका परि धरि दूसरे मृन्मय कटोरा सो ढाँकि राख्यो है। सो तुम्हारे मुखकमल के [ऽ] स्य रस की इच्छा करत हैं। सो या करिके यह जताए—जो कोई स्याम बस्त्र परिधान किए जो कोई मुग्ध भक्त है, तिनके चुबन मर्दनादिक अनेक भाँति के रस ग्रहण की समस्या करत है ॥ १० ॥ अब और हू कहत हैं—

> एकैकं त्वन्मुखाम्भोजे यथा याति तथा कृतम्।
> तदग्रेऽस्ति नवे सि [शि] क्ये कर्कटीबीजमोदकम्' ॥११॥

याको अर्थ :

ये जो छोटे छोटे लडुवा तुम्हारे मुखारविंद के लायक, जो विना श्रम तुम्हारे मुख कमल में जाय, ऐसे जो ककडी के बीज के लडुवा, सो हम वाके आगे के छीका पर धरे हैं। या करिके यह सूचन किए—जो अज्ञातजोवना मुग्धाभक्त तिनकों अकुरगा जो थीन रस ताके ग्रहण करिबे की समस्या करत हैं ॥ ११ ॥ अब और हू कहत है—

> सिता-लवङ्ग-कर्पूरादिभिरातक्रमुत्तमम् ॥
> नवमृन्मय पात्रेऽस्ति दधि सि [शि] क्ये विचि [त्रि] त्रते ॥१२॥

याको अर्थ :

मिश्री और लवंग बरासादिकन सों मिलायो—एसो सुंदर जो दधि सो नवीन कोरे मृन्मय पात्र मे धरिके विचित्र पचरंग पाट के छीका मे करिके राख्यो है। सो ता करिके यह जताए—जो त्रिगुण प्रौढा भक्त तिनको रस जो किंचित् खारो या खाटो ? तिनके रसग्रहण की समस्या करत है। तहाॅ त्रिगुण कहै सात्विक, राजस, तामस, तामे मिश्री है सो सात्विक, बरास राजस, लवग तामस यह तीनो भावक है। तिमको तुमहीं अंगीकार करो ॥ १२ ॥ अब और हू कहत है—

केवलेनैवदध्ना [ध्ना] यदा तक्रं सुसृ[श्रृ]तं पयः।
तद्ध्यतिधनं स्वादु सि[शि]क्येऽस्ति कनकञ्चिते ॥१३॥

याको अर्थ :

जो केवल दधि सो जमायो अति अधोटा दूध ता करिके सिद्धि भयो, जो अद्भुत स्वाद सो सुवर्ण पाट के छीका पर धरयो है। सो यह कहिके यह जताए—जो ज्ञात-जोबना, जो सुद्ध प्रगल्भा, व्रजभक्त, सो सुवर्ण नाम सुनहरी जरी के बस्त्र, संयुक्त, तिनको रस जो केवल गोरस तुल्य ताको ग्रहण करिबे की सिक्षा करत है, जो तुमही अंगीकार करो ॥ १३ ॥ अब और हू कहत है—

गोधूमचणकपिष्टामिक्षाभिर्ये विनिर्मिता रस्याः।
ते सन्त्यर्थाः पीतश्वेतश्यामेषु सि [शि] क्येषु ॥१४॥

याको अर्थ :

गेहूॅ और चणा को पीस के तथा ताते दूध मे खटाई डारे तब होत है जैसो फाट्यो दूध, ताकरि बनी जो अति उत्तम कोमल रसाल सामग्री पदार्थ—सो पीत ऊजल स्याम पाट को छीका पर धरी है। या करिके त्रिगुणा जो व्रजभक्त पीतवस्त्र, श्वेतबस्त्र परिधान किए तिनके गलस्थल तथा अधर तथा कुच और कोमल सर्वांग तिनकें रसास्वाद की सिक्षा करत है ॥ १४ ॥ अब और हू कहत है—

निगदितशिक्यवृन्दान्तरे तु पद्मरागमयसि [शि] क्ये।
ततस्त्वं तौ सिखरिण्यौ नवयो मृन्मायपात्रयोरपि ॥१५॥

याको अर्थ :

ऊपर कहे जो छीका के समूह ताके मध्य जो लाल मणिमय छीका तापर दोय प्रकार के जो सिषरन एक तो अत्यंत मिष्ट, एक किंचित खाटो सो है। नाथ, नवीन मृत्तिका के पात्र मे धरि राख्यो है। सो या करिके यह जताए—जो मणि के

आभग्न सयुक्त, जो दोय प्रकार के भक्त—एक तो अज्ञातजोबना केवल मिष्ट रसमय जामे श्री ठाकुर जी को श्रम नहीं होय और एक ज्ञातजोबना मध्या जो किंचित खाटे रसमय तिनके रस ग्रहण मे थोरो सो श्रम होत है। ऐसे व्रजभक्त तिनके सर्वांग के रस स्वाद सूचन करत है ॥ १५ ॥ अब और हू कहत हैं—

> सन्धितचूताद्रकनिम्बूजम्बीरकरीरादिः ।
> अतिरोचकस्तदग्रिमसि [शि] क्येऽस्ति नवाम्बुदश्याम ॥१६॥

याको अर्थ :

अब कहत है। आव तथा आद तथा नवीन नींबू तथा बीजोरा तथा सुंदर टेंढी आदि नाना प्रकार के सधाने अत्यत रोचक सोहैं। नवघनस्याम, आगे ही के छीका पर धरे हैं। सो या करिके प्रौढा व्रजभक्त, विचित्र भाव सयुक्त मानवती, तिनके रसग्रहण की समस्या करत है ॥ १६ ॥ अब और हू कहत है—

उच्चै [:] स्थितसि [शि] क्यानामप्यथ [माप्त्यर्थं] मनेकसाधनान्याहृत्य। पीठो-लूखलभाण्डान्यस्माभिः सन्ति निहितानि ॥१७॥

याको अर्थ :

अति उच्चस्थित जो छीका ताकी प्राप्ति के लिए हमने अनेक साधन करि पटडा [रा ?] और उलूखल तथा और हू भॉडे राखे है। सो या करिके यह जताए जो व्रजभक्त ग्रहादिक की मर्यादा करि दुःप्राप्त हैं, तिनकी प्राप्त [ति] हम या द्वारा, इन मिस करि तुमकों मिलेगी। और तुमहू चोरी के मिस ऐसे भक्तन के घर पधारि सबन को अंगीकार करो। तथा हमहू अनेक प्रकार के सकेत ऊ पावन [—र्थ] ग्रहादिक कुटुब को गायन के सग पटावे [ं] गी, और तुमहू उपाय करिके यह रस को अंगीकार करोगे ॥ १७ ॥ अब और हू कहत हैं—

> षड्रसमयाः पदार्थाः संयावाद्या विचित्ररूपान्ताः ।
> योग्यस्थाने निहिता महानसे सन्ति भूयिष्ठाः ॥१८॥

याको अर्थ :

खटरस जो कटुक, आम्ल, तिक्त, लवण, कसायन, मधुर—यह जो खटरस पदार्थ और संजावादि खीर और दारि भात—सो यह सघडी सामग्री सो यथा योग्य स्थान जो पाकसाला नाम रसोईघर तहाँ भूम [मि] पर धरी है। सो या करिके यह जताए—जो श्री ठाकुर जी मि [ि] त्र संकेत करिकें कहूँ और ठौर पधारे है, [illegible] भी [illegible] भयो जो [illegible] को मान ऐसे जो निरगुण व्रजभक्त तिनके खटप्रकार

के रस ग्रहण करिबे की समस्या करत हैं। जो भूमि पर धरिबे कों अभिप्राय है—जो सषडी भूप [मि] पर अग्र [ग्नि] के पास रहत है, तब ताती सुस्वाद लगत हैं और मानहू कौ स्वरूप तातो है, यह भाव है ॥ १८ ॥ अब और हू कहत हैं—

क्रियदवधि ते पदार्थास्त्वदेकभोग्यासु [स्तु] वर्णनीया मे।
त्वं भुंदवाशु सरामो वयस्यवृन्दैः सहागत्य ॥१६॥

याको अर्थ :

यह जो तुम्हारे भोग लायक सब पदार्थ, ताहि हम कहाँ ताईं वर्णन करें। सो पदार्थ तुमही भोग करो। और अपने वय के जो बालक तथा श्री बलदेव जी को हू संग ले आवनो। या करिके यह जताए—जो ऐसी सामग्री मे भोग समय देव मर्यादा रूप जो बलदेव जी सग होहिं और द्वार के बाहिर जो ठाढे रहे तो औरन को यह रहस्य लीला को ज्ञान न होय। और छोटे बालक जो रहस्य लीला मे अज्ञान हैं—सो तो अंतर को ब्रतात [वृत्तांत] कछू जानेंगे नहीं। और हमारे बीच ऊतर प्रति ऊतर के सहाय रहेंगे ॥ १६ ॥ अब और हू कहत हैं—

एवमेवाखिला नानासदनेषु त्वदाशयाः।
सम्पाद्य निहितः [ाः] सन्तिपदार्था भावसुन्दर ॥ २० ॥

अब याको अर्थ :

या प्रकार समस्त जो ब्रजभक्त और हमारे घर मे तुम्हारी आसा करिके हैं, भावसुंदर, अनेक प्रकार के पदार्थ संपादन करिके धरे है। या करिके यह जताए—जो हे भावसुंदर हमारे प्रत्यंग रूप जो सब पदार्थ—जो भोजन तथा स्नानादिक तथा शृंगार वस्त्र ते तुम्हारी आसा धरि पोष [पोषण] और सिद्धि करिके राषे हैं और कहू के उपयोग नहीं भए। और भरतार को भाग्य तो अंतरंगी माया के त्रिलास करि लोकन मे प्रव्रत मान [प्रवर्त्तमान] हैं, न तु साक्षात भोग नहीं, अभोगित सामग्री तुम्हारे योग्य है। ताते सुखेन तुमही अगीकार करो ॥ २० ॥ अब और हू कहत है—

वत्समिव मोचनं स्तोकप्रपीडनाद्यं व्रतं चात्र।
सङ्केतमस्मदीयं सङ्गोपयितुं त्वया कार्यम् ॥ २१ ॥

याको अर्थ :

वत्स को समय बिन खोल देनों, और छोटे जो बालक तिनकों पीडन करिके रुदन करवावनों, इत्यादिक जो तुम्हारे संकेत ताके गोपनार्थ सब कोई यह जानें—जो ए सब बालक हैं। सो ऐसी लीला को अनुकरण करत है। सो ता समय हू तुमको गोद मे उठाय, हृदय सों लगाय तुमको नाव धरेंगी। सो ता करिके हमारे हृदय के ताप दूरि होयंगे और लोकन मे यह रहस्य लीला को ज्ञान न होयगो ॥ २१ ॥ अब और हू कहत हैं—

अस्माभिरप्युपालम्भ इव देयस्तदर्थकः।
मातृपादाब्जनिकटे हृदयामस्त्वां तदापि च ॥ २२ ॥

याको अर्थ :

जो हम तुम्हारे दरसन कों आयके उपालंभ जो ऊराहनो, सो श्री मातृचरण के निकट आयके कहे [˙] गी और ऊहाहू या मिस करि हमको तुम्हारो दरसन होयगो। सो तुम उराहनों सुनि के बुरो मति मानियो ॥ २२ ॥ अब और हू कहत है—

अधिकं किन्तु वक्तव्यं यथैवास्मन्मनोरथः।
पूर्णो भवत्ययं नाथ तथावश्यं त्वमाचर ॥ २३ ॥

याको अर्थ :

और अधिक [- कहा ?] हम तुम सों विज्ञप्त करें—सो यही हम बारंबार तुमसों कहत हैं—जो जैसे हमारे मनोरथ हैं सो वाही प्रकार तुम पूरण करो। वैसे ही गुप्त लीला अनुकरण करिकें, हमारें बोहोत दिन के हृदय के ताप हैं—ताको तुम सीतल करो। ॥ २३ ॥ अब और हू कहत है—

यद्यपि लोकविगीतं व्रजेशसूनोस्तवेदृशं करणम्।
निजजनहृदयानन्दप्रदायकत्वादतिश्लाघ्यम् ॥ २४ ॥

याको अर्थ :

हे व्रजेश सूनु, तुम्हारो जो आचरण सो यद्यपि लोकन मे तो निंदित है परंतु तुम्हारे जो निजजन अंतरंगी व्रजभक्त तिनके हृदय को तो परम आनद के दाता ही हैं। सो तातें तुम वाही प्रकार सदा सर्वदा व्रजभक्तन को सुख दीया करो। जो तुम स्तुति करिबे जोग हो॥ २४ ॥ अब और हू कहत हैं—

इत्थं निजगेहेऽपि क्वचित् करणतोऽतिबालमौग्ध्यं ते ।
ज्ञात्वा स्नेहातिशयात्सर्वे त्वां लालयिष्यन्ति ॥ २५ ॥

याको अर्थ :

या प्रकार अपने ग्रह विषेहूँ कोईक समय तुम उत्संग लीला को आचरण करोगे। तब तुमको बोहोत अज्ञात बालक जानिके सब कोई अत्यंत स्नेह करे [ं]गे। और बोहोत लाड़ लड़ावे [ं] गे। सोऊ हमको महासुख रूप ही है ॥२५॥ अब और हू कहत है—

अस्मदीयमखिलं भवदीयं तेन सद्ग्रहणतो न परस्य ।
कस्यचिन्न तु भविष्यति बुद्धिर्दोष इत्यमलवस्तुनिसर्गात् ॥२६॥

याको अर्थ :

यह हमारी हैं—सो सब तुम्हारी हैं—जो तुम्हारे अंगीकार के योग्य है। जो [सो] पराई सर्वथा मति जानियो—सो ताते यह सामग्री के ग्रहण करिवे मे और जो गुरुजन है, तिनको हू या प्रकार दोषबुद्धि सर्वथा न होयगी, और तुमहू निर्दोष हो—ताते तुमही अगीकार करो ॥२६॥ अब और हू कहत हैं-—

न ज्ञास्यत्यन्योऽपि प्रियावयोश्चरणरेणुरेष [:] पदम् ।
श्रीविट्ठलोऽतिगोप्यं सर्वमिम वेर्ति [त्ति] वृत्तान्तम् ॥२७॥

याको अर्थ :

यह सामग्री भावात्मक को वृत्तात कोई जानत नहीं है। प्रिया [प्रिय,] तुम्हारे हमारे चरणारविंद की जो रेणु ताके भाव मे जो तत्पर ऐसे जो श्री विठ्ठलनाथ जी वे ही या व्रतात को जानत हैं॥ २७ ॥ अब और गोप्य कहत है। श्लोक—

इति प्रियतमावृन्द-मुखपद्मवचो मधु ।
रसायनमिवापीय तथैव विभुराचरत् ॥२८॥

याको अर्थ :

या प्रकार के व्रजभक्तन के जो जूथपति, तिनके मुखकमल विषै मधुर वचन जो रसायन तुल्य, ताको सुनिके श्री ठाकुर जी ने वाही प्रकार को आचरण कियो। सो तहाँ रसायन रूप जो वचन कहैं—सो ताको अभिप्राय यह—जो रसायन है सो

पुरुषारथदायक है और इनके वचन रसायन—सोहू साक्षात् बाल दिसा मे श्रीठाकुरजी को कामोद्बोध भयो ताते जबसे जसोदाजी के घर प्रगटे सो तबही ते रसायन व्रजभक्तन कों करण लागे—सो अबहू करो, सो यह तो उचित ही है ॥ २८ ॥ अब और हू कहत हैं—

यदोपालम्भमिव ताः कर्तुं मातृपदान्तिके ।
गतास्तदा प्रियतम-प्रेक्षणेन विलक्षणाम् ॥२६॥

याको अर्थ :

या विटियाँ प्रियतमा जो व्रजभक्त सो उराहेने की नाईं उपालंभ देवे कों मातृ-चरण निकट गए, सो तहाँ श्री ठाकुर जी को दरसन भयो। वाही समय उपालंभ उराहनो देवों सब भूलि गई ['] और विलक्षणभाषण कहत भई ['] रस निमग्न है के ॥ २६ ॥ अब और हू कहत है—

तरङ्गा इव भावाब्धेरुदिता प्रिययोर्मिथः ।
भावा वक्तुमशक्यास्ते ज्ञेयास्तु तदनुग्रहात् ॥३०॥

याको अर्थ :

जो उपालंभ समय भाव समुद्र के जैसे तरंग होय—जो उराहनो देन समय अत्यंत रस उमगत हैं। ऐसे जो प्रिय और प्रिया सो परस्पर उत्पन्न भयो जो रस ताको श्री गुसाईं जी कहत है—जो हम कहिवे कों असक्य है। सो काहे ते जो यह पदार्थ साधनसाध्य नाही है—जो केवल कृपासाध्य है, सो ताते उनके अनुग्रह ते करि जानिए ॥ ३० ॥ अब समाप्त कों श्लोक कहत है। श्लोक—

अयं मनोरथोऽत्यन्तं भविता नैव पूरकः ।
नान्यः श्रीगोकुलाधीशात् ज्ञाताप्यन्यो न मां विना ॥३१॥

याको अर्थ :

यह ऊपर जो मनोरथ कहे सो व्रजभक्त विना और कों उत्पन्न न होय। और यह मनोर्थ के पूर्णकर्ता हू एक श्री गोकुलाधीस विना और कोई समर्थ नहीं। ताते व्रजभक्तन कों भाव ऊतमोतमता [उत्तमोत्तमता] के पूर्णकर्ता हू श्री ठाकुर जी सर्वोत्कृष्ट हैं, और यह भाव के जाननवारे, प्रगट करन वारे हू श्री गुसाईं जी [नानन्य] यह अवधि होय चुकी। जो श्री विटलनाथ जी विना और काहू कों यह भाव को ज्ञान नहीं है। और आधुनिक जीवन में पुष्टिमार्गीय कोइक जो यह भाव

को जानेगो, सो श्री गुसाईं जी की कृपा ते जानेगो। ताते एतन्मार्ग के पुरुसार्थ रूप और सर्वात्मक रूप श्री गुसाईं जी है और गुसाईं जी के सर्वस्व श्री आचार्य जी महाप्रभू हैं। और श्री आचार्य जी के सर्वस्व—व्रजरत्ना। व्रजरत्न के सर्वस्त्र यसोदोत्संग लालित रसात्मक पुष्टि साद्यात् श्री पूरणपुरुषोत्तम हैं। यह चारयो पदार्थ एक ही रस, एक ही भावात्मक स्वरूप हैं। सो इन चारयौ मैं अनन्य भाव सो परम प्रीत करि इनमे सर्वभाव राखे। जो इनही के चरणकमल की रज ताकों द्रढ़ आश्रय करि भजन करे। तो इनकी कृपा ते कछू यह रस के कणिका को दान होय। सो या प्रकार यह गुप्त रस की टीका ताको भाव निरूपण भयो।

इति श्री गुसाईं जी कृत गुप्तरस ताकी टीका श्री घनस्याम जी कृत संपूर्णम् ॥ श्री सुभ कल्यानमस्तु ॥

॥ नागरीप्रचारिणी सभा के याज्ञिक संग्रह मे वेष्टन संख्या २६ क । ४३ ॥

अष्टम अध्याय

साहित्य और कला : २

८

साहित्य और कला : २

काव्यरूप

१. गोस्वामी तुलसीदास जी ने काव्य के दो वर्गों की ओर संकेत किया है— प्राकृत और अप्राकृत या भगवत्संबंधी। हिंदी सगुण-भक्ति-काव्य के रूपो की भूमिका मे प्राकृत काव्यरूप अध्यस्त है। अतएव भगवत् संबधी अप्राकृत काव्यों के स्वरूप-परिचय के निमित्त प्राकृत काव्यो की प्रस्तावना प्रस्तुत की जा रही है। प्राकृत या लौकिक काव्यों मे प्रेमाख्यानक या उनके समान अन्य कथात्मक काव्यो की तथा ऐतिहासिक एव अर्धैतिहासिक—चरित, विलास, विजय आदि काव्यो की परंपराएँ बहुत पहले से चली आ रही थीं।

प्रेमाख्यानक काव्य

२. आलोच्य युग के तुलसी के समकालीन जैन कवि बनारसीदास के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि उस समय प्रेमाख्यानक काव्य अत्यधिक लोकप्रिय थे। स्वयं बनारसीदास इन कथाओं के पढ़ने मे अथवा 'आशिकी' मे इतने अधिक तल्लीन रहते थे कि अपने साधारण व्यापार आदि कर्मों से भी उदासीन हो गए[1]। अकिंचनता की स्थिति मे उन्होंने मधुमालती और मृगावती की कथाएँ सुनाकर अपने योगक्षेम की

---

१. कै पढ़ना कै आसिकी मगन होय रस माहिं।
खान पान की सुधि नही रोजगार कछु नाहिं॥

दोहा १८०। अर्धकथा [प्रयाग विश्वविद्यालय, हिंदी परिषद्, प्रयाग से प्रकाशित सन् १९४३]

व्यवस्था की थी[1]। प्रेमबहुल आख्यानों की यह परंपरा पूर्वमध्ययुग और उसके भी पहले से अव्याहत रूप से प्रचलित थी। बारहवीं शताब्दी के अब्दुल रहमान ने अपने संदेश रासक मे 'सदयवत्स सावलिंगा' की कथाओं के जनप्रिय होने का उल्लेख किया है[2]। कालिदास ने भी मेघदूत को कोविद ग्रामवृद्धों द्वारा कही जाती हुई वत्सराज उदयन की कथा के श्रवण का प्रलोभन दिया था[3]। किंतु आलोच्य काल में ये प्रेमाख्यानक काव्य लोकप्रिय होते हुए भी सामान्यतः समादृत नहीं थे। स्वयं बनारसी-दास घर मे सब लोगो की आँख बचाकर ही उक्त कथाओ का पारायण किया करते थे और देख लिए जाने पर गुरुजनो द्वारा शासित होते थे[4]। उन्होंने एक नवीन प्रेमाख्यानक की भी रचना की थी। किंतु यह सोचकर कि अनेक मिथ्या कल्पनाओं से युक्त इस कथा से न जाने कितनी नारकीय यंत्रणाएँ मुझे भुगतनी पड़ेंगी, उन्होंने उस पुस्तक को गोमती मे प्रवाहित कर दिया और उसी दिन से 'आसिकी-फासिकी' छोड़कर धर्म की चाह करने लगे[5]। रामचरित मानस के पाठकों को तुलसी प्रारंभ मे ही सचेत करते हुए कहते हैं—'इहाँ न विषय कथा रस नाना'। इसीसे वे विषय रस की नाना कथाओं के प्रति अपनी वितृष्णा भी व्यंजित कर देते हैं।

---

१. तब घर मे बैठे रहे, नाहिन हाट बजार।
मधुमालती मृगावती, पोथी दोय उचार॥ वही। दो० ३३५

२. कहव ठाइ सुदयवच्छ कत्थव नलचरिउ। संदेश रासक २।४३

३. प्राप्यावन्तीनुदयनकथा-कोविद-ग्रामवृद्धान्
पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम्। मेघदूत, श्लोक सं० ३१

४. गुरजन लोग देहि उपदेस। आसिकबाज सुने दरवेस॥
बहुत पढ़ैं बाम्हन औ भाट। बनिक पुत्र वह बैठे हाट॥
बहुत पढ़ै सो मांगै भीख। मानहु पूत बड़े की सीख॥
इत्यादिक स्वारथ बचन कहे सबनि बहु भाँति।
मानै नही बनारसी रह्यौ सहज रस माति॥
दोहा० २०१। अर्द्ध०। वही

५. एक दिवस मित्रन के साथ। नौकृत पोथी लीन्ही हाथ॥ चौ० २६४
नदी गोमती के तट आय। पुल के ऊपर बैठे जाय॥
बाँचे सब पोथी के बोल। तब मन में यहु उठी किलोल॥
एक झूठ जो बोलै कोय। नरक जाय दुख देखै सोय॥
मैं तो कल्पित बचन अनेक। कहे झूठ सब साँच न एक॥

ऐतिहासिक काव्य

३. चरित, विजय आदि ऐतिहासिक और अर्ध-ऐतिहासिक काव्यों की परंपरा का श्रीगणेश ईसा सन् की सातवीं आठवीं शताब्दी से हुआ। कुछ विद्वानो का मत है कि अरबो के संपर्क से इनका उद्भव हुआ। परंतु प्रतीत यह होता है कि प्राचीन राजप्रशस्तियाँ ही इन ऐतिहासिक काव्यों के मूल मे वर्तमान थीं।

४. कल्हण के अनुसार अभिलेख दो प्रकार के होते हैं—ताम्रशासन और प्रतिष्ठाशासन। ताम्रशासन ताम्रपत्रों पर उट्टंकित दान के प्रमाणपत्र हैं तथा प्रतिष्ठाशासन वे राजकीय अथवा जानपदीय प्रज्ञप्तिपत्र है जिनमे मूर्तिस्थापना, मदिरनिर्माण जलाशयोत्सर्ग, ध्वजस्थापन आदि प्रतिष्ठा कर्मों की सूचनाएँ होती है[1]। इन प्रतिष्ठाशासनो को ही अभिलेखो मे 'पूर्वाप्रशस्ति' कहा गया है[2]। 'पूर्वा' का अर्थ है—सामयिक शासको की वंशानुपूर्वी। कौटिल्य का आदेश है कि शासनों मे राजा का नामधेय और उपचार लिखा रहना चाहिए[3]। उपलब्ध समस्त ताम्रशासनो एवं प्रतिष्ठाशासनो मे उक्त नियम का अनुवर्तन दिखाई पड़ता है। 'प्रशस्ति' साधारणतः तत्कालीन शासको के तथा क्वचिद् अन्यों के प्रशंसात्मक अभिलेख है। यद्यपि वैदिक गाथाओ और नाराशसियो मे राजाओ की स्तुतियाँ संगृहीत है तथापि इन प्रशस्तियों का प्रारंभ हाथीगुंफा मे प्राप्त खारवेल के प्राकृत भाषा के अभिलेख से माना जाता है। जूनागढ़ मे रुद्रदामा के और प्रयाग मे समुद्रगुप्त के उपलब्ध शिलालेख, प्रशस्तिपत्रों के अभिराम निदर्शन है।

५. सप्तम शताब्दी मे राजप्रशस्तियों की बाढ़ सी आ गई थी। उस समय

कैसे बनै हमारी बात। भई बुद्धि यहु अकस्मात॥
यहु कहि देखन लाग्यो नदी। पोथी डारि दई ज्यों रदी॥ चौ० २६७

× × ×

तिस दिन सौ बनारसी करै धर्म की चाह।
तजी आसिकी फासिकी पकरी कुल की राह॥ दो० २७१। वही

१. इस्टाइन : राजतरंगिणी, जिल्द १, पृ० ३ टिप्पणी
२. बहादुर चंद्र छाबडा : पूर्वा और प्रशस्ति, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत २००९, पृ० १४६
३. देशैश्च वंशनामधेयोपचारमीश्वरस्य। शासनाधिकारः। अर्थशास्त्र, पृ० ७१

अनेक प्रशस्तियाँ और अनेक प्रकार की प्रशस्तियाँ लिखी गईं। जोधपुर मे प्राप्त प्रतिहारसम्राट बाहुक का अभिलेख प्रशस्तिलेखन का रहस्य उद्घाटित करता है:—

> गुणाः पूर्वपुरुषाणां कीर्त्यन्ते तेन पण्डितैः।
> गुणकीर्तिरविनश्यन्ती स्वर्गवासकरी यतः॥
> अतः श्रीबाहुको धीमान् सुप्रतिहारवंशजान्।
> प्रशस्तौ लेखयामास श्रीयशोविक्रमाङ्कितान्॥

'इस कारण पंडित लोग अपने पूर्वजो के गुणों का कीर्तन किया करते हैं क्योकि अविनश्वर गुणकीर्ति स्वर्गवास की प्रदात्री है। इसीसे बुद्धिमान् महाराज बाहुक ने श्री, यश और पराक्रम से समन्वित, सुष्ठु प्रतिहार वंश मे समुद्भूत, अपने पूर्वजों का उट्टकन अपनी प्रशस्ति मे कराया'। यह सिद्धात ही प्रमुख रीति से प्रशस्तियों के मूल मे वर्तमान था।

६. प्रशस्तियो से परिज्ञात होता है कि इन प्रशस्तियों का नामांतर 'काव्य' भी था। प्रयाग की प्रशस्ति हरिषेण का और ताड़गुंडा की प्रशस्ति कुब्ज का काव्य है। इसमे परवर्ती ऐतिहासिक और अर्ध ऐतिहासिक महाकाव्यों के अनेक गुण प्राप्त होते हैं। अलंकृत शैली, वंशानुपूर्वी जिसका आदिम पुरुष प्रायः पौराणिक या कल्पित हुआ करता था, दिग्विजयों का अतिरजित और कभी कभी मिथ्या या काल्पनिक वर्णन एवं औपचारिक प्रेम की परपराभुक्त अभिव्यक्ति—इन प्रशस्तियों की विशेषताएँ हैं जो ऐतिहासिक महाकाव्यों मे भी परिलक्षित होती हैं। अलंकृत शैली के विकास मे इन प्रशस्तियों के योग का विवेचन व्हूलर ने विशद रीति से किया है[1]। प्रतिहारो की प्रशस्ति में यदि उनके मूल पुरुष लक्ष्मण हैं, जिन्होंने बनवासकाल में राम के प्रतिहारी का कार्य किया था तो चालुक्यों का मूल वह 'चुलुक' है जिसे ब्रह्मा ने वामन भगवान् के पादप्रक्षालनार्थ ग्रहण किया था। चंदेलराज धंगदेव की प्रशस्ति का निम्नलिखित श्लोक शूरता के प्रभाव की अतिरंजना का चरम निदर्शन है—

> देवालोकय कोशलेश्वरमितस्तूर्णं समाकर्ण्यता—
> मादेशः क्रथनाथ सिंहलपते नत्वा व [ब] हिः स्थीयताम्।
> त्वं वि [—ज्ञा—] पय कुन्तलेन्द्र वदने दत्वोत्तरीयाञ्चलं
> तस्यास्थनगतस्य वेत्रिभिरिति व्यक्तं समुक्तं वचः॥ श्लोक ४५

एपीग्रेफिया इडिका, जिल्द १, पृ० १४५

1. द्रष्टव्य—टिस्कान्कर : सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शंस, जिल्द २ के परिशिष्ट मे मूल जर्मन लेख का बार्ट द्वारा अंग्रेजी भाषांतर।

अर्थात् सभामंडप मे महाराज धंगदेव के पधारने पर वेत्रधारण करनेवाले प्रतिहारियों ने बड़ी ही तत्परता के साथ देश-देशांतरो से आगत राजाओं को विभिन्न कार्यव्यापारों मे नियोजित किया। प्रतिहार ने धंगदेव से कहा, 'देव ! कोशलेश्वर की ओर देखें'। दूसरे ने कृथनाथ का आह्वान करते हुए बताया, 'महाराज का आदेश शीघ्र प्राप्त करो'। तीसरे ने सिंहलपति को आज्ञा दी, 'महाराज को प्रणाम कर बाहर बैठो'। चौथे ने कहा, 'हे कुंतलेंद्र ! तुम उत्तरीयाचल से अपना मुँह ढककर श्री चरणों में आत्मनिवेदन करो'। इस प्रकार उन महाराज धंगदेव के सभास्थान मे पदार्पण करते ही वेत्रधारको के द्वारा भलीभाँति कहे गए ये वचन अभिव्यक्त हुए।

७. इस समय के ही आसपास लिखे गए संस्कृत के अलंकृत काव्य हनुमन्नाटक का यह श्लोक तुलनीय है जिसमे कुशलप्रश्न के लिये आगत देवताओं को फटकारता हुआ रावण का दौवारिक कहता है—

> ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समयस्तूष्णीं बहिः स्थीयताम्
> स्वल्पं जल्प बृहस्पते जड़मते नैषा सभा वज्रिणः।
> वीणां संहर नारद ! स्तुतिकलालापैरलं तुम्बुरो
> सीतारल्लकभल्लभग्नहृदयः स्वस्थो न लङ्केश्वरः॥

वस्तुतः ब्रह्मा जी ब्रह्मपारायण के नित्य अभ्यासी है। प्रतिक्षण के इस अभ्यास के कारण वे रावण के सभामडप मे भी सस्वर वेद पाठ करने लगे। फलतः शांतिभंग हुई। खीझकर द्वारपाल ने कहा, 'ब्रह्मदेव ! यह वेदपाठ का समय नहीं है। चलिए, आप चुपचाप आस्थान मंडप के बाहर खड़े हो जाइए'। देवगुरु बृहस्पति किसी से वार्तालाप कर रहे थे। उस आवाज से भी वातावरण क्षुब्ध होता था। अतः उन्हे डाँटता हुआ वह कहता है, 'बकवाद बंद करो। धिक् जड़बुद्धि ! याद रखो, यह वज्रधर इंद्र की सभा नहीं है'। ब्रह्मर्षि नारद नित्य वीणावादन के प्रेमी होने से उस समय भी अपनी धुन मे थे जिससे वायुमडल गुंजरित हो रहा था। अतएव उनको इस अकांड कर्म से विरत करता हुआ दौवारिक कहता है, 'बंद करो जी अपनी इस वीणा को'। गंधर्वराज तुंबुरु स्तुतिपाठ करते जा रहे थे। इससे उन्हे भी डाँट रहा है, 'इस स्तुति के कलालाप को खत्म करो। तुम लोग जानते नहीं क्या, सीता के सीमंत के सिंदूर रूपी भाले से भग्न हृदय वाले महाराजाधिराज लंकेश्वर इस समय स्वस्थ नहीं है' !

८. महाराज धंगदेव की ही प्रशस्ति का दूसरा श्लोक है—

का त्वं काञ्चीनृपतिवनिता का त्वमन्ध्राधिपस्त्री:
का त्वं राढापरिवृढवधू: का त्वमङ्गेन्द्रपत्नी ।
इत्यालापाः समरजयिनो यस्य वैरिप्रियाणां
कारागारे सजलनयनेन्दीवराणां व[ब]भूवुः ॥

श्लोक ४६ । वही

'जिस समरविजयी धंगदेव के कारागार मे सजल इंदीवर-नेत्रोंवाली शत्रुओं की पत्नियों के बीच इस ढंग के वार्तालाप हुए—क्या आप ही काची नृपति की वनिता हैं ? और क्या आप आन्ध्र देश के अधिपति की स्त्री है ? क्या आप राढ़ देश के अधीश्वर की परिणीता है ? तथा क्या आप ही अंगराज की पत्नी है ?' इस ढंग के वर्णन शुद्ध अतिशयोक्तिपूर्ण और काल्पनिक है, जिनमे यथार्थता की व्यंजना की ओर भूलकर भी दृष्टि नहीं जाती ।

९. इन राजकीय प्रशस्तियो मे लीलाशुकों और क्रीड़ाकुरंगों से समयोपयोगी मनोरंजन[1], वेषविलासिनियों के मजीर-मंजु-स्वनो से सायकालीनविनोद[2], बाल कुरंग के समान आयत नेत्रोवाली प्रमदाओं से प्रौढ़ प्रमोदोदय के शृंगारिक वर्णन, जो कभी कभी अश्लीलता की सीमा का स्पर्श करते हैं[3], प्रायः उपलब्ध होते हैं ।

१०. इन्हीं प्रवृत्तियो का परिपाक संस्कृत के ऐतिहासिक महाकाव्यो मे हुआ है । परिमल का नवसाहसांक चरित, विल्हण का विक्रमांकदेवचरित, संध्याकरनंदी

---

१. सौधे सोच्छ्वसितं स्थितं सकरुणं लीलाशुको व्याहृतो
दृष्टो बाष्पजलौघरुद्धनयनं क्रीडाकुरंगी – शिशुः ।
आसाद् यस्य यियासुना वनभुवं कान्ताज [ने] न द्विषां
प्रत्यावृत्तनि [राश] मानसतया किं किन्न वा चेष्टितम् ॥ श्लोक ६

एपीग्रेफिया इंडिका, जिल्द १, पृ० २०९

२. एदिलपुर मे प्राप्त केशव सेन का ताम्रपत्र, इन्सिक्रप्शन्स आफ बंगाल, जिल्द ३, पृ० १२२

३. गज्यं [प्राज्यम ?] शेषमेव भुजयोर्विन्यस्य यस्य स्वयं
वीरश्रीगर्महितृपरिवृढः प्रौढप्रमोदोदयः ।
तस्माद् बालकुरंगनायकदृशामुद्दामकामस्पृशां
पत्न्यामनस्याविलासर [-सि-] क [-स्व-]न्तो भवत्सन्ततम् ॥ श्लोक २३

एपीग्रेफियाइंडिका, जि० १, पृ० २१०

का रामचरित, हेमचंद्र का कुमारपाल चरित, जयानक का पृथ्वीराज विजय आदि—इस परंपरा के कुछ उदाहरण है।

११. प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य मे ऐतिहासिक महाकाव्य अभी तक उपलब्ध नहीं हुए है। किंतु प्राकृत पैंगलम् से उद्धृत प्रशस्तिपरक छंदो से ज्ञात होता है कि ऐतिहासिक महाकाव्यो की परंपरा अवश्य रही होगी। शारंगधर का हम्मीर रासो और भट्ट केदार का जयचंद्र प्रकाश नहीं मिलता। पर इनके नामों से ऐसा प्रतीत होता है कि ये निश्चय ही ऐतिहासिक महाकाव्य थे। पृथ्वीराज रासो, खुम्माण रासो, रणमल्ल छंद, विजयपाल रासो और आल्ह खड, अपभ्रंश-हिंदी-भाषाओं के मध्यवर्ती ऐतिहासिक महाकाव्य थे। प्राचीनकाल मे राजाओं के सांधिविग्रहिक वंशानुपूर्वी का संकलन किया करते और राजकीय प्रशस्तियो को लिखते थे। इनकी तथा सूतों की परंपरा मे चारणो का प्रवेश हुआ, जो राजयश का गायन, विस्तार और प्रस्तार किया करते थे। संभवतः सबसे पहले मुरारी कवि ने चारणो का उल्लेख किया है[1]। आलोच्य युग मे भी संस्कृत तथा हिंदी के ऐतिहासिक महाकाव्यो की परंपरा प्रचलित थी। सुर्जन चरित, आसफ विलास आदि संस्कृत के और जहाँगीर जस चद्रिका, रतन बावनी आदि हिंदी के काव्य इसी काल के हैं। किंतु इन ऐतिहासिक महाकाव्यो के प्रति भी भक्त कवियो की बड़ी उपेक्षाबुद्धि थी। तुलसीदासजी ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है—

भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥ पं० ४
राम चरित सर बिनु अन्हवाएँ। सो श्रम जाइ न कोटि उपाएँ॥ प० ५
कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना॥
पं० ६ दो० ११। मानस बाल०

---

१. चर्चाभिश्चारणानां क्षितिरमणपरां प्राप्यसम्मोदलीलां
मा कीर्तेः सोविदल्लानवगणय कविप्रासवाणीविलासान्।
गीतं ख्यातं च नाम्ना किमपि रघुपतेरद्य यावत्प्रसादा-
द्वाल्मीकेरेवधात्रीं धवलयति यशोमुद्रया रामभद्रः॥

यद्यपि सूत्रग्रंथों, रामायण तथा महाभारत मे भी चारणो का उल्लेख मिलता है तथापि आलोच्यकाल में मिलनेवाली चारणों की परंपरा से उनका संबंध बता सकना कठिन है।

वास्तव मे बहुत पहले से ही भक्त गण लौकिक काव्य की रचना में सरस्वती का विनियोग व्यर्थ मानते थे। प्रसन्नराघव नाटक ही के निम्न श्लोक मे तुलसी की उक्त भावना का मूल निहित है—

> झगिति जगतीमागच्छन्त्याः पितामहविष्टपा-
> न्महति पथि यो देव्या वाचः श्रमः समजायत।
> अपिकथमसौ मुञ्चदेनं न चेदवगाहते
> रघुपति-गुण-ग्रामश्लाघासुधामय-दीर्घिकाम् ॥

श्लोक ११। अंक १

शास्त्रवादी और रसवादी भक्तो के भी प्राकृत लौकिक काव्यों के प्रति इसी विचार का पिछले अध्याय मे दिया जा चुका है।

१२. प्रेमाख्यानक और ऐतिहासिक काव्यो के अतिरिक्त धार्मिक काव्यो की भी एक प्राचीन प्रतिष्ठित परंपरा थी। सदेश रासक मे मुल्तान के अब्दुल रहमान ने बड़े मनोहर ढंग से इन धार्मिक काव्यों का भी उल्लेख किया है कि किसी स्थान पर चतुर्वेदी वेद का पाठ कर रहे है। कहीं अनेक रूप धारण करनेवाले बहुरूपिये नट-निबद्ध रासकों का पाठ कर रहे हैं। किसी स्थान पर सदयवत्स और नल चरित की कथाएँ है और कहीं विविध विनोदो के साथ महाभारत की कथा कही जा रही है। कहीं कहीं कथावाचक रामायण की कथा कह रहे हैं[1]। सारांश मे—[१] वेदपाठ [२] सवादात्मक पद्धति मे अभिनययुक्त रासको का पाठ [३] और रामायण महाभारत की कथाओं का वाचन-मनोरंजन के धार्मिक साधन थे। इन धार्मिक काव्यों मे प्रमुख रूप से दो भेद दिखाई देते है—प्रबंध और मुक्तक। प्रथम कोटि के काव्यों मे तीन रूप मिलते हैं—[१] लबी कथाओं को लेकर चलने वाले पौराणिक

---

1. कह व ठाइ चउवेइति वेउ पयासियइ।
   कह बहुरूवि णिबद्धउ रासउ भासियइ॥
   कह व ठाइ सुदयवच्छ कत्थ व नलचरिउ।
   कत्थ व विविध विणोइहि भारहु उच्चरिउ॥
   कह व ठाइ आसीसिय चाइहि दयवरिहि।
   रामायण अहिणवियअहि कत्थविकय वरिहि॥ संदेशरासक, २।४३–४४

   इसे अवरोगाले पद का 'टिप्पणी' टीका में 'अभिनूयते' और 'अवचूरिका' में दर्शाते अर्थ किया गया है।

महाकाव्य, [२] छोटे पौराणिक आख्यानों पर निबद्ध गेय लघुकथा काव्य और [३] नाट्य-गीति-समन्वित कथा काव्य। प्रथम और द्वितीय काव्य रूपों में यदि कथात्मक और वर्णनात्मक तत्वों का प्राधान्य रहता है तो तृतीय प्रकार में अभिनेयता और गीति तत्वों का प्रामुख्य। प्रथम दो प्रकार साधारणतः परिमाण और विशेषतः वर्ण्य जीवन के व्यापक एवं परिमित वृत्त के कारण भिन्न हैं। किंतु कथा की लघुता और गृहीत जीवन वृत्त की परिमिति के कारण दूसरे और तीसरे काव्यभेदों में साम्य भी है। इसलिये इनकी परिगणना लघुकथात्मक काव्य के भीतर करना उचित है।

पौराणिक महाकाव्य—

१३. साधारणतः महाकाव्य के दो भेद किए जाते हैं—विकसित महाकाव्य और अलंकृत महाकाव्य। डा० पी० एल० वैद्य और डा० ए० एन० उपाध्ये ने इनके अतिरिक्त पौराणिक महाकाव्य की चर्चा की है। पौराणिक महाकाव्यों में धार्मिक वर्ण्यविषय, कथा एवं संवाद पद्धति में वृत्तगुंफन और उपदेशबाहुल्य रहा करता है। क्षेमेंद्र की रामायण मंजरी, भारत मंजरी और दशावतार चरित में पौराणिक पद्धति के कुछ तत्व प्राप्त होते हैं। लेकिन इस पौराणिक काव्य का विशिष्ट विकास प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्यों में हुआ। जैन कवियों ने अपने काव्य ग्रंथों का अभिधान पुराण ही किया है। सामान्यतः इनमें चरित और पुराण शब्दों का व्यवहार अभिन्न रीति से हुआ। इन पौराणिक काव्यों तथा संस्कृत के पुराणों में स्पष्ट अंतर है। पुराण पंचलक्षण[1] और महापुराण दशलक्षण[2] होते हैं। इनमें सर्ग प्रतिसर्ग के अतिरिक्त स्मार्त कर्मकांडों—दान, व्रत, तीर्थ माहात्म्य, उत्सव आदि का विशद विवेचन पाया जाता है। किंतु पौराणिक महाकाव्यों में इन विषयों की उपस्थापना नहींमिलती। ये अलंकृत महाकाव्यों से भिन्न हैं क्योंकि इनकी शैली

---

१. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

२. सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्ती रक्षान्तराणि च।
वंशो वंशानुचरितं संस्थाहेतुरपाश्रयः॥
दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः।
केचित्पञ्चविधं ब्रह्मन् महदल्पव्यवस्थया॥
श्रीमद्भागवत। स्कन्ध १२। अध्याय ७। श्लोक ९–१०

संवादात्मक होती है तथा इनका कथानक आतरिक कथाओं से विकसित होता चलता है। इनमें धार्मिक वर्ण्य विषय और उद्देश्य भी रहते हैं। शैली और उद्देश्य में पुराणों का अनुगमन करनेवाले तथा अलंकारविधान, भाषासौष्ठव और कविकर्म में अलंकृत महाकाव्यों से साम्य रखनेवाले इन काव्यों का अभिधान पौराणिक महाकाव्य है। ऐसे अनेक जैन महाकाव्य प्राकृत और अपभ्रंश मे मिले हैं। इनका प्रभाव अध्यात्म रामायण एवं योगवाशिष्ठ आदि ग्रंथो मे थोड़ा बहुत देखा जा सकता है।

लघु कथात्मक काव्य

१३. पौराणिक महाकाव्यो की लबी कथाओं के अतिरिक्त कभी कभी सगीत और अभिनय के साथ और कभी केवल संगीत के योग से छोटे छोटे कथाखंडों का वाचन हुआ करता था। अभिनयसंयुक्त कथावाचन का उल्लेख पतंजलि के महाभाष्य मे है। दशरूपक के अठारह उपरूपको मे से एक रासक भी है। अब्दुल रहमान के सदेशरासक के इस कथन से कि मुलतान नगर मे अनेक रूप धारण करनेवाले अभिनेताओ के द्वारा रासक का पाठ हो रहा था, यह ज्ञात होता है कि महाभाष्य मे उक्त, साभिनय कथावाचन की विशेषता रासको मे विद्यमान थी। प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं मे अनेक धार्मिक रासको का निर्माण हुआ था। वाहुवली रास, सुभद्रा रास, स्थूलभद्दि रास, नेमिनाथ रास, जिनचंद्र सूरि वर्णना रास आदि रास ग्रथ जैनधर्म से संबद्ध लघु कथात्मक काव्य है। साभिनय संगीतयुक्त कथावाचन की परपरा कृष्ण संप्रदाय मे भी प्रचलित थी। बंगाल मे अभी भी प्रचलित 'यात्रागान' और 'पालागान' का पूर्वरूप चडीदास के कृष्णकीर्तन तथा उसका संस्कृतरूप गीत गोविंद मे उपलब्ध होता है। मात्रिक छंदों का प्रयोग, ध्रुवक टेक का विनियोग और अंत्यानुप्रास आदि गीतगोविंद मे अनेक ऐसे तत्व हैं जो इसे संस्कृत की काव्य परपरा से हटाकर अपभ्रश की काव्य परंपरा से अन्वित करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अपभ्रश मे इस प्रकार के गीतिनाट्यो की परंपरा थी। प्राकृत पैंगलम् मे गीत गोविंद से मिलते-जुलते सरस धार्मिक पद्य है। सिक्खों के 'आदि ग्रंथ' मे जयदेव के नाम से गूजरी और मारू रागो के अंतर्गत अपभ्रंश भाषा के कुछ पद्य संकलित हैं जिनसे जयदेव का अपभ्रंश से सबध स्फुट होता है। कुछ विद्वानों का मत तो यह है कि गीतगोविंद की रचना मूलतः अपभ्रंश में हुई थी। फिर बाद मे उसका संस्कृत रूपांतर हुआ[1]। केवल पूर्व भारत मे ही नहीं, अपितु पश्चिम भारत मे भी इस

1. हिस्ट्री आफ बगाल, जिल्द १, पृ० २७० पर पिशेल का मत एवं द्रष्टव्य पृ० ३९०

प्रकार के साभिनय संगीतयुक्त कथाकाव्यों का निर्माण हो रहा था। गुजरात मे भी रामकृष्ण की गोपाल-केलि-चंद्रिका मे ध्रुवको का प्रयोग, नाटकीय तथा समवेत गान की विशेषताएँ मिलती है। इस ग्रंथ के संपादक कैलेंड ने बंगाली यात्रागानों और पश्चिमोत्तर प्रदेशो के 'स्वॉग' रूपकों से इसकी तुलना की है। इस प्रकार अभिनय से युक्त समवेतगान के साथ कथावाचन की परंपरा समाज मे प्रचलित थी और उसका इतस्ततः विकीर्ण साहित्य अपभ्रश और संस्कृत मे उपलब्ध होता है।

१४. अभिनय के साथ समवेत गायन की व्यवस्था नाट्यशास्त्र मे है। भरतमुनि ऐसी ध्रुवा गीति का उल्लेख करते है जो [१] निबद्धपद [अ] नियताक्षर सबद्ध [आ] छद-यति-युक्त [२] अनिबद्ध पद [अ] यति-पाद-युक्त, [आ] नियत और महाताल लयवाले अक्षरो से युक्त भेदो से अनेक प्रकार की होती है। इसमे तुकांत, ध्रुवक, और पद आदि प्राप्त होते हैं, जो संस्कृत काव्यों मे नहीं मिलते, किंतु लोक-साहित्य की मान्य विशेषताएँ हैं। नाट्य की दृष्टि से ध्रुवा गीति के पॉच भेद हैं—प्रावेशिकी, आक्षेपिकी, प्रसादिकी, आतर एवं नैष्क्रमिकी[1] ये गीतियॉ रंगमंच पर अभिनेता के प्रवेश, निष्क्रमण अथवा स्थितिविशेष के समय गायी जाती थीं और प्रतीकात्मक पद्धति से देश-काल-पात्र आदि की सूचनाएँ देती थीं। इनका गान समवेत पद्धति पर होता था। प्राचीन ध्रुवा गीतियॉ प्राकृत मे ही लिखी गईं। लौकिक सस्कृत मे ये बाद मे गृहीत हुईं। इससे प्रतीत होता है कि ध्रुवा गीति लोक से सबद्ध थी।

१५. इस गीति-नाट्य-युक्त कथावाचन से भिन्न संगीतात्मक कथापाठ की दूसरी परपरा थी। इसमे या तो पद्यबद्ध कथाकाव्यों का गान होता था अथवा पौराणिक आख्यायिकाओ का एक निश्चित व्याख्यानशैली और नियत वस्तुव्यापारों की परिगणना के साथ कथावाचन संपन्न होता था। वासवदत्ता मे कार्पटिक साधुओं

---

१. प्रावेशिकी तु प्रथमा द्वितीयाक्षेपिकी स्मृता।
प्रासादिकी तृतीया च चतुर्थी चान्तरा ध्रुवा॥ कारिका २३
नैष्क्रामिकी तु विज्ञेया पञ्चमी च ध्रुवा बुधैः।
एतासां चैव वक्ष्यामि छन्दोवृत्त त्रिदर्शनम्॥

कारिका २४ अध्याय ३२। नाट्यशास्त्र,
चौखंभा सीरीज सं० ६०, सन् १९२९

के द्वारा विभास राग मे गाई जानेवाली काव्यकथाओं की चर्चा है[1]। अपभ्रंश साहित्य मे प्रथम प्रकार की धार्मिक काव्यकथाएँ अनेक हैं। स्वयंभू का पउम चरिउ या रामकहा, धनपाल की भविसयत्त कहा—'णिम्मल पुण्ण पवित्त' कही गई है। इसी प्रकार जसहर चरिउ और पउमसिरि चरिउ क्रमशः 'धम्मकह' तथा 'धम्म कहायणु' हैं। विस्तृत होने पर ये धर्मकथाएँ पौराणिक महाकाव्य का रूप धारण करती थीं और संकुचित होने पर गेय खड काव्य के समान होती थीं। कार्पटिक साधुओं के द्वारा रथ्याओं–वीथियों मे गाई जानेवाली कथाएँ निश्चित ही परिमित आकार की रही होंगी।

मुक्तक गीतिकाव्य

१६. गीति का प्रयोग अभिनययुक्त और अभिनयरहित कथावाचनो मे तो होता ही था साथ ही भक्तिभावपरक गीतियों का प्रयोग समवेत एवं एकाकी ढंग से भी होता था। बाणभट्ट ने एकाकिनी सरस्वती के द्वारा शैवी अष्टमूर्तियों की स्तुति ध्रुवा गीति मे कराई है[2]। प्राकृत पैंगलम् मे शौरसेनी अपभ्रंश के अंतर्गत कुछ भक्तिपरक पद संगृहीत हैं। 'आदि ग्रथ' मे भी अपभ्रंश की कतिपय भक्तिमूलक रचनाओ का संग्रह है। इन पदों को मंदिरों मे देवदासियाँ या भक्त गाया करते थे।

१७. इस प्रकार आलोच्य युग के पूर्व धार्मिक काव्य मे तीन रूपो का प्रचलन था—[१] पौराणिक महाकाव्य [२] गीतिनाट्य अथवा गेय लघु कथात्मक काव्य और [३] मुक्तक गीति या फुटकल पद। पौराणिक महाकाव्य और लघुकथात्मक काव्य सामान्यतः विद्वानों और पंडितो के समाज की वस्तुएँ थीं किंतु गीतिनाट्य और मुक्तकगीतियाँ प्रधानतः देवालयीय परंपरा से अन्वित एवं लोकसंबद्ध थीं।

मर्यादावादी भक्त कवि : पौराणिक महाकाव्य

१८. प्राकृत और अपभ्रंश के पौराणिक महाकाव्यो का संस्कृत साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा। अध्यात्म रामायण मे पौराणिक विशेषताओ के साथ ही साथ अलंकृत काव्य के कुछ लक्षण भी वर्तमान हैं। परंतु पौराणिक महाकाव्य की सारी विशेषताएँ संस्कृत के किसी ग्रंथ में उपलब्ध नहीं होतीं। हिंदी साहित्य मे यह महाकाव्य अपनी समग्र विशेषताओं और मान्यताओ के सहित अवतीर्ण हुआ।

1. वासवदत्ता, पृ० २२, कलकत्ता, सन् १९३३
2. हर्षचरित, प्रथम उच्छ्वास, पृ० २० निर्णयसागर, पूना, सन् १९४९

प्राकृत अपभ्रंश काल मे इस काव्यरूप ने कुछ विशेषताएँ और मान्यताएँ स्थिर कर ली थीं—

१. ये सब धार्मिक काव्य हैं और इनका कथानक पौराणिक होता है।

२. संवादात्मक परंपरा और आतरिक कथाओं से इनके कथानक का विकास होता है।

३. इनका प्रारंभ देवस्तुति, पूर्व सूरियों के स्मरण, खलनिंदा और सज्जन प्रशंसा तथा विनयप्रदर्शन से होता है।

४. अलंकृत महाकाव्य की रूढ़ियाँ—सूर्योदय, सूर्यास्त, षड्ऋतु के वर्णन आदि इनमे गृहीत हैं।

५. साधारणतः ये कडवकबद्ध शैली मे लिखे गए है। इनमे वर्णिक छंदों का प्रयोग विरल है।

६. इनमे कहीं भी शृंगारिकता का अतिरेक नहीं है, जब कि रासक आदि काव्यरूपों मे शृंगारिकता की घोर प्रवृत्ति पाई जाती है।

१९. तुलसी के रामचरित मानस में ये सारी विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं। जहां तक काव्यरूप का प्रश्न है, मानस अपभ्रंश से चली आनेवाली पौराणिक महा-काव्य की परंपरा की एक शृंखला है। तुलसी ने इन प्राकृत और अपभ्रंश मे हरिचरित रचनेवाले कवियो का स्तवन करते हुए लिखा है—

जे प्राकृत कबि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरिचरित बखाने॥
भए जे अहहिं जे होइहहिं आगे। प्रनवउँ सबहिं कपट सब त्यागे॥

पं० ५-६। दो० १७। मानस बाल०

किंतु मानस मे हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव, उत्तर रामचरित आदि संस्कृत की रामचरित परंपरा का प्रभाव भी बहुत स्पष्ट है। तुलसीदास जी के शब्दों मे नाना पुराण, निगम, आगम, रामायण आदि का सार भी खिंचकर मानस मे आ गया है। इसलिये मानस की यष्टि अपभ्रश परंपरा की होते हुए भी उसमे संस्कृत की आलंकारिक परंपरा का भराव दिखाई पड़ता है।

पौराणिक महाकाव्य रामचरित मानस का सांस्कृतिक परिपार्श्व

२०. पुराण, रामायण और महाभारत का पाठ एवं ब्राह्मण कथावाचकों द्वारा इन ग्रंथों का विशद व्याख्यान समाज मे प्राचीनकाल से ही प्रतिष्ठित था। पाल

महिषी चित्रमलिका ने महाभारत की कथा सुनकर कथावाचक को भूमिदान दिया था[1]। समाज मे महाभारत और रामायण की कथा के बाँचने की चर्चा संदेशरासक मे भी है। चाहमान रत्नपाल के सेवाडी ताम्रपत्रों मे इतिहास, पुराण, रामायण, महाभारत की कथा मे अभिरत ब्राह्मणो की प्रशंसा की गई है[2]। एक शिलालेख का कथन है कि स्मृति, पुराण आदि के श्रवण से कलिकल्मष का विनाश होता है[3]। साहित्य में अनेकत्र भारत-रामायण-पुराण के श्रवण का महत्व वर्णित है। धर्मशास्त्रो मे भी इसका विधान है। जिस समय सस्कृत भाषा का जनसपर्क टूट चुका था, उस समय कथावाचक ब्राह्मण इन धार्मिक ग्रंथों से आख्यान संकलित कर लोकभाषाओ के माध्यम से 'हरिकथा' कहते थे। मैथिल भाषा का सर्वप्रथम ग्रंथ वर्णरत्नाकर [सन् १३२५ ई०] ऐसे ही कथावाचकों का संग्रह ग्रंथ है, जो परंपराप्राप्त व्याख्यान शैली मे निश्चित वस्तुव्यापारो की परिगणना के साथ कथावाचन किया करते थे। इन कथाओ के द्वारा ही पौराणिक परपरा का उद्वहन हो रहा था। प्राकृत और अपभ्रंश के पौराणिक महाकाव्य प्रायः जैन कवियो के द्वारा लिखे गए थे। इसलिये हिंदू जनता की धार्मिक पिपासा उनसे शात नहीं होती रही होगी। तुलसी की राम-कथा ने ब्राह्मण पौराणिक परंपरा को आगे बढाया। इसमे पुराणो के समान स्मार्त तत्वों के साथ आगमिक भक्ति की परंपरा का समन्वय दिखाई देता है जिसका सविस्तर विवेचन पहले किया जा चुका है। साराश मे यदि मानस का शरीर अपभ्रंश की पौराणिक महाकाव्यो की परंपरा से निर्मित है तो उसकी चेतना ब्राह्मण पुराणो से आगत है। यह भी स्मरणीय है कि यह परपरा स्मार्त भक्तो की परपरा थी।

गीतिनाट्य और मुक्तको की परंपरा

२१. जयदेव के गीतिनाट्य का कृष्णावत संप्रदाय पर थोडा गहरा प्रभाव पड़ा। गौडीयों मे जयदेव का महत्व स्वीकृत है। आचार्य विठ्ठलनाथ ने इन्हीं के अनुकरण पर 'शृंगाररस मंडन' का प्रणयन किया। सहजिया सप्रदायवाले इन्हें नव रसिकों में से अन्यतम एव आदि गुरु मानते हैं[4]। किंतु इन गीतिनाट्यों की परंपरा हिंदी के शास्त्रवादी कृष्णकाव्यों मे आगे बढ़ती नहीं दिखाई देती, यद्यपि रसवादी

१. मनहली ताम्रशासन, गौडलेख माला, पृ० १४७
२. एपीग्रेफिया इंडिका, जिल्द ११, पृ० २१०
३. वही, जिल्द १६ पृ० ९९
४. हिस्ट्री आफ बंगाल, जिल्द १, पृ० ३७० टिप्पणी

कृष्णभक्त समाज मे रास लीला के रूप से यह परंपरा व्यवहार और काव्य मे प्रचलित थी। इसका विवरण आगे दिया जायगा।

मुक्तक गीति की परंपरा

२२. बताया जा चुका है कि हर्षचरित के अंतर्गत सरस्वती कृत पूजन के प्रसंग मे ध्रुवा गीति के गाये जाने का उल्लेख बाणभट्ट ने किया है। धर्मशास्त्रो मे षोडशोपचार पूजा के भीतर गीत, नृत्य और वादित्र की भी व्यवस्था है। इतना ही नहीं प्रत्युत मंदिरो मे इनकी व्यवस्था का अभाव पाप माना जाता था। पाचरात्र रक्षा मे बताए गए बत्तीस अपचारो मे इनकी भी गणना है[1]। मदिरों की प्रतिष्ठा से संबद्ध अभिलेखो से ज्ञात होता है कि पूर्वमध्यकाल मे इनकी समुचित व्यवस्था थी। विजयसेन के देवपाड़ा, कोलावती के ब्रह्मेश्वर मदिर [भुवनेश्वर, उडीसा] भट्टभवदेव के अनंत वासुदेव मदिर से प्राप्त अभिलेखो मे सविलास नृत्यशीला देवदासियों की चर्चा है। नीलकठेश्वर मंदिर कालिंजर के नाट्यमडप के एक स्थान पर अभिलेख-युक्त 'महानचनिया' पद्मावती का चित्र प्राप्त हुआ है। प्राचीन मंदिरों मे अनेक गीत-वाद्य-युक्त भक्तसमाज की मूर्तियाँ उत्कीर्ण है। साहित्य से भी मंदिरों मे स्तुतिगान का पता चलता है। दक्षिण मे तो नाथ मुनि के समय से ही द्राविडी लीलागानो की व्यवस्था हो गई थी। पंद्रहवीं शताब्दी मे गीतगोविद उडीसा तथा राजस्थान के मंदिरो मे गाया जाता था। सस्कृत साहित्य के स्तोत्र काव्य तथा प्राकृत अपभ्रंश की ध्रुवा गीति, मंदिर मे गाए जानेवाले हिंदी मुक्तको के पूर्वरूप हैं। अतः कुछ धार्मिक हिंदी मुक्तको की परपरा देवालयीय है।

२३. इनके अतिरिक्त हिंदी मे दो प्रकार के मुक्तको की परंपराएँ और भी हैं, जो बौद्धो के चर्यापद और सहजियों के श्रृंगारपरक गानो से सबद्ध है। बौद्धो के चर्यापद और जैनो के फुटकल दोहो की परपरा हिंदी निर्गुणमार्गी भक्तो मे उपलब्ध

---

१. पांचरात्ररक्षा पृ० ११८ पर वाराह पुराण का उद्धरण जिसमे भगवान् पृथ्वी से कहते हैं—

अपचारानहं वक्ष्ये तच्छृणुष्व वसुन्धरे ॥
गीतवादित्रनृत्तादिपुण्याख्यानकथाश्च ये।
लोपयन्त्यथ पारुष्यान्मम वेश्मसु मानवाः ॥
ते यान्ति वसुधे पापा नरकानेकविंशतिम्।
ततस्तेऽपि महाभाग गार्दभीं योनिमाश्रिताः ॥ आदि

होती है। बाउलों के गान, शाक्त और वैष्णव सहजियों के शृंगारिक पद तथा उन्हीं से मिलते जुलते धमाली गान आदि लोकगीतियों की परंपरा प्रचलित थी। इनमें शृंगार की घोर विकृति मिलती है। इन गानों का विषय राधाकृष्ण का प्रेम है। किंतु ये बाउल और सहजिया देवालयों से कभी संबद्ध नहीं थे और इसलिये मुक्तकों की यह परंपरा देवालयीय नहीं थी। सारांश मे मुक्तकों की दो धाराएँ थीं—देवालयीय और इतर।

शास्त्रवादी भक्त : मुक्तकों की देवालयीय परंपरा

२४. अष्टछापी साहित्य मे देवालयीय परंपरा के मुक्तकों का विकास हुआ। वल्लभसंप्रदाय की अष्टयाम-सेवा-पद्धति मे नित्यक्रम, ऋतुक्रम और उत्सवक्रम के अनुसार आयोजन के परिवर्तन की विधि स्वीकृत होने पर भी सामान्यरूप से मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, संध्या और शयन—भगवान् कृष्ण की इन आठ झाँकियों के अनुसार यथाक्रम परमानददास, नददास, गोविंद स्वामी, कुभनदास, सूरदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी तथा कृष्णदास अधिकारी—ये आठ भक्त कवि उन उन समयों के कीर्तनियाँ माने गए हैं। 'राजभोग' और 'सायंभोग' के समय तत्तद् विशेष कीर्तनियों के साथ शेष सातों के भी कीर्तनसेवा मे उपस्थित रहने की बात लिखी गई है[1]। ये आठों अष्टछापी भक्त कवि नित्य कीर्तन सेवा के लिये मुक्तक पद रचनाएँ तो करते ही थे साथ साथ स्वय अवतारी श्रीकृष्ण की एवं उनके अन्य अवतारों की लीलाओं, वर्षोत्सवों आदि पर मुक्तक लीलागान प्रस्तुत करते रहते थे। इनकी रचनाओं के अंतरग विश्लेषण से इसका समर्थन होता है। कुंभनदास की रचनाओं के आदि मे ही वर्षोत्सव और नित्यलीला के पद हैं। वर्षोत्सव मे जन्म, पलना, छठी, राधाष्टमी, श्यामसगाई, रास तथा षडऋतु उत्सव मे वसत, धमार, फाग, डोल, एव नित्यलीला मे कलेऊ, माखनचोरी, मंगला, शृंगार, मंथन, छाक, ब्यारू आदि का ही वर्णन है। कुंभनदास की ही भाँति गोविंद स्वामी और छीत स्वामी की रचनाओं मे भी उपर्युक्त वर्णन है। कृष्णदास, परमानंददास और चतुर्भुजदास का सपूर्ण साहित्य अभी प्रकाशित नहीं हुआ है। किंतु प्रकाशित पदों के विश्लेषण से उनके वर्ण्य विषय भी प्रायः ये ही प्रतीत होते हैं। सूरदास का साहित्य अत्यन्त विस्तृत है। उसमें अवतार तथा नित्यलीलाओं का अतिशय प्राचुर्य है। इसीलिये ध्रुवदास ने कहा है—'परमानंद और सूर मिल गाई सब ब्रजरीति'[1]। अष्ट-

1. अष्टछाप और वल्लभसंप्रदाय, पृ० २६८–२६६

छापी भक्त कवियो मे नंददास ही ऐसे हैं जिनमे विविध काव्यरूपों की परंपराएँ दिखाई देती है। इनमे भी 'गोवर्द्धनलीला' तथा 'पदावली' के पदों में उत्थापन या जगावनो, कृष्णजन्म, बधाई, विवाह, छाक, दान, रास आदि का वर्णन है। इस प्रकार निस्संदेह ही अष्टछापी काव्य देवालयीय मुक्तकों की परंपरा मे है।

रसवादी भक्त : मुक्तकों की परंपरा

२५. चौदहवीं पंद्रहवीं शताब्दी के अपभ्रंश तथा लोकभाषाओं के साहित्य में अनेक प्रकार के मुक्तक काव्यरूपों का प्रचलन था जिनके अभिधान लता, विलास, बेलि, चंद्रिका, विनोद, मजरी आदि थे। सहजिया वैष्णव साहित्य मे भी इन काव्यरूपों की परपराएँ दिखाई देती है—अकिंचनदास का विवर्त विलास, घनश्याम दास की गोविंद-रति मंजरी और नरोत्तमदास की प्रेमभक्ति चंद्रिका आदि। रसवादी भक्तों मे ये काव्य रूप प्रतिष्ठित थे। दामोदरदास का हित जस विलास, ध्रुवदास के नृत्यविलास, रहस्यलता, आनंदलता, अनुराग लता, आनंददसा विनोद, रगविनोद, सुखमंजरी, नेहमजरी, रतिमजरी, रहस्यमजरी आदि, रसिक दास की सौंदर्यलता, माधुर्यलता, सुवा मैना चरित्र लता इत्यादि काव्यरूप है। इनमे जन्मबधाई, पलना, छठी आदि नित्यलीला गानो का वैसा महत्त्व नही है जैसा देवालयीय परंपरा के अष्टछापी कवियो मे मिलता है। यद्यपि उन्होने दैनिक अष्टयाम और कतिपय नैमित्तिक उत्सवो को स्वीकार किया है तथापि प्रधानरूप से इनके यहाँ राधावल्लभ की रासलीला ही गेय थी। इस प्रकार मुक्तको की यह परपरा शुद्ध देवालयीय नहीं प्रतीत होती किंतु आउल-बाउल और सहजियो के मुक्तको से बहुत कुछ समान है।

रसवादी भक्त : लघुकथात्मक काव्य और लीलानाटक

२६. इनके साहित्य मे लीलागान के स्थान पर लीलानाटको की प्रचुरता पाई जाती है। गीतगोविंद के सबंध मे विचार करते हुए यह देखा गया है कि वह अपभ्रंश के यात्रागीतिनाट्यों से बहुत अधिक प्रभावित है। इन यात्रानाटको की परंपरा अत्यंत प्राचीनकाल से अभी तक प्रचलित है[1]। गोपाल-केलि-चद्रिका मे भी नाटकीय तत्व है और वह 'स्वाँग' गीतिनाट्यो से अनेक रूपो मे समान है। डोंबिनी स्वाँग का उल्लेख विक्रम की नवीं शताब्दी के कण्हपा ने किया है—

आलो डोंबि तोए सम करिब य सांग।
निघिण कण्ह कपाली जोइ लाग॥

---

१. हिंदी नाटकों का उद्भव और विकास, पृ० ३९

कबीर और जायसी में स्वाँग के उल्लेख हैं[1]। प्रिंसिपल मानसिंह को 'लक्ष्मीपुराण' नामक एक स्वाँग ग्रंथ मिला ही है। इस प्रकार कृष्णकाव्य में यात्रा गीतिनाट्य और स्वाँग गीतिनाट्य प्रचलित थे। किंतु रसवादी भक्तों में इनकी परंपरायें नहीं लक्षित हुईं, अपितु रास-गीति-नाट्य की धारा प्रवाहित हुई।

२७. रासक नाटकों की परंपरा बहुत पुरानी है। समान ढंग के त्रिविध गीतिनाट्य हल्लीसक रासक और प्रेक्षणक, आलोच्य युग में भी प्रचलित थे। कक्क सूरि की एक हस्तलिखित पुस्तक से डा० दशरथ ओझा ने उद्धरण दिया है—

स्त्रीणां हल्लीसकैः स्थाने स्थाने लगुडरासकैः।
प्रेक्षणैकजीयमानै वादित्रैश्च पुरस्सरैः॥

इनमें से रासक का लक्षण, नाट्यदर्पणकार के अनुसार निम्न है—

षोडशद्वादशाष्टौ वा यस्मिन् नृत्यन्ति नायिकाः।
पिण्डीबन्धादिविन्यासैः रासकं समुदाहृतम्॥
कामिनीभिर्भुवोः भर्तृश्चेष्टितं यत्तु नृत्यते।
रागाद् वसन्तमासाद्य स ज्ञेयो नाट्यरासकः॥

भावनाट्य और साहित्य दर्पण में रासक के अनेकविध लक्षण दिये हैं। भास के बाल चरित में हल्लीसक और रासक—दोनों नृत्यबंधों का उल्लेख है। हर्षचरित, वेणीसंहार और श्रीमद्भागवत में कृष्ण के रास की परंपराएँ हैं। राजस्थान में इन रासों की बड़ी लंबी परंपराएँ मिलती हैं। साधारणतः उनके दो भेद हैं—जैन रास और कृष्ण रास। कृष्ण रास आसाम में भी प्रचलित था। पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य में शंकरदेव ने 'रासयात्रा' नामक नाटक लिखा है। जगज्योतिर्मल्ल ने सोलहवीं शताब्दी के अंत में कुंजविहारी नाटक की रचना की जिसमें राधाकृष्ण की लीला का वर्णन है।

२८. हिंदी में रासनाटकों की परंपरा के प्रचार का सबसे बड़ा श्रेय हित हरिवंश को है। स्वामी हरिदास एवं हित हरिवंश ने वृंदावन में रासलीला की मंडली संगठित की थी। इनके पश्चात् रसवादी भक्तों में इन रासलीला नाटकों का प्रचुर प्रचार हुआ। ध्रुवदास ने मानलीला, दानलीला आदि अनेक लीलाओं का

१. वही, पृ० ३५

वर्णन किया है। यह बताया जा चुका है कि इस रासलीला का आयोजन ही रसवादी भक्तो के लिये सबसे महत्वपूर्ण धार्मिक कृत्य था।

निष्कर्ष

२६. इस प्रकार सगुण भक्ति साहित्य मे साधारणतः तीन काव्यरूप थे—पौराणिक महाकाव्य, लघुकथात्मक काव्य, नित्यलीला और वार्षिक उत्सव विषयक मुक्तक या फुटकल पद। पौराणिक महाकाव्य स्मार्त पुराण परंपरा मे है। मुक्तको मे फुटकल लीलागान के पद देवालयीय परपरा का प्रतिनिधित्व करते हैं। लता, मंजरी, विलास, विनोद आदि मुक्तक काव्य के रूप रसवादी परपरा के है। तुलसीदास और नददास की रचनाओं मे लघुकथात्मक काव्यो के रूप भी दिखाई पड़ते हैं। तुलसीदास के जानकी मंगल, पार्वती मंगल आदि तथा नददास के रुक्मिणी मगल, रूपमजरी इत्यादि लघुकथात्मक काव्य है। रसवादियों मे लघुकथात्मक गीतिकाव्यो की परपरा थी।

३०. हिंदी के मान्य आलोचको ने मानस के महाकाव्य और सूरसागर के मुक्तक रूप पर तुलनात्मक विचार किया है। यह कहा गया है कि मानस का चित्र-फलक अत्यंत व्यापक है और उसमे जीवन और जगत् के विभिन्न क्रियाव्यापारों से लोकमंगल की काति छिटकती है किंतु सूरसागर के सरस परिमित व्यापारो की योज-नाओ से केवल लोकरंजन होता है, लोकमगल नहीं। रसदर्शन के विवेचन मे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि इस अंतर का आधार भक्तिगत दृष्टिभेद है। काव्यरूपों के संबध मे भी उपर्युक्त विवेचन से स्फुट होता है कि काव्यरूपो मे ये विभेद भी दो विभिन्न भक्ति परंपराओ से आए है। मर्यादावादी तुलसीदास के सफल पौराणिक काव्य लिखने मे यह एक प्रमुख कारण था कि ये स्मार्त पौराणिक परंपरा के भक्त थे। जिसमे केवल भाव और इष्ट पर ही दृष्टि नहीं रहती। अपितु कर्म और सामाजिक उत्तरदायित्वों के पूर्ण निर्वाह की ओर ध्यान भी रहता है। दूसरे अपभ्रशकाल मे पौराणिक शैली के धार्मिक महाकाव्य विशेष रूप से जनप्रिय थे जिनमे उपदेशबहुल बौद्धिकता का जीवन के प्रति मर्यादावादी दृष्टि का एव पुराणगत वृत्तगुफन आदि कथाकौशल का विशेष योग रहता था। स्मार्तभक्त मर्यादावादी तुलसीदास की प्रकृति के अनुकूल ही पौराणिक महाकाव्य का स्वरूप था। किंतु इसके प्रतिकूल भावतरल लीलावादी अष्टछापी भक्त कवि उस परंपरा के थे जिसमे कर्म और समाज हेय माने जाते थे और ईश्वर एव भक्तिभाव पर ही दृष्टि केंद्रित रहती थी। इनके लिये रसरूप ईश्वर की लीलाएँ ही गेय और ध्येय थीं। इनमे आनंद और माधुर्य

का उद्रेक ही सर्वस्व रहता है। अतः इन कवियो की भक्ति के अनुकूल गीतकाव्य का रूप था। तुलसी के मुक्तको मे वह तल्लीनता और भावविभोर करनेवाली वह शक्ति नहीं दिखाई देती जैसी सूर के काव्य मे मिलती है। इसमें भक्तिपद्धति की विभिन्नता भी एक कारण है।

३१. शास्त्रवादी कवियो मे यदि फुटकल लीलागान की परंपरा प्रधान है तो रसवादी भक्तों मे लीलानाट्य। अष्टछापी लीलागान सर्वथा देवालयीय है किंतु लीलानाट्यों में लोकतत्व और तंत्रिक समाज का संबंध भी है।

३२. सारांश में पौराणिक महाकाव्य और लीलानाट्य के काव्यरूप यथाक्रम स्मार्त, देवालयीय और देवालयतंत्र मिश्र भक्त परंपराओ से सामान्यतः संबद्ध है।

कलाएँ

कला : धर्म

१. प्रागैतिहासिक युग के असंस्कृत अथवा अर्धसंस्कृत समाज मे कला, कर्मकांड और धर्म एक दूसरे मे घुले मिले दिखाई देते हैं। संस्कृत युग के प्रबुद्ध समाज मे भी धर्म और कला का घनिष्ठ संबंध बना रहा। ईसाई धर्म के अंतर्गत गिरजाघरो के निर्माण, उसमे मूर्तियो और चित्रो की सजावट आदि मे कलाओं का उपयोग सुस्पष्ट है। कुमारी मेरी और ईसा के धर्म ने गाथिक शिल्प, मूर्ति इत्यादि को अत्यधिक प्रभावित किया। इस्लाम धर्म यद्यपि कलाविरोधी है तथापि उसके अंतर्गत कुरान के लेखन और मस्जिदो के निर्माण आदि से संबद्ध वृत्त, कोण, ऋजु रेखा प्रभृति ज्यामितिक आकारो ने कभी कभी विविध रत्नो के गुंफन की विधियों से संश्लिष्ट होकर एक प्रकार की विशिष्ट कला को जन्म दिया।

२. बौद्धकला की गांधार, मथुरा, अमरावती और पाल आदि शैलियाँ धार्मिक सिद्धांतों से प्रसूत हुईं। महायान संप्रदाय ने रोम और ग्रीक के सौंदर्यशास्त्र संबंधी सिद्धांतों से संयुक्त होकर गांधार शैली को जन्म दिया। मथुरा एवं अमरावती मे बुद्ध तथा बोधिसत्वो का अंकन शुद्ध धार्मिक दृष्टि से हुआ है। पाल युग मे मान्य होनेवाले विशाल देवतासमूह की शतशः मूर्तियो का, धातुनिर्मित देवमूर्तियुक्त मंदिरों और यंत्रों का उद्भव वज्रयान की तांत्रिक साधनाओं से संबद्ध है।

३. उपर्युक्त पद्धति के अनुकूल हिंदूधर्म में कलाओं का विनियोग मुख्यतः धर्म में हुआ। शुक्राचार्य का कथन है कि देवप्रासादों मे तथा देवताओं के उत्सवों पर

आयोजित नृत्य, संगीत आदि का अवलोकन राजा सदैव कर सकता है पर उसे अपने भोग के लिये इन कलाओं का उपयोग न करना चाहिए[1]। विष्णुधर्मोत्तर के चित्रसूत्र में धार्मिक सबंध संघटित करते हुए चित्रकला को सभी कलाओं में श्रेष्ठ बताया गया है—'कलाना प्रवरं चित्रम्'। डा० जितेंद्रनाथ बनर्जी ने पाचरात्रिक भक्ति को प्रतिमा-विधान का उत्स माना है[2]। वास्तुशास्त्र का उद्भव और विकास शुद्ध धार्मिक है। वास्तुपुरुष का पौराणिक आख्यान[3] और धर्मशास्त्रों में गृहनिर्माण के पूर्व वास्तु पुरुष के पूजनविधानों के अतिरिक्त उसके अनेक विभागों यथा सभाओं, आवसथों, विहारों, मंदिरों आदि का निर्माण, जलाशयों का उत्खनन, मूर्तियों की स्थापना इत्यादि की 'पूर्तकर्मों' के अंतर्गत स्वीकृति इस तथ्य को प्रमाणित करती है। इतना ही नहीं, इसके मूल्यांकन का आधार भी सामन्यतः धर्म ही था। शुक्रनीति के अनुसार शास्त्रमान पर बनी हुई मूर्ति ही रम्य मानी जाती है। शुक्र ने उन सौंदर्य समीक्षकों का खंडन किया है जो केवल हृदयहारी मूर्ति को रम्य मानते हैं[4]।

---

१. देवतां तु पुरस्कृत्य नृत्यादीन्वीक्ष्य सर्वदा।
न सनः स्वोपभोगार्थं विदध्यात् यत्नतो नृपः॥
शुक्रनीति। अध्याय ४। प्रकरण ४। श्लोक २०४

२. द्रष्टव्य—डेवलप्मेंट आफ हिंदू आइकॉनोग्रेफी, अध्याय २ एवं परिशिष्ट 'ए' कलकत्ता विश्वविद्यालय, सन् १९४१।

३. द्रष्टव्य—मत्स्यपुराण। अध्याय २५१

इस कथानक के अनुसार अंधकासुर युद्ध के समय क्रुद्ध शिव के प्रस्वेद से एक भयानक पुरुष की उत्पत्ति हुई जो त्रिलोकभक्षण के उद्देश्य से शिव को प्रसन्न करने लगा। उसने अपने शरीर से त्रिलोक को आवृत कर दिया। भयभीत होकर देव दानव उसके शरीर पर बस गए। इसलिये अचल पुरुष का नाम वास्तु हो गया। ब्रह्मा के वरदान से गृह आदि के निर्माण के पूर्व उस वास्तु पुरुष के प्रीत्यर्थ वास्तु याग करना पड़ता है। इस वास्तु पुरुष की कल्पना प्रायः सभी स्थापत्य ग्रंथों में उपलब्ध होती है।

४. तद् विज्ञैः प्रस्तुता ये ये मूर्तैरवयवाः सदा।
न हीना नाधिका मानात् ते ते ज्ञेयाः सुशोभनाः॥ श्लोक १०२

× × × ×

सर्वांगैः सर्वरम्यो हि कश्चिल्लक्ष्ये प्रजायते।
शास्त्रमानेन यो रम्यः स रम्यो नान्य एव च॥ श्लोक १०४

४. पूर्व मध्ययुग की अंतिम शताब्दियों से कलाओं मे धार्मिक प्रवृत्ति, प्रेरणा और मूल्य का महत्व बढ़ने लगा। यथा संगीत मे द्विविध धार्मिक प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती है। पहली प्रवृत्ति नवोत्थित रागो को सामवेद की परंपरा से अन्वित कर वैदिक मत्रो के समान ही उनके ऋषि, छद और ध्यान का स्वरूप स्थिर करती है दूसरी इसे शैव तथा वैष्णव आगमों से सबद्ध करती है। इनका विवरण आगे दिया जायगा।

५. आठवीं नवीं शताब्दी से चित्रकला धर्म से अन्वित हो गई थी। अजंता मे जिस प्रकार जीवन के धार्मिक और अधार्मिक चित्रो का [धार्मिक उद्देश्य से ही सही] अंकन हुआ है वैसा परवर्ती काल मे नहीं दिखाई देता। एलोरा मदिर के भित्तिचित्रो मे देवताओं के रूप और उनकी पौराणिक गाथाएँ अकित है। यही प्रवृत्ति आलोच्य युग मे भी अग्रसर हुई। इसमे धार्मिक कलात्मक दृष्टि से दो प्रकार मिलते है—[१] पौराणिक एव अन्य इतिवृत्तात्मक कथा अथवा व्यापार के अकनार्थ व्याख्यात्मक 'विद्ध' शैली, [२] भावतरल दृश्यो से रस की व्यंजना करानेवाली गीति तत्व-युक्त 'भाव' अथवा 'वैणिक' शैली। इसी प्रकार पूर्व मध्यकाल मे मूर्ति कला उत्तरोत्तर शास्त्रीय और इसलिये भक्तिपरक होती गई। शुक्रनीति के उपर्युक्त उद्धरण से मूर्तिकला के ऊपर धर्मशास्त्रीय विधान का व्यापक प्रभाव बहुत स्पष्ट है। मदिरों के विन्यासविधान मे भी भक्ति की विधायिका शक्ति ऐसी ही स्फुट दिखाई पड़ती है। उदाहरणार्थ गुप्त काल के देवालयों मे गर्भगृह और उसके सामने एक छोटे अलिंदमात्र की व्यवस्था थी। इस समय के कुछ पश्चात् गर्भगृह के संमुख मंडप और चारों ओर घूमता हुआ प्रदक्षिणापथ जोड़ा गया। दसवीं ग्यारहवीं शती से मंडप के अनुरूप अर्धमडप, महामंडप और नाट्यमंडप का निर्माण होने लगा। अंतिम शृंखला मे प्रमुख प्रासाद के चतुर्दिक् चार लघु प्रासादो के निर्माण से पंचायतन शैली का उद्भव हुआ। यह विकासक्रम पूजापद्धति के विकास पर अवलंबित था। प्राचीन काल की पूजापद्धति मे प्राणप्रतिष्ठा, आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नानीय, वस्त्र, यज्ञोपवीत, अनुलेपन, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, नमस्कारपूर्वक विसर्जन की व्यवस्था थी। इन उपचारों का क्रमिक रीति से विकास हुआ। ईशान-शिवगुरु-पद्धति मे दस, सोलह, पचीस और पैंतीस उपचारों की विभिन्न सूचियाँ है[1]। प्रदक्षिणा के कारण

शास्त्रमानविहीनं यदरम्यं तद् विपश्चिताम्।
एकेषामेव तद्रम्यं लग्नं यत्र च यस्य हृत्॥

श्लोक १०२। अध्याय ४। प्रकरण ४। शुक्रनीति

१. ईशान शिवगुरु पद्धति, क्रिया-पाद, भाग ३, पृ० ५७–५८

प्रदक्षिणापथ और नृत्य, गीत, वादित्र के उपचारों के कारण विविध मंडपो का निर्माण आवश्यक हो गया। पंचदेवपूजन ने पचायतन की सृष्टि की। इस प्रकार इन नागर शैली के मंदिरो का विन्यास तथा निर्माण कलात्मक प्रतिमानों पर उतना आधृत नहीं था, जितना कि धर्म पर। किंतु आलोच्य काल में मुसलमानो की विध्वंसक प्रवृत्तियों ने हिंदू धार्मिक वास्तुकला मे अवरोध उपस्थित किया। इसके साथ ही आगे चलकर यह स्पष्ट होगा कि पच्चीकारी इत्यादि इस्लामी वास्तु का भी कुछ प्रभाव हिंदू मंदिर पर पड़ा।

संगीत कला

६. संगीत की दो परंपराएँ हैं—वैदिक और आगमिक। वैदिक परंपरा के अनुसार संगीतशास्त्रीय गाधर्व वेद का संबध सामवेद से है। इसमे सपूर्ण ऋक् समूह 'आर्चिक' और 'गान' के भेदो मे द्विधा विभक्त हैं। आर्चिक मे 'पूर्वार्चिको' के अंतर्गत 'ग्राम गान' और 'अरण्य गान' है। 'उत्तरार्चिक' के अंतर्गत 'ऊह गान' तथा 'ऊह्य गान' नामक विभाग हैं। ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रंथों मे गान को सामवेद से ही संबद्ध किया गया है।

७. इसके साथ ही साथ शिव से भी संगीत की उत्पत्ति बताई गई है। नदिकेश्वर कृत बृहद्ग्रंथ भरतार्णव के अनुसार शिव से नंदी ने संगीतशास्त्र की शिक्षा प्राप्त की और एक नवीन मत का प्रवर्तन किया। भरतलक्षण के प्रारंभ मे ही शिव का नमस्कारात्मक मंगलाचरण है। उसके बाद शिव से नाट्यसंगीत की परपरा के सागोपांग प्रवर्तन का उल्लेख है[1]। कोहल ने तालके लक्षण मे शिव और शक्ति का समायोग माना है—

तकारश्शङ्करः प्रोक्तो लकारश्शक्तिरुच्यते।
शिवशक्तिसमायोगात् 'ताल' नामाभिधीयते॥

---

१. आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम्।
आहार्यचन्द्रतारादि तन्नुमः सात्विकं शिवम्॥
वागीशो भरताय नाट्यनिगमं सन्दिष्टवान्प्रेमतो
गन्धर्वैः सममीश्वरस्य पुरतो नाट्यं ततानाशु सः।
स्मृत्वा तण्डुमजिग्रहत्तदखिलं शम्भुर्मुनिभ्यः पुनः॥
सन्दिष्टं भरताय तेन भुवने प्रख्यापितं तैरिदम्॥
द्रष्टव्य—हिस्ट्री आफ क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० ८३२ पर उद्धृत

यह कहना अनावश्यक है कि काश्मीर के शैवाद्वैत मत की छाया कोहल पर अत्यंत व्यक्त है। वृहद्देशी ग्रंथ के निर्माता मतंग का संबध शाक्त, शैव और वैष्णव तीनों संप्रदायो से दिखाई पडता है। 'याष्टिक मत' के अनुसार हरिभक्ति विलास और भक्तिणी क्रमशः वैष्णव तथा शाक्त लीलानाटकों के प्रवर्तक मतंग थे।

८. इस प्रकार सगीतशास्त्र की वैदिक और आगमिक दो परंपराएँ थीं। ये दोनो परंपराएँ स्वतत्र और मिश्र पद्धति से प्रवाहित होती रहीं। मिथिला मे कर्णाट राजवश के प्रतिष्ठापक नान्यदेव ने नवोत्थित रागो का वैदिक गान से संबंध जोड़ने का यत्न भरत नाट्यशास्त्र पर 'भरत वार्तिक' मे किया है। उनके अनुसार मध्ययुगीन 'मार्ग' और 'देशी' के दोनों विभाजन यथाक्रम सामवेदीय 'अरण्य गान' तथा 'ग्राम गान' से संवद्ध है। यह वैदिक परंपरा चौदहवीं पद्रहवीं शताब्दी मे लिखे गए 'रागसागर' में वैष्णव परंपरा से अन्वित दिखाई पड़ती है। इसमे वैदिक मंत्रो के समान ही प्रत्येक राग के ऋषि, छद और ध्यान का सविस्तर वर्णन है। किंतु इसके साथ ही साथ सभी रागो को हरि रूप भी वताया गया है[1]। वैष्णवागम परंपरा मे सीता ही शास्त्रका स्वरूप मानी गई है[2]। इसी प्रकार शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर मे 'नादतनु' शिव का मंगलाचरण किया है[3]। चतुर दामोदर ने महादेव की शैली को 'मार्ग' तथा उसके स्थानीय परिवर्तनों को 'देशी' वताया है[4]। इस आलोच्य युग के ठीक पूर्व ये पारंपरिक सगीत की शैलियाँ प्रचलित थीं। इसी समय मुसलमानों के सत्तारूढ़ होने पर

---

१. अनन्तहरिरूपाख्या [—] रागभासिताम्।
   तद्व्याख्यानमात्रेण भुक्तिमुक्तिफलं लभेत्॥
   हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर. पृ० ८३२ पर उद्धृत

२. जीयाद्राघवसुन्दरी कुलपतिर्या नादभूमीश्वरी
   या मादिस्वरनूपुरारणितयुक्ता नौभूवालापकीः
   ग्रामादित्रिकसप्तकावधिमयी मूर्छासमुच्छ्रायगा
   सा श्रीचक्रमयीशितुः श्रुतिगुणीभूता विदेहात्मजा॥ १॥
   द्रष्टव्य—हिस्ट्री आफ क्लौसिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० ८३३ पर उद्धृत

३. ब्रह्मग्रन्थिजमारुतानुगतिना चित्तेन हृत्पंकजे
   सूरीणामनुरञ्जकं श्रुतिपदं योऽयं स्वयं राजते।
   यस्माद्ग्रामविभागवर्णरचनालङ्कारजातिक्रमो
   वन्दे नादतनुं तमुद्धरजगद्गीतं मुदे शङ्करम्॥
द्रष्टव्य—हिस्ट्री आफ क्लैसिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० ८३२ पर उद्धृत

इसके दो भेद हो गए—शुद्ध पारंपरिक और मिश्रित। मेवाड़ मे कलाप्रेमी महाराणा कुंभा ने सगीतरत्नाकर और गीतगोविंद की टीकाएँ लिखीं तथा स्वय 'संगीतराज' नामक एक ग्रथ लिखा। यह विशाल ग्रंथ पारपरिक संगीतप्रासाद का कलश है। ग्वालियर के मानसिंह तोमर ने 'मानकुतूहल' नाम के सगीत-ग्रथ की रचना की थी जो अद्यावधि प्राप्त नहीं हुई। अनुश्रुति है कि पारपरिक संगीतपद्धति पर ही इन्होने ध्रुपद गान की शैली प्रवर्तित की जो आलोच्य काल के सगुण भक्त कवियो मे विशेष रूप से प्रतिष्ठित हुई। कुछ मुसलमान शासकों ने भी पारंपरिक संगीत के विकास मे हाथ बटाया। कडा-मानिकपुर मे मलिक सुल्तान शाह के पुत्र बहादुर मलिक ने संगीतज्ञो की एक विशाल सभा का आयोजन किया था, जिसमे सगीतविषयक अनेक समस्याओ का समाधान कर 'सगीतशिरोमणि' नामक ग्रथ की रचना हुई। कश्मीर के मुसलमान शासक जैन-उल-आब्दीन ने भी पारंपरिक सगीत को आश्रय दिया। इस उत्तर भारतीय संगीतपरपरा के अतिरिक्त दक्षिण मे इससे कुछ भिन्न शास्त्रीय संगीत की परंपरा चल रही थी। इसमे सबसे बडा योग चालुक्यराज भूलोकमल्ल सोमेश्वर [१५वीं शती] का है जिन्होने अपने महाकाय ग्रथ 'मानसोल्लास' के पचीस सौ श्लोकों मे संगीत, वाद्य और नृत्त का विवेचन किया है। इसी के कारण कर्णाट शैली का स्वतंत्र रीति से उद्भव हुआ। दक्षिण की दूसरी प्रमुख शैली का नाम आध्र है।

६.-मुसलमानों के प्रभाव से पारंपरिक सगीत से भिन्न एक नवीन शैली का जन्म हुआ, जिसे मिश्र शैली कहा जा सकता है। इस शैली का जन्म चौदहवीं के प्रारभ मे अमीर खुसरो द्वारा हुआ। ये पारसी, तुर्की, सस्कृत और हिंदी के उद्भट विद्वान् थे। भारतीय और फारसी सगीत के योग से इन्होने नवीन रागो—ईमन, शहाना आदि का आविष्कार किया। ख्याल गायकी के जन्मदाता भी ये ही हैं। इस शैली के उन्नायको मे जौनपुर के शर्की सुल्तान इब्राहीम शाह और उनके पौत्र हुसेन शाह ने विशेष योग दिया। इनके दरबार मे ख्याल गायकी की एक नवीन पद्धति

---

१. गीतं वाद्यं नर्तनं च त्रयं संगीतमुच्यते।
मार्गदेशीविभागेन सङ्गीतं द्विविधं स्मृतम्॥
यत्पुरा ब्रह्मणोद्दिष्टं प्रयुक्तं भरतादिभिः।
महादेवस्य पुरतस्तन्मार्गाख्यं विदुर्बुधाः॥
तत्तद्देशस्थया रीत्या यत्स्याल्लोकानुरञ्जनम्।
देशे देशे तु सङ्गीतं यत्तद्देशीति गीयते॥ वही। पृ० ८३२

हिं० स० सां० भू० २४ (११००–६२)

प्रवर्तित हुई। इसी ख्याल गायकी मे पंजाब के शोरे टप्पा और अवध के नवाबों ने ठुमरी का प्रचलन किया।

सगुण भक्तों का संगीत

१०. रागरागिनियो मे धार्मिक गानो के गाने की प्रथा प्राचीन है। कार्पटिक साधु विभास राग मे धार्मिक गीतों को सडको पर गाते थे। ध्रुवा गीति मे स्तवन का उल्लेख बाणभट्ट ने किया है। विचारकों का कथन है कि इस ध्रुवा गीति से ही ध्रुपद का जन्म हुआ। यह ध्रुपद आलोच्य काल के उत्तर भारतीय संगीत मे पारंपरिक रूप का प्रतिनिधि था। इसी के जोड मे खुसरो ने ख्याल का आविष्कार किया था। भक्तो ने पारपरिक ध्रुपद शैली का ही अनुवर्तन किया तथा ख्याल और टप्पे से उनको विशेष वितृष्णा थी। इस प्रसग मे कृष्णदास अधिकारी के विषय की वार्ता का आख्यान रोचक है—'सो आगरे के बाजार मे एक वेश्या नृत्य करत हुती। ख्याल टप्पा गावत हुती। सो कृष्णदास बाजार मे तमासे मे जाय ठाढ़े भए। वा पै कृष्णदास बहुत रीझे, सो रूपैया सत एक दिए। तब वा वेश्या जो [सो] कह्यौ जो तेरो गान हू आछौ और नृत्य हू आछौ परि हमारौ सेठ है सो तेरे ख्याल टप्पा ऊपर रीझैगो नाहिं तातें हौं कहौं सो गाइयो। ता पाछे कृष्णदास ने एक पूरबी राग मे पद करिकें सिखायो'[1]। शास्त्रवादी और रसवादी भक्त सगीत के पारपरिक रूप के साग्रह पक्षपाती थे। उत्तर भारत मे इस परंपरा के दो प्रमुख केंद्र थे—ग्वालियर और ब्रज। इसके विपरीत निर्गुनिया या तो संगीत के प्रति निरपेक्षबुद्धि रखते अथवा मिश्रित संगीत के पक्षपाती थे। वे नादानुसंधान आतरिक अनहद मे करने के अभ्यासी थे।

शास्त्रवादी भक्त : संगीत

११. अष्टछापी भक्तों मे सामान्यतः सभी सगीत के मर्मज्ञ और उत्कृष्ट कोटि के गायक थे पर गोविंद स्वामी, परमानददास तथा सूरदास संगीत के आचार्य माने जाते हैं। गोविंद स्वामी के पदों मे बहुशः मृदंग के 'परने' और वीणा, झाँझ, बाँसुरी, ताल आदि वाद्यों की ध्वनियाँ बीच बीच मे अतर्निविष्ट है। उदाहरण के लिए—

आली री दाम दाम दाम बाजत मृदंग, गति उपजत अनेक भांत।
तीकी भंकन कुं कुं तन झगता धीलांग धीलांग तागर गोडावत दुलहिन दुलो-
जोत पांत ॥

पं० २। पद ५६। गोविंद०

---

१. अष्टछाप, डा० धीरेंद्र वर्मा, पृ० २६–३०

तथा—

षडज रिषभ गंधार सप्त सुरनि मधिम तार लेत ग्र ग्र तेते तत होरी।
जहाँ रसिक गिरिधर सब्द उघटत ग्र ग्र थुंग थुंग गति थोरी॥
प० ३–४। पद ६३। वही

एवं—

गोपीजन नव वृन्द ललित बाजन बर ताल धरन·
धिधिक्कट सुधिकट मुदु मृदंग बाजे॥
पं० ३–४। पद ५३। वही

किंच—

अग्रतक्रिट ध्रु ध्रु ध्रु ध्रु धृं धृं धृं धृं न न न न
नृत्तत रसिक बर आवत गोधन संग।
पं० १–२। पद ३५६। वही

मृदंग के बोल अपने नामो के सहित निम्नोक्त पद में दर्शनीय है—

गिड़ि गिड़ि थुंग थुंगनि तक्रटि थुंगति
एक चरन कर सों भले भले बहु मृदंग बजावैं।
दूसरे कर चरन सों कठताल त्रिकटि झं झं—
झपताल में अवधर गति उपजावें॥
पं० १–४, पद ५८ वही

'केदारा,'[1] 'मल्हार'[2] कल्यान आदि रागों तथा ताल, मृदंग झाँझ, डफ, महुवरि, मुरली,[3] शंख, बेला, बीन, उपग,[4] अमृत, तुडली,[5] किन्नरी, ढोल, भेरि,[6] सहनाई, झालरी, कठताला,[7] खाव,[8] पखावज,[9] पटह,[10] आदि वाद्यों का वे उल्लेख करते हैं।

---

१. गोविन्द स्वामी। पद ६४। पं० ६
२. वही। पद १८०। पं० ४ तथा पद १८४। पं० ३ आदि
३. वही। पद १०३। पं० ६
४. वही। पद ६६। पं० २
५. वही। पद १०८। पं० ६
६. वही। पद १०६। पं० ६
७. वही। पद १११। पं० ३
८. वही। पद ११०। पं० ६
९. वही। पद १२२। पं० ११
१०. वही। पद १२६। पं० ११

१२. शास्त्रीय सगीत के अतिरिक्त गोविद स्वामी की रचनाओं में लौकिक सगीत के तत्वो की भी चर्चा है। बसत मे झूमक और चेतव तथा जन्म के अवसर पर सोहले गाने का वर्णन है। इस अतस्साक्ष्य से गोविंद स्वामी की संगीत-प्रियता ज्ञात होती है। इसका समर्थन उनके संबंध मे प्रचलित कथाओ से भी होता है। अनुश्रुति के अनुसार पुष्टिमार्ग मे दीक्षित होने के पूर्व ये गानविद्या के आचार्य थे। तानसेन का इनकी सेवा मे उपस्थित होकर गायन का अभ्यास करना भी प्रसिद्ध है। ये शास्त्रीय सगीत के ही पक्षपाती थे तथा मिश्र पद्धति के गायन से इन्हे घोर वितृष्णा थी। वार्ता के अनुसार एक बार गोविंददास जसोदाघाट पर भैरवी राग गा रहे थे। उसको सुनकर एक संगीतज्ञ मुसलमान ने उस राग की प्रशंसा की। 'तब सुनि कै गोविंददास ने कह्यो जो—अरे राग छुइ गयो। ता पाछें गोविंददास ने भैरवी राग कबहूँ न गायो। कहते जो यह राग म्लेच्छ ने सराह्यो है, सो श्रीनाथजी आगे राग कैसे गाऊँ? राग छुई गयो है'।[1]

१३. परमानंददास वल्लभाचार्य जी के शिष्य होने के पूर्व ही संगीत में निष्णात थे। इनकी एक छाप 'सारंग' है। जिसकी व्याख्या डा० दीनदयाल गुप्त यह कह कर करते हैं कि 'परमानददास के आधे से अधिक पद सारंग राग मे हैं।' यह कहना कठिन है कि उपलब्ध हस्तलेखों मे पदों की दी हुई रागो की विवरणिका पारंपरिक रीति से कवि के समय से ही चली आ रही है अथवा परवर्ती काल मे उपस्थापित की गई। यदि डा० गुप्त की सभावना स्वीकार कर ली जाय तो यह मानना पड़ेगा कि परमानंददास को सारग राग इतना प्रिय था, कि उन्होंने अपना विरुद ही 'सारंग' रख लिया था।

१४. सौभाग्यवश सूरदास ने रागों की एक तालिका ही दे दी है। इसमे— १. ललित, २. पचम, ३. खट, ४. मालकोप, ५. हिंडोल, ६. मेघ, ७. मालव, ८. सारंग, ९. नट, १०. सावंत, ११. भूपाली, १२. ईमन, १३. कान्हरौ, १४. अड़ाना, १५. नायकी, १६. केदारौ, १७. सोरठ, १८. गौड़ मलार, १९. भैरव, २०. विभास, २१. बिलावल, २२. देवगिरि, २३. देशाख, २४. गौरी, २५. श्री, २६. जैतश्री, २७. पूर्वी, २८. टोडी, २९. आसावरी, ३०. रामकली, ३१. गुनकली, ३२. सुघराई, ३३. चैती, ३४. सूहा, ३५. सिंधूरा, ३६. प्रभाती[2]। इसमे दो बातें द्रष्टव्य है। प्रथम

1. अष्टछाप, डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० १२०
2. ललित ललित बजाय रिझावत मधुर बीन कर लीने।
   नाना प्रकार राग पचम षट मालकोस रस भीने॥

तो यह कि ईमन राग के आविष्कर्ता मियाँ खुसरो थे। दूसरे प्रो० मुंशीराम शर्मा का यह कथन कि 'सूर के गान ऐसे राग और रागिनियो मे है जिनमे से कुछ के लक्षण भी अब प्राप्त नही है। ऐसी रागरागिनियाँ या तो सूर की अपनी उपज है या उनका अब प्रचार नहीं है'[1]।

१५. चतुर्भुजदास की 'षटऋतु की वार्ता' मे छत्तीस रागरागिनियो का उल्लेख है। इनमे से प्रायः अधिकाश राग सूरसारावली की तालिका मे मिलते है।

१६. इस प्रकार अष्टछाप के भक्त कवियो मे सगीत की विशेष प्रतिष्ठा थी। ये ग्वालियर की ध्रुपद शैली के अनुवर्ती थे। साधारणतः पारपरिक शास्त्रीय संगीत इनमे प्राप्त होता है किंतु कदाचित् इनमे से कुछ कवियो को प्राचीन रागो के नवीन रूपांतर ईमन आदि परित्याज्य न रहे होंगे।

रसवादी : संगीत

१७. रसवादी भक्त कवियो मे 'समाज' की परपरा प्रचलित थी। इन समाजों का प्राचीन काल में रूप और इतिहास अन्यत्र दिया जा चुका है। रसवादी भक्त समाज मे रासलीला के गीतिनाट्य मे अथवा स्वतत्र रीति से समवेत गान हुआ करता था। इसलिये तथा गीति मुक्तको के विशेष प्रचार के कारण इनमे सगीत का विशिष्ट

सुर हिंडोल मेघ मालव पुनि सारंग सुर नट जान।
सुर सावंत भवाली ईमन करत कान्हरौ गान॥
ऊँच अडाने के सुर सुनियत निष्ट नायकी लीन।
करत विहार मधुर केदारौ सकल सुरन सुख दीन॥
सोरठ गौड मलार सोहावन भैरव ललित बजायौ।
मधुर विभास सुनत बेलावल दंपति अति सुख पायौ॥
देवगिरी देसाक देव पुनि गौरी श्री सुखबास।
जैतश्री अरु पूर्वी टोड़ी आसावरि सुखरास॥
रामकली गुनकली केतकी सुर सुघराई गाये।
जैजैवंती जगतमोहनी सुर सों बीन बजाये॥
सूहा सरस सिलत प्रीतम सुख सिंधुवार रस मान्यौ।
जान प्रभात प्रभाती गायो भोर भयो दोउ जान्यो॥

सूर सारावली, छंद सं० १०1२ से १०१८ तक

१. सूर सौरभ, भाग २; पृ० ७

योग है। सुना जाता है कि हितवंशजी स्वयं अच्छे गायक थे। 'हित चौरासी' की एक हस्तलिखित प्रति के अंत मे इस ग्रंथ के पदो की रागसंख्या की गणना इस प्रकार दी हुई है—

छ पद विभास मॉझ सात है बिलावल में
टोड़ी में चतुर आसावरी में द्वै बने।
सप्त है धनसिरी मे जुगल बसन्त केलि
देवगंधार पंच दोई सुरसों सनें॥
सारंग से षोडस हैं चारि ही मलार एक
गौड में सुहायौ नव गौरी रस सों सनै।
षट कल्यान निधि कान्हरौ केदारौ वेद बानी
हित जू की सब चौदह राग में गनै॥
इति श्री राग सुख्या सुपूरणम्॥ शुभम् भूयात्॥
श्री राधावल्लभो जयति श्रीहित हरिवंशचंद्रो जयति॥ इति[1]

१८. वृंदावन के दूसरे रसवादी भक्तो मे स्वामी हरिदास जी संगीत शास्त्र के प्रकाड पडित थे। उस समय के अनेक सुप्रतिष्ठ गायक तानसेन, बैजू बावरा और गोपालराय इन्हीं के शिष्य माने जाते है। परतु इन गायको की ख्याति क्रमिक रीति से जहॉ दीपक, मेघ और मालकोष नामक एक एक रागो के लिये है वहाँ स्वामीजी सभी रागो के गायन मे अद्वितीय थे। प्रसिद्धि है कि स्वामीजी की इसी गानविद्या के आकर्षण मे खिचकर बादशाह अकबर भी गुप्त रीति से कभी कभी उनका गाना सुनने के लिये आया करते थे।

१९ हरिराम व्यास ने भारतीय सगीत शास्त्र पर 'रागमाला' नाम की एक स्वतंत्र पुस्तक ही लिखी है[2]। उनका यह दृढ विश्वास था कि 'नाचने गाने से भगवान् प्रसन्न होते है, इसलिये जीवन भर नाच गाकर भगवान् को रिझा लेना चाहिए, अत

1. नागरीप्रचारिणी सभा की सन् १९२३ की खोज रिपोर्ट संख्या १६८ के अनुसार इस हस्तलेख का लिपिकाल सं० १८४३ विक्रमी = ईस्वी सन् १७८६ है। प्राप्ति स्थान पं० श्यामबिहारी मिश्र, गोलागंज, लखनऊ।
2. भक्तकवि व्यासजी, पृ० १४२–१४३, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, सं० २००९

मे तो काल की कठोरता का सामना करना ही पड़ेगा"[1]। भक्त कवियो मे ध्रुपद शैली का बड़ा प्रचार था। व्यासजी के पदों मे मृदंग के 'परनो' के अंश प्राय: मिलते है, जिससे प्रतीत होता है कि इस कला मे वे प्रवीण थे और ध्रुपद शैली के उत्कट प्रेमी थे। निम्नलिखित पद मे स्वर सकेतों के साथ 'परन' के अंश की अभिव्यक्ति हुई है—

अपने वृंदावन रास रच्यौ, नाँचत प्यारी पिय संग।
सब्द उघटत स्याम नटवर, मनों कल मुखचंग॥
बिबिध बरन संगीत-अभिनय-निपुन, नखसिख अंग।
सा रे ग म प ध नी सप्तम सुर, गान-तान-तरंग॥
सिद्ध रागिनी, राग सारंग सहित, सरस सुघंग।
धंननन तंननन तक - तक थुंग, रुनित मृदंग॥
तरल तिलक ललाट कुंचित, चपल चिकुर सुभंग।
चंद सत [सम] ताटंक मंडित, गंड जुगल सुरंग॥
मंद हास बिलास, दसननि दमक दामिनि भंग।
हार चंचल, प्रगट अंचल मधि उरज उतंग॥
बलय - नूपुर - किंकिनी - रव, बलित ललित-सुलंग।
भुव भंग तक चंद कर्तरि भेद, रस अनुषग॥
थकित सुक, पिक, हंस, केकी, कोक, भृंग, कुरंग।
'व्यास' स्वामिनि नित्य बिहरति, प्रनय कोटि अनंग॥

भक्तकवि व्यास जी। पद ६४४। पृ० ३३७–३३८

निष्कर्ष

२०. आलोच्य काल मे संगीत शास्त्र की वैदिक परपरा लुप्तप्राय दिखाई देती है। उसका केवल एक तत्व रागध्यान ही इस काल मे यथेष्ट सक्रिय था। इसकी

---

१० नाचत गावत हरि सुख पावत।
नाचि गाइ लीजै दिन द्वै, पुनि कठिन काल दिन आवत॥
नाँचत नाऊ, जाट, जुलाहौ, छीपा नीकैं गावत।
पीपा अरु रैदास, विप्र जयदेव सुभलै रिझावत॥
नाँचत सनक, सनंदन अरु सुक, नारद मुनि सचु पावत।
नाँचत गन गंधर्व देवता व्यासहिं कान्ह जगावत॥
भक्तकवि व्यासजी, पद २४२

पूर्वमध्ययुगीन परंपरा मे वैदिक मंत्रों के समान ही राग के ऋषि, छंद और ध्यान कल्पित हुए थे। राग के ध्यानों ने रागमाला की चित्रावली उपस्थित की जो आलोच्य युग के बहुत समय बाद तक चलती रही। मतंग और संगीतरत्नाकर की धारा मे इस समय दो केंद्र हुए—ग्वालियर और व्रज। व्रज मे शास्त्रवादी और रसवादी कृष्ण भक्तों ने संगीत की परंपरा आगे बढ़ाई। यह स्मरणीय है कि इन कवियों ने अधिकाशतः मुक्तक गीतियों और गीतिनाट्यों की रचना की जिसमे संगीत का सविशेष योग रहता है। सगीत का जैसा विनियोग कोमल एवं मधुर दृश्यों, व्यापारों तथा भावों की व्यंजना मे होता है वैसा योग वर्णनात्मक और कथात्मक लंबे प्रबंधों मे नहीं हो पाता। राधाकृष्ण की रसमयी लीला, श्रोत्रपेय संगीत के माध्यम को प्राप्त कर द्विगुणित आभा से युक्त हो जाती है। यही कारण है कि धर्मनिरपेक्ष विलास मडली मे भी राधाकृष्ण की लीला रंजक-स्वर-संदर्भ मे व्यक्त हुई। इस प्रकार भक्ति रस का सहयोगी, यह भक्तिसगीत सगुण भक्तों की साधना का सोपान बना।

चित्रकला

२१. ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी से चित्रकला मे एक नवीन विशेषता का जन्म हुआ। प्राचीन चित्र कला मूर्ति कला का रेखामय रूपातर मात्र थी। पाषाण, धातु अथवा मृण्मय साधनों से जिस प्रकार मूर्तिकार वस्तुओं के आयाम, विस्तार, उच्छ्रय के त्रिविध आकारों से रूपविन्यास करता था उसी प्रकार चित्रकार केवल आयाम और विस्तार के द्विविध आकारों मे वैसे ही वस्तु चित्रणकी चेष्टा करता था। इसलिए वह स्थूलता की व्यंजना वृत्त और वक्र रेखाओं से करता था। किंतु मध्यकाल मे चित्र कला ने मूर्ति कला से हटकर अपने नवीन प्रतिमानोंको स्थिर किया। चित्र कला का रूप रेखा प्रधान [Linear] हो गया, जिसमे विविध आकारों को व्यक्त करने का प्रयत्न नहीं था। रेखाओं के माध्यम से आयाम-विस्तार-युक्त वस्तु का रूप चित्रित किया जाता था। इसीलिए त्रिविध आकारों के युगवत् तथा यथार्थवादी समन्वय का प्रयत्न भी इनमे नहीं दिखाई देता। यह प्रवृत्ति वेरूल [एलोरा] के के मंदिरों के भित्तिचित्रों मे प्रारंभ हो जाती है। किंतु इसका अतिरंजित विकास जैन ग्रंथ चित्रों मे हुआ जिनमे 'काननचारी नैनों' की लंबाई दिखाने के लिए उनको मुखमडल की परिधि के बाहर तक निकला हुआ दिखाया गया है। इसके साथ ही नासिका के चित्रण मे अनावश्यक लंबाई है, जिससे कि सवाचश्म चेहरे मे वह गाल से भी आगे बढ़ी हुई दिखाई देती है। कलाशास्त्री इस प्रवृत्ति को मध्ययुगीन तत्व [मेडिवल फैक्टर] के नाम से अभिहित करते हैं। श्री रायकृष्णदास ने इसके लिए व्यंजक नाम—'अपभ्रंश

तत्व'—दिया है[1]। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य के 'क्लैसिकल' युग के बाद लोक-तत्व-युक्त अपभ्रंश काव्य का सर्जन हुआ उसी प्रकार अजंता और बाघ के भित्तिचित्रों के पश्चात् लोक-तत्व-युक्त यह शैली प्रचलित हुई। अतः अपभ्रंश नाम से यह काव्य और चित्र में साथ ही साथ एक नवीन तत्व के प्रवेश की सूचना मिलती है।

२२. अपभ्रंश चित्र की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं—

(१) शैली में लोकतत्व और

(१) सीमित जीवनवृत्त का ही ग्रहण।

दूसरी विशेषता भी एलोरा मंदिर के भित्तिचित्रों से शुरू हुई। अजंता में व्यापक जीवन के चित्र हैं। उनमें प्रासाद के राजदंपति से लेकर वीथियों में संचरण करते हुए भिक्षुकों, श्रमण-ब्राह्मणों के धार्मिक कृत्यों के साथ लीलाविलास, दारिद्र्य और वैभव, पाप तथा पुण्य, पशु एवं मानव संपूर्ण जीवन का चित्र है। किंतु एलोरा के भित्तिचित्रों में जीवन का एक सीमित क्षेत्र ही आलेख्य का विषय बना। प्रायः देवतामंडल, उनकी पौराणिक कथाएँ एवं धार्मिक जीवनके चित्र इनमें प्राप्त होते हैं। परवर्ती ग्रंथ चित्रों में यह परंपरा मिलती है। इनमें बौद्ध, जैन, वैष्णव, शाक्त और शैवों के देवतामंडल तथा धार्मिक कृत्यों के चित्र हैं। इसके साथ ही काम-क्रीड़ाओं और रागमालाओं का भी अंकन मिलता है।

२३. चालुक्यनरेश सोमदेव तृतीय के द्वारा सन् ११२५ में लिखे या लिखाए गए 'अभिलषितार्थ चिंतामणि' के अनुसार चित्रों के तीन भेद हैं—विद्ध चित्र, अविद्ध चित्र और भाव चित्र। दर्पण में प्रतिबिंब के समान वस्तु का अंकन विद्ध और केवल आकार का उपस्थापन अविद्ध कहा जाता है। जिसके देखने मात्र से शृंगार आदि रस व्यंजित हो जायँ उन चित्रों का नाम भाव चित्र है[2]। भाव चित्रों में गीति तत्व (लिरिकल एलीमेंट) का प्राधान्य रहता है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में इन चित्रों को 'वैणिक' (वीणा संबंधी) नाम दिया गया है। अंग्रेजी 'लिरिकल' ('लायर', वीणा विशेष से संबद्ध) से अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों में ही समानता रखने के कारण 'वैणिक' शब्द प्रकृत प्रसंग में विशेष महत्व का है।

---

१. भारत की चित्रकला, पृ० ४९

२. तत्तद्वृत्तानुसारेण लेखनीयानि कोविदैः।
साहश्यं लिख्यते यत्तु दर्पणे प्रतिबिम्बवत्॥

२४. जैन, बौद्ध और शाक्त चित्र प्रायः विद्ध शैली के है जिनमे बिंबप्रतिबिंब रूप अंकन मिलता है। गुजरात से उपलब्ध चित्रो मे प्रायः जैन शासन देवताओं, यक्षिणियो, यक्षो इत्यादि का, तीर्थंकरो तथा उनसे संबद्ध पौराणिक कथाओ का, तीर्थों का एवं शास्त्रार्थप्रवृत्त या कथाभिरत आचार्यों का इसी पद्धति से चित्रण है[1]। बौद्धों के तांत्रिक ग्रंथों मे वज्रयानी देवतामंडल के चित्र हैं[2]। देवीमाहात्म्य मे देवी के पौराणिक आख्यान शुभ-दैत्य-वध इत्यादि के चित्र हैं[3]। इन चित्रों मे बिंब-प्रतिबिंब रूप अंकन तथा व्यापारो का गत्यात्मक चित्रण मिलता है। इनमे व्याख्यात्मक तत्व [डिस्क्रिप्टिव एलीमेंट] की प्रधानता है। इन चित्रो मे प्रायः विद्ध चित्रशैली और कभी कभी भाव चित्रशैली दिखाई देती है।

२५. विष्णुधर्मोत्तर की 'वैणिक' शैली मे विविध मुद्राओं का आकर्षक अंकन होता है। कुछ विद्वानो का कथन है कि प्रेमात्मक गीतियों का चित्र मे रूपांतर ही 'वैणिक' शैली है[4]। वैणिक शैली और गीति काव्य के समन्वय का प्राथमिक दृष्टांत ईसा की पंद्रहवीं शती मे प्रतिलिपि किया गया, 'वसंतविलास' नामक चित्रमय ग्रंथ है। सत्तरहवीं शताब्दी मे अमरुकशतक की सचित्र प्रतिलिपियों मे इस परंपरा का प्रचलन था।

२६. वैष्णव साहित्य मे अत्यधिक प्रतिष्ठित बालगोपालस्तुति की अनेक सचित्र प्रतिलिपियाँ आलोच्य युग मे उपलब्ध होती है। श्रीमद्भागवत और गीतगोविंद के लीलाविलास के अंकन सचित्र प्रतिलिपियो मे मिलते हैं। इन ग्रंथचित्रो मे इसी वैणिक शैली का प्रयोग हुआ है जिसमे हृदयहारी, मनोरम और सरस व्यापारों

तच्चित्रं विद्धमित्याहुर्विश्वकर्मादयो बुधाः।
आकस्मिके लिखामीति यदा तूदिश्य लिख्यते॥
आकारमात्रसम्पत्त्यै तद्विद्धमिति स्मृतम्।
श्रृंगारादिरसो यत्र दर्शनादेव गम्यते॥
अभिलषितार्थचिंतामणि, भाग १, विमस्ति १, पद ९३९–९४१, पृ० २८१

१. भारत की चित्रकला, पृ० ४६
२. हिस्ट्री आफ बंगाल, जिल्द १, पृ० ५४८–५४९
३. जर्नल आफ इंडियन सोसायटी आफ ओरियंटल आर्ट्स, जिल्द ६, सन् १९३०
४. 'इलस्ट्रेटेड देवी माहात्म्य मिनिएचर्स' : बुलेटिन आफ द प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम आफ वेस्टर्न इंडिया, सन् १९५१–५२, संख्या २, पृ० १

की योजनाओं एवं मुद्राओं को देखते ही शृंगार आदि कोमल रसों की प्रतीति होती है।

२७. सारांश मे आलोच्यकाल की राजस्थानी चित्रशैली अपभ्रंश शैली का विकास है। इसमे केवल सीमित जीवन के चित्र हैं जिसमे धार्मिक अथवा कामक्रीड़ा का ही अंकन हुआ है। इसमे भी दो शैलियाँ हैं—वस्तु प्रतिवस्तु रूप व्याख्याप्रधान पौराणिक विद्ध शैली और सरस एवं कोमल भावों की व्यंजना करनेवाली गीतितत्व-प्रधान वैणिक शैली। इनमे वैणिक शैली के वर्ण्यभेद से तीन विभाग किए जा सकते है—

[१] वसंतविलास, अमरुशतक, लोराचद्रा आदि के लौकिक कामविलास तथा प्रेमाख्यानो का अंकन,

[२] बाल-गोपाल-स्तुति, भागवत और गीतगोविंद आदि मे कृष्ण के लीलात्मक विलास का चित्रण, और

[३] रागमाला का आलेखन।

२८. आलोच्य युग के ही सद्यः प्राप्त भागवत का एक चित्र सर्वप्रथम यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है[1]। इसमे विशालकाय अजगर के उदर मे नंद चित्रित हैं और सूचना पाकर उनको बचाने के लिये गोपालों के साथ दौड़ते हुए बलराम और कृष्ण भावविह्वल स्थिति मे आलिखित हुए है। भावचित्र का यह एक सुदर निदर्शन है। सोलहवीं शताब्दी मे जयपुर, राजस्थानी शैली का एक केंद्र ब्रज था जिसमे वे फड़कते हुए कटीले मीन नेत्र और बाँके भ्रूचाप चित्रित होते थे जो परवर्ती युग मे नाथद्वारा के कृष्णचित्रो की विशेषता बने। जोधपुर, किशनगढ, कोटा (बूँदी) आदि मे राजस्थानी शैली के जो चित्र अठारहवीं शताब्दी मे प्राप्त होते हैं, उनमे रासमंडल का आलेखन बड़े महत्व का है।

आलोच्य युग के भक्त : चित्र

२९. तुलसीदास जी ने मानस मे अयोध्या की चित्रशालाओ का उल्लेख किया है जिनमे रामचरित आलिखित था—

> चारु चित्रसाला गृह गृह प्रति लिखे बनाइ।
> राम चरित जे निरख मुनि, ते मन लेहि चुराइ॥
>
> दो० ९७ । मानस उत्तर०

---

१. द्रष्टव्य पृ० सं० ३८६ चित्र संख्या २

घरों मे भित्तिचित्रों का विधान अत्यंत प्राचीन है। मेघदूत[1], कुमारगुप्त के दशपुर अभिलेख[2] और विष्णुधर्मोत्तर के चित्रसूत्रों मे इसकी चर्चा है। चित्र भी इस काल के भक्तों की साधना का एक माध्यम प्रतीत होता है। गोविंद स्वामी वसंत लीला का गान करते हुए कहते है—

> नव सच चलिए जहाँ तहाँ चंदन अबीर उड़ावहीं।
> पंचमी आजु मनोज महोच्छव मंगल चित्र बनावहीं॥
>
> प० ३–४। पद १०४। गोविंद०

ये मंगल चित्र अभिलषितार्थ चिंतामणि के धूलि चित्र है जो उत्सव के अवसरों पर अल्पना आदि के रूप मे मंदिरो के शोभाधान के लिये बनाए जाते थे[3]। प्राचीन समय से ही विरह में प्रेमी से साक्षात्कार का और संयोग मे रस के उद्दीपन का कार्य आलेखन से संबद्ध है। संयोग शृंगार के उद्दीपन के रूप मे इसका ग्रहण हित चौरासी मे मिलता है। राधा के कुचकुंकुमो से अनुरंजित श्री कृष्ण की मालावली पर हरिवंश की संभावना है कि मानों रसिकशिरोमणि नायक ने अपने करकमलों से ही प्रिया के प्रेम का व्यंजक और अलंकृत चित्र प्रस्तुत किया है—

> कुच कुंकुम रंजित मालावलि सुरत नाथ श्री स्याम धामधर।
> प्रिया प्रेम के अंक अलंकृत चित्रित चतुर सिरोमनि निजु कर॥[4]

निष्कर्ष

३०. इस समय अन्य कलाओं के समान भारतीय चित्रकला भी प्रधानतया भक्तिप्रेरित थी। काव्य और संगीत के समान चित्र की भी राजस्थानी कला का एक केंद्र ब्रज मे था, जो कृष्ण की लीलाओं का आलेखन करता था। जिस प्रकार सगुण साहित्य के काव्यरूपों का विकास अपभ्रंश साहित्य से हुआ उसी प्रकार यह राजस्थानी शैली अपभ्रंश शैली से विकसित हुई। भाव चित्र इसकी विशेषता थी। गीति तत्व युक्त

---

१. मेघदूत, उत्तर, श्लोक १
२. सरकार : सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृ० २९१, श्लोक ११
३. नृत्तितरंगं मंगल्यं धूलिचित्रं विदुर्बुधाः।
अभिलषितार्थचिंतामणिः, भाग १, सिमस्ति १, पद ९४३, पृ० २८१
४. आर्यभाषा पुस्तकालय, याज्ञिक० संख्या ५०२। ५५ और २८१। ५५। पद ५।
प० ३–४

कृष्ण की लीलाओ का चित्रण इसी अपभ्रंश या वैणिक शैली मे हुआ। काव्य मे भावतरल मुक्तक और चित्र मे भावप्रवण वैणिक शैली कृष्णलीलाओं के प्रकाशन मे प्रवृत्त हुई। वाल्मीकि रामायण मे विद्ध शैली के वर्णनात्मक बिंबप्रतिबिंब रूप अंकन और कथातत्व एवं वर्णन तत्व से लदे लबे प्रबध काव्य, तत्वगत एवं शैलीगत साम्य कारण तुलनीय हैं।

मूर्ति कला

३१. हिंदू सस्कृति की मूर्ति कला के उद्भव और विकास मे विद्वानो ने पाचरात्रिको का विशेष योग स्वीकार किया है। यह निर्विवाद सत्य है कि भारतीय मूर्ति कला के विकास मे भक्ति की बलवती प्रेरणा थी। सैंधव घाटी की सभ्यता मे पशुपति, मौर्य शुंगकाल मे यक्ष, गाधार, मथुरा, अमरावती मे बौद्ध प्रतीक और देवतामंडल, भक्ति की भावना के कारण ही मूर्ति के सीमित आकार मे व्यक्त हुए थे। गुप्तकाल मे अनेक प्रवृत्तियो वाली विशाल भक्ति की परंपरा मूर्तियो की सुंदर और विशाल राशि के रूप मे फूट पड़ी। पूर्व मध्यकालीन पाल-सेन शैली की तथा भुवनेश्वर, खजुराहो एवं ओसिया के मदिरो की उत्तरभारतीय मूर्तियाँ बौद्ध, जैन और हिंदू तांत्रिक प्रवृत्तियो की अभिव्यंजनाएँ हैं। इस प्रकार मूर्ति कला धर्म के अंतराल मे विकसित हुई।

पूर्वमध्ययुग में मूर्ति कला

३२. पूर्व मध्ययुग के आगमन से मूर्ति कला मे कुछ नवीन विशेषताओ का जन्म हुआ। गुप्तकाल मे विविध मुद्राओ, मनोहारिणी शारीरिक भगिमाओ और चित्ताकर्षक किंतु स्वल्प आभूषणों का शोभाविधायक अकन होता था। किंतु इस काल के समाप्त होते होते ये कलात्मक रूढ़ियो मे परिणत हो गए। मध्ययुग मे ये कलात्मक रूढ़ियाँ अतिरजना के साथ व्यक्त हुई। 'समपादस्थानक' की उपेक्षा किंतु द्विभंग, त्रिभंग की अतिरंजित भंगिमाओ का निश्चित और औपचारिक स्थानक, आसन, शयन की स्थितियो का, शास्त्रीय हस्तमुद्राओ का तथा रूढ़िगत शृंगारिक चेष्टाओं का, अश्लीलता की सीमा को स्पर्श करता हुआ अकन–मध्ययुग की सामान्य विशेषता है। गुप्तकाल की नवानवोन्मेष शालिनी प्रतिभा यहाँ प्राप्त नहीं होती। किंतु निश्चित और शास्त्रीय रूपरेखा मे वैविध्य और विस्तार दर्शनीय है।

उत्तर मध्ययुग में मूर्ति कला

३३. यवनो के आक्रमणों ने मूर्ति कला पर सांघातिक प्रहार किया। इस्लाम धर्म मे मूर्तिपूजन का विरोध है। इसलिये बुतपरस्त होना मुसलमानों के लिये बड़े

फिक्र और बुतशिन होना भारी फर्क की चीज है। यवन आक्रामकों ने सुंदर मूर्तियों के भंजन का जो अनवरत तांडव किया, उसने पंजाब से लेकर बंगाल तक सारी भूमि विश्रीक कर दिया। उत्तर भारत मे इस भंजनलीला के प्रकोप से बचे हुए राजस्थान में मूर्ति कला ने शरण ली। बारहवीं तेरहवीं शताब्दी के ग्रंथ अपराजितपृच्छा में राजस्थान और गुजरात की मूर्तिपरंपरा व्यवस्थित है। किंतु इस काल मे मूर्ति कला के सबसे बड़े आश्रयदाता, हिंदू संस्कृति के उन्नायक महाराणा कुंभा थे। इन्होने न केवल संगीत, काव्य और वास्तु किंतु मूर्ति कला का भी विशेष उत्थान किया। इनके शासनकाल मे सूत्रधार मंडन ने वास्तुमंडन, प्रासाद मंडन, राजवल्लभमंडन, रूपमंडन तथा देवतामूर्ति प्रकरण ग्रंथों की रचनाएँ की जो प्रतिभाविधान के मध्ययुगीन प्रामाणिक ग्रंथ है। अंतर्वेदी मे मूर्तिकला का कभी भी निर्बाध विकास नहीं हो सका। इसका सबसे बडा साक्ष्य सोलहवीं शती मे निर्मित वृंदावन के मंदिरों से उपलब्ध होता है। पूर्व मध्यकाल के मंदिरो मे संपूर्ण देवप्रासाद ऊपर से नीचे तक बाहर और भीतर तथा चतुर्दिक, मूर्तियो से जटित रहता था। इन मूर्तियों के प्रासाद मे अंकन का धार्मिक एवं कलात्मक प्रयोजन था। किंतु उदार शाहंशाह अकबर के समय मे भी बने हुए मंदिरो मे प्रचुर-मूर्ति-अंकन करनेवाली परंपरा का सर्वथा अभाव दिखाई देता है। कारण यह है कि मूर्तिविरोधी इस्लाम के राजधर्म हो जाने से मूर्तियों का उत्कीर्ण होना स्थगित हो गया। अंतर्वेदी मे उपलब्ध इस काल की मूर्तियाँ निष्प्राण और जकड़ी हुई सी है। वे केवल धार्मिक उद्देश्यों से उत्कीर्ण होती थीं। अतएव कुछ चुने हुए धार्मिक विषय ही उकेरे गए है।

३४. मुसलमानों के संपर्क से रत्नजटित ज्यामितिक आकारो को उत्कीर्ण करने की कला उत्तरापथ मे विशेष विकसित हुई। शोभाधान के लिये मूर्तिअंकन के स्थान पर पच्चीकारी की प्रतिष्ठा हुई। प्राचीन परंपरा मे नागवल्ली, पत्रपताका और कल्पलता आदि का अंकन द्वारस्तंभों पर हुआ करता था। राम-विवाह के अवसर पर तुलसी ने मंडपवितान का चित्रग्राहक चित्र प्रस्तुत किया है। इसमे दोनो परंपराएँ समन्वित दिखाई देती है। द्वारस्तंभों पर पूर्णघट लिए हुए देव प्रतिमाओं का अंकन मांगलिक विधान है। साथ ही इनमे नागवल्ली, कल्पलता आदि आकृतियाँ भी उत्कीर्ण होती थीं। किंतु मुसलमानी परंपरा मे आकृतियों की पच्चीकारी अथवा पत्थर फोड़ कर आकृतियों मे रत्न जड़ने की कलात्मक विशेषताएँ हैं। इसलिए तुलसीदास का निम्नलिखित वर्णन विशेष महत्त्वपूर्ण है—

पठए बोलि गुनी तिन्ह नाना। जे बितान बिधि कुसल सुजाना॥
बिधिहि बंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा। बिरचे कनक कदलि के खंभा॥

हरित मनिन्ह के पत्र फल पदुमराग के फूल ।
रचना देखि बिचित्र अति मनु बिरंचि कर भूल ॥ २८७ ॥

बेनु हरित मनिमय सब कीन्हे । सरल सपरब परहिं नहिं चीन्हे ॥
कनक कलित अहिबेलि बनाई । लखि नहिं परइ सपरन सुहाई ॥
तेहि के रचि पचि बंध बनाए । बिच बिच मुकुता दाम सुहाए ॥
मानिक मरकत कुलिस पिरोजा । चीरि कोरि पचि रचे सरोजा ॥
किए भृंग बहुरंग बिहंगा । गुंजहिं कूजहिं पवन प्रसंगा ॥
सुर प्रतिमा खंभन गढ़ि काढ़ीं । मंगल द्रव्य लिए सब ठाढ़ीं ॥
चौकें भांति अनेक पुराईं । सिंधुर मनिमय सहज सुहाई ॥

सौरभ पल्लव सुभग सुठि किए नीलमनि कोरि ।
हेम बौर मरकत घवरि लसत पाटमय डोरि ॥ २८८ ॥

रचे रुचिर बर बंदनिवारे । मनहुँ मनोभवं फंद सँवारे ॥
पं० १९१ । पद २८६–२८८ । मानस बाल०

प्रतिमा विधान : मर्यादावादी तुलसी

२५. तुलसी के वाङ्मय मे विविध रीति से राम के ध्यान मिलते हैं । इनसे इस काल के प्रतिमाविधान पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है । उदाहरण के लिये मिथिला नगर देखने के लिये निकले हुए लक्ष्मण और राम का निम्नोक्त वर्णन—

पीत बसन परिकर कटि भाथा । चारु चाप सर सोहत हाथा ॥
तनु अनुहरत सुचंदन खोरी । स्यामल गौर मनोहर जोरी ॥
दो० २१९ । मानस बाल०

ब्रिटिश म्यूजियम मे 'रामसीय भाँति'[1] की सुवर्ण मुद्रा पर अंकित राम से तुलनीय है । तुलसी ने राम को पीत बसन [धौत वास = धोती] पहने हुए, कटिबंध एवं तूणीर धारण किये हुए, एक हाथ से शर दूसरे से चाप सम्हाले हुए वर्णित किया है । सिक्के पर भी बिल्कुल इसी रूप मे राम का अंकन हुआ है ।

---

१. कैटेलाग आफ इंडियन क्वायन्स इन दि ब्रिटिश म्यूजियम, चित्र ५, संख्या १०२ भारत कला भवन, काशी में सुरक्षित 'राम सीय' भांति की राजत मुद्रा के लिए द्रष्टव्य पृ० ३८६, चित्र सं० ३ ।

३६. तुलसी ने विनय पत्रिका के तीन पदों मे विंदुमाधव की स्तुतियाँ की हैं। यह वर्णन प्रतिमाविधान की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है। तीनों पदो की प्रासंगिक पंक्तियाँ ये है—

१. चारि भुज चक्र कौमोदकी जलज दर सरसिजोपरि जथा राजहंसं ॥
× × × ×
सकल सौभाग्य संजुक्त त्रैलोक्य श्री दच्छि दिसि रुचिर बारीस कन्या ।
पद ६१ । विनय

२. भुजगभोग भुजदंड कंज दर चक्र गदा बनि आई ।
× × × ×
दच्छ भाग अनुराग सहित इंदिरा अधिक ललिताई ।
हेम लता जनु तरु तमाल ढिग नील निचोल उढाई ॥
पद ३२ । वही

३. गदा कंज दर चारु चक्रधर नाग सुंड सम भुजचारी ॥
× × × ×
रूप सील गुन खानि दच्छ दिसि सिंधु सुता रत पद सेवा ।
पद ६३ । वही

विंदुमाधव का मदिर काशी के पाँच विशिष्ट[1] तीर्थों मे से एक है। इसका उल्लेख मत्स्य, पद्म और नृसिंह पुराणों[2] मे है तथा काशी खड[3] मे इसके संबंध में अनेक कथाएँ वर्णित हैं। तुलसीदास के समय मे निश्चय ही यह एक विशिष्ट तीर्थ रहा होगा। कालातर मे इस मदिर को यवनो ने तोड डाला।

३७. अनुश्रुति के अनुसार उसी समय श्री विंदुमाधव जी की मूर्ति स्थानांतरित या गगा जी मे प्रवाहित कर दी गई थी। इन पंक्तियों के लेखक को आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र से परिज्ञात हुआ कि स्व० लाला भगवानदीन जी इन्हीं स्थानातरित एव तुलसीदास जी द्वारा वर्णित विंदुमाधव की मूर्ति के प्रसग मे कहते थे कि यह मूर्ति अभी भी काशी के एक गुजराती वैश्य के यहाँ पूजित अवस्था मे सुरक्षित है। पता लगाते लगाते बाबू बालकृष्णदास जी[4] के यहाँ इसकी उपलब्धि हुई। यह मूर्ति

---

१. तीर्थानां पञ्चकं सारं विश्वेशानन्दकानने ।
दशाश्वमेधं लोलार्कः केशवो बिन्दुमाधवः ॥
पञ्चमी तु महाश्रेष्ठा प्रोच्यते मणिकर्णिका ॥ मत्स्य १८५।६८-६९

२. पद्मपुराण । खंड ६ अध्याय १२१। श्लोक ४८
नृसिंहपुराण । खंड २ अध्याय २६ श्लोक ६१

३. काशी खंड उत्तरार्द्ध । अध्याय ६१

४. मकान नंबर ३।११८, भाट की गली, काशी ।

चित्र संख्या—४



पृष्ठ ३८९, अनुच्छेद २७

राजावर्त [बेसाल्ट] से निर्मित लगभग तीन फुट ऊँची है। पूजित अवस्था मे होने के कारण वाह्य वस्त्रयुक्त मूर्ति का चित्र ही लिया जा सका और वह सर्वप्रथम यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। इसका वर्णन यह है—

विष्णुमूर्ति—समपाद स्थानक, चतुर्भुज–अधो दक्ष कर मे पद्माकित वरद मुद्रा, ऊर्ध्व दक्ष कर मे कौमोदकी गदा, ऊर्ध्व वाम मे सुदर्शन चक्र और अधो वाम में पांचजन्य शंख : करड मुकुट, गजमणियों, मणियो का कठहार, कंकण, नूपुर, कौस्तुभ मणि से अलंकृत : दक्षिण मे शंख पुरुष, वाम मे चक्र पुरुष : चक्र पुरुष के बाएँ त्रिभंग मुद्रा मे बाएँ हाथ से सर्प और दाएँ से कटिबंध पकड़े हुए पुरुषाकृति : शंख पुरुष के दाहिने, दोनो हाथो मे कमल लिए हुए देवी : देवी के दक्षिण मे बद्धपद्मासन समाधि मुद्रा मे मुडित शिरस्क, जो संभवतः अग्निविंदु हैं।

ऊपर दक्षिण पार्श्व मे ब्रह्मा—अर्धपर्यक मुद्रा मे हंस पर आसीन, बायाँ पैर ऊपर रखा हुआ और दायाँ नीचे झूलता हुआ।

ऊपर वाम पार्श्व मे शिव—नदी के ऊपर अर्धपर्यक मुद्रा मे आसीन चतुर्भुज वरद मुद्रा, सर्प और घट से युक्त।

ऊपर मध्य मे योग स्वामी मूर्ति—बद्धपद्मासन अधोवाम और अधोदक्ष समाधि मुद्रा मे तथा ऊर्ध्व दोनो हाथ कमल धारण किये हुए।

यह मूर्ति विनय पत्रिका के उपर्युक्त पदों से एकदम मिलती जुलती है—

१. आयुध का क्रम एक सा है—चक्र, कौमोदकी, जलज, दर [पद ६१], गदा, कज, दर, चारु चक्रधर [पद ६३], कंज, दर, चक्र, गदा [पद ६२] वामोर्ध्व-कर-क्रम एवं वामावर्तक प्रदक्षिणाविधि से वर्णित है और मूर्तिगत आयुधों के क्रम मे है।

२. अलंकरण की दृष्टि से वर्णन तथा मूर्ति में साम्य—

जात रूप मनि जटित मनोहर नूपुर जन सुखदाई
... ...
कंकन चारु विविध भूषन विधि रचि निजु कर मन लाई।
गज-मनि-माल बीच भ्राजत कहि जात न पाद निकाई॥

पद ६२।

३. मूर्ति तथा तीनों पदों में इंदिरा दक्षिण भाग में वर्तमान हैं। इस मूर्ति की सबसे बड़ी विशेषता है कि देवी [इदिरा] विष्णु के दक्षिण भाग में अवस्थित हैं। अद्यावधि उपलब्ध विष्णु की सारी मूर्तियों मे या तो दो देवियाँ—

श्री और पुष्टि अथवा लक्ष्मी तथा सरस्वती या श्री एवं भूमि दोनो ओर स्थित होती हैं अथवा एक देवी होने पर वह अनिवार्य रूप से वाम भाग मे ही चित्रित होती हैं। कुषाण काल से आज तक एक भी विष्णु की ऐसी मूर्ति ज्ञात नहीं है जिसमे देवी की स्थिति विष्णु के दक्षिण भाग मे हो। विष्णु की ही नहीं वरन् 'कल्याण सुंदर' रूप को छोड़कर किसी भी भारतीय देवता की मूर्ति नहीं मिलती जिसमे वे देवी के वाम पार्श्व मे अंकित हों। यह शिष्टाचार देवताओ, राजाओं और सामान्य दपति के अंकनों मे समान रूप से प्राप्त होता है। इस प्रसग मे आदि पर्वोक्त महाराज प्रतीक का आख्यान स्मरणीय है जिसमे गंगा मनोहर स्त्री का रूप धारण कर प्रतीक के दक्षिण अंक मे बैठ गई थीं। इसीलिये प्रतीक ने गंगा को पत्नी रूप से स्वीकार करने का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया था।

किंतु 'कल्याण सुंदर' मूर्ति के अंतर्गत शिव और कार्तिकेय क्रमशः पार्वती और देवसेना के वाम भाग मे अंकित होते है। यह रूप शिव तथा कुमार के विवाह का दृश्य प्रस्तुत करता है, जिसमे परिणय के पूर्व वधू के दक्षिण, वर बैठता है।

यद्यपि ध्रुवाचार्यों मे विष्णु और श्री का कल्याण सुदर रूप प्राचीन आगमों मे वर्णित नहीं है किंतु उनमे विष्णु और श्री के वैवाहिक उत्सव के कृत्य विस्तार से दिये गए हैं[1]। सभव है कि बिंदुमाधव की मूर्ति उसी उत्सव को चित्रित करती हो। वैसे तो स्कंद को कल्याण सुदर मूर्ति का भी आगमों में वर्णन नहीं है लेकिन दक्षिण मे तिरुपरांकुरम् मदिर मे चौदहवीं पद्रहवीं शताब्दी की देवसेना कार्तिकेय की कल्याण सुंदर मूर्ति मिलती है। यहाँ यह स्मरणीय है कि बिंदुमाधव मूर्ति मे अन्य वैवाहिक विधानों का कोई भी सकेतक उपकरण नहीं है।

इस मूर्ति के सबंध मे दूसरी विशेष बात यह है कि इंदिरा के दक्षिण भाग मे तपस्या करते हुए एक ऋषि अंकित हैं। विष्णुमूर्तियों मे भृगु का अंकन होता है। परंतु ये भृगु इसी ऋषि की मूर्ति के पास ही अपना योगपट्ट पकड़े खड़े है। काशी खंड के अनुसार अग्निबिंदु को भगवान् विष्णु का वरदान मिला कि प्रथमतः तुम्हारा नाम मेरे नाम से सयुक्त होकर इस मूर्ति का अभिधायक होगा और तुम्हारी स्थिति लक्ष्मी के साथ ही मेरे समीप होगी। अतः कदाचित् लक्ष्मी के पार्श्व मे स्थित मुंडित शिरस्क तपस्वी अग्निबिंदु हों।

इस प्रसग मे यह अवश्य स्मरणीय है कि विष्णु की चतुर्विंशति मूर्तियो की अनेक परपराएँ उपलब्ध होती हैं। इनमें से एक रूपमंडन के 'देवता मूर्ति-प्रकरण'

---

१. वैखानसागम। पृ० १०२

मे परिगृहीत हुई। इस परपरा के अनुसार माधव रूप मे विष्णु दक्षिण-अधःकर-क्रम से और दक्षिणावर्त प्रदक्षिणा की परिपाटी के अनुसार गदा, चक्र, शख तथा पद्म धारण करते है। काशी खड मे दक्षिण-ऊर्ध्व कर-क्रम से I यही व्यवस्था माधवमूर्ति के लिये स्वीकृत हुई है। इस मूर्ति के आयुधक्रम का आकार यो होगा—

```
२ चक्र————————→शख ३
 I ↑              II |
   |                 |
   |                 ↓
१ गदा←———————————पद्म ४
 IV              III
```

किंतु दूसरी परपरा विनोद बिहारी 'विद्याविनोद' के 'विष्णु मूर्ति-परिचय' में प्राप्त होती है। इसके अनुसार उपर्युक्त व्यवस्थायुक्त विष्णुमूर्ति को त्रिविक्रम रूप माना गया है।

विंदुमाधव की प्राप्त मूर्ति ऊपर की दोनों माधवमूर्ति की परंपराओं मे से किसी के साथ समन्वित नहीं होती। संभव है कि माधवमूर्ति की कोई तीसरी लुप्त परंपरा इसमे प्रतिफलित हो अथवा विष्णु की चौबीस मूर्तियो से भिन्न किंसी विंदुमाधव मूर्ति की कल्पना इसमे साकार हुई हो। यद्यपि विनयपत्रिका के प्रासगिक पदो का क्रमविपर्यास करके और आयुधक्रम का आरंभ किसी भी हाथ से मानकर अन्य विष्णु मूर्तियो के साथ भी संगति दिखाई पड़ सकती है किंतु उनके साथ वर्ण्यसामंजस्य नहीं मिल सकता। वर्णनगत सामजस्य केवल प्राप्त मूर्ति मे ही उपलब्ध होता है।

विंदुमाधव का सांस्कृतिक महत्व

३८. काशी खंड मे विष्णु अग्निविंदु से कहते है कि विंदुमाधव का पूजन विश्वेश्वर से द्रोह रखकर न करना चाहिए। उनके उपदेश के अनुसार शिव और विष्णु की युगपत् पूजा ही अभीष्ट और श्रेष्ठ है। वस्तुतः यह स्मार्त परंपरा है। इसलिये विंदुमाधव मूर्ति के संबंध से भी तुलसी के स्मार्त सिद्धातो की स्वीकृति ज्ञात होती है।

अष्टछापी भक्त : मूर्तिकला—

३९. वल्लभाचार्य जी के समय मे नवनीतप्रिय और श्रीनाथ जी के स्वरूपों की प्रतिष्ठा थी। नवनीतप्रिय श्रीकृष्ण के बालरूप हैं। वैखानस आगम के अनुसार

नवनीतनट को देवकीसुत बालकृष्ण के रूप से अंकित करना चाहिए[1]। श्रीनाथ का रूप गोवर्धनधर का है। ये पहले 'देव दमन' के रूप मे ख्यात थे। इन स्वरूपो का चित्रण अष्टछापी कवियों ने अनेक ढंगो से किया है। उदाहरणार्थ कृष्णदास अधिकारी कहते है—

> मो मन गिरिधर-छबि पर अटक्यौ।
> ललित त्रिभंगी अंगन पर चलि, गयौ तहाँई ठटक्यौ॥
> सजल स्याम घन चरन नील ह्वै, फिरि चित अनत न भटक्यौ।
> कृष्णदास कियौ प्रान-न्यौछावर, ये तन जग सिर पटक्यौ॥

गिरिधर रूप का वर्णन अन्य अष्टछापी भक्तो ने भी बडी तत्परता के साथ किया है। इस प्रकार वल्लभाचार्य जी द्वारा स्थापित दोनो स्वरूप श्री कृष्ण के बालरूप से संबद्ध हैं। विट्ठलनाथ ने इनके अतिरिक्त सात स्वरूपों की और प्रतिष्ठा की—मथुरेश, विट्ठलनाथ, द्वारकाधीश, गोकुलनाथ, गोकुलचद्रमा, बालकृष्ण और मदन मोहन। नामों से ज्ञात नहीं होता कि ये स्वरूप आगमोक्त प्राचीन विग्रहों के हैं।

रसवादी भक्त : मूर्तिकला

४०. इस संप्रदाय मे श्री राधा ही परम उपास्या है। स्वयं श्रीकृष्ण उनकी आराधना मे नित्य संलग्न रहते है। उपास्या राधा के भक्त होने के नाते ही वे राधा भक्तों के भी प्रिय—'स्वेष्टजनप्रिय' कहे जाते है। इस सप्रदाय की दो परंपराएँ प्रतीत होती है। पहली परंपरा वृंदावन की है जहाँ राधा अनिर्वचनीया होने के कारण मूर्ति रूप मे पूजित नहीं होती, परंतु गद्दी पर स्थापित राधा नामांकित स्वर्णपत्र पूजित होता है। इसी को संप्रदाय मे 'गद्दीसेवा' कहा जाता है। किंतु कृष्ण के विग्रह की उपासना होती है। दूसरी परपरा हरिराम व्यास की है। अनुश्रुति है कि हरिराम व्यास को एक स्वप्न हुआ और उन्होंने वृंदावन मे किशोर कूप से युगल किशोर की मूर्ति निकाली। इस मूर्ति मे राधा और कृष्ण दोनों अंकित है। यह मूर्ति पन्ना के 'युगल किशोर' मंदिर मे प्रतिष्ठित है। एकांत भक्त होने के कारण ये अन्य किसी विग्रह की आराधना नहीं करते।

निष्कर्ष

४१. आलोच्य युग के प्रारंभ मे राणा कुंभा ने संगीत के समान ही मूर्तिकला [illegible] गति दी। [illegible] नवप्रचार मे वृंदावन का विशेष योग था।

1. [illegible]सागर, पृ० २०४

मर्यादावादी परंपरा ने भी इस धारा को शक्ति दी। इस विकास पर आक्रामक बुतशिकन मुसलमानों ने कठोर प्रहार किया। कुछ मुसलमान शासक अवश्यमेव इस सगुण वैष्णव मूर्तिकला से प्रभावित हुए थे। अकबर की 'राम सीय भाँति' की मुद्राएँ इसका प्रमाण है। वैष्णव मूर्तिकला मे साधारणतः—

१. स्मार्तों की विष्णु के साथ शिव और ब्रह्मा की प्रतिमाओ का एक साथ विधान,

२. सीताराम की मूर्तियो का अंकन,

३. नवनीत नट और गोवर्धनधर के बालकृष्ण रूपो का निर्माण, और

४. राधावल्लभ एवं जुगुल किशोर की रचना को लेकर चलनेवाली, चार प्रवृत्तियाँ है। मर्यादावादी तुलसीदास मे आरंभिक दो, शास्त्रवादी भक्तो मे अंतिम दो एवं रसवादी भक्तो मे केवल अंतिम प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

वास्तुकला

४२. याज्ञिक-क्रिया-कलाप के समाप्त हो जाने से पूर्व मध्यकाल मे वास्तुपरक पूर्त क्रियाओ का विशेष प्रचार हुआ। मदिरनिर्माण, मूर्तिप्रतिष्ठा, जलाशयो के उत्खनन, मठो और विहारो की रचनाएँ विशेष रूप से लोकप्रिय हुई। उत्तरापथ मे मंदिरो की नागरशैली का जन्म हुआ जिसमे कालिंग, जैजाक भुक्ति तथा राजस्थान की तीन उपशैलियाँ प्रवर्तित हुई।

४३. उत्तर मध्यकाल के पूर्व ही मुसलमानों ने मदिरों का विध्वस आरंभ कर दिया था। सगीत और मूर्तिकला की भाँति राणा कुंभा ने वास्तुकला को भी प्रोत्साहन दिया। इनके बनवाए हुए अनेक प्रासाद है। इनके पश्चात् ओड़छा के वीरसिंह देव जू ने अनेक देवमंदिर, जलाशय और प्रासादों का निर्माण कराया। मथुरा मे केशव देव का मदिर बनवाने मे उन्होने तैंतीस लाख रुपयो का व्यय किया। वृंदावन मे इस काल के पाँच मंदिर—गोविंद देवी, राधावल्लभ, गोपीनाथ, जुगुल किशोर और मदन मोहन—अभी भी वर्तमान हैं। गोविंद देवी सन् १५६० में निर्मित हुआ था। बाह्यरूप से इनका निर्माण नागरशैली मे हुआ है किंतु इनमें अनेक विदेशी तत्वो का योग है। प्रथमतः इसमे चतुर्दिक मूर्तियों का अकन नहीं है। द्वितीय, इनके मडप के ऊपर नागरशैली का शिखर न होकर गुंबद बनाये गये हैं। तृतीय इन मदिरो मे तोरण के स्थान पर मस्जिदों के समान प्रवेशद्वार है जिनसे ये जुम्मा मस्जिद के आकार प्रकार के लगने लगते है। सारांश यह है कि वृंदावन की

वैष्णव वास्तुकला मे भारतीय नागरशैली के साथ इस्लामी वास्तुपद्धति का समन्वय हुआ है।

अन्य कलाएँ—

४४. मदिरो की सजावट मे और विग्रह के अलकरण मे भी भक्तों ने पुष्पों से सजाने की प्राचीन कला का सविशेष विकास किया है। अष्टछापी कवियों ने फूल मंडनी के अवसर पर पुष्पाभरणों का उल्लेख किया है। छीत स्वामी का वर्णन है—

फूलनि के भवन गिरिधर नवल नागरी
फूलसिंगार करि अति ही राजै।
फूल की पाग सिर स्याम के राजही
फूल की माल हिय मे बिराजै॥
फूल सारी, कंचुकी बनी फूल की
फूल लहँगा निरखि काम लाजै।
'छीत स्वामी' फूल सदन प्यारी सदा,
बिलसि मिलवत अंग काम दाजै॥

पद ६०। छीत स्वामी।

४५. इसी प्रकार रसवादी भक्त भी श्री विग्रह का पुष्पविन्यास बड़े कौशल से करते हैं। रासलीला के माध्यम से इन भक्तों ने अभिनय की कला को विशेष योगदान दिया। इन्हीं लोगो के प्रयत्नो से पारंपरिक और लोकरासक, हल्लीसक आदि नृत्यों की परंपरा जीवित रही। इस तरह देवालय ने काव्य, संगीत, चित्र, मूर्ति, अभिनय, नृत्य और पुष्परचना आदि, साहित्य एवं कलाओं को नवीन गति तथा धार्मिक आभा दी।

नवम अध्याय

उपसंहार

९

उपसंहार

१. भक्ति आंदोलन हिंदू संस्कृति की एक अभूतपूर्व और अप्रतिम महत्वशाली घटना है। इसने सर्वप्रथम वैदिक युग से चले आनेवाले रूढ़िगत प्रतिमानों को हटा कर आगमिक मूल्यों की स्थापना की। प्राचीन काल मे भी वैदिक समाज दर्शन का बौद्ध, जैन, नास्तिक तथा उनके समान अन्य स्वतन्त्रचेता दार्शनिक मतों ने खंडन ही नहीं, पूरी शक्ति के साथ विरोध भी किया, किंतु घातप्रतिघातों की सरणि मे वैदिक परंपरा कुछ मोड़ो के साथ निरंतर चलती चली आई। चौदहवीं शताब्दी मे भारतवर्ष के अनेक धार्मिक संप्रदायो का तीर्थसलिल भक्ति के भरतकूप मे संकलित हुआ। इस काल मे सामाजिक मूल्यो की प्रतिष्ठा वैदिक मानदंडो पर न होकर भक्ति के आधार पर हुई। इस भक्ति ने ही सामाजिक संबंधों एव व्यवस्थाओं को स्थिर किया। इसी ने सपूर्ण सामाजिक कृतियो को प्रेरणा दी और उनके प्रदर्शन एवं उच्चावच मूल्यों का निर्धारण किया। भरत के नाट्यशास्त्र से प्रवर्तित अनेक वैदिक एवं आगमिक दर्शन के उपकूलों से बहनेवाली काव्यरस की धारा ने भक्ति रस-तरगिणी का रूप धारण किया। महाकाव्य, लघुकाव्य, नाट्यगीति, मुक्तक पदों ने समवेत स्वर से भक्ति के लीलागान गाए। सगीत ने शास्त्रवादी तथा रसवादी भक्तो मे विशेष आश्रय प्राप्त किया। अभिनय ने रासलीला मंडलियों का आयोजन किया। अपभ्रंश शैली ने यदि पूर्व मध्यकाल के अत मे, पश्चिम मे बौद्ध और पूर्व मे जैन चित्र अकित किये तो राजस्थानी शैली ने वैष्णव लीलाएँ चित्रित की और कालांतर मे पहाड़ी शैली का तो यही प्रमुख विषय रह गया था। साराश मे सारी सामाजिक कृतियाँ देवालयीय भक्ति की कलाकुशल देवदासियाँ थीं।

२. सगुण भक्ति के तीन रूप है—मर्यादावादी, शास्त्रवादी एवं रसवादी। यदि मर्यादावाद मे श्रौत-स्मार्त-परपरा की कर्मपरक पवित्रतावादी गति है तो रसवाद

मे संपूर्ण मर्यादा की तिरस्करिणी रसपिच्छिल दृष्टि। शास्त्रवादी भक्ति मे आगमिक तत्व अधिक से अधिक संजोये गये है।

३. सामाजिक व्यवस्था में यदि मर्यादावाद भक्ति के आभोग मे स्मार्त परंपरा को ग्रहण करता है, वर्णाश्रम मर्यादा, ब्राह्मण प्रतिष्ठा, सामाजिक संबंध और कौटुंबिक व्यवस्था का सचयन करता है, और यदि शास्त्रवाद इन सबकी अपेक्षा न कर हठात् अवहेलना नहीं करता है तो रसवाद इस पूरी परपरा को भक्तिभावना का बाधक मान अवश्यमेव तिरस्करणीय और दूर से परिहार्य मानता है।

४. साहित्य शास्त्र के क्षेत्र मे यदि मर्यादावाद ने भक्तिरस के परिवेश मे पारंपरिक नवरसो का सन्निवेश किया तो शास्त्रवाद ने केवल भक्ति के प्रमुख पंच रसो की अवतारणा की और रसवाद ने केवल माधुर्य को ही अपनाया।

५. मर्यादावाद ने अपनी सग्रही वृत्ति से काव्य के सारस्वरूप ग्रहण किये—महाकाव्य लिखा, विनय के पद गाये, जानकी मंगल और पार्वती मगल के लघुकाव्यों की रचना की और रामलला नहछू तथा 'गालियाँ' गाईं तो भावतरल शास्त्रवाद ने प्रधानतया गीति तत्वयुक्त मुक्तकों में लीलागान और प्रेमपिच्छिल रसवाद ने मुख्यतया रासों मे लीला नाट्यो की अभिव्यजना की।

६. इस काल मे यदि पौराणिक आख्यान वर्णनात्मक विद्धशैली मे चित्रित होते थे तो कृष्ण भक्ति के चित्र वैणिकशैली मे देखने मात्र से रस बोध कराने मे समर्थ थे।

७. सारांश मे भक्ति की तीन धाराओ ने सामाजिक कृतियों मे त्रिविध उपशैलियों का प्रवर्त्तन किया।

८. विद्वानों का मत है कि वैदिक युग और आधुनिक युग मे अनेक प्रकार की समानताएँ है—दोनों ही बौद्धिक, कर्मपरक और अपेक्षाकृत लौकिक हैं। वैदिक युग का कर्म, याज्ञिक क्रियाकलापो मे व्यक्त होता था और अदृष्ट की रचना कर फलप्राप्ति मे स्वतः समर्थ था तो आधुनिक युग मे कर्म अपने लौकिक धरातल पर गतियाँ उत्पन्न कर कार्यकारण संबध से स्वतः फल प्रापक है। दोनों मे ही सुखोपलब्धि रूपी फल कर्म जन्य है, ईश्वर की दया नहीं। विचारकों का यह भी कथन है कि दोनों युगों की आकांक्षाएँ प्रधानतया लौकिक हैं। अंतिम एवं महत्तम साम्य है—समाजप्रमुख पवित्रतावादी दृष्टि। श्रौत स्मार्त धारा के अनेक तत्व विविध परंपराओं से रंजित से होते हुए मर्यादावादी भक्ति मे प्रतिफलित हुए। उसकी सामाजिक मर्यादा और कर्मपरक दृष्टि आज के युग मे विशेष आदृत हुई क्योंकि आधुनिक युग की बौद्धिकता, लौकिक

मानवता और सामाजिकता की नींव पर आधृत है। मर्यादावाद का वर्णाश्रम संरक्षण इस दृष्टि से लोकमंगल के नाम से गृहीत हुआ। किंतु मध्य युग की विशेषताएँ—भावप्रवणता, कर्म और समाज के प्रति उपेक्षा दृष्टि, अलौकिकता का आकर्षण तथा ईश्वर के प्रति संपूर्ण रीति से आत्मसमर्पण आज के आलोचक को अभिनंदनीय नहीं है, क्योंकि इस युग का प्रारंभ ही मध्ययुगीन प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया से हुआ। किंतु मध्ययुग के काव्य का समानुभूतिपूर्ण और यथार्थ आकलन करने के लिये उस युग के सैद्धांतिक एवं सामाजिक परिपार्श्व की सतत आवश्यकता रहेगी। यह मानना ही पड़ेगा कि भावविह्वलता, समाज और कर्म की उपेक्षा तथा ईश्वरोन्मुखता मध्ययुग के ऐसे विधायक तत्व हैं जिन्होने न केवल काव्य अपितु दर्शन, समाज, साहित्यशास्त्र, सगीत, चित्र आदि को भी आमूलचूल अनुरंजित किया है। मर्यादावाद उस काल की परंपरा का प्रमुख नहीं, प्रत्युत प्रवाह से हटा हुआ रूप था। शास्त्रवादी भक्ति उस काल की प्रवाहमान परंपरा थी। सूर के स्वर में वह लालित्य है जो खजुराहों के मंदिरों मे, भावतरल ध्रुवागीति से प्रभावित ध्रुपद पद्धति के संगीत मे और राजस्थानी भावप्रवण कृष्णलीला के चित्रो मे मिलता है। इसमे समाज क्रमशः संकुचित होता हुआ क्षीण हो गया है—चित्राधार उतना ही छोटा है जितना 'मिनिएचर' चित्रो मे होता है। परंतु इसकी गहराई तलस्पर्शी है।

९. सामाजिकता और लौकिकता के इस युग मे रसवाद की 'सिद्ध देह' और सखीभाव से उपासना साधारणतः बोधगम्य नहीं है। यह धारा प्राचीन काल से चली आनेवाली परंपरा का प्रस्फुटन है जिसमे समाज, लोक, व्यक्ति के सर्वथा परित्याग के साथ ऐकांतिक रीति से परम तत्व और केवल परम तत्त्व की भावपद्धति से सरस उपासना होती है। इसका चित्राधार और भी अधिक संक्षिप्त है। इसमे तो इष्ट के मधुर रूप के अतिरिक्त उनके अन्य पार्श्वों की भी कल्पना नहीं की जाती। इसमे पुष्करिणी की विशालता भले ही न मिले पर सरस कूप की गंभीरता अवश्य देखी जाती है।

संक्षिप्त ग्रंथसूची

हिंदी

१. अर्द्धकथा : लेखक—बनारसीदासजैन, सपादक—माताप्रसाद गुप्त, प्रकाशन—प्रयाग विश्वविद्यालय हिंदी परिषद्, प्रयाग, सन् १९४३ ई० संस्करण १ ।

२. अष्टछाप : संपादक धीरेंद्र वर्मा, इलाहाबाद, सन् १९५०, संस्करण ४ ।

३. अष्टछाप और वल्लभसप्रदाय : ले० दीनदयालु गुप्त, हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग, सं० २००४, संस्करण १ ।

४. अष्टछाप परिचय : ले० प्रभुदयाल मीत्तल, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, पौष सं० २००६ विक्रमीय, द्वितीय संस्करण ।

५. कबीर : ले० पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी,प्रका० हिंदी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बंबई, सन् मार्च १९४२, प्रथम सस्करण ।

६. कबीर ग्रंथावली : ले० सं० श्यामसुदर दास, प्रकाशक इडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, सन् १९२८ ।

७. कवितावली (तुलसीदास कृत) : ले० लाला भगवानदीन और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रकाशक रामनारायण लाल, इलाहाबाद, सं० २००६, चतुर्थ संस्करण ।

८. काव्य और कला तथा अन्य निबंध : ले० श्री जयशंकर प्रसाद, प्रका० भारती भडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, सं० २००१, द्वितीय संस्करण ।

९. कृष्णकाव्य की रूपरेखा : ले० उपाध्याय वेदमित्र, 'व्रती', प्रकाशक ओरिएंटल बुकडिपो, देहली, सन् १९४८ ई०, द्वितीय संस्करण ।

१०. कुंभनदास : संपा० गो० श्री व्रजभूषण शर्मा, पो० कंठमणि शास्त्री, क० श्री गोकुलानंद शर्मा, प्रकाशक विद्या विभाग (अष्टछाप स्मारक समिति), काकरोली, सं० २०१०, प्रथम संस्करण ।

११. गीता रहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र : ले० लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, प्रका० श्रीयुत रामचद्र और श्रीधर बलवंत तिलक, पूना, सन् १९२६, मुद्रण प्रथम संस्करण ।

१२. गीति काव्य : ले० राम खेलावन पाडेय, प्रकाशक ज्ञानमंडल पुस्तक भडार, काशी, सं० २००४।
१३. गुलेरी ग्रथ अर्थात् पंडित चद्रधर शर्मा गुलेरी की समस्त हिंदी कृतियों का संग्रह और उनका चरित, पहला खंड, सूर्यकुमारी पुस्तकमाला १८, प्रकाशक काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २००० वि०, प्रथम सस्करण।
१४. गोस्वामी तुलसीदास : ले० रामचद्र शुक्ल, प्रका० नागरीप्रचारिणी सभा, सन् १६४०।
१५. गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय साधना : ले० राजेंद्र सिंह, प्रका० काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
१६. चिंतामणि : ले० रामचद्र शुक्ल, प्रका० इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग सन् १६४६।
१७. छीत स्वामी। संपा० गो० श्री व्रजभूषण शर्मा, पो० श्री कंठमणि शास्त्री क० श्री गोकुलानंद शर्मा, प्रका० विद्या विभाग (अष्टछाप स्मारक समिति) काकरोली, सं० २०१२, प्रथम संस्करण।
१८. तसव्वुफ अथवा सूफीमत : ले० श्री चद्रबली पाडे, प्रका० सरस्वती मंदिर, बनारस, सन् १६४५।
१६. तुलसी ग्रथावली (तीसरा खंड) : संपादक रामचंद्र शुक्ल, भगवानदीन, व्रजरत्नदास, प्रका० काशी नागरी प्रचारिणी सभा, स० १६८०, संस्करण प्रथम।
२०. तुलसी दर्शन : ले० डा० बलदेव प्रसाद मिश्र, प्रका० हिंदी साहित्य समेलन, प्रयाग, स० २००३, संस्करण चतुर्थ।
२१. तुलसीदास : ले० पंडित चंद्रबली पाडे, प्रका० शक्ति कार्यालय, प्रयाग, स० २००५।
२२. तुलसीदास और उनका युग : ले० डा० राजपति दीक्षित, प्रकाशक ज्ञानमंडल लिमिटेड, बनारस, सं० २००६, प्रथम संस्करण।
२३. तुलसीदास और उनके ग्रथ : ले० भगीरथ प्रसाद दीक्षित, प्रका० अशोक प्रकाशन, लखनऊ, सन् ११५५, प्रथम संस्करण।
२४. तुलसी रत्नावली : ले० स० व्रजरत्नबली, प्रका० श्री सीताराम प्रेस, बनारस, स० १६६६, प्रथम संस्करण।

२५. दोहावली (तुलसीदास कृत) : अनु० हनुमान प्रसाद पोद्दार, प्रका० घनश्यामदास जालान, गोरखपुर, सं० २०००, तृतीय संस्करण ।

२६. नददास ग्रंथावली : सपा० ब्रजरत्नदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी सं० २००६, संस्करण १ ।

२७. नाथ सप्रदाय : ले० पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रका० हिंदुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, सन् १९५० ।

२८. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद : ले० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक हिंदी ग्रथरत्नाकर कार्यालय, बंबई, सन् १९५२ ।

२९. बौद्ध दर्शन : ले० पं० बलदेव उपाध्याय, प्रका० शारदा मदिर, बनारस, सन् १९४६, संस्करण, १ ।

३०. भक्तकवि व्यास : ले० सं० वासुदेव गोस्वामी, मथुरा, सं० २००९ ।

३१. भागवत संप्रदाय : ले० बलदेव उपाध्याय, प्रका० नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, स० २०१० ।

३२. भारत का सांस्कृतिक विकास : ले० शिवशकर मिश्र, प्रका० लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, स० २०१०, प्रथम सस्करण ।

३३. भारत की चित्रकला : ले० श्री रायकृष्णदास, प्रका० भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग स० २००७ वि०, सस्करण २ ।

३४. भारतीय दर्शन : ले० बलदेव उपाध्याय, प्रका० शारदामदिर, गणेश दीक्षित लेन, बनारस, सन् १९४५, द्वितीय संस्करण ।

३५. भारतीय साहित्य शास्त्र, खंड २ और १ : ले० बलदेव उपाध्याय, प्रका० प्रसाद परिषद, काशी, सं० २००५, २००७, प्रथम संस्करण ।

३६. भ्रमरगीतसार : संपा० आचार्य रामचंद्र शुक्ल, प्रका० काव्य-ग्रंथ-रत्नमाला, सं० ८, सं० २००६, संस्करण ६ ।

३७. मध्यकालीन धर्मसाधना : ले० पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रका० साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, सन् १९५२, संस्करण १ ।

३८. मध्यकालीन शृंगारिक प्रवृत्तियाँ तथा नव निबंध : ले० परशुराम चतुर्वेदी, प्रका० लोक सेवक प्रकाशन, बनारस, सन् १९५५ ई०, प्रथम संस्करण ।

३९. मध्यकालीन हिंदी कवयित्रियाँ : ले० डा० सावित्री सिन्हा, प्रका० आत्माराम एण्ड सस, दिल्ली, सन् १९५३, प्रथम संस्करण ।

४०. मानस दर्शन : ले० डा० श्रीकृष्णलाल, एम० ए० डी० फिल०, वित० आनंद पुस्तक भवन, बनारस कैंट, फाल्गुन सं० २००६ वि० प्रथम संस्करण।

४१. मानस पीयूष : ले० श्री अजनीनदन शरण जी, अयोध्या, संवत, २०११, सस्करण २।

४२. मीराँ, एक अध्ययन : ले० पद्मावती 'शबनम', प्रका० लोक सेवक प्रकाशन, बनारस, स० २००७ वि०, प्रथम संस्करण।

४३. मीराँबाई : ले० डा० श्रीकृष्णलाल, प्रका० हिंदी साहित्य समेलन, प्रयाग, सं० २००७, द्वितीय सस्करण।

४४. मीराँबाई की पदावली : सपा० परशुराम चतुर्वेदी एम० ए० एल०-एल० बी०, प्रका० हिंदी साहित्य समेलन, प्रयाग, सं० २०११, संस्करण पंचम।

४५. मीराँ वृहत पद-सग्रह : ले० पद्मावती 'शबनम', प्रका० लोक सेवक प्रकाशन, बनारस, स० २००६, प्रथम सस्करण।

४६. राधावल्लभ संप्रदाय सिद्धात और साहित्य : ले० डा० विजयेंद्र स्नातक, प्रका० नेशनल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली, सं० २०१४ वि०।

४७. रामचरित मानस : सपा० नददुलारे वाजपेयी, प्रका० गीताप्रेस, गोरखपुर।

४८. रामभक्ति मे रसिक सप्रदाय : ले० डा० भगवती प्रसाद सिंह, प्रका० अवध-साहित्य मदिर, बलरामपुर, स० २०१४, प्रथम संस्करण।

४९. रामभक्ति साहित्य मे मधुर उपासना : ले० श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र, प्रका० बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना, सन् १९५७, प्रथम संस्करण।

५०. रामानद की हिंदी रचनाएँ : सपा० डा० पीतांबर दत्त बड़थ्वाल, प्रका० काशी नागरी प्रचारिणी सभा, स० २०१२ वि० प्रथम संस्करण।

५१. वाङ्मय विमर्श : ले० श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रका० हिंदी साहित्य कुटीर, बनारस, स० मार्गशीर्ष, १९९९, प्रथम सस्करण।

५२. विनय पत्रिका (हरितोषिणी सहित) : गो० तुलसीदास (वियोगी हरि), सं० १९८६, सस्करण २।

५३. वैष्णवधर्म : ले० परशुराम चतुर्वेदी, प्रका० विवेक प्रकाशन, इलाहाबाद, सन् १९५३, प्रथम सस्करण।

५४. सूर दर्शन : ले० डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित, प्रका० किताब महल प्रकाशन, सन् १९५३, प्रथम संस्करण।

५५. सूरदास : ले० आचार्य रामचद्र शुक्ल, प्रका० सरस्वती मंदिर, बनारस, तृतीय संस्करण ।

५६. सूरसागर (पहला खड) : सपा० श्री नंददुलारे वाजपेयी, प्रका० काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २००६ वि०, द्वितीय सस्करण ।

५७. सूरसागर (दूसरा खड) : संपा० श्री नददुलारे वाजपेयी, प्रका० काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २००७ वि०, प्रथम सस्करण ।

५८. सूर साहित्य : ले० पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रका० रा० ब० डा० सरजू प्रसाद ग्रथमाला, पुष्प ३, स० १६६३, सस्करण १

५६. सूर साहित्य : ले० श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी सपा० श्री कालिका प्रसाद दीक्षित, प्रका० श्री मध्यभारत,हिंदी-साहित्य-समिति, इदौर, सं० १६६३ ।

६०. श्रीभगवद्भक्तिरसायन : मधुसूदन सरस्वतीकृत, टी० स्वामी श्री विद्यानदजी महाराज, प्रका० पुरुषोत्तम ग्रंथमाला, स० २०११, प्रथम संस्करण ।

६१. हर्षचरित एक सास्कृतिक अध्ययन : ले० वासुदेव शरण अग्रवाल, प्रका० बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना, सन् १६५३ ई०, प्रथम सस्करण ।

६२. हिंदी नाटक : उद्भव और विकास, ले० डा० दशरथ ओझा, प्रका० राजपाल एण्ड सस, दिल्ली, सन् १६५४, संस्करण २ ।

६३. हिंदी-गीति-काव्य : ले० श्री ओमप्रकाश अग्रवाल, प्रका० साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, स० २००२, प्रथम संस्करण ।

६४. हिंदी प्रेमाख्यानक काव्य : ले० डा० कमल कुलश्रेष्ठ, प्रका० चौधरी मानसिंह प्रकाशन, अजमेर, सन् १६५३, प्रथम सस्करण ।

६५. हिंदी महाकाव्य का स्वरूप विकास : ले० डा० शंभुनाथ सिंह, प्रका० हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, सन् १६५६ ।

६६. हिंदी साहित्य (उसका उद्भव और विकास) : ले० डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रका० अतरचंद कपूर एण्ड संस, देहली, सन् १६५३ ।

६७. हिंदी साहित्य की भूमिका : ले० श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रका० हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय, बंबई, सन् १६४८ ई०, तृतीय संस्करण ।

६८. हिंदी साहित्य का इतिहास : ले० रामचंद्र शुक्ल, प्रका० काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २००२ ।

६६. हिंदी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि : ले० विश्वंभर नाथ उपाध्याय प्रका० साहित्यरत्न भंडार, आगरा।

संस्कृत

१. अत्रि संहिता—समूर्तार्चनाधिकरण : ले० महर्षि अत्रि, प्रका० वेंकटेश्वर प्राच्यग्रंथमाला, स० ६, सन् १९४३।

२. अभिनव भारती, जिल्द १ और २ (नाट्यशास्त्र की टीका) : ले० अभिनव गुप्ताचार्य, प्रका० गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, सं० ३६ तथा ६८, सन् १९२६ एवं १९३४।

३. उज्ज्वलनीलमणि, लोचनरोचिनी एवं आनंदचंद्रिकायुक्त : ले० श्री जीव गोस्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती, प्रका० काव्यमाला, सं० ९५, सन् १९३२।

४. काव्य प्रकाश (प्रदीपोद्योत टीकाएँ) ले० मम्मटाचार्य टीका० गोविंद ठक्कुर नागोजिभट्ट, प्रका० आनंदाश्रम संस्कृत ग्रंथावली, सं० ६६, सन् १९२९।

५. काव्य प्रकाश (वामनी टीका) : ले० मम्मटाचार्य (टीका० वामनाचार्य)।

६. जयाख्य संहिता : प्रका० गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, सं० ५४, सन् १९३१।

७. ध्वन्यालोक (लोचन टीका) : ले० आनंदवर्धनाचार्य, टीका० अभिनव गुप्त, प्रका० चौखंभा संस्कृत सीरीज सं० १३५, सं० १९९७।

८. नाट्यशास्त्र (मूलमात्र) : ले० भरत मुनि, प्रका० चौखंभा संस्कृत सीरीज, सन् १९२९।

९. [illegible] : प्रका० गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, स० ८६, सन् १९४०।

१०. [illegible] रक्षा : ले० श्री वेदांतदेशिक, प्रका० अड्यार लाइब्रेरी सीरीज, सं० ३६, सन् १९४२।

११. [illegible] चंद्रिका, भाग १ और २ (शांडिल्य सूत्रों पर टीका) : ले० [illegible] तीर्थ, प्रका० गवर्नमेंट संस्कृत लाइब्रेरी, बनारस, सन् १९२४ [illegible] १९३८।

१२. [illegible] ([illegible] टीका) : ले० वोपदेव, (टीका० हेमाद्रि) [illegible] ओरियंटल सीरीज, सं० ५, सन् १९४४।

१३. [illegible] : [illegible] महर्षि [illegible], प्रका० अनंत शयन संस्कृत ग्रंथावली, [illegible], [illegible] १९३५।

१४. वैष्णव-मताब्ज-भास्कर, रामार्चनपद्धतिसहित : अर्थप्रकाशिका और अन्वय प्रकाशयुक्त, ले० स्वामी रामानंदाचार्य, प्रका० 'सत्य' नामक यंत्रालय, काशी सं० १६८५ ।

१५. वैष्णवोपनिषद् : संपा० पं० ए० महादेव शास्त्री, प्रका० अड्यार लाइब्रेरी सीरीज सं० ८, सन् १६५३, संस्करण २ ।

१६. रसगंगाधर : ले० पडितराज जगन्नाथ, प्रका० काव्यमाला, सं० १२ सन् १६४७

१७. लिग धारण चद्रिका : नंदिकेश्वर, एम० आर० साखरे द्वारा आग्ल भाषातर विमर्शात्मक टिप्पणी सहित प्रकाशित, सन् १६४२ ।

१८. साहित्य दर्पण (विमला टीका) : ले० श्री विश्वनाथ महापात्र, टीका० श्री शालग्राम, प्रका० नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, सं० १६६१, संस्करण २ ।

१९. स्मृति संदर्भ, भाग १ से ५ : ले० मनु आदि महर्षि, प्रका० ५, क्लाइव रोड, कलकत्ता ।

२०. शाडिल्य सूत्र भाष्य : स्वप्नेश्वर सूरि रचित, कलकत्ता ।

२१. श्रीमद्भगवद्गीता (शांकर भाष्य हिंदी अनुवादसहित) : प्रका० गीताप्रेस, गोरखपुर, सस्करण सप्तम, सं० २००८ ।

२२. श्रीभगवद्भक्तिरसायनम् : ले० श्री उदासीन परिव्राजकाचार्य स्वामी विद्यानद, प्रका० पुरुषोत्तम ग्रथमालाया द्वितीयपुष्पम्, स० २०११, संस्करण प्रथम ।

२३. शुक्रनीतिसार (जीवानंद विद्यासागर भट्टाचार्य की टीका) : ले० शुक्राचार्य, प्रका० सरस्वती यंत्रालय, कलकत्ता, सं० १८८२ ।

२४. हरिभक्ति-रसामृत-सिंधु (दुर्गम संगमनी टीकायुक्त) : ले० श्री रूप गोस्वामी, (टीका० श्री जीव गोस्वामी) प्रका० अच्युतग्रंथमाला, सं० ६, सं० १६८८ ।

अंग्रेजी

१. अरली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेंट इन बंगाल : ले० एस० के० डे, प्रका० जनरल प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स, कलकत्ता ।

२. अरली हिस्ट्री आफ दि वैष्णव सेक्ट : ले० रायचौधरी, प्रका० कलकत्ता यूनीवर्सिटी कलकत्ता, सन् १६२० ।

३. एन आउटलाइन आफ दि रिलीजस लिटरेचर आफ इंडिया : ले० जे० एन० बनर्जी, आक्सफोर्ड, सन् १६२० ।

४. इंट्रोडक्शन टु दि पांचरात्र ऐंड दि अहिर्बुध्न्य संहिता : ले० ओ० श्रेडर, प्रका० अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, सन् १६३६ ।

५. इंडियन फिलासफी : ले० चंद्रधर शर्मा, प्रका० नंदकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बनारस, सन् १९५२ ।
६. इंडियन साधूज : ले० जी० एस० घुरिये, प्रका० दि पापुलर बुक डिपो, लमिंगटन रोड, बाम्बे ७, सन् १९५३ ।
७. एपीग्रेफिया इंडिका : जिल्द १. २. ४. ११. १२. १४. १६. २१. २५ ।
८. कश्मीर शैविज्म : ले० जगदीशचंद्र चटर्जी, भाग १, श्रीनगर, सन् १९१४ ।
९. थीइज्म इन मेडिवल इंडिया : ले० जे० पी० कारपेंटर, प्रका० आक्सफोर्ड ।
१०. दि आर्ट एण्ड आर्कीटेक्चर आफ इंडिया : ले० बेंजामिन राउलेण्ड, प्रका० पेन्गुइन बुक्स ।
११. दि डेवलपमेंट आफ हिंदू आइकोनोग्राफी : ले० जितेंद्रनाथ बनर्जी, प्रका० यूनीवर्सिटी आफ कलकत्ता, सन् १९४१ ।
१२. दि पोजीशन आफ वीमेन इन हिंदू सिविलाइजेशन : ले० डा० ए० एस० आल्तेकर, प्रका० दि कल्चर पब्लिकेशन हाउस, बनारस हिंदू यूनीवर्सिटी, सन् १९३८ ।
१३. दि वेनिंग ऑफ दि मिडिल एजेज : ले० जे० हुइजिंगा, प्रका० पेंगुइन बुक्स, सन् १९५५ ।
१४. दि सोशल फंक्शन ऑफ आर्ट : ले० राधाकमल मुकर्जी ।
१५. पोस्ट चैतन्य सहजिया कल्ट ऑफ बंगाल : ले० मनींद्र मोहन बोस, प्रका० कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सन् १९४० ।
१६. [illegible] आर्ट इन इंडिया : ले० ए० ग्रनवेडिल ।
१७. भक्ति कल्ट इन एंशेंट इंडिया : ले० भगवत् कुमार गोस्वामी, प्रका० कलकत्ता, सन् १९२२ ।
१८. [illegible] : दि [illegible] विउ ऑफ लाइफ : ले० हर्बर्ट० वी० गुंथर, प्रका० चौखंभा संस्कृत सीरीज, बनारस, सन् १९५२ ।
१९. [illegible], शैविज्म एंड अदर माइनर सेक्ट्स : ले० आर० जी० भंडारकर, प्रका० [illegible] रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, सन् १९२८ ।
२०. [illegible] आफ मेडिवल बंगाल : ले० डी० सी० सेन, कलकत्ता सन् [illegible] ।
२१. [illegible] : ले० दिनेशचंद्र [illegible], प्रका० यूनीवर्सिटी आफ कलकत्ता, सन् [illegible] ।

२२. सोर्सेज ऑफ हिंदू धर्म : ले० ए० एस० आल्तेकर, प्रका० इन्स्टीच्यूट ऑफ एडमिनिस्ट्रेशन, शोलापुर।
२३. स्टडीज इन दि पुराणिक रिकार्ड्स आन हिंदू राइट्स एंड कस्टम्स : ले० आर० सी० हाजरा, प्रका० दि यूनीवर्सिटी आफ ढाका, सन् १६४०।
२४. शंकरदेव : ए स्टडी : ले० हरमोहनदास।
२५. हिस्ट्री ऑफ इंडियन एंड इंडोनेसियन आर्ट : ले० ए० के० कुमारस्वामी, प्रका० लंदन एडवर्ड गोल्डस्टन, सन् १६२६।
२६. हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर : ले० एम० कृष्णमाचरियर, प्रका० मद्रास, १६३७।
२७. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र १–४ : ले० पी० वी० काणे, प्रका० भंडारकर रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना।
२८. हिस्ट्री ऑफ बंगाल : सं० आर० सी० मजूमदार, प्रका० दि यूनीवर्सिटी ऑफ ढाका, भाग १।
२९. हिस्ट्री एंड कल्चर ऑफ इंडियन पीपुल :
जिल्द १. दि वैदिक एज
जि० २. दि एज आफ इंपीरियल यूनिटी
जि० ३. दि क्लासिकल एज
जि० ४. दि एज ऑफ इंपीरियल कन्नौज
जि० ५. दि स्ट्रगिल फार इंपायर
सं० आर० सी० मजूमदार, प्रका० भारतीय विद्या भवन, बाम्बे।
३०. हिंदू आर्ट इन इट्स सोशल सेटिंग : ले० पी० एन० दुबाश।

अनुक्रमणिका

[कोष्ठक के भीतर अर्द्धविराम चिह्नों से व्यवहित प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय अंक संख्याएँ क्रमशः पृष्ठ, प्रघट्टक और प्रयोगों को सूचित करती हैं। दे० एवं पू० तथा टि० यथाक्रम 'देखिए', 'पूर्वानुवृत्त' और 'टिप्पणी' के संकेतक हैं। इस, अनुक्रमणी मे परिशिष्ट के शब्दो का संग्रह नहीं किया गया है।]

शुद्धिपत्र

[टिप्पणी के लिये 'टि०' एवं पंक्ति के लिये पं० का प्रयोग किया गया है]

पृष्ठसंख्या	अपपाठ	शुद्ध पाठ
पृ० ८ पं० ५	मे कर	मे न कर
,, १० पं० १६	गतिनाट्यपूर्ण	गीतिनाट्यपूर्ण
,, १३ पं० १६	टाइम्स	टाइप्स
,, १३ टि० १ पं० ४	ग्लंपत	ग्लपित
,, १३ टि० १ पं० ८	सद्रि	साद्र
,, १४ पं० ७	त्रिविध	द्विविध
,, १४ टि० १ पं० १	अत्रध्रुववरं	अत्र ध्रुववेरं
,, १४ टि० २ पं० १	प्रोक्त	प्रोक्तं
,, १४ टि० ४ पं० १	साध्वध्वस	साध्वस
,, १८ टि० १ पं० १	इस मुद्रा…गया है	पृ० सं० १३०, चित्र सं० १
,, २१ टि० २	प्रामाद्यय	प्रामाण्य
,, २१ टि० ४ पं० २	पृ०	पृ० ४६
,, २६ टि० २ पं० ४	पांचरात्राविधि प्रस्तूते	पाञ्चरात्रविधि प्रस्तूयते
,, ३० टि० ३ पं० २	मूर्तिरकैव	मूर्तिरेकैव
,, ३६ पं० ५	अतर्मुक्त	अंतर्भुक्त
,, ४२ टि० २	सीक्रेट	सेक्रेड
,, ४२ टि० ३	गाइर्ड	गाडर्ड
,, ४५ टि० ४ पं० ३	कुलाषीव	कुलार्णव
,, ४६ टि० ४ पं० २	मातृणामपि	मातृणामपि
,, ४६ टि० ४ पं० ३	शवत्यान्	शक्त्यान्
,, ४६ टि० ४ पं० ४	स्तैस्तस्य	तैस्तस्य
,, ४७ टि० ४ पं० १	रिलीजंस	रिलिजस सेक्ट
,, ४८ टि० १ पं० ५	उद्धत	उद्धृत
,, ५३ टि० १ पं० १	एरियाना	इंडियाना

पृ० ५५ टि० ४ प० ३	मुनिर्मौजायन	मुनिर्मौञ्जायन
,, ५६ पं० ८	भावगतों	भागवतों
,, ५६ पं० १५	पुनरोश्वरो	पुनरीश्वरो
,, ६० टि० ८	ईशानाशिवगुरुपद्धति	ईशानशिवगुरुपद्धति
,, ६२ टि० ४ प० १	सहस	सहसा
,, ६३ पं० ६	अन्यंत	अत्यंत
,, ६३ प० १५	६०	६६
,, ६४ प० ५	प्रथम मे	प्रथम श्लोक की टीका में
,, ६६ पं० १०	'इद्रमह' को	'इंद्रमह' के
,, ६६ टि० १ पं० १	१४१	१४।
,, ७४ टि० २ पं० १	वारिमिः	वारिभिः
,, ७६ टि० ३ पं० १	परमाउ	परमाउ
,, ७६ टि० ४ प० २	संतु, वही	सतु, परमात्मप्रकाश
,, ७६ पं० ५	सकोपमुखयोक्तोऽवोचदार्ये	सकोपमुखयोक्तेऽवोचदार्ये
,, ७६ प० ७	आमकी	आपकी
,, ७६ पं० १०	कोर्ति	कीर्ति
,, ८६ टि० ४ पं० २	वेदान्तवेदिमिर्विष्णुः प्रौच्यते	वेदान्तवेदिभिर्विष्णुः प्रोच्यते
,, ६२ प० ८	तत्वसंश्रयणोदेतत्	तत्त्वसंश्रयणादेतत्
,, ११० प० ५	दास्यसक्ति	दास्यासक्ति
,, १३४ प० ७	समरंभ	सरंभ
,, १४१ पं० १२	भक्ति ही	भक्ति को ही
,, १४६ टि० ४ पं० ४	तथाऽऽसक्तिव्यसनं	तथाऽऽसक्तिर्व्यसन
,, १६३ प० १७	नाय	गाथ
,, १६५ पं० २२	और कछु	और न कछू
,, १६७ प० २५	मुक्यों	मुक्तियों
,, १६८ पं० १५	पशरि	पसारि
,, १७४ प० ५	आडाल	आंडाल
,, १८० प० १२	स्नेह को	स्नेह ही
,, १८१ प० २	सहयान	सहजयान
,, २०० टि० ५ प० ४	स्नौरपि	स्न्यैरपि
,, २१२ प० १०	जग	जग

पृ० २१७ पं० ११	लख मरन…बसाई	लरनमरन…कसाई
,, २२३ पं० ११	शोनीय	शोचनीय
,, २२५ पं० २३	काय	कार्य
,, २३४ टि० १ पं० २	अनन्त्रकर्मा	अनन्यकर्मा
,, २३५ पं० १४	उद्भव	उद्धव
,, २५० पं० १-२	श्री, सनक, ब्रह्मा एवं रुद्र	श्री, सनक, रुद्र एवं ब्रह्मा
,, २५२ पं० १७	तुलसी का यह कथन	तुलसी के इस कथन
,, २५२ टि० १ पं० २	मित्वभिधीयते	मित्यभिधीयते
,, २५५ टि० १ पं० १	अनु० १६१	अनु० ३०
,, २७४ प० ४	प्रत्ययानिष्ठ	प्रत्ययनिष्ठ
,, २८७ टि० १ पं० १	विषय…प्रथग्रसत्वेन	विषये…पृथग्रसत्वेन
,, २८८ पं० २	भक्तिरस	भक्ति को रस
,, २६० (अनु० सं०)	४३, ४३,	४२, ४३
,, २६१ टि० १ पं० ७	भगद्भक्ति	भगवद्भक्ति
,, २६२ टि० १ पं० ३	शृङ्गारोऽमिश्रितत्वेऽपि	शृङ्गारो मिश्रितत्वेऽपि
,, ३०० पं० १४	ने बोपदेव की	ने शृंगार को बोपदेव की
,, ३०० (टि० सं०)	२, २	१, २,
,, ३०१ टि०१ पं०४	भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र	भुवनेश्वरनाथ मिश्र
,, ३०५ प० ४	शिव के रूप मे	शिवशिष्य के रूप में
,, ३०८ पं० २६	असली चौपाई	अगली चौपाई
,, ३१४ टि. ५ पं. २	स्यादेहादि	स्याद्देहादि
,, ३१६ प० १७	सुमद्र	समुद्र
,, ३२२ पं० २	स्वेच्छारति	स्वच्छारति
,, ३३१ पं० २२	प्रियपर्यङ्कस्थं	प्रियं पर्यङ्कस्थं
,, ३३२ पं० ४	त्योरोजलोचन	त्यम्भोजलोचन
,, ३३४ पं० २०	ककटीबीज	कर्कटीबीज
,, ३४८ पं० २७	तस्यास्थनगतस्य	तस्यास्थानगतस्य
,, ३५० पं० १६	संस्कृत	संस्कृत
,, ३५५ टि० १ पं० ४	त्रिदर्शनम्	निदर्शनम्
,, ३५८ पं० २३	शृंगारस मंडन'	'शृंगाररसमंडन'
,, ३६२ पं० १५	भावानाट्य	भावनाट्य

पृ० ३६५ पं० ७	आवसथों	आवसथों
,, ३६८ पं० १२	कृषि	ऋषि
,, ३६८ टि० २ पं० ४	विदेहात्मजां	विदेहात्मजा
,, ३६९ पं० १८	चौदहवीं के	चौदहवीं शती के
,, ३६९ (टि० सं०)	१	४ (पूर्वानुवृत्त)
,, ३७४ पं० १	हितवंश जी	हित हरिवंश जी
,, ३८३ टि०१प० ३	पृ० ३८६, चित्र सं० ३	पृ० सं० १३०, चि० सं० ९

—